



गोस्वामिश्री १००८ श्रीगोविन्दलाल महाराज

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

## ग्रन्थ-परिचय

एक किंवदन्तीके अनुसार नवरत्न ग्रन्थकी रचना श्रीमहाप्रभुने वि. स १५५८ मे अडेलमे की थी । यह ग्रन्थ खेरालुग्रामके गोविन्द दवे साचोराके लिए लिखा गया था।

प्रारम्भमे ही गोविंद दवेकी मनोवृत्ति वैराग्यप्रधान थी. अल्पवयमे ही ये अपने माता-पिताको छोडकर तीर्थयात्रायें द्वारका पहुंच गये थे और वादमे वही रहने लग गये थे भावप्रकाशके अनुसार ये मर्यादापुष्टिके जीव थे और तदनुरूप इनकी द्वारकालीलामे आसक्ति अधिक थी. द्वारकास्थ श्रीरणछोड-जीके स्वरूपमे भी अतएव इनकी अत्यधिक आसक्ति थी. अपने माता-पिताके देहावसानके बाद ये श्राद्ध करने गया गये थे लौटते समय मार्गमे मनिकर्णिका घाटपर इनकी भट श्रीमहाप्रभुके साथ हुई दर्शन करते समय इन्हें इच्छा हुई कि श्रीमहाप्रभुके पास रहकर कुछ विद्यार्जन करे अनुमति मिलनेपर कहीमे व्याकरणकी पोथी ले आये पर श्रीमहाप्रभुने मूल गीताके अध्यापन द्वारा ही संस्कृत भाषा, व्याकरण एवम् सिद्धान्त का भी ज्ञान इन्हें प्रदान कर दिया. इससे प्रभावित होकर ये पुष्टिमार्गमे दीक्षित हुए और आजानुसार घर लौटकर भगवत्सेवामे प्रवृत्त होगये

८४ वैष्णवकी वार्ताके अनुसार— 'गोविन्द दूब घरमे सेवा करे परन्तु मनमें बहुत विग्रह (व्यग्र) रहे सो मेवामें चित्त लागे नाही तब गोविन्द दूबे एक पत्र श्रीआचार्यजीको लिखे—'महाराज ! मेरा मनमे बहुत विग्रह रहत है भगवत्सेवामें चित्त लागत नाही सो कहा करे?' सो पत्र श्रीआचार्य-जीके पास आयो सो आप वाचिके नवरत्न ग्रन्थ करि लिख पठाये और लिखें 'यह नवरत्न ग्रन्थको पाठ किये तेरे मनकी विग्रहता (व्यग्रता) मिटि जायेगी' सो पाठ करत श्रीआचार्यजीकी कृपाते व्यग्रता--चिन्ता सब मिटि गई मन भगवत्सेवामे करन लागे "

इस प्रसंगका निगूढ आशय श्रीहरिरायचरणने भावप्रकाश बहुत सुन्दर शब्दोंमें व्यक्त किया है—“गोविन्द दूबेके मनम विग्रहता भई ताको अभिप्राय यह जो गोविन्द दूबे जीव तो द्वारिकालीला सम्बन्धी और सेवाभावना प्रजकी करे सो मन लागे नाही न राजलीलामें दृढता होई न व्रजलीलामें सो अनेक साधनमें मन दोरे जो तीर्थ करू के व्रत करू कोई जप करू इत्यादि मन भटके सो श्रीआचर्यजी महाप्रभु नवरत्न ग्रथ लिखि पठाये—‘तु चिन्ता मति करें चित्तकी उद्वेगता है यह प्रमुलीला जानि—श्रीठाकुरमे ते मन और ठोर जाये सोउ भगवदिच्छा मानि—चिन्ता मति करियो जितनी वने तितनी सेवा करियो तब गोविन्द दूबको मन स्थिर होगयो. जहा मन लौकिक वैदिक मे जाई तो भगवदिच्छा माने. श्रीरनछोडजीमे मन बहोत जाई सो भगवदिच्छा माने उहाकी लीलामें मग्न रहे काहेने ? नाम्त्र पुरान अनेक उपाई प्रभुमिलन के कहे हैं जीवको मिममात्र मार्ग दिवाये जो जहाको अधिकारी है वामे वाको मन स्वत सिद्ध लागत है

ताते जैसे मनुष्य गैल चलिबेवारेका दम गामके मारग वताव परन्तु जाओ जा गाम जानो होई सोई गाम जात है तैसे ही कोई भगवदीय द्वारा कोई गुरु द्वारा कोई ईश्वर द्वारा जैसे अधिकारी तैसे सग पाय उहो मार्गमे भाव वाको दृढ होत है सो गोविन्द दूबेको श्रीरणछोडजीमे दृढ भाव भयो

पुष्टिप्रवाहमर्षादा ग्रन्थम मार्गभेदका निरूपण किया ही गया है सभी जीवोंके मार्ग भिन्न-भिन्न हैं स्वयम् पुष्टिमागमें भी भगवान् पाम पट्टवनेकी अनेक दिशा या मरणो है जिस दिशाम सहजनया हम चल पाते हा उमी ओर हमारे चलनेका प्रयास निरायाम होना है अपने स्वभावके अनुरूप सहजतया जिस मार्गपर हम चरु मक्ते हैं, उसे छाडकर अन्योन्य फलोंकी कामनाक वश या मिथ्या अनुकरणकी मनोवृत्तिसे, जब हम अपने स्वभावविरुत मार्गपर चरुना चाहते हैं ता उस आधाममे चिन्ता उद्वेग या ध्यग्रता से मनका ग्रस्त हो जाना स्वाभाविक बात है.

पुष्टिपथके पथिक स्वयम् अपने स्वरूपका या अपन कर्तव्यके स्वरूपका अथवा अपने भजनीय भगवानके स्वरूपका चिन्तन करें यह तो स्वभाविक तथा आवश्यक ही है इस चिन्तनका स्थान परन्तु अस्वाभाविक चिन्ता लेने लग जाये तो वह श्रीमहाप्रभुको नहीं सुहाता है क्योंकि चिन्ताका मूल हमारी आस्था

भक्ति तथा स्वीकृति की मनोवृत्तिम न होकर अनास्था उद्विग्नता तथा अस्वीकृति की मनोवृत्तिमे होता है भगवान्की शरणागति स्वीकारनेके वाद सब कुछ ऐहिक या पारलौकिक भगवान्को समर्पित कर देना चाहिये. भगवान् तो सर्वज्ञ सर्वसमर्थ सर्वहितैषी सर्वसुहृत् कर्ता-कारयिता अचिन्त्य लीला विहारी है इस भावभूमिपर सशय चिन्ता या प्रार्थना के विपेले अचुर फूट ही नहीं सकते जो कुछ घटित हो रहा है उसे लीलाबोधके साथ स्वीकारनेमे ही वास्तविक विवेक समाहित है भगवान्की वृपासे भगवत्सेवा या भगवत्कथा में जितना भी चित्त तन्मय होता चला जाये उसमें अधिकाधिक आनन्द लेते जानेकी मनोवृत्ति एक स्वस्थ स्वीकृतिकी मनोवृत्ति है जबकि अनधिकार चेष्टाके द्वारा जो आदर्श तन्मयता हम प्राप्त नहीं हुई हो उसके वारेमें चिन्ता या उद्वेग की मनोवृत्ति अस्वस्थ अस्वीकृतिकी मनोवृत्ति है प्राप्तिमें अधिकका मनोरथ अस्वाभाविक नहीं होता परन्तु अप्राप्ति की चिन्ता या तज्जन्य उद्वेग एक अस्वाभाविक मनोवृत्ति है इसी तरह लौकिक या वैदिक योगक्षमके बारे में भी निरन्तर चिन्ता करते रहना एक भक्तिविरोधी मनोभाव है

अतः भगवत्सेवामे प्रवृत्त होनेवाले पुष्टिजीवोको श्रीमहाप्रभु इस नवरत्न ग्रन्थके द्वारा सभी तरहकी चिन्ताओसे मुक्त करना चाहते हैं

वैदिक कर्मोंके अनुष्ठानका अधिकार जैसे गायत्री-मन्त्रके उपदेशग्रहण करनेसे मिलना है, वैसे ही पुष्टिमार्गमें भगवत्सेवाका अधिकार ब्रह्मसम्बन्धकी दीक्षासे प्राप्त होता है आत्मनिवेदनकी मायंरुता भगवत्सेवाके सम्पन्न होनेपर ही होती है अपने लौकिक व्यवहार भी अनएव धावत्शक्य भगवान्की सेवामे उपयोग लाये हुए पदार्थोंसे चलाने चाहिये इसमें भी प्रयोजन पुनः भगवत्सेवाका निर्वन्द्व निर्वान्ही होता चाहिये भगवान्को दानरूप किसी वस्तुके भेंट करनेपर उसे पुनः अपने उपयोगमें लाना वजित है पर निवेदितके समर्पणकी प्रक्रियामे किसी वस्तुको पुनः अपने उपयोगमें लाना वजित नहीं है प्रत्युत यही प्रकार अनुसरणीय है अन्यथा भगवान्को निवेदित अत्र आर्द्रका भी प्रसादके रूपमें पुनर्ग्रहण वजित मानना पडगा जबकि सिद्धान्त-रहस्यमें असमर्पित वस्तुके त्यागका ही विधान किया गया है अतः आत्मनिवेदीके लिए यह सर्वथा उचित बात है कि प्रभुको समर्पित सभी वस्तुआना क्रमसे क्रम एकद्वार भगवान्की सेवामे पहले विनियोग करे और तत्र अपन

उपभोगार्थं उसे ग्रहण करे इस नियमके पालनसे आत्मशुद्धि होती है

परन्तु अन्न वस्त्र आदि वस्तुओंके एकवार भगवान्की सेवामें काममें आ जानेपर दुबारा उन्हें जुटानेका प्रयास करना चाहिये कि नहीं ? यदि नहीं करते तो आगे सेवाका भी स्वरूप नहीं निभ पायेगा और यदि करते हैं तो वह तो दुनियाकी रीतके अनुसार ही करना पड़ेगा और उस उपार्जनकी प्रक्रियामें पुनः ससारमें उलझना पड़ेगा तो सेवामें भी विघ्नकी सम्भावना है इस तरहकी चिन्ता भगवद्भक्तके मनमें उठ सकती है. स्पष्ट है कि ऐसी चिन्ता स्वार्थप्रेरित नहीं होती किन्तु भगवत्सेवार्थ ही होती है पर श्रीमहा-प्रभु आज्ञा करते हैं कि भक्तको न तो स्वार्थपूर्तिके लिए और न भगवत्सेवार्थ ही चिन्ता करनी चाहिये.

आत्मनिवेदीके लिए यह आवश्यक है कि जीवनमें सुख-दुःख जो भी आय उन्हे भगवदिच्छा मानकर सहजतया स्वीकार ले चिन्ता कदापि न करे लौकिक व्यवहारको निभानेके लिए लौकिक प्रयासोंमें व्यापृत होनेपर यह सम्भव है कि मयादा मार्गीय वैराग्य न भी सिद्ध हो भगवान्ने, किन्तु, पुष्टिमार्गमें हमारा अंगीकार किया है अतः प्रवाहमार्गीय लौकिक गति पुष्टिजीवकी होने नहीं देंगे, यह दृढ़ आस्था हमें रखनी चाहिये

भगवत्सेवा निभानेके लिए व्यापार या नौकरी आदि करनेपर सम्भावित वहिर्मुखतामें बचनेका उपाय है अपने आत्मनिवेदनकी स्मृतिको बनाये रखना कि "मैं कृष्णका हूँ— कृष्णका दास हूँ "

किसी विषय स्थितिमें सेवा न निभ पाती हो तब भी अन्य आत्मनिवेदी भगवदोयोके सत्सङ्गद्वारा इस आत्मनिवेदनकी स्मृतिको बनाये रखना निरन्तर आवश्यक है क्योंकि यह स्मृति मानस-पटलपरसे गिदी और तुरत असुरावेदकी सम्भावना प्रबल हो जाती है

आत्मनिवेदन करनेवाले सभी पुष्टिजीव चाहे वे उच्चकक्षाके हो या निम्न कक्षाके सभीका सम्बन्ध तो दासके रूपमें भगवान्के साथ जुड़ ही गया है फिर चिन्ता किस बातकी ? भगवान् हमारे स्वामी हैं वे जो भी निज्जेच्छासे करे वह हमें स्वीकार्य होना चाहिये. और फिर भगवान् तो भक्तवत्स भी हैं अतः अपन भक्तकी विकाररहित सारी मनोकामना भगवान् विना किसी प्रार्थनाकी

अपेक्षाके स्वयमेव पूर्ण करेगे. यह आस्था हमें रखनी चाहिये और चिन्तासे छुटकारा पाना चाहिये

आत्मनिवेदन तो हम भगवान्‌को करते हैं पर सेवा तो हमें अपने स्त्री-पुत्र-परिवारकी भी करनी ही पड़ती है ऐसी चिन्ता भी आत्मनिवेदीको नहीं करनी चाहिये. क्योंकि ब्रह्मसम्बन्ध दीक्षाके समय हम केवल अपना ही नहीं अपितु सम्पूर्ण परिवारका भी भगवान्‌को समर्पण कर देने है अतः हमसे सम्बन्धित सभी कुछ प्रभुका अर्थात् ब्रह्मसे सम्बन्धित हो जाता है अतः उनका भरण-पोषण या संरक्षण भक्तिविरोधी भाव या व्यवहार नहीं गिना जाता. फिर चिन्ता क्यों करनी चाहिये ?

परिवारके सदस्य यथा पति-पत्नी माता-पिता या सन्तति आदि, यदि भगवत्सेवामें सहायक न होकर अन्याय सासरिक कार्योंमें व्यस्त रहते हो, तब भी चिन्ता नहीं करनी चाहिये क्योंकि हमारा कर्तव्य है उन्हें प्रभुको समर्पित करना सो वह कर देनेपर सब कुछ भगवदिच्छापर अवलम्बित है कि कब वे उन्हें अपनी सेवामें काममें लाये सहज सद्भाव तथा प्रेरणा से उन्हें भगवत्सेवामें प्रवृत्त कराया जा सकता हो तो अच्छी बात है अन्यथा उनकी भगवत्सेवानें रुचि या प्रवृत्ति न दिखलायी पड़ती हो तो व्यर्थ चिन्ता कलह या क्लेश करना भक्तिविरोधी भाव है

कभी यह भी सम्भव है कि हमें ऐसे व्यक्तियोंके काम आना पड़े जिनके बारेमें ब्रह्मसम्बन्ध लेने समय उन्हें भगवान्‌को समर्पित करनेका मनोभाव हमारे अन्दर सर्वथा न हो पर इससे चिन्तित होनेकी आवश्यकता नहीं है क्योंकि एक वार सर्वात्मना प्रभुके प्रति समर्पित हो जानेपर, चाहे वह समर्पण ज्ञानपूर्वक न भी हो परन्तु चिन्ताका कोई कारण रह नहीं जाता

कभी-कभी हमें विश्वास नहीं होता कि हमारे आत्मनिवेदनको प्रभुने सुना कि नहीं हमने तो सब कुछ समर्पित कर दिया पर भगवान्‌ने उसे स्वोकारा कि नहीं यह चिन्ता भी निरर्थक है क्योंकि श्रीकृष्ण तो पुष्टि-पुष्टोत्तम है अतः जैसे वज्रभक्तोंका अम्बाश्रय छुड़ाकर स्वयमेव अपने भजनमें उन्हें प्रवृत्त करने हैं, वैसे ही जब और जिस क्षण वह अपने भजनमें हमें प्रवृत्त करना चाहेगा उस क्षण स्वतः ही हमारा तथा हमसे सम्बन्धित सभी वस्तु या व्यक्ति का उनकी सेवामें विनियोग अनायास सम्पन्न हो जायेगा यदि भग-

वदिच्छा पुष्टिमागंमे हमारे अगीकारकी न हो तो हम आत्मनिवेदन भी नहीं कर पायेंगे प्रभु तो सर्वसमर्थ है अतः हमारी सारी अयोग्यताओको दूर कर विना किसी साधनकी अपेक्षाके हमें योग्य भी बना सकते हैं अतः हम निवेदन या समर्पण के योग्य हैं कि नहीं ऐसी चिन्ता भी पुष्टिभक्तको नहीं करनी चाहिये

जब लौकिक व्यापार आदिमें कोई कठिनाई उपस्थित हो या वैदिक वर्णाश्रम धर्मके पालनमें कोई कठिनाई उपस्थित हो, तब भी चिन्ता नहीं करनी चाहिये प्रत्युत यह समझना चाहिये कि भगवान् अधिकाधिक भक्तिमार्गपर अग्रसर होनेका अवसर हमारे सामने उपस्थित कर रहे हैं

आओ ! सारे पुष्टिजीव आओ ! और ऐसी विषम स्थितिमें भी अपनी पुष्टिभक्तको निभानेका यत्न करो लौकिक या वैदिक व्यवहारोंमें स्वास्थ्यका क्या मूल्य यदि पुष्टिभक्तका स्वास्थ्य न हो ? भगवान् यदि लौकिक दृष्टिसे या वैदिक दृष्टिसे कुछ विषमस्थिति हमारे सम्मुख उपस्थित करते हो तो निश्चिन्त होकर उन्हें सहन कर लेना चाहिये क्योंकि सभवतः इसी तरह भगवान् हमें पुष्टिमार्गपर अग्रसर करना चाहते हैं !

भक्तिकी प्रारम्भिक अवस्थामें गुरुकी आज्ञाके अनुसार ही भगवत्सेवा करनी चाहिये परन्तु भगवदिच्छावश या भगवदाज्ञावश सेवाके प्रकारमें कुछ भिन्नता भी आ जाये तो चिन्ताकी कोई बात नहीं है गुरुकी आज्ञाके अनुसार हो अथवा भगवान्की आज्ञाके अनुसार हो जैसे भी ऋणमेवाम तत्परता बढ़ती चली जाये वही जीवनप्रणाली सुखप्रद होती है

निश्चिन्तताके इन सारे सिद्धान्तोंको जाननेके बावजूद भी कभी कभी पारिवारिक कष्ट व्यक्तिको झकझोर देता है उदाहरणतया पुत्र पति या पत्नी का वियोग होनेपर मनस्ताप ही होता है पर जो भी कुछ घटित होना है उसे भगवल्लीलाके बोधके माध्यम सृजितया स्वीकार लेनकी मनोवृत्ति सम्पादित करनी चाहिये चिन्ता उद्भव या मनस्ताप से जितनी भी जन्दी छुटवारा पाया जा सके उसे पानेकी मनोवृत्ति रखनी चाहिये

भक्तिके नौ मोक्षान् दिग्गज गण हैं— श्रवण कीर्तन स्मरण पादपवन अर्चन वन्दन दाम्पत्य मद्य और आत्मनिवेदन इनमें अशेषित प्रथम श्रवण कीर्तन जैसे प्राथमिक मोक्षान्पर भी आरोहण करना एक कठिन कार्य है तो

अन्तिम सोपान आत्मनिवेदन और उसके बाद प्राप्त होनेवाली निश्चिन्तता-की मानसिक अवस्थाका लाभ तो अत्यधिक कठिन लगता है ! परन्तु आवश्यकता इस कठिनताके विचारसे चिन्ताकी नहीं प्रत्युत सर्वात्मना शरणागतिके मनोभावको बनाये रखनेको है ऐसी निरर्थक चिन्ताओमें जितने समय तथा मनोयोग का श्रय हो जाता है, उतने समय तथा उतने मनोयोगसे निरन्तर "श्रीकृष्ण शरण मम" कहते रहे तो बात बन सकती है

यह आश्वासन — यह अभिमत केवल गोविन्द दूबेके लिए नहीं अपितु सभी पुष्टिजीवोको श्रीमहाप्रभु दे रहे है

भगवद्-विप्रयोगकी स्नेहात्मिका अनुभूतिमें पुष्टिजीवका कृश होता तो परमपुष्टि है — "तिहारे सेवक ऐसे कृश क्यों ? वरजे हते पर मारगमें आये ताको फल पाय रहे है !" यह कृशता तो पुष्टिभक्तिके स्थायिभावका एक रोचक सञ्चारिभाव है अत रसवर्धक भी है पर भक्तिके स्थायिभावके विपरीत चिन्ता या उद्वग रसाभास पैदा करते है. रसाभास पैदा करनेवाले चिन्ताके इन्ही विविध प्रकारोंमें से कुछ प्रकारोंको यहाँ सूचित किया गया है श्रीमहाप्रभु पुष्टिभक्तके मानसको इनसे दूषित होनेसे बचाना चाहते है ताकि कृष्णसेवा तनु-वित्तजासे मानसी सेवाके रूपमें विकसित हो पाये — आत्मनिवेदनका बीजभाव भगवत्प्रेममें अकुरित हो पाये — भगवदासक्तिमें पल्लवित हो पाये और अन्तत भगवद्-व्यसनमें वह फलित हो जाये ।

प्रस्तुत सस्करण वि स १९८१ में श्रीमूलचन्द्र तुलसीदास तेलीवाला तथा श्रीधीरजलाल ब्रजदास सोकलिया द्वारा सम्पादित-प्रकाशित सस्करणका ऑफसेट प्रॉसस द्वारा पुनर्मुद्रित रूप है इस पुन प्रकाशनके अवसरपर हम इन महानुभावोंका कृतज्ञापूर्वक स्मरण करते है.



તેવા જ કોઇ બાલકે લાલુભટ્ટની માફક પોતાને અસંગતિ પ્રતીત યતા અર્થ ઘટાવવાને આ પક્ષિ ઉમેરી પણ હોય ગમે તેમ હોય તો પણ આ કૌંઠિસની પક્ષિથી પ્રકાશનો અર્થ બધ બેસી રહે છે, અને તેથી લાલુભટ્ટનો પ્રયત્ન ઐતિહાસિક દૃષ્ટિએજ ઉપયોગી વાગે છે

૪ નવરત્નના યાવતપ્રાપ્ય સસ્કૃત સાહિત્યનો સમઠ કરી શોધી અજ પ્રકટ કર્યું છે શ્રીગુણાધ્યની નવરત્નપ્રકાશ પ્રાચીન શુદ્ધ દશેક પ્રતિ ઉપરથી શોધી પ્રકટ કર્યો છે શ્રીપુરુષોત્તમજીની નવરત્નપ્રકાશવિવૃત્તિ તથા ઢાકા શ્રીવલ્લભજીની નવરત્નપ્રકાશ ટીકા પણ બહુ સારી પ્રાચીન પ્રતિઓના આધારે શોધી છપાવી છે શ્રીમુરલીધરભટ્ટ જીની ટીકા માત્ર જે પ્રતિ ઉપરથી છપાવી છે આ ટીકાની શોધમા અમે બહુ શ્રમ લીધો છે, તો પણ અમને તન્મુદ્રણમા સતોષ થયો નથી આ શ્રીમુરલીધરભટ્ટ જીને અને ક્યારે યથા તે પણ અમને જ્ઞાત થયું નથી આ સસ્કૃત સાહિત્ય અમને ૫ ગદ્યાવાજીના પુસ્તકસમઠસાથી, પોરબદરવાલા શ્રીરણજીકલાલજી, મુરતવાળા શ્રીમજરતજી, શાસ્ત્રીજી મુખ્યાજી ગોકુલદાસજી તથા શાસ્ત્રી ચીમનલાલ આદિ તરફથી મળ્યું છે આ સર્વનો અમારા ઉપર પરમ ઉપકાર થયો છે

૫ અવલુ કર્યું છે કે શ્રીગોકુલેશે નવરત્ન ઉપર ટીકા લખી છે, તથાપિ તેનું દર્શન કરવાનું સૌભાગ્ય અમને ક્યાહિ પણ થયું નથી સભવ છે કે શ્રીગુણાધ્યની વિવૃત્તિમા આપે કવચિત્ ઉમેરો કર્યો હોય આજો કોઇ ઉમેરો જે વિવૃત્તિમા પાછળથી થયો છે એમા તો સદેહ નથી એવો એક ઉમેરો જે અમને મળ્યો તે અમે ટિપ્પણમા સૂક્ષ્મ અક્ષરમા છાપ્યો છે.

૬ દ્વન્વ આખનાર શેઠ કરાણી તથા ઉપર જણાવેલા શ્રીગોસ્વામિ બાલકો તથા વિદ્વાનોના સાહાય્યથી આ પરમ પ્રેમ અને પરિશ્રમથી સિદ્ધ થયલો ગ્રન્થ શ્રીમત્પ્રભુચરણ કમલસા સમર્પાએ છીએ

દોલોત્સવ  
૧૯૮૧  
મુબઈ

}

મૂલચન્દ્ર તેલીવાલા,  
ધૈર્વલાલ સાંકસીઆ.

॥ श्रीकृष्णाय नम ॥

॥ श्रीगोपीजनवल्लभाय नम ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नम ॥

## नवरत्नम् ।

चिन्ता कापि न कार्या निवेदितात्मभि कदापीति<sup>१</sup> ।  
भगवानपि पुष्टिस्थो न करिष्यति लौकिकीं च गतिम् ॥१॥  
निवेदन तुं स्मर्तव्य सर्वथा तादृशैर्जनै ।  
सर्वेश्वरश्च सर्वात्मा निजेच्छात करिष्यति ॥२॥  
सर्वेषा प्रभुसम्यन्धो न प्रत्यकमिति स्थिति ।  
अतोऽन्याविनियोगोऽपि चिन्ता का स्वस्य साऽपि चत् ॥३॥  
अज्ञानादथवा ज्ञानात् कृतमात्मनिवेदनम् ।  
यै कृष्णसात्कृतप्राणैस्तेषा का परिदेवना ॥४॥  
तथा निवेदन चिन्ता त्याज्या श्रीपुरुषोत्तमे ।  
विनियोगोऽपि सा त्याज्या समर्थो हि हरि स्वत ॥५॥  
लोके स्वास्थ्य तथा वदे हरिस्तु न करिष्यति ।  
पुष्टिमार्गस्थितो यस्मात् साक्षिणो भवताखिला ॥६॥  
सेवाकृतिर्गुरोराज्ञा पाधन<sup>२</sup> वा हरीच्छया ।  
अत सेवापर चित्त विधाय स्वीयतां सुखम् ॥७॥  
चित्तोद्वेग विधायापि हरिर्यद्यत्करिष्यति ।  
तथैव तस्य लीलेति मत्वा चिन्ता द्रुत त्यजेत् ॥८॥  
तस्मात् सर्वात्मना नित्य श्रीकृष्ण शरण मम ।  
वदद्भिरेव मत्तन स्पर्धामित्येष म मति ॥९॥  
इति श्रीमद्ब्रह्माचार्यचरणप्रकटित नवरत्न समाप्तम् ॥

१ इति रक्षितोऽपि पाठ इति २ च इति धीमुरलीधरभट्टसमन पाठ । ३ अवाधनम् इति वैश्विकोऽपि । ४ एव इत्यपि पाठ श्रीप्रभुचरणानामिद । धीमुरलीधरभट्टानां च एव इत्येव ।

# नवरत्नम् ।

श्रीविठ्ठलेश्वरविरचितप्रकाशसमेतम् ।

चिन्तासन्तानहन्तारो यत्पदाम्बुजरेणवः ।

स्त्रीयानां तान् निजाचार्यान् प्रणमामि धुहुर्मुहुः ॥ १ ॥

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविष्टतिप्रकाशसमेतम् ।

नत्वा श्रीवल्लभाचार्यान् प्रभून् श्रीविठ्ठलेश्वरान् ।

नवरत्नप्रकाशे यास्तद्वाचस्ता उपासहे ॥ १ ॥

अथ श्रीमदाचार्यचरणाः सिद्धान्तरहस्य आत्मनिवेदिनामुत्तरपूर्वांघाश्लेषविनाशोपा-  
यस्य भगवतोक्तत्वेपि तत्रोक्तस्य प्रकारस्य भोगसाधकतया अलौकिकभोगानुगुणत्वमेव, न तु  
सेवाप्रतिबन्धकनिवर्तकत्वमपीति तदभावे सेवाया आधिदैविकीत्वाभावं तस्मिन् सति तद्व्य-  
वणचेतोरूपमानसीधेवाया असंभवं चालोच्य, कालप्रारब्धस्वभावैरमीक्षणं जन्यमाना-  
नामुद्वेगादीनां निवृत्त्यर्थं सेवाफलग्रन्थविवरणे च 'सविधत्वात्स्वत्वाद्भोगस्त्याज्य' इति  
लौकिकभोगनिवृत्तौ तत्स्वरूपविचारस्यैव तन्निवृत्त्युपायत्वेनोक्तत्वात् साधारणप्रतिबन्धनिवृत्तौ  
च तत्र 'आघो बुद्ध्या त्याज्य' इत्यनेन बुद्धिमात्रस्यैवोपायत्वेन कथनादुद्वेगनिवृत्तौ च कस्यापि  
साधनस्वाक्यनात्, किञ्चित् साधनं बुद्धिविशेषरूपं वक्तव्यम्, यद्यपि अतत्त्वनिर्धारवि-  
वेकयोः प्रतिबन्धसाधकत्वकथनेन तत्प्रतियोगिनोस्तत्त्वनिर्धारविवेकयोः सर्वप्रतिबन्धनिवृ-  
त्तिसाधनत्व सूचितम्, तथापि तत्त्वनिर्धारस्वरूपस्य सङ्क्षेपतः कुत्राप्यनुक्तत्वाद्विवेकधैर्या-  
श्रये विवेकस्वरूपस्योक्तत्वेपि आश्रयशेषत्वेनोक्ततया सेवाशेषत्वेनानुक्तत्वात् सेवाया आधि-  
दैविकीत्वसम्पत्त्यर्थं प्रतिबन्धकत्रयनाशहेतुं सङ्क्षेपेण वदिष्यन्तो, हेतुनाशे कार्यनाशात् तद्वे-  
तुभूतचिन्तानाशकमुपायमुपदिशन्तीत्यनुसन्दधानाः श्रीमत्पुरुषचरणाः नवरत्नं व्याचिकी-  
र्षन्तः, तत्र चिन्ताया अकरणस्य आह्वयत्वात् स्वभावतः आत्मायाश्चिन्ताया अनिवार्यत्वात्  
तत्स्वरूपमन्यतिश्चित्य तन्निवृत्त्युपायमुपदिशन्ती मङ्गलमाचरन्ति चिन्तेत्यादि । चिन्ता-  
शब्दः स्मरणारूपे मनोव्यापारे योगरूढः । चिति स्मृत्यामिश्रतो भावेऽङ्घ्रि कृते चिन्तापद-  
सिद्धेः । 'साचिन्ता स्मृतिराध्यान'मिति कोशाब्ज । सा तु प्रयत्नमन्तरेणापि, सद्यशाद्यचि-  
न्ताधैः तद्दीजबोधकैः तदा तदा सम्भवन्ती न निर्वारयितुं शक्या । किञ्च, तस्याः सर्वस्या  
अकरणे 'निवेदनं तु स्तर्तव्य'मित्यागिमग्रन्यस्यापि विरोध इति सात्र न निषिध्यत्वेन  
विवक्षिता, किन्तु शास्त्रेषु प्रस्तूयमाने विचारे 'अधेदं चिन्त्यत' इत्यादिप्रयोगदर्शनादि-  
चारापरनामा सप्रयत्नः स्मरणविशेषश्चिन्ता, तस्या अपि शोऽन्यस्याविशेषकृतोऽचान्तरवि-

ननु भगवदीयानां कथं चिन्तोद्भवः । इत्यम् । आत्मनिवेदिनो हि भगवद्भजनाहो, नेतरे । तत्र चैहिकपारलौकिकयोरर्थयोर्नापशिष्टं किञ्चिदसमर्पितम् । एव सति देहादिनिर्वाहः केन कार्यः, किं निवेदितार्थेन, उत इतरेण वा । तत्र नाय । तदीयार्थस्य तदिच्छा विना ग्रहीतुमशक्यत्वात्, इच्छायाश्च ज्ञातुमशक्यत्वात् । वस्तुतस्त्विच्छायामपि सत्या तदुपयोगोऽनुचितः सेवकस्य । न च तदीयानां देहादीनां तदीयार्थेन पोषणं न दोषायेति

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशसमेतम् ।

शेष, 'एवमायत्नस्य मे किं सा'दित्याकारक, सोऽत्र चिन्तापदेन परासृश्यते । तस्या सन्तान-परम्परा, तद्धन्तारो निवारका यत्पदाम्बुजरेणवस्तान् निजाचार्यान् मुहुर्मुहुः यदा यदा तत्सम्भव, तदा तदा तन्नित्यव्यर्थं प्रकर्षेण कायवाञ्छनसेन नमामीत्यर्थः । तेन तदीयानां प्रथमत इदमेव तन्नित्यव्यर्थसिद्धिपथमिति बोधितम् ।

अतः परं व्याख्येयग्रन्थे चिन्ताया अकरणस्य निवेदितात्मधर्मत्वेनोक्तत्वाद्ब्रह्मसम्बन्धकरणरूपस्य निवेदनस्य चात्र भगवद्गर्माचरणोपाधिकारत्वेन विवक्षितत्वात् तेन भगवदीयत्वे सति यथा चिन्तोद्भवस्त प्रकारं ग्रन्थावतरणाय पृच्छति नन्वित्यादि । सिद्धान्तरहस्ये ब्रह्मसम्बन्धकरणात् सर्वदोषनिवृत्तेरसमर्पितवर्जनेन च भाविदोषाससर्गस्य व्यवहारानुरोधिगौणधर्मोपदेशेन लौकिकालौकिकनिर्वाहप्रकारस्य चोक्तत्वात् तदीयाऽधीक्षणं भगवन्तमनुसन्दधानानामैहिकामुष्मिकचिन्ताहेतोर्निरस्तत्वात् केन प्रकारेण चिन्तोद्भवो यन्नित्यव्यर्थं नवरत्नकरणमित्यर्थः । एव साभिप्रायप्रथमुखेन तरट्श चिन्तोद्भवे आदिषेतेषां यादृशचिन्तोद्भवस्त प्रकारं वक्तुं निवेदनसाधिकाररूपतायास्तत्प्रकारस्य च कुत्रापि प्रकरणग्रन्थेष्वनुक्तत्वात्प्रकारकयनादिना तदावश्यकत्वं च दृढीकर्तुं येषां च लौकिकी चिन्ता, ते भगवदीया इति तेषां स्वरूपबोधनाय प्रथमतः पुरस्फूर्तिकं चिन्तोद्भवप्रकारं वदिष्यन्तस्तत्र हेतु विकल्पयन्ति इत्थमित्यादि । तथाच । सिद्धान्तरहस्योक्तरीत्या चिन्ताया असम्भवेपि शरीरादियान्निर्वाहप्रकारस्य तत्रानुक्तत्वादनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते । तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहमिति भगवदुक्ते निर्वाहप्रकारे प्राप्तस्योक्तविकल्प्यात्मकहेतोर्वशाच्चिन्ता सम्भवतीति तन्नित्यव्यर्थं ग्रन्थकरणमित्यर्थः । एव सम्भवहेतु विकल्प्याद्य परिहरन्ति तत्रेत्यादि । आद्यं निवेदितेनैव निर्वाहं कार्यं इति पक्षो न युज्यते । तत्र हेतुस्तदीयार्थस्येत्यादि । नन्वेकादशो नविंश आत्मनिवेदिना धर्मा 'श्रद्धा-सृतकयाया म' इत्यादिनोपदिष्टा, ते च शरीरस्थितिमन्तरेणानुपपद्यमानास्तद्हेतुमाक्षिपन्तो निवेदितेनैव निर्वाहमाक्षिपन्तीति नेच्छाया ज्ञातुमशक्यत्वमित्यत आहुः वस्तुत इत्यादि । अनुचित इति । भगवद्वाक्यतात्पर्यज्ञानाभावादनुचितः । सेवकस्येति । हेतुगर्भं विशेषणम् । तथा चेच्छाज्ञानेपि प्रत्यक्षाज्ञाभावेन स्वतस्तयाकरणे भक्तिमार्गविरुद्धस्य स्वातन्त्र्यस्य सम्भवादनुचित इत्यर्थः । पुनः प्रकारान्तरेणौचित्यमाशङ्क्य परिहरन्ति न चेत्यादि । दोषाद्यत्वादिति । देहादेर्भगवदीयत्वेपि तत्र स्वत्वामिमानसानपेतत्वेन

चान्यम् । स्वतस्तथाकृतेर्दोषावहत्वात्तदिच्छायाश्च ज्ञातुमशक्यत्वादित्युक्तम् । न द्वितीयः, अस्वधर्मत्वात् । निवेदितस्वार्थस्य स्थित्याद्यर्थ स्वस्य विचारसाध्यनुचितत्वात् । तदभिमाने तत्सम्भवात् । एव सति देहादिनाशसम्भवेन भजनासम्भवात्तद्वैधर्म्यापातः । मार्ग एव चायमुच्छिद्येत । अतो निवेदने भजनाधिकारः, तस्मिन् सति तदनिर्वाह इत्युभयतः-पाशा रञ्जुरिति चेत् । अत्र वदाम् । 'दारान् सुतान् रहान् प्राणान् यत्परस्मै निवेदनम् । एव

श्रीम पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशसमेतम् ।

तथात्वादित्यर्थः । द्वितीय परिहरन्ति न द्वितीय इत्यादि । तत्र हेतुः अस्वधर्मत्वादिति । तदुपपादयन्ति निवेदितस्येत्यादि । भगवता ह्यात्मसमर्पणमिदं स्वत्वाभिमानत्यागार्थमेवाधिकारिविशेषणतयोपदिष्टम् । तत्पूर्वकमेव सेवाकरणस्य महद्विष्टयमजसुःकृष्टकारणत्वात् । अन्यथा अनोक्ताना पूर्वमेकादशाध्यायेष्युक्तत्वादनोक्तेषु विशेषामावे उक्तृकारणत्वप्रतिज्ञान विरुद्धं स्यात् । उक्तृत्वत्व तत्रान-यथासिद्धत्वमेव । नत्वन्यत् । तथा सति पूर्वोक्तेष्वेतत्कारणत्वाभावप्रसङ्गात् । न चेष्टापत्तिः । तथा सत्येतेषु परत्वोक्तेर्विरोधप्रसङ्गादिति । अतो यथान्यस्मिन्निवेदितेऽथ नाभिगम्यते, तथा देहादावपि युक्तम् । तद्यद्यनिवेदितेन देहादिनिर्वाहं चिन्तयेत्, तदा स्वत्वाद्यभिमानदाढ्यापत्या स्वस्वधर्मोपाध्येतेति स्वधर्मविरोधेन तथात्वादित्यर्थः । एव हेतुद्वय परिहृत्य यथाचिन्तोद्भवस्त प्रकारमाहुः एवं सतीत्यादि । एव देहादिनिर्वाहप्रकारद्वये चाधिते सति देहादेस्तथात्वेन भजनासम्भवात्निवेदनवैधर्म्यं पुष्टिमर्यादात्मकभक्तिमार्गोच्छेदश्चेति भगवता भक्त्यधिकारवाक्य भक्तिपरमकारणवाक्ये किमभिप्रायेणोक्तम् । ततश्च तदर्थज्ञानासम्भवे तदुक्तकरणस्यापि व्यङ्गत्वात्कथं परमभक्तिलाभ इत्येव तत्सम्भव इत्यर्थः । एव चिन्तासम्भवव्युत्पादनमुखेनात्मनिवेदनस्यावश्यकत्वे आक्षिप्ते प्रमाणपुरःसरं तदावश्यकत्व साधयन्त उभयतःपाशा परिहरन्ति अत्रेत्यादि । इह दारानितिवाक्यमेकादशे प्रबुद्धेन 'तत्र भागवतान् धर्मान् शिक्षेद्बुवात्मदैवतम् । अमापयानुवृत्त्या यैस्तुष्येदात्मात्मदो हरि'रिति भगवतोपहेतुन् धर्मानुपक्रम्य तत्र पठितम् । दारादीनालक्ष्यं यत् परमेश्वराय निवेदनं तदुपयोगितया समर्पणं तत् शिक्षेदिति तत्रपदसम्बन्धादारादिनिवेदनसा भगवतोपहेतुत्व बोधयति । द्वितीयं तु भगवता भक्तिपरमकारणमुपक्रम्य तदधिकारिविशेषणबोधनाय पठितमिति तत्र तदावश्यकता बोधयति । आदिपदेन 'दासेनात्मनिवेदन'मिति भगवद्वाक्य स्वगोत्रवित्तात्मसमर्पणेन चेति वल्याचारबोधकवाक्यं च सङ्गच्छते । अत एतादृशैर्वाक्यैः स्वसर्वस्वसहितात्मसमर्पणं भक्तिमार्गं आवश्यकम् । तत्र हेतुदृष्टान्तश्च साक्षादित्यादिना स्फुटीक्रियते । न'चैव धर्म'रितिवाक्ये स्वकृतधर्मापेक्षया मनुष्यत्वस्य पूर्ववतित्वेन तत्र तेषां हेतुतयाऽनन्वयेप्यात्मनिवेदिनामिति तद्विशेषणं प्रति हेतुत्वस्य सुवचत्वात् प्रत्येव तेषां हेतुत्व तस्य भक्तिं प्रतीतिप्रतीतेः स्फुटत्वादात्मनिवेदनस्य धर्मकरणं प्रत्यधिकारत्वमयुक्तमिति शङ्क्यम् । साक्षात् क्रियान्वयं विहायैवं कल्पने बीजाभावात् । धर्माणां तत्रोपक्षये आत्मनिवेदनोच्चरं तदकरणप्रसङ्गात् ।

धर्ममनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम् । मयि सञ्जायते भक्तिः कोन्योर्योस्वावशिष्यत' इत्यादि-  
वाक्यैस्तदावश्यकम्, साक्षात् श्रीगोकुलेशभजनाधिकाररूपत्वात्, द्विजस्य वैदिककर्मणि  
गायन्त्युपदेशसंस्कारवत् । ( निवेदनस्य सार्थकत्वाय भजनसिद्ध्यर्थमावश्यकव्यवहारार्थं  
निवेदितस्यैव स्वार्थं विनियोगः कार्यः । ) अन्यथा दारपरिग्रहोत्तरक्षण एव तन्निवेदनेऽकृतेऽग्रे  
तदविनियोगे प्राप्ते तत्परिग्रहवैयर्थ्यापत्तिः । अपरंच । दाने हि न स्वविनियोगो, न तु  
निवेदने । अन्यथा निवेदिताग्नादेर्भोजनं न स्यात् । अनिवेदितस्य निषिद्धत्वात् ।

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशसमेताम् ।

दासेनात्मनिवेदनस्य प्रागुक्तत्वेन दासापेक्षया न्यूनश्रद्धादिधर्मजन्यारम्भनिवेदनस्यात्र पर-  
त्वोक्तेर्षीजानुपलम्भाच्च । तस्मादात्मनिवेदनस्याधिकारत्वायैतैवमुक्तिरिति निश्चय इति  
बोध्यम् । तथा च त्रैवर्णिकत्वेन सत्यामपि स्वरूपयोग्यतायामुपनयनं विना वैदिककर्मणि  
यथा नाधिकारः, तथा 'देवोऽसुरो वे'ति 'क्रो नु राजन्निन्द्रियवा'निति च वाक्यात् स्वरू-  
पयोग्यत्वेपि निवेदनं विना विवक्षितमक्तौ नाधिकार इति सिध्यति । एवं निवेदनस्वरू-  
पस्यानवगमे भजनासिद्धिं स्फुटीकुर्वन्ति अन्यथेत्यादि । यदि भगवद्वाक्यस्य आत्मनि-  
वेदिपदे दाराद्यात्मा न सङ्गृह्येत, तदा दारपरिग्रहोत्तरक्षण एव तथा तदात्मनिवेदने  
अकृते तस्या आत्मनिवेदिताभावादनधिकारेणाग्रे सेवायां तदविनियोगे प्राप्ते तत्परिग्रहवैय-  
र्थ्यापत्तिरत उक्तरीत्या तज्ज्ञानमावश्यकमित्यर्थः । तथा च यथा गायन्त्युपदेशजनित उप-  
नयनसंस्कारः प्रतिपुरुषं भवंस्तस्य तस्य वैदिककर्मोपकारकदेहादिनिर्वाहप्रयोजकमिक्षादि-  
कर्मणां न प्रतिरोधकः, तथोक्तरीत्या निवेदनरूपः संस्कारोपि भजनोपकारकदेहादि-  
निर्वाहप्रयोजकस्य निवेदितोपयोग्य न प्रतिरोधक इति नोभयतःपाशारजुरित्यर्थः । अत्र  
दारपदं चेतनयोः पुत्रासयोरन्युपलक्षकम् । उत्तरक्षणपदं चावश्यकत्वपरम् । न त्वन्य-  
वहितोत्तरत्वपरम् । अशक्योपदेशत्वापादकत्वात् । अथवा । उत्तरक्षण एव तद्वैयर्थ्या-  
पत्तिरिति योजना, तेन न कोपि दोषः । एवं चोक्तवाक्यद्वयविचारे दारादिनिवेदनं  
स्वात्मना सह क्रियमाणं पृथक् धर्मरूपम्, दारादिभिः स्वयं क्रियमाणं त्वधिकाररूप-  
मिति सिध्यतीति । एकेन स्वसर्वस्वनिवेदने तेषां निवेदितत्वेपि तेषां स्वस्वसंस्काराय पृथक्  
तत्करणं युज्यते । तस्मात्सुष्ठुक्तं अन्यथा तत्परिग्रहवैयर्थ्यापत्तिरिति । ननु भवत्वे-  
वमिच्छाज्ञानेनोभयतःपाशनिवृत्तिः, तथाप्याज्ञाऽभावे स्वतस्तथाकरणे यो दोषः, स कथं  
निवर्ततेत्यत आहुः अपरं चेत्यादि । दानं नाम स्वत्वपरित्यागपूर्वकः परस्वत्वोत्पादना-  
नुकूलः, 'तुभ्यमह सम्प्रददे न मम', इत्यादिशब्दाभिव्यक्तो मनोव्यापारः । तस्मिन् कृते  
सति हि निश्चयेन न स्वविनियोगः । दत्तापहारदोषोत्पादकत्वात् । निवेदनं तु तदीयत्वानु-  
सन्धानपूर्वकः स्वत्वाभिमानत्यागानुकूलः 'तुभ्यं समर्पयामि, निवेद्यामी'त्यादिशब्दाभिव्यक्त-  
स्वद्विलक्षणो मनोव्यापारः । तस्मिन्कृते तु न स्वविनियोगो दोषाय । दत्तापहारदोषानु-  
त्पादकत्वात् । तत्र गगकमाहुः अन्यथेत्यादि । यदि स्वत्वत्यागपरस्वत्वोत्पत्त्यानुकूल-

निवेदानामर्थानां भगवद्भोगार्थं विनियोगे जाते तद्वत्प्रसादत्वेन स्वोपभोगकृतिरुचिततरा, दासधर्मत्वात् । 'उच्छिष्टशेषिणो दासा' इत्यादिवाक्यैः । अत्रमशोधकत्वाच्च । किन्तु प्रभौ निवेदितार्थस्य विनियोगे जातेऽग्रे तदर्थं यत्नः कार्यो, नवेति भवति चिन्ता । \*तत्करणे वाहिमुंख्यसम्भवः सेवाप्रतिबन्धश्च । 'त्रैवर्गिकायासे'तिवाक्यात् भगवत्कृतप्रतिबन्धश्च तत्र स्यात् । अकरणे निवेद्याभावेन भवति च दुःखम् । एवंभूतान् स्वानुपदिशन्ति चिन्ता कापि न कार्येति ।

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविरुतिप्रकाशसमेतम् ।

योर्दाने निवेदने च तुल्यतायामपि कश्चिद्विशेषो न स्यात्, तदा पुराणेष्वनिवेदितस्य निषिद्धत्वाच्च निवेदानाद्येर्भोजनं नोक्तं स्यात् । तत्तूच्यते । तथा हि । हरिवल्गुभसुनोदये स्तान्दे 'नैवेद्यशेषं तुरुक्षीविविश्रं विशेषतः पादजलेन सिक्तम् । योऽश्नाति नित्यं पुरतो पुरारः प्राप्नोति यज्ञायुतकोटिपुण्यम् । पङ्क्तिर्मांसोपवासैस्तु यत्फलं परिकीर्तितम् । विष्णो-  
नैवेद्यसिक्थेन तत्फलं भुञ्जतः कला'मिति । गारुडे च 'पादोदकं पिबेत्तिसं नैवेद्यं मक्ष-  
येद्धरेः । शेषाश्च मस्तके धार्या इति वेदानुशासन'मिति । ब्रह्माण्डे च 'पत्रं पुष्पं फलं तोयमन्नपानाद्यभौषधं । अनिवेद्यं न भुञ्जीत यदाहाराय कल्पितम् । अनिवेद्यं तु भुञ्जानः प्रायश्चित्तो भवेन्नरः । तस्मात्सर्वं निवेद्यैव विष्णोर्भुञ्जीत सर्वदे'ति । पद्मपुराणेपि गौतमः 'अश्वरीप गृहे पक्वं सदाभीष्टं यदात्मनः । अनिवेद्यं हरेर्भुञ्जान् सप्तजन्मानि नारकी । अश्वरीप नवं वस्त्रं फलमन्नं रसादिकम् । कृत्वा विष्णुपभोग्यं तु सदा सेव्यं हि वैष्णवै'-  
रिति । श्रीभागवते पृथक्स्थाने दिविपुंसवैभवे स्तान्दे 'उदासा देवं स्वे भ्रात्रि तन्निवेदितमग्रतः । अद्यादात्मविशुद्ध्यर्थं सर्वकामाप्तये तथे'ति । तेन सिद्धमाहुः निवेदि-  
तानामित्यादि, शोधकत्वाच्चेत्यन्तम् । तथा चैवं भगवद्वत्प्रसादत्वेन तन्निवेदितप्रहणस्य दासधर्मत्वे सिद्धे आज्ञासत्त्वमप्यर्थादेव सिद्धमिति न भक्तिमार्गविरुद्धस्य स्नातव्यस्यापति-  
रित्यर्थः । नचोक्तवाक्येषु 'स्वोपभुक्ते'ति वाक्ये च अचेतनानामेव प्रसादत्वेनोपयोग-  
श्लोकत्वाद्दारादीनां विनियोगे दोषः स्यादेवेति शङ्क्यम् । पाकादिसेवायां विनियोगस्य तेषामपि सिद्धत्वेनादोषादिति । एवं चैतावता ग्रन्थेन सिद्धान्तरादस्योक्तमेव सर्वं निर्धारितं ज्ञेयम् । तेनात्र न तदुक्तविचारचिन्तासम्भवः, किन्तु प्रकारान्तरेणेति बोधितम् । अतः परं तत्संभवप्रकारं वदन्तो ग्रन्थमवतारयन्ति किन्त्वित्यादि । व्याकुर्वन्ति लौकिके-

\* (किञ्च । तत्करणे वाहिमुंख्यसम्भव इत्यारम्भोक्तचिन्ताभावाद्येदमत्र विचार्यते । सेवार्थं यत्नकरणे वाहिमुंख्यं सेवाप्रतिबन्धश्च न सम्भवति । तस्य सेवात्वेन तत्पूरकत्वात् तदकरणे तदसम्भवाच्च । नच 'त्रैवर्गिका या से'ति वाक्यात् भगवत्कृत प्रतिबन्ध इति वाच्यम् । त्रैवर्गिकपदवैयर्थ्योपपत्तेः । अन्यथा आयासविघातमित्येतावदेव स्मरितार्थं स्यात् । अत्र स्वर्गीयानां त्रैवर्गिकायामविघातमेव भगवान् करोति, न स्वसेवार्थकथासविघातमिति निश्चयेत् । अन्यथा यजमानस्य निषेधे मज्जनमार्गं एवोच्छिद्येत । नन्वात्म-

चिन्ता कापि न कार्या निवेदितात्मभिः कदापीति ।

भगवानपि पुष्टिस्थो न करिष्यति लौकिकीं च गतिम् ॥ १ ॥

लौकिकतद्भावेपि भगवदर्थापि सा न कार्या । एतदाहुः कापीतिशब्देन । अङ्गी-  
कारणैव सर्वं सत एव करिष्यतीति विश्वासो यतस्तस्यावश्यकः । भगवतोपि तथानियमः ।  
कदाचित् परीक्षार्थं प्रारब्धभोगार्थं वा प्रभुश्रेद्धित्मन्वेत, तदापि न कार्येत्याहुः कदापीति-

श्रीमत्पुराणोत्तमकृतविवृतिप्रकाशसमेतम् ।

त्यादि । सिद्धान्तरहस्योक्तरीत्या तन्निष्कर्षजनकपूर्वोक्तविचाररीत्या च लौकिक्याश्चिन्ताया  
अभावेपि पूर्वोक्तरीत्या भगवदर्थापि सा न कार्या । तत्र हेत्वपेक्षायां निवेदितात्मपदेन  
भगवानपीत्युत्तरार्धेन च सूचितं हेतुद्वयं व्याख्यानमुखेन स्फुटीकुर्वन्ति अङ्गीकारणैवे-  
त्यादि, आवश्यक इति । ब्रह्मास्त्रचातकन्यायादावश्यकः । एतेन निवेदितात्मपदसूचितो  
हेतुर्विद्युतः । द्वितीयं विवृण्वन्ति भगवतोपि तथा नियम इति । अङ्गीकृतपालननियमः ।  
योगक्षेमवहनवाक्येनैव तथा सिद्धत्वादित्यर्थः । [ यदि तूत्तरार्धस्याग्रे व्याख्यातत्वादेतस्य  
पूर्वशेषत्वमङ्गीक्रियते, तदास्यार्थिकत्वं ज्ञेयम् । वस्तुतस्तूत्तरार्धे व्याख्यानेपि महापुरुषेण  
निवेदितेन पूर्वार्धोक्ते हेतोरप्युक्तत्वात्पूर्वार्धेप्युत्तरार्धार्थाङ्गीकारो न दुष्ट इति ज्ञेयम् । ]  
तत्रापि विशेषं यदन्तीत्याहुः कदाचिदित्यादि । कदापीतिपदेनेति । कदाशब्दापि-  
शब्दाभ्यां युक्तमिति पदं तेनत्यर्थः । प्रकारद्वयान्यतरेण विलम्बेपि चिन्ताया अकरणे  
एतावेव हेतू इति ज्ञापनायान्ते इतिपदोक्तिः । तथा चात्रेतिपदयुतात्पाठादुपगीति-  
रुच्छन्दः । 'आर्याद्वितीयकेषु यद्भूतं लक्षणं, तस्मात् । यद्युभयोरपि दलयोरुपगीतिं  
तां मुनिर्धनं' इति वृत्तरत्नाकरं तल्लक्षणादुदाहरणाच्च । यदा त्वितिशब्दरहितः पाठः,  
तदा त्विव घृत्तिगन्धिचूर्णिकेति न किमपि रुच्छन्दः । ( घृत्तिगन्धिचूर्णिकालक्षणं तु  
रुच्छन्दोमञ्जर्यामुक्तम् । 'अपाद पदसन्तानो गद्य तत्तु त्रिधा मतम् । चूर्णिकोत्कलिकाप्रायवृ-  
त्तिगन्धिप्रभेदत ॥ अकठोराक्षर स्वल्पसमास चूर्णकं विदुः । मवस्यत्कलित्ताप्रायं समासायं  
रदाक्षरम् । घृत्तकदेशसम्बन्धाद्घृत्तिगन्धि पुनः स्मृतम् ॥ ) तदा हेतुरर्थोक्त एव ।

ननु सत्यं भगवान् स्वाज्ञाकारित्वं जीवेश्वलोक्यापेक्षितपूरणेन योगक्षेमं भगवदर्थं  
लौकिकार्थं च निर्वाहयति, तथापि प्रथमं जपन्याधिकारे भगवांस्तथा निर्वाहयेन्नवेति

निवेदिनामित्यत्रासम्भवनं तन्निवेदिनाऽभावात् कथं चिन्ता न कार्येयुरदेश इति चेत् । अविदं प्रति  
भाति । भजनमात्रं हि भगवदज्ञाकारित्ववयं । पाठमयादाप्रवाहभेदेन । तथापि वै वैविध्यम् । तत्र  
पुष्टिपुष्टवत्ताकृतस्य अन्तरयत्नगम्भानापि । परं मयादापुष्टे प्रवाहपुष्टौ चाङ्गीकृतस्य तत्करणं मयादाप्रवाहात्,  
तद्विपातं पुष्टयत् । तथा चाननिवेदिना मयादाप्रवाहस्यलिताना यथेतरस्ये कृते वादिर्मुक्तेराप्रतिबन्धत  
द्विपातादिकं भवति तथा सेवाधनेपि यत्ने भविष्यतीति भवति चिन्ता, अतस्तदभावात् तान् प्रति चिन्ता  
कापि न कार्येत्युक्तम् । अत्र सेवार्थं यत्र कर्तव्यं एवेति मानुषपति काचित् । )

१ लौकिकीति पाठः । २ भोजनार्थमिति पाठः । ३ [ ] चिदान्तर्गतं बहुषु पुलाकेषु तादि ।

( ) टिप्पणं नामि बहुषु पुलाकेषु ।



पदेन । ननु लोकवत् कुटुम्बाघासक्त्वा स्वसापि लौकिकीं गतिं कदाचित् प्रभुः कुर्यात्, तत्राहुः भगवानपीति । यत् पुष्टिस्थोऽतो मर्यादानागार्गीयवैराग्याद्यभावेपि 'महापुरुषेण निवेदिता' इति स्वकीयत्वेनाङ्गीकारात् तथा न करिष्यतीत्यर्थं ॥ १ ॥

एवं चेत्, स्वाच्छन्दव्यवहारापत्या बाहिर्मुख्यं सादत् आहु निवेदनमिति ।

निवेदनं तु स्मर्तव्यं सर्वथा तादृशैर्जनैः ।

सर्वेश्वरश्च सर्वात्मा निजेच्छातः करिष्यति ॥ २ ॥

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशसमेतम् ।

चिन्ता स्वादेवेत्याशङ्का समादधते इत्याशयेनोत्तरार्धमवतारयन्ति ननु लोकवदित्यादि । स्वस्यापीत्यनेन भगवान् परामृश्यते । गतिमिति । रीतिम् । तथा च यथा लौकिकाः प्रभवः सेवकस्य कुटुम्बाघासक्तिं दृष्ट्वा तत्कार्यं उदासते, तथा भगवान्पुदासीत्, तदा किं कुर्यादित्यर्थं । व्याकुर्वन्ति यत् इत्यादि । यतोऽयं जीव पुष्टिस्थः भक्तिमार्गीयत्वाद्भक्तिकारणीभूतानुग्रहविषयोऽत एतस्मिन् मर्यादानागार्गीयवैराग्याद्यभावेपि महापुरुषेणैतत्सम्बन्धिनः सर्वेपि निवेदिता इति तेष्वसात्कावलौकिको भगवान् यथा नारदवाक्यसत्यत्वाय नलकूचरमणिग्रीवावनुजग्राहेति दृष्टत्वात्, 'स्वयं समुत्तीर्ये'ति गर्भस्तुतिषाक्ये भक्तिमार्गप्रवर्तकाचार्यानुग्रहीतेषु भगवदनुग्रहस्य सिद्धत्वाच्च, स्वाभीष्टमार्गप्रवर्तकाचार्यनिवेदितेषु स्वकीयत्वेनाङ्गीकारानुपेक्षा न करिष्यतीति भगवत्स्वभाव निश्चित्य, 'संसारचक्रे अमृतं स्वकर्मभि'रिति न्यायेन क्लेशे स्वप्रारब्धस्य हेतुता चानुसन्धाय चिन्ता न कार्या । एव यथा वित्तजाया न कार्या, तथा तनुजायां शरीरसहायसौकर्याभावेपि न कार्येति बोध्यम् । अत्र दिग्भात्रस्य अदर्शनादिति । लौकिकीं चेति मूले चकारोवधारणार्थं. क्रिययान्वेति । समुच्चयार्थत्वे त्वनुक्ता वैदिकीं गतिं समुच्चिनोति । यथा हि चाक्रायणस्यापद्रताविभ्यस्वादितकुत्सापभक्षणं श्रूयते, तथात्र भक्तिमार्गीये काप्यश्रवणादस्मरणात् योगक्षेमप्रवहणवाक्याच्च । इदं च 'सर्वाज्ञानमति'सूत्रे स्थितम् ॥ १ ॥

अतः परमत्र दोषोपस्थितिमाशङ्क्य परिहरन्तीत्याशयेनाग्रिममवतारयन्ति एवं चेदित्यादि । कुटुम्बाघासक्त्वापि भगवानुपेक्षा न कुर्याच्चेत्, तदा नैवेद्यादिसम्पादनार्थं यत्न एव कर्तव्यः, किमर्थं क्लेश सोढव्य इत्यादिविचारेण स्वाच्छन्दव्यवहारापत्या नानाविध बाहिर्मुख्यं स्यात् । अत एतादृशे सकटे उपायमाहुरित्यर्थं । व्याकुर्वन्ति सर्वदेत्यादि । आत्मनिवेदनं हि सेवाधिकारार्थं सस्काररूपतया भगवतोऽभिप्रेतमिति पूर्वमुपपादितम् । तथा च तदुत्तरं सर्वदा सेवाया एव करणात्सर्वांशे स्वस्य सपरिकरस्य सर्वदा भगवदीयत्वानुसन्धाने बाहिर्मुख्यं न भविष्यतीति भाव इत्यर्थं । नन्वत्र तुशन्द्रेण निवेदनस्मरणसैव तथात्वं बोध्यत इति कथं तथा व्याख्यायते इत्याकाङ्क्षायां तुशन्द-

सर्वदा सर्वांशे तदीयत्वानुसन्धानेन तथा न भविष्यतीति भावः । अशक्त्या सेवाव-  
सम्भवेऽपीदं कार्यमेवेति ज्ञापनाय तुशब्दः । चकारपक्षे समुच्चयः । सर्वथेत्यस्यावश्यक-  
त्वज्ञापनाय । अथवा । सर्वथा ये तादृशा निवेदितात्मत्वेन तत्परास्तेः सह तथा । एतेन  
सङ्गदोषो निवारितः । अतादृशेष्वेतद्गोपनं सूच्यते । सर्वदेतिपाठे कालापरिच्छेदस्तत्रोच्यते ।  
अन्यथा तदैवासुरप्रवेशः स्यादिति भावः । कदाचिदलौकिकार्थस्य लौकिकस्य वा सिद्धार्थ  
प्रभुः प्रार्थनीय इति प्रश्ने नेत्याहुः सर्वेश्वर इति । अत्र सर्वशब्दो निवेदितात्मसर्वपरः ।  
यथा 'सर्वे ब्राह्मणा भोजयितव्या' इत्यत्र निमग्नता एव सर्वपदेनोच्यन्ते, न त्वन्येपि ।  
सर्वात्मपदेष्वेवं ज्ञेयम् । तेन सेवकाः सर्वे यथा यथा प्रपन्नाः, तथा तथा प्रभुरपि तेष्वङ्गी-  
कृतस्वामित्व आत्मीर्यत्वमेव तेषु मनुत इति तद्धितकृतौ न प्रार्थनामपेक्षत इति ज्ञाप्यते ।  
अथवा । कालादिनियामकत्वेन न तत्कृतौपि प्रतिबन्धसम्भव इच्छायामिति ज्ञापनाय सर्वपदं  
कालादिपरम् । प्रार्थितोपि स्वविचारितमेव करिष्यतीति प्रार्थनाप्यप्रयोजिकेति ज्ञापनाय  
निजेच्छेत्युक्तम् । अथवा । निजाः स्वीयत्वेनाङ्गीकृताः सेवकास्तेषां प्रभुरेच्छतः स्वयमेवा-  
पेक्षितं करिष्यतीति न प्रार्थनापेक्षेत्यर्थः । परन्त्वच्छया अविकृतत्वमेवापेक्षितमिति ज्ञाप-  
नायान्यप्रयोगः ॥ २ ॥

श्रीमत्पुराणोत्तमवृत्तवृत्तिप्रकाशसमेतम् ।

तात्पर्यमाहुः अशक्त्येत्यादि । तथा च अनुकल्पत्वभोपनाय तुशब्द इति न पूर्व-  
व्याख्याने दोष इत्यर्थः । एतदेव इङ्गीकर्तुं पाठान्तरं विवृण्वन्ति चकारेत्यादि । सर्वथेति  
पदं व्याकुर्वन्ति सर्वथेत्यादि । अस्येति । निवेदनस्य । ननु मुल्याशक्तावनुकल्पत्वादेवा-  
वश्यकत्वप्राप्तेर्नेदं व्याख्यानं युक्तमित्यरुच्या पश्चान्तरमाहुः अथवेत्यादि, सूच्यत  
इत्यन्तम् । अस्मिन् पक्षे सर्वथातादृशैरित्येक पदम् । पाठान्तरं व्याकुर्वन्ति सर्वदेत्यादि ।  
तत्रेति । निवेदनस्मरणे । एवं व्याख्यानद्वयेन सर्वदा भगवदीयत्वानुसन्धानमुत्तमभगव-  
दीयसङ्गेन दुःसङ्गवर्जेन दुष्टेष्वेतद्गोपनं चेति त्रयमुक्तम् । तथा च सर्वदेतत्करणे पूर्वोक्त-  
दोषस्य न संसर्ग इत्यर्थः । अतः परं प्रारब्धेनातिक्लेशप्राप्तौ पूर्वोक्तत्रयसान्ध्यतरस्य वाऽसम्भवे  
प्रमोक्ष सातुभावतायां क्लेशनिवृत्त्यर्थं तत्प्रार्थनं कार्यं नवेति चिन्तायासुपायान्तरं वदन्ती-  
त्याश्रयेनोत्तरार्थमवतारयन्ति कदाचिदित्यादि । अर्थस्त्वतिरोहितः । प्रश्ने इति सप्तमी ।  
व्याकुर्वन्ति अत्र सर्वेत्यादि । अस्मिन् पक्षे सर्वपदस्य वृत्तिसंकोच इत्यरुच्या  
पश्चान्तरमाहुः अथवा कारेत्यादि । निजेच्छात इति व्याकुर्वन्ति प्रार्थित इत्यादि ।  
अस्मिन् पक्षे भगवतः कृपालुत्वं तिर इव भवतीत्यतः पश्चान्तरमाहुः अथवा निजा  
इत्यादि । नन्वेवं सति पूर्वं कृतोऽन्यथा व्याख्यातमित्यत आहुः परमित्यादि ।  
अविकृतत्वमिति । विकृतत्वं प्राकृतगुणशोभकृतलौकिकविषयत्वम्, तद्विलक्षणत्वमविकृ-  
तत्वम् । तथा च अधन्याधिकारिणामिच्छया विकृतत्वात्तदर्थं तथा पूर्वं व्याख्यातम् ।

ननु भगवते समर्पितदेहादे<sup>१</sup> स्त्रीपुत्रादिषु विनियोगेन स्वधर्महानिचिन्ता चाधते, तत्राहु सर्वेषामिति ।

**सर्वेषां प्रभुसम्बन्धो न प्रत्येकमिति स्थितिः ।**

**अतोऽप्यविनियोगेऽपि चिन्ता का स्वस्य सोऽपि चेत् ॥ ३ ॥**

स्वात्मना सह यावन्तो निवेदितास्तै सहैव स्वस्याङ्गीकारात् तेषां सर्वेषामेव प्रभु-  
सम्बन्धो, न तु प्राधान्यात् स्वस्यैवेति तत्रोपयोगे स्वस्य का चिन्ता, न कापीत्यर्थः । इय

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशसमेवम् ।

उत्तमाधिकारिणा विवृत्त्या अधिकृतत्वादिदानीमेव व्याख्यातम् । अतो व्याख्यानद्वयम-  
प्युचितमेव । अत्रायमर्थः । प्रार्थना हि प्रभोरसर्वज्ञत्वे उदासीनत्वे वाऽऽन्यत्वे वा  
उपयुज्यते । अत्र च स्वकीयसर्वेश्वरत्वात्काळादिसर्वनियामकत्वाच्च नासर्वज्ञत्वम् ।  
नियमनस्य ज्ञानकार्यत्वात् । तत्तदात्मत्वाच्च नोदासीनत्वम् । स्वात्मत्वान्नान्यत्वम् । एव  
सत्यपि यत् स्वीयज्ञेयोपेक्षणम्, तत्किञ्चिदासक्तौ भगवानेवेति न्यायेन स्वस्य भक्तस्य वा  
कार्यार्थैव । तत्र भगवत्कार्यार्थत्वे स्वस्यान्ययाप्रार्थनमपराधावहम् । भक्तकार्यार्थत्वे  
स्वस्यैवानिष्टोपादकम् । अत एतदुभय विचार्य प्रार्थना न कार्या, किन्तु स्वस्वाधि-  
कारानुसारेण विवेकधैर्ये एव रक्षणार्थे इत्यर्थः । अत एव विवेकधैर्याश्रयेऽपि 'प्रार्थितं वा  
तत किं स्मात् साम्यमिप्रायसशया'दित्युक्तम् ॥ २ ॥

ननु पूर्वोक्ते विचार्यमाणे लौकिकालौकिकी सेवोपकरणविषयिणी चिन्ता न  
भविष्यति, तथापि ब्रह्ममाणरीत्या सेवाऽकरणविषयिणी धर्महानिचिन्ता तु भविष्यत्येवेति  
तन्नित्यर्थमग्निम वदन्तीत्याशयेन तृतीय श्लोकमवतारयन्ति ननु भगवत् इत्यादि ।  
स्वधर्महानिचिन्ता चाधते इति । स्वयं हि समर्पणक्रियायां कर्तृत्वेन प्रविष्ट इति सम-  
र्प्यान्तरापेक्षया मुख्यश्चेतनश्चेति अचेतनस्य स्वाधिष्ठितस्य देहादे<sup>१</sup> सदा भगवत्येव विनि-  
योगः कर्तव्यः, तत्र च शरीरादिकं मृत्युम्, तेन सेवा चेन्न सर्वदा कुर्यात्, तदा  
तस्य स्वधर्मो हीयेतेति सा तथेत्यर्थः । व्याकुर्वन्ति स्वात्मनेत्यादि । तत्रोपयोग इति ।  
स्त्रीपुत्रादिषु स्वदेहेन्द्रियविनियोगे । शेषोऽर्थस्तु स्पष्टः । तथा च यद्यपि समर्पण-  
क्रियोत्पत्तिदश्याया स्वस्य प्राधान्यम्, तथापि तदुत्तरदश्याया स्वस्याप्यन्यतुल्यत्वात्  
यथा अचेतनानां ब्रह्मादीनां भगवत्सुपयोक्ष्यमाणानां परस्पर विनियोगे चिन्ताया  
व्ययोगः, तथा चेतनाधिष्ठितानां स्वशरीरादीनामप्यचेतनानां परस्पर विनियोगे चिन्ताया  
व्ययोगः । भगवत्सुपयोक्ष्यमाणत्वस्योभयत्रापि तुल्यत्वात् । तत्र स्वतामिमानं न्यग्माग्य  
भगवदीयत्वेऽनुसहिते स्वधर्महान्यभावात् का चिन्ता, न कापीत्यर्थः । ननु निवेदनेन  
सर्वेषां भगवदीयत्वरूपे सम्बन्धे तुल्येऽपि कसचिद्विशेषतः सेवाया विनियोगो

सर्वदा सर्वांशे तदीयत्वानुसन्धानेन तथा न भविष्यतीति भावः । अशक्त्या सेवाद्य-  
सम्भवेऽपीदं कार्यमेवेति ज्ञापनाय तुशब्दः । चकारपक्षे समुच्चयः । सर्वथेत्यस्यापदयक-  
त्वज्ञापनाय । अथवा । सर्वथा ये तादृशा निवेदितात्मत्वेन तत्परास्तैः सह तथा । एतेन  
सद्गदोषो निवारितः । अतादृशेष्वेतद्गोपनं सूच्यते । सर्वदेतिपाठे कालापरिच्छेदस्तत्रोच्यते ।  
अन्यथा तदैवामुरप्रवेशः स्यादिति भावः । कदाचिदलौकिककार्यस्य लौकिकस्य वा सिद्ध्यर्थं  
प्रभुः प्रार्थनीय इति प्रश्ने नेत्याहुः सर्वेश्वर इति । अत्र सर्वशब्दो निवेदितात्मसर्वपरः ।  
यथा 'सर्वे ब्राह्मणा भोजयितव्या' इत्यत्र निमज्जिता एव सर्वपदेनोच्यन्ते, न त्वन्येपि ।  
सर्वात्मपदेष्वेवं ज्ञेयम् । तेन सेवकाः सर्वे यथा यथा प्रपन्नाः, तथा तथा प्रभुरपि तेष्वङ्गी-  
कृतस्वामित्व आत्मीयत्वमेव तेषु मनुत इति तद्धितकृतौ न प्रार्थनामपेक्षत इति ज्ञाप्यते ।  
अथवा । कालादिनियामकत्वेन न तत्कृतोपि प्रतिबन्धसम्भव इच्छायामिति ज्ञापनाय सर्वपदं  
कालादिपरम् । प्रार्थितोपि स्वविचारितमेव करिष्यतीति प्रार्थनाप्यप्रयोजिकेति ज्ञापनाय  
निजेच्छेत्युक्तम् । अथवा । निजाः स्वीयत्वेनाङ्गीकृताः सेवकास्तेषां प्रनुरेच्छातः स्वयमेवा-  
पेक्षितं करिष्यतीति न प्रार्थनापेक्षेत्यर्थः । परन्विच्छाया अतिकृतत्वमेवापेक्षितमिति ज्ञाप-  
नायाव्ययप्रयोगः ॥ २ ॥

श्रीमत्पुराणोत्तमकृतविकृतिप्रकाशसमेतम् ।

तात्पर्यमाहुः अशक्त्येत्यादि । तथा च अनुकल्पत्वबोधनाय तुशब्द इति न पूर्व-  
व्याख्याने दोष इत्यर्थः । एतदेव छद्मिर्कु पाठान्तरं विवृण्वन्ति चकारेत्यादि । सर्वथेति  
पदं व्याकुर्वन्ति सर्वथेत्यादि । अस्येति । निवेदनस्य । ननु मुल्याशक्तावनुकल्पत्वादेवा-  
वश्यकत्वप्राप्तेर्नैदं व्याख्यानं युक्तमित्यरुन्या पक्षान्तरमाहुः अधवेत्यादि, सूच्यत  
इत्यन्तम् । अस्मिन् पक्षे सर्वथातादृशैरिलोकं पदम् । पाठान्तरं व्याकुर्वन्ति सर्वदेत्यादि ।  
तत्रेति । निवेदनस्मरणे । एवं व्याख्यानद्वयेन सर्वदा भगवदीयत्वानुसन्धानमुत्तमभगव-  
दीयसङ्गेन दुःसद्भवर्जनेन दुष्टेष्वेतद्गोपनं चेति त्रयमुक्तम् । तथा च सर्वदेतत्करणे पूर्वोक्त-  
दोषस्य न संसर्ग इत्यर्थः । अतः परं प्रारब्धेनातिक्रेश्मप्राप्ती पूर्वोक्तत्रयस्यान्यतरस्य वाऽमभवे  
प्रमोक्ष सातुभावतायां क्लेशनिवृत्त्यर्थं तत्प्रार्थनं कार्यं नवेति चिन्तायामुपायान्तरं वदन्ती-  
त्याशयेनोत्तरार्धमवतारयन्ति कदाचिदित्यादि । अर्थस्त्वतिरोहितः । प्रश्ने इति सप्तमी ।  
व्याकुर्वन्ति अत्र सर्वेत्यादि । अस्मिन् पक्षे सर्वपदस्य वृत्तिसंकोच इत्यरुन्या  
पक्षान्तरमाहुः अधया कालेत्यादि । निजेच्छात इति व्याकुर्वन्ति प्रार्थित इत्यादि ।  
अस्मिन् पक्षे भगवतः कृपासुखं निर इव भवतीत्यतः पक्षान्तरमाहुः अधया निजा  
इत्यादि । नन्वेवं सनि पूर्वं कृतोऽन्यथा व्याख्यातमित्यत आहुः परमित्यादि ।  
अतिकृतत्वमिति । विकृतत्वं प्राकृतगुणशोभकृतलौकिकविषयत्वम्, तद्विदधयत्वमविकृ-  
तत्वम् । तथा च अपन्याधिकारिणामिच्छाया विकृतत्वात्तदर्थं तथा पूर्वं व्याख्यातम् ।

ननु भगवते समर्पितदेहादेः स्त्रीपुत्रादिषु विनियोगेन स्वधर्महानिचिन्ता बाधते, तत्राहुः सर्वेषामिति ।

सर्वेषां प्रभुसम्बन्धो न प्रत्येकमिति स्थितिः ।

अतोऽन्यविनियोगेऽपि चिन्ता का स्वस्य सोऽपि चेत् ॥ ३ ॥

स्वात्मना सह यावन्तो निवेदितास्तैः सहैव स्वस्याङ्गीकारात् तेषां सर्वेषामेव प्रभु-  
सम्बन्धो, न तु प्राधान्यात् स्वस्यैवेति तत्रोपयोगे स्वस्य का चिन्ता, न कापीत्यर्थः । इयं

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशसमेतम् ।

उत्तमाधिकारिणां त्विच्छाया अविच्छ्रुतत्वादिदानीमेव व्याख्यातम् । अतो व्याख्यानद्वयम-  
प्युचितमेव । अत्रायमर्थः । प्रार्थना हि प्रभोरसर्वज्ञत्वे उदासीनत्वे वाऽन्यत्वे वा  
उपयुज्यते । अत्र च स्वकीयसर्वेश्वरत्वात्कालादिसर्वनियामकत्वाच्च नासर्वज्ञत्वम् ।  
नियमनस्य ज्ञानकार्यत्वात् । तत्तदात्मत्वाच्च नोदासीनत्वम् । स्वात्मत्वान्नान्यत्वम् । एवं  
सत्यपि यत् स्वीयहेतुशोषणम्, तत्किञ्चिद्दासत्तौ भगवानेवेति न्यायेन स्वस्य भक्तस्य वा  
कार्यार्थैव । तत्र भगवत्कार्यार्थत्वे स्वसान्यथाप्रार्थनमपराभावहम् । भक्तकार्यार्थत्वे  
स्वस्यैवानिष्टोत्पादकम् । अत एतदुभय विचार्य प्रार्थना न कार्या, किन्तु स्वसाधि-  
कारानुसारेण विवेकधैर्ये एव रक्षणीये इत्यर्थः । अत एव विवेकधैर्याश्रयेऽपि 'प्रार्थिते वा  
ततः किं स्यात् स्वाम्यभिप्रायसंशया'दित्युक्तम् ॥ २ ॥

ननु पूर्वोक्ते विचार्यमाणे लौकिकालौकिकी सेवोपकरणविषयिणी चिन्ता न  
भविष्यति, तथापि वक्ष्यमाणरीत्या सेवाऽकरणविषयिणी धर्महानिचिन्ता तु भविष्यत्येवेति  
तन्निवृत्त्यर्थमग्रिम वदन्तीत्याशयेन तृतीय श्लोकमवतारयन्ति ननु भगवत इत्यादि ।  
स्वधर्महानिचिन्ता बाधत इति । स्वयं हि समर्पणक्रियायां कर्तृत्वेन प्रविष्ट इति सम-  
र्प्यान्तरापेक्षया मुख्यश्चेतनश्चेति अचेतनस्य स्वाधिष्ठितस्य देहादेः सदा भगवत्सेव विनि-  
योगः कर्तव्यः, तत्र च शरीरादिक मुख्यम्, तेन सेवां चेन्न सर्वदा कुर्यात्, तदा  
तस्य स्वधर्मो हीयेतेति सा तथेत्यर्थः । व्याकुर्वन्ति स्वात्मनेत्यादि । तत्रोपयोग इति ।  
स्त्रीपुत्रादिषु स्वदेहेन्द्रियविनियोगे । शेषोऽर्थस्तु स्पष्टः । तथा च यद्यपि समर्पण-  
क्रियोत्पत्तिदशाया स्वस्य प्राधान्यम्, तथापि तदुत्तरदशायां स्वसाप्यन्यतुल्यत्वात्  
यथा अचेतनानां वस्त्रादीनां भगवत्सुपयोक्ष्यमाणानां परस्पर विनियोगे चिन्ताया  
अयोगः, तथा चेतनाधिष्ठितानां स्वशरीरादीनामप्यचेतनानां परस्पर विनियोगे चिन्ताया  
अयोगः । भगवत्सुपयोक्ष्यमाणत्वस्योभयत्रापि तुल्यत्वात् । तत्र स्वनामिमानं न्यग्नाय  
भगवदीयत्वेऽनुसहिते स्वधर्महान्यभावात् का चिन्ता, न कापीत्यर्थः । ननु निवेदनेन  
सर्वेषां भगवदीयस्वरूपे सम्बन्धे तुल्येऽपि कम्पचिदिशेषतः सेवानां विनियोगो

निवेदनेऽङ्गीकारमर्थादेत्याहु स्थितिरिति । कस्यचिद्विशेषतोऽङ्गीकारश्चेत्, सा पुष्टिरिति भाव । अथवा । पुनादीनामन्यविनियोगदर्शनेपि स्वस का चिन्ता, तेषामप्यङ्गीकारेणैव वृत्तार्थतासम्भवादित्यर्थ । किञ्च । स्वस्येतिपदमावृत्तमपिशब्देन सम्बन्ध्यते ॥ ३ ॥

यथा पुनादीनाम्, तथा स्वस्यापि स अन्यविनियोगश्चेत्, तदापि चिन्ता न कार्येत्याहु. अज्ञानादिति ।

अज्ञानादथवा ज्ञानात् कृतमात्मनिवेदनम् ।

यैः कृष्णसात्कृतप्राणैस्तेषा का परिदेवना ॥ ४ ॥

श्रीमपुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशसमेतम् ।

इदयते, कस्यचित् स्वल्प, कस्यचिन्न, तत्र हेत्वज्ञाने तु चिन्ता स्यादेवेति तस्या कय निवृत्तिरित्यतस्तत्रिवृत्तिप्रकार स्थितिपदेन वदन्तीत्याहु इयमित्यादि । तथा च तत्र पुष्टि कारणत्वेनावधार्य चिन्ता न कार्या, किन्तु 'गन्धेऽर्चिते तुलसिकाभरणे'ति न्यायेन सन्तोषो विधेय इति सुखेन तन्निवृत्ति । एकत्र विशेषदर्शनेऽप्यन्यत्र निवेदनकृतभगवत्सम्बन्धस्थानपायात्र कापि चिन्तेत्यर्थ । एवञ्चात्र वाच्यद्वय प्रतिभाति, सर्वेषा प्रभुसम्बन्धो न प्रत्येक नै गुणप्रधानभावेन, अतस्तेषामन्यविनियोगे स्वस का चिन्तेत्येकम्, इति उक्त-रूपा, स्थिति. निवेदनेऽङ्गीकारमर्थादा, इतो विलक्षणता तु पुष्टि, अत कस्यचिद्विशेष याङ्गीकारेऽपि चिन्ता केत्यपरम् । अत्राग्रिमवाक्ये स्वस्येति चेतनपरामर्शकपददर्शनात् पूर्व-वाक्येपि सर्वेषामितिपदेन शरीराधिष्ठातृणामेव परामर्शो युक्त, न तु चेतनाचेतनाना यावतामिति पूर्वव्याप्यानमयुक्तम् । किञ्च, भगवति समर्पितदेहादे स्त्रीपुत्रादिषु विनियोगे स्वधर्महानिस्तदा स्यात्, यदि तेषा समर्पितत्व न स्यात्, समर्पितेषु विनियोगे तु 'निधे दिमि समर्थैव सर्वं कुर्या'दितिवाक्ये निवेदिना समर्पणस्य कयनेन तस्य च समर्पणस्य निवेदिना परस्परविनियोग एव सम्भवेन भक्तिमार्गमर्थादावोषकाहुक्तवाक्यादेव चिन्तो द्यस्यासम्भव इति चारुन्या गक्षान्तरेण व्याकुर्वति अधवा पुत्रेत्यादि । तथा च सेवासम्बन्धिना चेतनाना निवेदितव्यनिरिक्तससर्गविषयिण्याश्चिन्ताया निवृत्त्यर्थमयमुप देश । पुनादीनामित्यादिपदेनाचेतनानामपि सगह । उत्तरपूर्ववाच्ययोरेकज्ञानीयमेव ग्राह्य मित्यत्र नियामकत्वस्वाभावात् । पूर्वव्याख्यानोक्ता चिन्ता तु पुष्टिमात्रविचारात् । साम्प्र निका तु मार्गमर्थादात् इति न कोपि दोष इत्यर्थ । स्वसेत्यन्तस्य पदराशे पूर्ववाक्य एव सम्बन्धे शिष्ट सोपि चेदिति पदत्रयमलमक तिष्ठतीति, तत्सम्बन्धायाहु' विश्वेत्यादि ॥ ३ ॥

सबन्ध बोधयित्वा अर्थ वदन्तोऽग्रिममवतारयन्ति यथेत्यादि, स्वस्येति । अनुभाव-ज्ञानेन स्वस्मिन् विशेषाङ्गीकार निश्चितवतो वा सेवाकर्तृत्वेन प्रधानस्य वा । इत्याहुरिति ।

हीनमध्यमाधिकारिभिरपि निवेदितात्मभिश्चिन्ता न कार्या भवति यत्र, तत्र कृष्ण-  
सात्कृतप्राणैश्चिन्ता न कार्येति किमु वाच्यमित्यर्थः । केवलं श्रमधीनीकृतप्राणानां चिन्ता-  
विषयमावादेव न सेति भावः । अत एव केतिशब्द उक्तः । पदसम्बन्धस्तु अज्ञा-  
नादयवा ज्ञानाद्यैस्तत्कृतम्, तेषां सा नेतिशेषः । कृष्णसात्कृतप्राणैर्यैस्तत्कृतम्, तेषां सा  
केत्युक्तम् ॥ ४ ॥

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतत्रिवृत्तिप्रकाशसमेतम् ।

इतिपदं कैमुतिकचोपधकेनाग्रिमवान्पयेनाहुरित्यर्थः । व्याकुर्वन्ति हीनेत्यादि । हीन-  
मध्यमाधिकारिभिरिति । भगवतः सर्वरूपत्वेन मार्गप्रवर्तकोपदेशकगुर्वादिरूपताया  
निरवधिसच्चिदानन्दस्वरूपत्वेन परमफलताया निरुपधिभक्त्येकप्राप्यतायाश्चाज्ञानाद्धी-  
नाधिकारिभिः । तादृशज्ञानवत्त्वेपि कृष्णसात्कृतप्राणत्वाभावेन मध्यमाधिकारिभिरित्यर्थः ।  
शेषं व्याख्यानं तु स्पष्टार्थम् । तथा च स्वस्मिन् विशेषानुग्रहं निश्चितवतोपि यत्रान्य-  
विनियोगसंभवः, तत्र भगवदिच्छैव किञ्चित्कार्यार्थं तादृशी तेनावधार्या, न तु चिन्ता  
कार्या, तन्मूलभूतस्य स्वापराधस्याभावादिति । तदेतदुक्तं केवलमित्यादिना, केति  
शब्द उक्त इत्यन्तेन । कैमुतिकन्यायस्य स्पष्टीकरणार्थं पदसम्बन्धमाहुः पदेत्यादि,  
सा केत्युक्तमित्यन्तम् । अत्रेदमुक्तं भवति । एकादशस्कन्धे साधुलक्षणकथन-  
समाप्तौ 'ज्ञात्वाऽज्ञात्वाय ये वै मां यावान् यथासि यादृशः । भजन्यनन्यभावेन  
ते मे भक्ततमा मता' इति भगवद्वाक्ये हीनमध्यमयोरुप्यनन्यभावेन भजने  
भक्ततमतयोत्कर्षः कथितः । भगवदुद्धवसंवादसमाप्तौ च 'न ह्यहोपक्रमे ध्वंसो  
मद्धर्मसोद्धवाप्वपि । मया व्यवमितः सम्यग् निर्गुणत्वादनाशिपः । यो यो  
मयि परे धर्मः कल्पते निःफलाय चेत् । तदायामो निरर्थः स्याद्भवादेरिव  
सत्तमे'ति श्लोकद्वयं भगवतोक्तम् । तत्र श्रीधरीये, अहं हे उद्धव, अनाशिपो निष्कामस्य  
मद्धर्मस्य उपक्रमे सति, अप्वपि ईपदपि वैगुण्यादिभिर्नाशो नास्त्येव । यतो मयैव  
निर्गुणत्वादयं धर्मः सम्यग्व्यवमितो निश्चितः, नतु भन्वादिमुखेन कथयित् । ननु  
त्वद्धर्मस्य एवं सामर्थ्यम्, तस्मादन्यत्र कथम्, तत्राह यो य इति । अयमर्थः । किं वक्तव्यं  
मद्धर्मस्य न ध्वं इति, यतो लोकिज्ञोपि यो यो निरर्थो धर्म्य आयासः, सोपि मयि परे  
परमेश्वरे निष्फलाय कल्प्यते चेत्, निष्कामतया अपितथेत्, तर्हि स धर्म एव स्यात्,  
कर्मकरणायाप्तो न निरर्थः स्यात् । निरर्थायामे रष्टान्तः । यया भयशोकादेर्हेतोः पलायन-  
प्रन्दनादिस्तद्भूत् । एवं व्याख्यातम् । तथा च निष्कामभगवद्धर्मस्य वैगुण्यादिमिरीपदपि  
नाशो नास्तीति भगवता कथनान् प्रकृते चाननिवेदनस्य अतिकारतया तथात्वान् हीनाय-

ननु सख्यात्मनिवेदने हि भगवदङ्गीकारेणैव सम्पद्येते, तथा च स्वयमात्मनिवेदने कृतेपि प्रभुरङ्गीकृतवाचनेति चिन्ता भवत्येव, इत्यत आहुः तथेति ।

तथा निवेदने चिन्ता त्याज्या श्रीपुरुषोत्तमे ।

विनिघोगेपि सा त्याज्या समर्थो हि हरिः स्वतः ॥ ५ ॥

पुरुषोत्तमोङ्गीकृतवाचनेति निवेदनविषयिणी या सा त्याज्या उक्तनिवेदनवदित्यर्थं । पुरुषोत्तमेन निरोधलीलाया स्वतोऽन्यमजन कियमाणा भक्तास्तन्निवार्य स्वयमात्म सात्कृता इति तादृशे स्वय सवात्मना निवेदने कृते सा शङ्का नोचितेति ज्ञापनाय पुरुषो

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशसमेतम् ।

धिकारेपि साधनत फलतश्च नाशाभावाच्चिन्ताया अभावो यत्र, तत्र मुख्याधिकारे किं वक्तव्यमिति भगवद्वाक्यादेव सिद्धम् । तथा भगवदर्थो लौकिकोप्यायासो नापार्थ इति च । अत पूर्वोक्त सर्व युक्तमेवेति तेषामुक्तचिन्ताजन्या विलापात्मिका परिदेवना का, न कापीत्यर्थादेवोक्तमित्यर्थं ॥ ४ ॥

एव निवेदितविषयिण्याश्चिन्ताया निवृत्त्युपायमुक्त्वा इदानीं निवेदनविषयिण्याश्चिन्ताया निवृत्त्युपाय वदन्तीत्याशयेनाश्रिमभवतारयन्ति ननु सख्येत्यादि । प्रेममत्तौ हि विहितश्रवणादिनवक प्रत्येक क्वचित् समुदित च साधनम्, तेष्वाय प्रय सेव्यनिरपेक्षजीवमात्रसाध्यम् । पादसेवनमपि 'पादौ हरे क्षेत्रपदानुसर्पण' इति नवमस्कन्धवाक्योक्तरीत्या पञ्चा सेवनमिति पक्षे पूर्ववदेव । पादयो सेवनमितिपक्षे तु सेव्यसापेक्षम् । तथैवार्चनादिप्रयमपि । तथा सलेतच्चतुष्टय प्रय वा सेव्ये चैतन्याप्राकट्येपि सिध्यति । सख्यात्मनिवेदने तु भजनीये चैतन्यप्राकट्यमपेक्षेते । यदि हि भजनीयो भक्ते सख्य तत्कृतमात्मनिवेदन च चैतन्यप्राकट्येनाङ्गीकुर्यात्, तदा भगवदङ्गीकारेण सम्पद्येते । तत्राकट्य तु प्रेमभक्त्यधीनम् । साम्प्रत तु तत्साधनदशा, तथा चेदानीं तत्राकट्याभावात् स्वयमित्यादिनोक्ता चिन्ता भवत्येव हीनमध्यमयोः रित्यतस्तन्निवृत्त्युपायमाहुरित्यर्थं । श्याकुर्वन्ति पुरुषोत्तम इत्यादि । उक्तनिवेदनवदिति । मूलस्य तत्रापदम्यार्थं । अत्र च ससम्यर्थे वति । तथा च यथा भगवद्धर्मोपक्रमरूपे निवेदनेऽन्यविनियोगादिना वैगुण्यतोपि भगवद्धर्मनाशामावाच्चिन्ता त्यज्यते, तथा अङ्गीकारसन्देहरूपा निवेदनविषयिण्यपि सा त्याज्येत्यर्थं । अत्र हेत्वपेक्षया श्रीपुरु



त्तमपदम् । तत्रापि स्वरूपानन्ददानेनानिशं पोष्यमाणानां भक्तानां तदितरत्रोपयोगासम्भ-  
वेनैव न शङ्कोदय इति ज्ञापनाय श्रीपदम् । तथा च तद्युक्ते तत्र निवेदने सा त्याज्येति  
भावः । कदाचिल्लोकभयाद्युपस्थितौ तन्निवारणाय जीवस्वभाववशादन्त्यविनियोगेपि तथे-  
त्याहुः विनियोगेपीति । प्रमादात्तथासम्भवेपि प्रभुर्न त्यक्ष्यति । यतस्तत्स्वभाववशात्तथा-  
भूतमप्युद्धर्तुं तत्साधनानपेक्षः ॥ ५ ॥

अङ्गीकारे लक्षणान्तरमप्याहुः लोक इति ।

लोकैः स्वास्थ्यं तथा वेदे हरिस्तु न करिष्यति ।

पुष्टिमार्गस्थितो यस्मात् साक्षिणो भवताखिलाः ॥ ६ ॥

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशासमेतम् ।

पोत्तमपदेन तं वदन्तीत्याशयेन तत्पदं विवृण्वन्ति, पुरुषोत्तमेनेत्यादि श्रीपदमित्यन्तम् ।  
तात्पर्यं स्फुटीकुर्वन्ति तथा चेत्यादि । सरसभक्तयुक्तो भगवान् हीन्द्रयागभङ्गगोवर्ध-  
नोद्धरणादिलीलाभिस्तथाकुर्वन् स्वीयान् पुष्पातीति इन्द्रयागभङ्गादिवोधकान्छब्दादेव  
भगवतस्तथास्वभावमवगत्य सा त्याज्या, स्वसानन्यभावेन भजनस्य निर्वाहे कार्यलि-  
ङ्गकानुमानादेवाङ्गीकारं निश्चित्य सा त्याज्या भक्तानां दयालुत्वादित्यर्थः । न च  
निवेदनगद्ये भगवतः केवलस्यैव सम्प्रदानत्वमुक्तमिति कथमत्र श्रीपुरुषोत्तमपदेन  
भक्तयुक्ते निवेदनमुच्यते इति शङ्काम् । एकादश एव 'रामेण सार्ध'मित्यादिना या  
तावद्भक्तिः प्रशंसिता, तत्परमकारणत्वेनोन्नतं आत्मनिवेदिधर्मा उक्ताः, तत्रात्मनिवेदन-  
प्रकारो न स्फुट इति तत्रत्यं सर्वं संगृह्य कल्पसूत्रवत् गद्ये प्रभुणोक्तः, अतः कृष्णपदेन  
तत्र ताभिः सहित एव परामृश्यते । तेन भक्तयुक्तस्यैव सम्प्रदानत्वम् । किञ्च, सदानन्दो  
हि भगवान् रसात्मक एव, 'रसो वै स' इति श्रुत्या सिद्धो, रसश्चालम्बनसापेक्ष एवे-  
त्यतोपि तथेति न विरोधगन्धोपि । ननु सत्यमेवम्, तथापि स्वस्य कदाचित्  
कथञ्चिदन्यविनियोगे जाते तस्माद्विरुद्धकार्यादङ्गीकारे सन्देहो भवत्येवेति तद्रूपा सा  
कथं त्यक्तुं शक्येत्याकाङ्क्षायां तत्रोपायं वदन्तीत्याशयेनोत्तरार्धमवतारयन्ति कदाचिदि-  
त्यादि । न तथेति । न कार्या । व्याकुर्वन्ति प्रमादादित्यादि । तत्स्वभाववशात्तथा-  
भूतमिति । जीवस्वभाववशात् कदाचित् वैहिर्मुखम् । तथा च तादृशस्य कदाचिद-  
नन्यभजनाभावान्नैवं वाहिर्मुख्ये तस्य जुगुप्सा तूल्येयत एवेति तेन कार्येण सप्रतिबन्धक-  
मङ्गीकारमनुमाय 'हराम्यधं यत्स्मर्त्तुं हविर्भागं क्रतुष्वहम् । वर्णश्च मे हरिश्चेष्टस्ता-  
द्धरिहं स्मृत' इति भारते भगवद्ब्रह्मनात्, भगवतः स्वीयापनिवर्तकत्वमनुसन्वाय अपरा-  
धिनां पकीयकादीनामप्यनुप्राहकत्वेन जीवकृतसाधनानपेक्षत्वं चानुसन्वाय सा त्याज्येत्यर्थः ।  
एतेनैतादृशदीनभावोत्पत्तिरङ्गीकारलक्षणमित्युक्तम् ॥ ५ ॥

एतद्वाच्यार्थमन्यदपि वदन्तीत्याशयेनाग्निमवतारयन्ति अङ्गीकार इत्यादि ।

कदाचित् प्रवाहवशाद्धौकिके वाणिज्यादौ, वैदिके आश्रमधर्मादौ वा स्त्रितौ तत्र विन्न एव भवति, न तु तत्फलमित्यर्थः । तत्र हेतुः पुष्टीनि । तद्दिनापि स्वयले-  
नैव सर्वकर्ता यत् इति भावः । पुष्टिमार्गाङ्गीकारे मर्यादां न सहत इति ज्ञेयम् । एव सति  
किं कार्यमित्याकाङ्क्षायामाहुः, साक्षिवत् तत्कृतं पश्यत ॥ ६ ॥

सेवाकृतिर्गुरोराज्ञा बाधनं वा हरीच्छया ।

अतः सेवापरं चिन्तं विधाय स्थीयतां सुखम् ॥ ७ ॥

सेवाकृतिरिति । गुर्वाज्ञाया अबाधनं यथा भवति, तथा सेवाकृतिः पूर्वमपेक्षिता ।  
एवं वर्तमानानां कदाचिद् विशेषतो भगवदाज्ञा चेत्, गुर्वाज्ञा विसृद्धा भवेत्, तदा तथा  
कार्यमित्याशयेनाहुः बाधनं वा हरीच्छया । विकल्पेनाबाधनमित्यर्थः । एवं सति गुर्वा-

धीमत्सुरोत्तमकृतवितृतिप्रकाशसमेतम् ।

व्याकुर्वन्ति कदाचिदित्यादि । अत्र च 'त्रैवर्गिकाप्यासे'ति पूर्वोक्तं पृष्ठस्कन्धवाक्यमेव  
वीजत्वेन ज्ञेयम्, पुष्टिप्रकरणस्यत्वात् । तथाच यथा वृत्रस्य तादृशसङ्क्षोपसितावपि  
भगवत्प्रसादानुमितिरिव जाता, तथास्यापि लौकिकवैदिकास्वास्थ्योपस्थितौ यद्भगवत्प्रसा-  
दानुसन्धानम्, तदप्यङ्गीकारलक्षणम् । एतादृशोपवन्तं प्रत्युपदिशन्ति साक्षिण  
इत्यादि । तद् व्याकुर्वन्ति साक्षिवत् तत्कृतं पश्यतेति । तथा च 'ज्ञातयः पितरौ  
पुत्रा प्रातरः सुहृदोऽपरे । यद्ददन्ति यदिच्छन्ति चानुमोदेत निर्मम' इति सप्तमस्कन्ध-  
स्यभगवदीयगृहस्यप्रकरणस्यवाक्यात् पूर्वोक्तरीत्या एतदाचार्यवाक्येन लौकिके वैदिके  
साक्षिवत् भगवत्कृतित्वदर्शनं यत्तदपि तद्वक्षणमित्यर्थः ॥ ६ ॥

नन्वप्रास्तास्येपि साक्षिरत्कृतिदर्शनोपदेशेन विदुःखसहनरूपं धैर्यमेव साधनत्वे-  
नोक्तं भवति, ततश्च तावन्मात्रस्य कर्तव्यत्वे सेवायाः सम्यगमम्भवान्निवेदनवैयर्थ्यं तु  
सादेवेति प्रकारान्तरेण धर्महानिचिन्ताप्राप्तौ तन्निवृत्त्यर्थमुपदिशन्तीत्याशयेनाग्रिममवतार-  
यन्ति एवं सतीत्यादि । व्याकुर्वन्ति गुर्वाज्ञाया इत्यादि । तथा कार्यमिति । बाधनं  
कार्यम् । तथा च 'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ'विति श्रेताश्वतरश्रुते 'नैवोऽप-  
यन्त्यपचितिं करयस्तवेश ब्रह्मादयोऽपि कृतमृद्धमुदः स्मरन्तः । योऽन्तर्गहितस्तनुभृताम-  
शुभं विधुन्वन्नाचार्यचैत्यत्रपुषा स्वर्गतिं ध्यनक्ती'त्येकादशब्रह्मसंहितादिभ्यश्च गुरोरेव मुख्य  
इति । गुर्वाज्ञाबाधनाभावपूर्वकं सेवाकृतिरात्मनिवैदिधर्मः स यादृशेन साक्षिवत् तत्कृतिदर्श-  
नेन न विषदितो भवति, तादृशतया साक्षिवत् स्यात्तस्यम्, न तु सेवाविरुद्धतया । तेन  
लौकिके विषये साक्षिवत् स्थेयम्, न तु सेवाविषये इति सिध्यति । तत्रापि हरीच्छा  
विचार्या, अनाधने बाधने वा सास्तीति । सा च भगवदनुभावमनुभवतो बुद्धिगोचरो  
भवति, अन्यस्य तु फलफलकत्वात् । एवं सति यथाधिकारं तां बुद्ध्या कार्यम् । ततो न  
स्वधर्महानिरित्यर्थः । एतदेव निगमयितुमुत्तरार्थमित्याशयेनावतारयन्ति एवं सतीत्यादि ।

ज्ञाया अवाधने वाधने वा सेवैव मुख्या यतोऽतस्तथैव सेवमित्याहुः अत इति । एवं सति पर्यवसितं सुखमेवेत्याशयेन सुखमित्युक्तम् ॥ ७ ॥

कदाचित् पुनादिवियोगशङ्काजनितदुःखेन चिन्तासम्भवे गतिमाहुः चित्तोद्वेगमिति । चित्तोद्वेगं विधायापि हरिर्यच्चत्करिष्यति । तथैव तस्य लीलेति मत्वा चिन्तां द्रुतं त्यजेत् ॥ ८ ॥

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशसमेतम् ।

तथा च यथा राजभोगसमये नेत्रे निमील्य बीजयन्तं बृहद्रामदास प्रति भगवता श्रीगो-  
वर्धनेश्वरेण साक्षाद्भुञ्जानं मामुन्मील्य पश्येत्याज्ञप्ते, ममाचार्याज्ञा भोगसमये दर्शनविषयिणी  
नास्तीति नोन्मीलयिष्यामीति तैः प्रत्युक्तम्, तदा भगवान् प्रसन्न आसीत् । सामग्र्यादि-  
विषयिण्यां विशेषाज्ञायां तु साधारण्याचार्याज्ञा बाध्यते, तदा नाप्रसन्नो भवति, तेन  
सेवाया एव मुख्यत्वम्, अतस्तदनुसारेणैव स्थेयमित्यर्थः । अत्रापि 'परिनिष्ठा तु पूजाया'-  
मिति निवेदिप्रकरणसं भगवद्वाक्यमेव बीजत्वेन ज्ञेयम् । सर्वतो नितरां निरवधितया  
वा स्थितेरेव परिनिष्ठापदार्थत्वादिति ॥ ७ ॥

ननु भवत्वेवमल्पदुःखोपस्थितौ साक्षिवत् स्थितिः, महादुःखोपस्थितौ त्वेवं  
स्थितिरशक्येत्याशङ्कानिबृत्त्यर्थमग्रिम वदन्तीत्याशयेनाग्रिमगवतारयन्ति कदाचिदित्यादि ।  
मूलव्याख्यानं तु स्पष्टत्वात् न कृतम्, पर तत्रायं भावः । अवश्यंभाविनो दुःखस्याप्र-  
तीकार्यत्वात्तत्र चित्तसमाधानमेत्रोपायः । तत्र नानोपायैर्भवति । यथा सप्तमस्कन्धे यमप्रे-  
तसुयज्ञबन्धुसंवादे 'अहो अभीषां वयसाधिकाना'मित्यादिना यमप्रदर्शितलोकगतिज्ञानेन  
सुयज्ञबन्धूनां जातम्, यथा च षष्ठस्कन्धे 'यथा वस्तूनि पण्वानि हेमादीनि ततस्ततः ।  
पर्यटन्ति नरेभ्येवं जीवा योनिषु कर्तृष्वि'ति जीववान्यात्रीनस्य सर्वसाधारण्यज्ञानेन चित्र-  
केतुप्रभृतीनाम् । यथा च 'पित्रोः स किन्तु भार्यायाः स्वामिनोभोः शृष्ट्रप्रभोः । किमात्मनः  
किं सुहृदामिति यो नावसीयत' इति देहस्य सर्वसाधारण्यज्ञानेन पुरुखवसः ।  
एवमन्येपि बोध्याः । ते केपि नात्मनिवेदिनामुपयुज्यन्ते, भगवत्स्मरणोदासीनत्वात्,  
किन्तु प्रभासीयलीलायां 'नैषां वधोपाय इयानतोन्व' इत्येकादशीयभगवद्विचारानुवाद-  
वाक्यात् सा लीला यथा भक्तानां चित्तोद्वेगं विधाय, या कृता लोकमर्यादावक्ष-  
णार्थम्, अग्रे तेषां नित्यसुखदानार्थं च, तथा चित्तोद्वेगं विधाय अपिशब्दाद्विधाय च हरिः  
स्मर्वृषां प्रारब्धादिरूपापहारको भगवांस्तद्दरणार्थं यद्यत् शुभत्वेनाशुभत्वेन वा आपाततः  
प्रतीयमानं करिष्यति, तत्कार्यं साक्षाद्वा केनचिद्द्वारेण वा तस्य अस्मदीश्वरस्यास्मदात्मनो  
भगवतस्तथैव लीला, अनेन प्रकारेणास्माकं महतोऽपरा नाशनाय मायिकी लीलेति मत्वा  
साधकनाथकप्रमाणैस्तुचिन्त्य चिन्तां उद्वेगजनिकां वा तद्वज्रितां वा तद्रूपां वा द्रुतं शीघ्रमेव  
त्यजेत् । तस्याः बहुकालं स्थाने कालकर्मस्वभावानां प्रचलत्वेन तथा असुखप्रवेशरूपमहो-  
पद्रवसम्भवेन मुख्यफलप्रतिपन्धो वा विलम्बो वा स्यात्, अतो मङ्हु त्यजेदिति भावः ॥८॥

नन्विदमखिलमशक्यमिव भाति । तथाहि । श्रवणमारभ्य सख्यपर्यन्तागतौ हि पश्चान्निवेदनवार्ता । तत्र प्रत्येकं तदेव दुरापमिति दूरतरा निवेदनदिगपि । अतस्खलूत-चिन्तान्यविद्योगचिन्तादिसमाहितिर्निरर्थेति विचार्य साधनफले एकीकृत्य सर्वसमाधान-माहुः तस्मादिति ।

तस्मात् सर्वात्मना नित्यं श्रीकृष्णः शरणं मम ।  
वदद्भिरेवं सततं श्रेयमित्येव मे मतिः ॥ ९ ॥

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशसमेतम् ।

एवमत्र पुष्टिमार्गस्थस्य पूर्वं सेवोपकरणकर्तृनिवेदनविषयकचिन्तानिवृत्त्या-यत्वेन स स विचार उपदिष्टः, ततः सेवाकृत्यविरुद्धतया साक्षिवत् स्थित्युपदेशेन सेवायां स्थितेश्चोपदेशेन वैराग्यरागौ नियमभेदेन व्यवस्थापितौ । चित्तोद्वेगे च लीलाविचार उपदिष्टः, तदिदानीं सर्वमशक्यम्, कालादिकृतगुणक्षोभेण चित्तस्थैर्यस्य दुर्घटत्वात्, अतोऽयमुपदेशो-नुपदेश एवेत्याशङ्क्य कृपया तस्मिद्धर्षमुपायमधुनोपदिशन्तीत्याशयेनाग्रिममवतारयन्ति नन्विदमित्यादि । तदेव दुरापमिति । श्रवण हि भगवद्वाचकपदवाक्यानां गुरुमुखा-च्छक्तित्वात्पर्यनिर्धारः । तत्पूर्वकमन्यस्याग्रे कथनं कीर्तनम् । तेषामर्थानुसन्धानं स्मरणम् । तदिदानीं सर्वतद्विदो गुरोर्दोर्लभ्येन श्रवणस्य दुरापत्वे कीर्तनस्मरणयोरपि तथात्वम् । तदभावे भगवत्स्वरूपज्ञानाभावात् पादसेवनादीनामपि भगवद्विषयत्वाभावात्तथात्वम् । एवं कालादिभिः प्रतिबन्धकैः प्रत्येकमपि द्रष्टव्यम् । साधनफले एकीकृत्य सर्वसमाधा-नमाहुरिति । साधन श्रवणाद्यष्टकम् । फलमात्मनिवेदनम् । ते उभे एकीकृत्य स्वासाध्यत्वेन तस्यां कोटौ निक्षिप्य पूर्वोक्तस्य सर्वस्य मुसाध्यत्वं यथा भवति, तादृश तत्सम्बन्धिसमाधा-नमाहुरित्यर्थः । समाधानं व्याकुर्वन्तः शरणागते समाधायकत्वे बीजमाहुः यस्मादित्यादि । भक्तिमार्गे श्रवणं तत्र रूप्यादौ चानुग्रह एव हेतुरिति वरणशून्या भक्तिहेतुनिर्णये व्युत्पादि-तम् । तस्मिन् सति यदा सेवाप्रतिबन्धसम्भवः, तदा प्रारब्धकालस्वभावानामेव हेतुत्वम् । तन्निवृत्तिस्तत्सर्वनियामकेन प्रभुणैव भवति, नान्यतः । तत्र च शरणागतिरेव साधनम् । 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज । अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच' इति भगवद्वाक्यात् । 'देवर्षिभूतासन्तानां पितृणां न किंकरो नायमृणो च राजन् । सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कृत्य'मित्येकादशस्कन्धे करमाजनवाक्याच्च भगवतः शरण्यता । तस्मादह्नोक्तस्य जीवसोक्तरीत्या अशक्तौ शरण्यत्वात् प्रभुरेव सर्वं सम्पाद-यिष्यतीत्याचार्योणामाशय इत्यर्थः । एतेनाष्टमस्कन्धप्रतिपादित आपस्तु हरिसंस्मृतिरिति भगवद्भक्तिसम्पादक आपद्धर्मोपि गजेन्द्रसेवास्यापि सिध्यतीत्यपि चोच्यम् । नन्वेवं सति

१ भगवद्भक्त्या भगवत्शरण्यमेव तदनुगन्धनं च साधनम् । जलं भगवदरीरार । ततो भगवद्भक्त्या भगवत्शरण्यतो भगवता निवेदनमशोकाराद्भक्तिः प्रमनियमाभावनिवेदनादिभ्यश्च चिन्तासाधनता-भ्युत्पत्तिरिति भार ।

यस्मादुक्तरीत्या स्वतः सर्वमशक्यगतः सर्वात्मना शरणागतौ प्रभुरेव सम्पादयिष्यतीति हृदयम् । भक्तिमार्गीयान् सर्वानंशान् विचार्य तत्र प्रतिबन्धं स्वाशक्तिं च स चेत् पश्यति, तदा सर्वात्मना तथा भवति । नित्यमिति नैरन्तर्यमुच्यते । अन्यथा कालेनासुरधर्मप्रवेशः स्यात् । अन्तःकरणे तथाभावेऽतथाभावे वा तथा वदनमावश्यकमिति ज्ञापयितुं सततमेवं यदङ्गिरित्युक्तम् । एवं सति लोकशिक्षाप्यानुपक्षिकी सिच्यति । एवमुक्तप्रकारेण सेवापरतया श्येयमित्यर्थो वा । नन्विदमपि न स्वशक्यमित्याशङ्क्य 'यमेवैष वृणुत' इति श्रुतेर्मे मतिरित्येव, एवंप्रकारिकैवेत्यर्थः ।

श्रीमत्पुराणेऽप्युक्तमश्रुतविभूतिप्रकाशासमेतम् ।

प्रथमत एवेदं साधनं कुतो नोपदिष्टमित्यत आहुः भक्तीत्यादि । सर्वात्मना तथा भवतीति । श्रीकृष्णाश्रयोक्तरीत्या सर्वेषां सहकारिणामतथात्मसहायत्वं च निश्चित्य, विवेकादीनां भक्तयन्तानां साधनानां स्वासाध्यत्वं च निश्चित्य, दीनभावेन सर्वैः प्रकारैः शरणागतिर्भवति । तथा च प्रागेवोपदेशार्हत्वेपि यदधुना सर्वान्त उपदिष्टम्, तत् सर्वात्मना सर्वैः प्रकारैर्भवनार्थमित्यर्थः । आसुरधर्मप्रवेश इति । बाहिर्युल्यजनकाहङ्कारप्रवेशः । तथा वदनमावश्यकमिति । वाचस्तेजोमयीत्वेन वदनक्रियायां वैखरीत्वेपि वक्तुः पश्यन्ती प्रकाशयन्त्यन्तःकरणमासुरधर्मात् परावर्तयेदत आवश्यकम् । परोपकाराद्यापि भवेत्, अतश्च तथेति बोधनायाहुः एवं सतीत्यादि । एवं सत्याश्रयस्यैव मुख्यता आयातीति सेवावश्यकत्वबोधकपूर्वग्रन्थविरोध इत्यतः प्रकारान्तरेण व्याकुर्वन्ति एवमुक्तेत्यादि । एवं यदङ्गिः सर्वचिन्ताराहित्यपूर्वकं सेवापरतया श्येयम् । तथा चाङ्गत्वेनैवात्र शरणोपदेशो, न तु मार्गत्वेन, अतो न विरोध इत्यर्थः । स्वमत्या निष्कर्षकथनस्य तात्पर्यमाहुः नन्वित्यादि । इदं सर्वात्मना शरणगमनमपि न स्वशक्यम्, 'सोहं तवाङ्गश्रुपगतोस्म्यसतां दुराप'मित्यकूरस्तुतौ तथा सिद्धत्वादित्याशङ्क्य 'यमेवैष वृणुत' इति वरणलभ्यत्वबोधकश्रुतेर्मे मतिरेवंप्रकारिकैव । भगवता यदानुगृह्यते, तदैव सर्वात्मना शरणागतिर्भवति, नान्यथा । 'तन्नाप्यहं भवदनुग्रहमीश मन्ये पुंसो भवेद्यदि संसरणापवर्गः । स्वयन्जननाम सदुपासगया मतिः स्या'दिति तत्रैव वाक्यशेषात् । तथा चास्मिन् मार्गे कृपेय साधनम्, अतः श्रुत्यनुसारेण मार्गप्रवेशतद्दुष्यादिना वरणमनुमाय मदीयैरेवमेव कर्तव्यं यत्कथं च । यदि च न तन्निर्वाहः, तदा प्रतिग्रन्थकमनुमेयम् । गगनच्छात्रे एतदतिरिक्तस्य इहस्य सर्वप्रतिनिधिभूतस्य साधनान्तरस्वामान् । गीतायामन्तो पतस्यैव शोकाभावाथमुपदेशेऽपि तथा निश्चयात् । एतद्वाक्यान्तःस्यस्य श्रीकृष्णपदस्य भक्तसहितपुरुषोत्तमवाचकत्वात् । अनुप्रसिद्धत्वेन मम स एव शरणमिति तस्मिन् सरसकल्पबोधनेन वाक्यतात्पर्यस्य तत्रैव निर्धारो गुरुमुखादुक्ते श्रवणस्य तत्पूर्वकाणामन्येषां च सरूपकद्रोक्षत एव श्रुतेः सिद्धेरिति ॥ ९ ॥

एवं सर्वं व्याख्याय प्रत्यकरणसान्ते शरणनशत्रुविकथनस्य च प्रयोजनमाहुः  
३ न. २.

भक्तिमार्गं प्रवृत्तस्य दार्ढ्यार्थमिदमुच्यते ।  
 अन्धस्य द्युयं इव तद्विमुखस्यात्र नार्थिता ॥ १ ॥  
 भक्तिमार्गसुधासिन्धोर्विचारमथनैः स्वयम् ।  
 स्फुटीकृतानि रत्नानि श्रीमदाचार्यपण्डितैः ॥ २ ॥  
 मयोञ्जलीकृतानीत्यं हृदि धृत्वा प्रजाधिपम् ।  
 मज्जन्तु भक्ता येनासौ न विमुञ्चति कर्हिचित् ॥ ३ ॥  
 इति श्रीश्रीविद्वलदीक्षितविरचितो नवरत्नप्रकाशः समाप्तः ।

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशसमेतम् ।

भक्तिमार्ग इत्यादि । भगवत्कृपया यो भक्तिमार्गं स्वरूपाथत्वाय प्रवृत्तः, तस्य दार्ढ्यार्थं तदुक्तीत्या फलावश्यभावनिश्चयेन प्रवृत्त्यविधातार्यं इदं नवरत्न शरणमध्यावर्तन चोच्यते आचार्यैरुपदिश्यते । तस्यैवोद्देशेनानिर्वातनस्य प्रमूषामनन्यजनवत्सलतयावश्यकत्वात्, न तु साधारणार्थम्, तत्र हेतुः अन्धस्येत्यादि । तद्विमुखस्येति । भक्तिमार्गाद्द्वि-  
 मुखस्य । अत्रेति । चिन्तानिवृत्त्युपायबोधकेस्मिन् ग्रन्थे । शरणमध्यावर्तने च । तथा चार्थित्वस्य अधिकारिविशेषणत्वादिमुखस्य चार्थित्वाभावेनाधिकारामावात्तदर्थं नोच्यते इत्यर्थः । एतस्य ग्रन्थस्य भगवत्सिद्धान्तसारत्वबोधनायाहुः भक्तीत्यादि । श्रीमदाचार्य-  
 पण्डितैरिति । मयूरव्यसकादिसमाप्तः । पण्डितत्व च न केवलं सदसद्विवेचकबुद्धि-  
 मत्त्वम्, शास्त्रीत्यबुद्धिमत्त्व वा । किन्तु 'पण्डितो चन्धमोक्षवि'दित्येकादशे भगवद्वाक्यात्,  
 'यस्य सर्षे समारम्भा कामसङ्कल्पवर्जिता' । ज्ञानामिदम्भकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधा' इति  
 गीताया भगवद्वाक्याच्च तादृशधर्मवत्त्वं विवक्षितम्, अन्यथा भक्तिमार्गविचारस्यासम्भवात् ।  
 'भगवान् ब्रह्म काल्हेये'ति द्वितीयस्कन्धवाक्येन भक्तिमार्गस्य सर्वश्रुतिसारत्वनिश्चयादिति ।  
 स्वकृतविवरणप्रयोजनमाहुः मयेत्यादि । तथा चैतदर्थं विवरणमित्यर्थः ॥ १० ॥

एव चात्र एतत् सिद्धम् । भगवत्सैवैकतानचिन्तेन यथाशक्ति सेवा कुर्वता  
 दुःसङ्गवर्जनपूर्वकं स्वस्य स्वपरिकरस्य च भगवदीयत्वमनुसन्धानेन पूर्वोक्तीत्या सर्व-  
 विधचिन्तास्त्यजता सर्वत्र स्वाशक्त्यनुसन्धानेन भगवत एव शरणत्वमनुसन्धानेन यदा  
 स्वीयते, तदा उद्देशेगाल्यप्रतिबन्धनिवृत्त्या सेवाया आधिदैविकीत्व सम्पद्यते । तस्मा-  
 दुक्तीत्या सेवापूर्वकं सर्वात्मना शरणगमनमेव परम साधनमिति ।

नवरत्नभासनकृतां वचसां मम यत्नपूर्वकमुपासनतः ।

ब्रजरत्नद्वयकृपयास्तु सुखादसपत्नचैतससपत्नहतिः ॥ १ ॥

इति श्रीमद्ब्रह्माचार्यचरणैकतानस्य पीताम्बरस्य तनुजेन पुरुषोत्तमेन

कृतो नवरत्नविवृतिप्रकाशः सम्पूर्णः ।

# नवरत्नम् ।

श्रीविद्वलेश्वरविरचितप्रकाशसमेतम् ।

चिन्तासन्तानहन्तारो यत्पदाम्बुजरेणवः ।

स्वीयानां तान् निजाचार्यान् प्रणमामि मुहुर्मुहुः ॥ १ ॥

ननु भगवदीयानां कथं चिन्तोद्भवः । इत्यम् । आत्मनिवेदिनो हि भगवद्भजनार्हाः, नेतरे । तत्र चैहिकपारलौकिकयोरर्थयोर्नावशिष्टं किञ्चिदसमर्पितम् । एवं सति देहादिनिर्वाहः केन कार्यः, किं निवेदितायै, उत इतरेण वा । तत्र नाद्यः । तदीयार्थस्य तदिच्छां विना ग्रहीतुमशक्यत्वात्, इच्छयाश्च ज्ञातुमशक्यत्वात् । वस्तुतस्त्विच्छायामपि सत्यां तदुपयोगोऽनुचितः सेवकस्य । न च तदीयानां देहादीनां तदीयार्थेन पोषणं न दोषायेति वान्यम् । स्वतस्त्रयाकृतेर्दोषावहत्वात्तदिच्छयाश्च ज्ञातुमशक्यत्वादित्युक्तम् । न द्वितीयः,

श्रीविद्वलेशात्मजश्रीवल्लभकृतप्रकाशटिप्पणी ।

चिन्तात्रयनिवृत्त्यर्थमुद्भिन्ननवरत्नकाः ।

समुद्बलीकृततदः प्रसीदन्तु मये ॥ १ ॥

नवरत्नप्रकाशे । चिन्तासन्तानेति । यत्पदाम्बुजरेणवः समाश्रिता देहेन्द्रियादिकं शोधयन्ति, ( वासनात्मकं लिङ्गं नाशयन्ती ) तन्तःकरणशोधनद्वारा चिन्तानां वक्ष्यमाणानां सन्तानो वक्ष्यमाणप्रकारेण तन्निवर्तनेपि कुसृष्ट्युद्भावनं तदन्तार इत्यर्थः । ग्रन्थे चिन्ताः स्वयमेव निवर्तयिष्यन्ति, चित्ताशुद्ध्या कुसृष्ट्युद्भावनं तु चरणरेणुसमाश्रयनिवर्तनमिति भावः । नन्विति । किंप्रकारकचिन्तोद्भवः, सम्भवतीति शेषः । इत्थमिति । ग्रन्थे वक्ष्यमाणास्तिचिन्ता भगवदीयानामपि हीनमध्यमाधिकारिणां सम्भवन्तीत्यर्थः । ग्रन्थाद्भिन्नामप्येकां चिन्तां पूर्वोक्तेषु सम्भावितानां स्वयमेव प्रमाणवाक्यैः समाधातुमाहुः आत्मनिवेदिनो हीति । एतन्निरासस्य प्रमाणवाक्यैः स्पष्टत्वान्मूलेऽकथनमिति भावः । तत्र चेति । निवेदने जाते सल्लौहिकसुखसाधकानि स्त्रीपुत्रवितादीनि पारलौकिकसुखसाधकान्यभिहोत्रादिकर्माणि भगवदीयान्येव ज्ञातानीत्यर्थः । एवं सतीति । वित्तसमर्पणे कृते सतीत्यर्थः । देहादीति । आदिपदेन गृहादिकम् । तथा च गार्हस्थ्यनिर्वाह इत्यर्थः । इतरेणेति । निवेदनात् पूर्वमेव स्थापितेनानिवेदितेनेत्यर्थः । अस्वधर्मत्वादिति । निवेदितस्य देहादेस्तदीयार्थेन पोषणं दोषावहमित्युक्तम् । अनिवेदितेन च पोषणमस्वधर्म इत्यर्थः । दूषणान्तरमप्याहुः

अम्बधर्मत्वात् । निवेदितस्यार्थस्य स्थित्यायर्थं स्वस्य विचारस्याप्यनुचितत्वात् । तदभिमाने तत्त्वम्भावात् । एवं सति देहादिगात्रसम्भवेन भजनासम्भवात्तद्वैयर्थ्यापातः । मार्ग एव चाप्यमुच्छिद्येत । अतो निवेदने भजनाधिकारः, तस्मिन् सति तदनिर्वाह इत्युपयत्पाशा रञ्जुरिति चेत् । अत्र वदामः । 'दारान् सुतान् गृहान् प्राणान् यत्परस्मै निवेदनम् । एवं धर्मैर्भृत्याणामुद्धृत्वात्मनिवेदिनाम् । मयि सञ्जायते भक्तिः कोन्योर्योस्यावशिष्यत' इत्यादिवाक्यैस्तदावश्यकम्, साक्षात् श्रीगोकुलेशभजनाधिकाररूपत्वात्, द्विजस्य वैदिककर्मणि गायत्र्युपदेशज्ञसंस्कारवत् । ( निवेदनस्य सार्थकत्वाय भजनसिद्धयर्थमावश्यकव्यवहारार्थं निवेदितस्यैव सार्थं विनियोगः कार्यः । ) अन्यथा दारपरिग्रहोत्तरक्षण एव तन्निवेदने कृतेऽप्ये तदविनियोगे प्राप्ते तत्परिग्रहवैयर्थ्यापत्तिः । अपरंच । दाने हि न स्वविनियोगो, न तु निवेदने । अन्यथा निवेदितात्मादेर्भोजनं न स्यात् । अनिवेदितस्य निषिद्धत्वात् । निवेदितानामर्थानां भगवद्भोगार्थं विनियोगे जाते तद्वत्प्रसादत्वेन स्वोपभोगकृतिरुचिततरा, दासधर्मत्वात् । 'उच्छिष्टभोजिनो दासा' इत्यादिवाक्यैः । आत्मशोधकत्वाच्च । किन्तु प्रभौ निवेदितार्थस्य विनियोगे जातेऽप्ये तदर्थं यत्नः कार्यो, नवेति भवति चिन्ता । \*तत्करणे

श्रीविद्वलेश्वरभक्त्यावहृत्प्रणयसमेतम् ।

निवेदितस्यार्थस्येति । निवेदितपदार्थस्य देहोद्देशः स्थितिरादिपदेन तत्सम्बन्धीनि गृहादिकार्याणि विवाहादीनि च तदर्थं स्वस्य विचारोप्यनुचितः । तत्र हेतुः । तदभिमाने इति । स्थापनीये सतीति शेषः । देहे स्वकीयत्वमिमाने स्थापनीये सत्येतादृशो विचारः सम्भवति । एतस्य तु देहे भगवदीयत्वमेव सम्पादनीयम्, अतः स्वस्य तद्विचारोप्यनुचितः, भगवानेव विचारयिष्यतीति स्वस्येत्युक्तम् । तथा च देहस्थित्यायर्थं पूर्वमेव किञ्चित् पदार्थानिवेदनं नोचितमित्यर्थः । एवं सतीति । पक्षद्वयप्रकारेणापि देहाद्यनिर्वाहे सतीत्यर्थः । तदावश्यकमिति । वाक्येषु निवेदनकथनात् सर्वानिवेदनमावश्यकम्, नतु पदार्थविनियोगेन बाधितमित्यर्थः । बाधितत्वे भगवान्न वदेदिति भावः । साक्षादिति । भजने सर्वाधिकारत्वोक्तावपि सत्त्वन्वयवहितस्यैव भजने तथा । साक्षात् पुरुषोत्तमभजने तु निवेदिनामेवाधिकार इति भावः । अन्यथेति । निवेदितपदार्थस्य स्वयमग्रहणे दारानुपयोगोपि प्राप्येत, तथा च न तथेत्यर्थः । दाने हीति । पुत्रवित्तादिकं निवेदितम्, न तु दत्तमित्यर्थः । निवेदितोपभोगे प्रकारकथनात्माहुः निवेदितागामित्यारम्भ शोधकत्वादित्यन्तम् । तथा चेयं चिन्ता तु प्रमाणवाक्यैर्लुक्तिभिः परिशीलितैर्निजाचार्यपदाम्बुजरेणुसमाश्रयकृतचित्तमुद्धेः कुमुदप्रचनुद्भावनेन च निवर्तते । अतोऽत्र समाधेयान्ग्यां चिन्तामाहुः किन्तिरिवलारम्भ

\* ( किंच । तत्करणे बाहिसिद्धयसम्भव इत्यारभ्योक्तचिन्ताभाववेदनत्र निवार्यते । सेवार्थं यत्करणे बाहिसिद्धयै सेवाप्रतिबन्धश्च न सम्भवति । तस्य योपाह्वयेन तत्पुत्रत्वात् तदकरणे तदरम्भश्च । नच



वाहिर्मुख्यसम्भवः सेवाप्रतिबन्धश्च । 'त्रैवर्गिका या से'तिवाक्यात् भगवत्कृतप्रतिबन्धश्च तत्र स्यात् । अकरणे निवेद्याभावेन भवति च दुःखम् । एवंभूतान् स्वातुपदिशन्ति चिन्ता कापि न कार्येति ।

चिन्ता कापि न कार्या निवेदितात्मभिः कदापीति ।

भगवानपि पुष्टिस्यो न करिष्यति लौकिकीं च गतिम् ॥ १ ॥

लौकिकैतदभावेपि भगवदर्थोपि सा न कार्या । एतदाहुः कापीतिशब्देन । अङ्गी-  
कारेणैव सर्वं स्वत एव करिष्यतीति विश्वासो यत्स्वस्वावरयकः । भगवतोपि तयानियमः ।  
कदाचित् परीक्षार्थं प्रारब्धभोगार्थं वा प्रमुञ्चेद्विलम्बते, तदापि न कार्येत्याहुः कदापीति-  
पदेन । ननु लोकवत् कुटुम्बासक्त्या स्वस्यापि लौकिकीं गतिं कदाचित् प्रभुः कुर्यात्,

श्रीविद्वल्लोकात्मजधीवहभट्टतटिपणोसमेतम् ।

भवति च दुःखमित्यन्तेन । एवंभूतानिति । यत्करणकरणचिन्तायुक्तान् उभयपक्ष-  
समाधायकत्वावधेनोपदिशन्तीत्यर्थः । तत्र समाधानं चिन्ता न कार्येति । पूर्वसिद्धा-  
निषिद्धद्वयौ सहजसिद्धयत्नकरणेपि तस्य यत्नस्य चिन्ता अनुचिन्तनं कथं इदं कार्यमिति  
मनसा सर्वथा तद्भावनेन न कार्यमित्यर्थः । अथेपि वक्ष्यन्ति वाग्विद्यादावास्थितौ तत्र  
विद्य एव भवतीति । आस्थितिः कायवाङ्मनसां तदीयत्वम् । तथा चानास्थया  
यत्नकरणे पक्षद्वयोक्तोपि दोषो न भविष्यतीति भावः । लौकिकेति । स्त्रीपुत्रादिनिर्वा-  
हक्यत्नानास्थायामपि भगवन्नैवेद्यार्थकयत्ने आस्था सम्भवति, सापि न कार्येत्यर्थः ।  
तत्राप्यास्थाया तत्सम्पादकेषु आस्थितिसिद्ध्या वाहिर्मुख्यं स्यादेवेति भावः । नन्वना-  
स्थया कृतो यत्नो न सिध्येदित्याशङ्कोत्तरार्थार्थं सामान्यत आहुः अङ्गीकारेणैवेति ।  
स्वसौदासीन्येषु भगवान् स्वान्नीकारेणैव हेतुना सर्वं यत्नं सिद्धं करिष्यतीत्यर्थः ।  
विलम्बते इति । औदासीन्ये तत्कृतो यत्नः कदाचित् सिध्यति चेत्तथाप्यग्रिमयत्ने आस्था  
न कार्येत्यर्थः । ननु लोकवदिति । लोकस्वैव कुटुम्बासक्त्या भगवदङ्गीकारसासिद्ध-  
त्वेन लोकस्वैव स्वस्यापि लौकिकीं लोकसदृशीं गतिमाशापूर्वकं विचार्य यत्नकरणे एव

'त्रैवर्गिका या से'ति वाक्यात्तत्र भगवत्कृत प्रतिबन्ध इति नान्यम् । 'त्रैवर्गिकप्रद्वेषभ्रान्तो' । जन्मसा  
आयसविषयात्मिल्लोकावर्णैव कापिलार्थं स्यात् । अत स्वकीयाया त्रैवर्गिकायाविवेकमेव भगवान् करोति, न  
स्वैवार्थनायासविषयमिति निश्चयते । अन्यथा यत्नमात्रस्य निषेधे भगवन्मात्र एवावच्छिद्येत । नन्वात्म-  
निवेदिनामीतरयत्नासम्भवेन तत्रनिवृत्तचिन्ताऽभावात् कथं चिन्ता न कार्येयुपदेश इति चत् । अनेदं प्रति-  
भाति । भगवन्मार्गे दि भगवदङ्गीकारनिषिधे पुष्टिमर्षदाप्रवृद्धेनेन । यत्पि वै त्रैविक्यम् । तत्र  
पुष्टिपुष्टयार्थकतस्य नेतरयत्नसम्भवनामपि । पर मर्षादापुष्टे प्रवाहपुष्टे वाङ्गीकृतस्य तत्करण मर्षादाप्रवृद्धात्,  
तद्विषयात् पुष्टयत् । तथा आत्मनिवेदिना मर्षात्प्रवाहसम्भक्ताना यत्नेतयत्ने इते वाहिर्मुख्यसंकेतप्रतिबन्धत  
द्विषयात्किं भवति, तथा सेवार्थेपि यत्ने भाविष्यतीति भवति चिन्ता, भगवत्सदभावस्य एतत् प्री चिन्ता  
कापि न कार्येयुक्तम् । अत सेवार्थं यत्नं कर्तव्यं यत्नं नायुपपत्ति काचित् ।)

तत्राहुः भगवानपीति । यतः पुष्टिशोऽतो मर्यादामार्गीयवैराम्यायभावेपि 'महापुरुषेण निवेदिता' इति स्वकीयत्वेनाङ्गीकारात् तथा न करिष्यतीत्यर्थः ॥ १ ॥

एवं चेत्, स्वाच्छन्द्यव्यवहारापत्त्या बाहिर्मुख्यं स्यादत आहुः निवेदनामेति ।

निवेदनं तु स्मर्तव्यं सर्वथा तादृशैर्जनैः ।

सर्वेश्वरश्च सर्वात्मा निजेच्छातः करिष्यति ॥ २ ॥

सर्वदा सर्वांशे तदीयत्वानुमन्धानेन तथा न भविष्यतीति भावः । अशक्या सेवाय-  
सम्भवेऽपीदं कार्यमेवेति ज्ञापनाय तु शब्दः । चकारपक्षे समुच्चयः सर्वथेत्यसावश्यक-  
त्वज्ञापनाय । अथवा । सर्वथा ये तादृशा निवेदितात्मत्वेन तत्परास्तैः सह तथा । एतेन  
सहदोषो निवारितः । अतादृशेष्वेतद्रोपनं सूच्यते । सर्वदेतिपठे कालपरिच्छेदस्तत्रोच्यते ।  
अन्यथा तदैवासुरप्रवेशः स्यादिति भावः । कदाचिदलौकिककार्यस्य लौकिकस्य वा सिद्धार्थं  
प्रभुः प्रार्थनीय इति प्रश्ने नेत्याहुः सर्वेश्वर इति । अत्र सर्वेश्वरो निवेदितात्मसर्वपरः ।  
यथा 'सर्वे ब्राह्मणा भोजयितव्या' इत्यत्र निमग्नता एव सर्वपदेनोच्यन्ते, न स्वल्पेति ।  
सर्वात्मपदेष्वेवं ज्ञेयम् । तेन सेवकाः सर्वे यथा यथा प्रपन्नाः, तथा तथा प्रभुरपि तेष्वङ्गी-

श्रीविद्वलेश्वरमजधीवहभक्ततटिष्णोसमेतम् ।

तत्फलमिद्विरन्यथा नेतिरूपां नीतिशास्त्रानुरोधेन कुर्यादित्यर्थः । यत् इति । पुष्टिः  
प्रवाहो मर्यादा चेति मार्गत्रयम्, तन्मध्येऽत्र पुष्टिशो भगवान्, अतः कुटुम्बासक्त्या  
मर्यादामार्गीयवैराम्यादिसाधनाभावेपि पुष्टिमार्गीयेण महापुरुषाचार्यकृतनिवेदनेन स्वीय-  
त्वाङ्गीकार करिष्यति । तथा चाङ्गीकारस्य सिद्धत्वात् लौकिकीं गतिं करिष्यतीत्यर्थः ।  
भक्तस्य पुष्टिस्त्वयाथाधिवाद्दः ॥ १ ॥

एवं चेदिति । अनास्थायामविचारेपि फलसिद्धौ स्वाच्छन्द्येन बाहिर्मुख्यं  
भगवदननुसन्धान भवेदित्यर्थः । तथा च यन्नानास्थया समाहितो दोषः पुनः प्राप्त  
इति भावः । निवेदनस्मरणस्य स्वरूपमाहुः सर्वदेति । 'त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया'  
इति प्रकारकस्वाच्छन्द्येपि बाहिर्मुख्यं भगवदननुसन्धानं न भविष्यतीत्यर्थः ।  
निवेदनानुसन्धानाभावे तु बाहिर्मुख्यं स्यादेव, अतस्तदावश्यकमिति भावः । सेवादीनि ।  
आदिपदेन कथा, तदसम्भवेपीत्यर्थः । अनायासन फलमिद्धौ स्वाच्छन्द्येन प्राप्तस्य  
बाहिर्मुख्यदोषस्य निवारणार्थं निवेदनानुसन्धानमुक्तम् । फलासिद्धावपि तदनुसन्धान  
कार्यमेवेत्यपिशब्दः । चकारपक्षे सर्वथेति पदेनावश्यकत्वं बोधितम् । तुशब्दपक्षे  
आवश्यकत्वं तेनैव बोधितमिति सर्वथापदस्य समासेनाप्रेऽन्वयमाहुः अथवेति ।  
आसुरप्रवेश इति । 'द्वया ह प्राजापत्यां इत्यत्र चागादीनां सार्धमुद्गानात् पापवेषः,  
॥मन्यस्य भगवदर्थमुद्गानात्तदभाव इति तृतीयाध्याये वेधाद्यर्थभेदादित्यधिकरणे भाष्ये

श्रुतस्वामित्व आत्मीयत्वमेव तेषु मनुत इति तद्धितकृतौ न प्रार्थनामपेक्षत इति ज्ञाप्यते । अथवा । कालादिनियामकत्वेन न तत्कृतोपि प्रतिबन्धसम्भव इच्छायामिति ज्ञापनाय सर्वपदं कालादिपरम् । प्रार्थितोपि स्वविचारितमेव करिष्यतीति प्रार्थनाप्यप्रयोजिकेति ज्ञापनाय निजेच्छेत्युक्तम् । अथवा । निजाः स्वीयस्वेनाङ्गीकृताः सेवकास्तेषां प्रचुरेच्छतः स्वयमेवापेक्षितं करिष्यतीति न प्रार्थनापेक्षेत्यर्थः । परन्त्विच्छया अविकृतत्वमेवापेक्षितमिति ज्ञापनायान्यप्रयोगः ॥ २ ॥

ननु भगवते समर्पितदेहादेः स्त्रीपुत्रादिषु विनियोगेन स्वधर्महानिचिन्ता बाधते, तत्राहुः सर्वेषामिति ।

सर्वेषां प्रभुसम्बन्धो न प्रत्येकमिति स्थितिः ।

अतोन्धविनियोगेपि चिन्ता का स्वस्य सोपि चेत् ॥ ३ ॥

स्वात्मना सह यावन्तो निवेदितास्तैः सहैव स्वस्वाङ्गीकारात् तेषां सर्वेषामेव प्रभुसम्बन्धो, न तु प्राधान्यात् स्वस्यैवेति तत्रोपयोगे स्वस्य का चिन्ता, न कापीत्यर्थः । इयं निवेदनेऽङ्गीकारमर्थादित्याहुः स्थितिरिति । कस्यचिद्देशेपतोङ्गीकारश्चेत्, सा पुष्टिरिति

श्रीविद्वलेशारमजधीवल्लभकृतटिप्पणीसमेतम् ।

विवृतम्, अतो यस्मिन्नेव काले भगवदीयत्वविस्मरणम्, तदैव देहादावासुरधर्मप्रवेशो भवतीत्यर्थः । तेन बाह्यमुख्यं भवेदेवेति भावः । आत्मीयत्वमेवेति । भगवत्स्वात्मत्वकथनेन तेषामात्मीयत्वगुक्तम् । स्वामित्वं भगवन्निष्ठो धर्मः सर्वेष्वपदस्यार्थः । आत्मीयत्वं मत्कनिष्ठो धर्मः सर्वात्मपदेनोक्तः । सर्वपदस्य कालवाचकत्वपक्षे कालनिष्ठो ज्ञेयः । स्वधर्मेति । स्वधर्मो निवेदनम्, तस्य हानिरित्यर्थः । स्वात्मना सहैति । प्रत्येकं प्रभुसम्बन्धे यावत्तत्सम्बन्धानामनङ्गीकारस्तावत् तत्तत्सम्बन्धयुक्ते स्त्रीपुत्रादौ स्वस्य विनियोगे दोषः स्यात्, अत्र तु सहैवाङ्गीकारात् सेवानवसरे अनिषिद्धप्रकारेण भार्याद्युपयोगेपि न स्वधर्महानिरित्यर्थः । प्राधान्यादिति । प्राधान्याद्धेतोः स्वस्यैव नेत्यर्थः । का चिन्तेति । अभगवदीयसंसर्गे हि स्वधर्महानिः । तेषामप्यङ्गीकृतत्वात् तथेत्यर्थः । तथा च भगवदीयत्वानुसन्धानेन तेषु व्यवहर्तव्यम्, न तु स्वकीयत्वामिमानेनेति भावः । वित्तादिवद्भार्यादीनामपि समर्पणम् । परमेतावान् विशेषः । अपर्णादिदेहे यश्चैतस्य सम्बन्धः, तस्य तत्रतीक्ष्णतस्यै सम्बन्धोस्ति, अत एतेन तत्रनिष्ठसम्बन्धसमर्पणे कृतेपि तत्रजीवसत्तासमर्पणार्थं भिन्नभिन्नतया तत्कृतसमर्पणमपेक्षितम् । एतत्कृतसमर्पणेनैतन्निरूपिततत्सम्बन्धः समर्पितो भवति, स्वस्वसहजादिदोषपञ्चकविवृत्तिस्तु स्वसकृतसमर्पणेन भवति । वित्तादिषु त्वन्यसत्ताभावादेतत्कृतसमर्पणेनैव निर्दुष्टत्वसिद्धिरिति । इयमिति । सर्वनिष्ठसम्बन्धैः सह स्वस्वाङ्गीकार इत्यर्थः । विशेषतः उच्यते । निवेदकस्यैवाङ्गीकारस्य निष्ठक्रियेतिरूपितसम्बन्धस्य नैति

भावः । अथवा । पुत्रादीनामन्यविनियोगदर्शनेपि स्वस्य का चिन्ता, तेषामप्यङ्गीकारेणैव कृतार्थतासम्भवादित्यर्थः । किञ्च । स्वस्येतिपदमावृत्तमपिशब्देन सम्बध्यते ॥ ३ ॥

यथा पुत्रादीनाम्, तथा स्वसापि सः अन्यविनियोगश्चेत्, तदापि चिन्ता न कार्येत्याहुः अज्ञानादिति ।

अज्ञानादथवा ज्ञानात् कृतभात्मनिवेदनम् ।

यैः कृष्णसात्कृतप्राणैस्तेषां का परिदेचना ॥ ४ ॥

हीनमध्यमाधिकारिभिरपि निवेदितात्ममिच्छिन्ता न कार्या भवति यत्र, तत्र कृष्ण-  
सात्कृतप्राणैश्चिन्ता न कार्येति किमु वाच्यमित्यर्थः । केवलप्रभ्वधीनीकृतप्राणानां चिन्ता-  
विषयाभावादेव न सेति भावः । अत एव केतिशब्द उक्तः । पदसम्बन्धस्तु अज्ञा-  
नादथवा ज्ञानाद्यैस्तत्कृतम्, तेषां सा नेतिशेषः । कृष्णसात्कृतप्राणैर्यैस्तत्कृतम्, तेषां सा  
केत्युक्तम् ॥ ४ ॥

श्रीविट्ठलेश्वरभोवहभट्टविरचित्पञ्चमीसमेतम् ।

चेत्, सा पुष्टिः मर्यादातिश्रमां भगवतो नियन्तुमशक्यत्वादित्यर्थः । तदा तादृशे स्वदेह-  
विनियोगो न कार्यः । अत एव 'प्रतिकूले गृह त्यजे'दिति वाक्यम् । अस्मिन् पक्षे  
अन्यत्र स्त्रीपुत्रादौ विनियोगे स्वस्य देहस्वेत्यर्थः । अन्यविनियोगेति । अन्यत्र लौकिके  
स्वस्त्रीपुत्रादिकार्ये विनियोगदर्शनेपि तेषां निवेदनहानिजनितचिन्ता स्वस्य केत्यर्थः ।  
तेषामपीति । स्वाङ्गीकारेणैव क्रमेण तेषामपि कृतार्थता सम्भवति । अधुना अतथाभावे-  
प्येकाह्नेन भगवत्सम्बन्धात् तदनुभावेनैवास्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे वा तथा शुद्धाय  
स्वस्वकृतसमर्पणं स्वस्वसहजादिदोपनिवृत्त्या कृतार्थता सम्भवतीत्यर्थः । अङ्गीकृतस्य  
सर्वांशे भगवानेव चिन्तां करोतीति स्वस्येत्युक्तम् । स्वस्यैवधुनैव सहजादिदोपनिवृत्त्या  
कृतार्थता सिद्धा, क्रमेण तेषामपि सम्भवतीत्यपिशब्दः ॥ २ ॥

एतमेव पक्षमाश्रित्वाग्रिमश्लोकाभासमाहुः किञ्चेति । प्रथमपक्षे स्वस्य स्वकीयस्य स्त्रीपु-  
त्रादेरपीत्यग्रिमश्लोकव्याख्याने इत्यर्थः । केनलेति । भगवद्दर्शनजीवनानां सर्वांशे भगवदी-  
यत्वेन विषयाः सर्वे भगवदीया एवेति भोग्यविषयेषु स्त्रीयत्वेनाभिमानाभावात् सा पक्षद्वय-  
भेदेन स्वान्यविनियोगजनिता पुत्राद्यन्यविनियोगजनिता वा चिन्ता नास्त्येव, किन्तु हीन-  
मध्याधिकारिणामपि तदभावात् बोध्यत इति भावः । चिन्ताभावे हेतुः पूर्वोक्त एव सर्वेषां  
प्रशुभसम्बन्धो ज्ञेयः । आशुभ्याख्याने पूर्वं स्नान्प्रविनियोगचिन्ता, द्वितीये पुत्राद्यन्यवि-  
नियोगचिन्तोक्ता । द्वितीयव्याख्याने इदं विपरीतमिति विभेदः । तेषां सा नेति ।  
स्वपदस्य स्वकीयवाचकत्वपक्षे सा स्त्रीपुत्रादिविषयिणी चिन्ता नेत्यर्थः । निवेदनपदार्थो न  
नश्यति, विलम्बस्तु मन्वयेवेति ज्ञेयम् ॥ ४ ॥

ननु राख्यात्मनिवेदने हि भगवदङ्गीकारेणैव सम्पद्येते, तथा च स्वयमात्मनिवेदने  
ज्ञेतेपि प्रभुरङ्गीकृतवाच्येति चिन्ता भवत्येव, इत्यत आहुः तथेति ।

तथा निवेदने चिन्ता त्थाज्या श्रीपुरुषोत्तमे ।

विनियोगेपि सा त्याज्या समर्थो हि हरिः स्वतः ॥ ५ ॥

पुरुषोत्तमोङ्गीकृतवाच्येति निवेदनविषयिणी या सा त्याज्या उक्तनिवेदकत्वदि-  
त्यर्थः । पुरुषोत्तमेन निरोधलीलायां स्वतोन्नयभजनं क्रियमाणा भक्तास्त्रिवार्य स्वयमात्म-  
सात्कृता इति तादृशे स्वयं सर्वात्मना निवेदने कृते सा शङ्का नोचितेति ज्ञापनाय पुरुषो-  
त्तमपदम् । तत्रापि स्वरूपानन्ददानेनानिशं पोष्यमाणानां भक्तानां तदितरत्रोपयोगासम्भ-  
वेणैव न शङ्कोदय इति ज्ञापनाय श्रीपदम् । तथा च तद्युक्ते तत्र निवेदने सा त्याज्येति  
भावः । कदाचिल्लोकभयाद्युपस्थितौ तन्निवारणाय जीवस्वभाववशादन्यविनियोगेपि तथे-  
त्याहुः विनियोगेपीति । प्रमादात्तथासम्भवेपि प्रभुर्न त्यक्ष्यति । यतस्तस्वभाववशात्तथा-  
भूतमप्युद्धतु तत्साधनानपेक्षः ॥ ५ ॥

धीनिद्वलेशालानश्रीवल्लभकृतटिप्पणीसमेतम् ।

इति निवेदनविषयिणीति । इति असम्पत्तिप्रकरणे निवेदनविषयिणीत्यर्थः ।  
पूर्वात्तत्रापि निवेदनविषयिण्येव, परं ह्यनिप्रकरणोक्तेति भावः । पूर्वोक्तमेव समाधानमत्रापि  
ज्ञेयमित्याहुः उक्तनिवेदकत्वदिति । मूलस्थतथेतिपदस्यार्थोयम् । सप्तम्यर्थे वतिः ।  
यथा निवेदके, तथा पुरुषोत्तमे इति मूलानुसन्धानेनार्थः । तथा च यथा पूर्वश्लोकोक्त-  
रीत्या निवेदककृतान्यविनियोगहेतुकनिवेदनहानिचिन्ता त्याज्या, तथा भगवत्कृताङ्गीका-  
राभावहेतुकनिवेदनासम्पत्तिचिन्तापि त्याज्येत्यर्थः । पुरुषोत्तमेनेति । एतेन हीनमध्या-  
धिकारिणां निवेदनविषयकचिन्ताभाव उक्तः । उत्तमाधिकारिणामाहुः तत्रार्पीति ।  
निवेदितात्मस्वपि मध्ये कृष्णसात्कृतप्राणानामुत्तमाधिकारिणां तु परमसौन्दर्यस्य  
खगतत्वाय तादृशकारेण प्रादुर्भूते भक्तसहिते भगवति समर्पणस्य सिद्धत्वात् तदानन्देन  
पोष्यमाणानां शङ्काया उदयो यस्मात् स शङ्काहेतुर्नास्तीत्यर्थः । तदितरत्रेति ।  
अधिकारवन्तमनेपि तं दोषं निवार्य स्वस्मिन्नुपयुक्ताः सर्वे कृताः, रासस्थानां तु  
गमनमेव नास्ति । इदमङ्गीकारस्वरूपं ज्ञेयम् । तथाप्युत्तमाधिकारिणां तु भगव-  
दीयेभ्य इतरत्रोपयोग एव न सम्भवति । तस्मिन् सति हि तादृशशङ्का भवतीति  
भावः । तद्युक्ते इति । ताभिः श्रोतदसूचितलीलाभिश्च युक्ते निवेदने सति प्रमात्  
प्राप्ता शङ्का त्याज्येत्यर्थः । तथा च पुरुषोत्तमे यन्निवेदनं तद्विषयिणी पुरुषोत्तमकृता-  
ङ्गीकाराभावहेतुकनिवेदनासम्पत्तिचिन्ता, तथा निवेदककृतान्यविनियोगहेतुकनिवेदनहा-  
निचिन्तावत् त्याज्येति मूलार्थः । निवेदनविषयिणी चिन्ता निवेदके इव पुरुषोत्तमेपि  
त्याज्येत्यन्वयः । अन्यविनियोगेपीति । रात्र्याद्याश्रयणेपीत्यर्थः । ज्ञात्वा त्वास्वया तदपि  
न कर्तव्यमित्याशयेनापिशब्दार्थमाहुः प्रमादादिति ॥ ५ ॥

अङ्गीकारे लक्षणान्तरमप्याहु लोक इति ।

लोके स्वास्थ्य तथा वेदे हरिस्तु न करिष्यति ।

पुष्टिमार्गस्थितो यस्मात् साक्षिणो भवताखिला ॥ ६ ॥

कदाचित् प्रवाहवशाद्लौकिके वाणिज्यादौ, वैदिके आश्रमधर्मादौ वा आस्थितौ तत्र विघ्न एव भवति, न तु तत्फलमित्यर्थ । तत्र हेतु पुष्टीति । तद्विनापि स्वबले नैव सर्वकर्ता यत इति भाव । पुष्टिमार्गाङ्गीकारे मर्यादा न सहत इति ज्ञेयम् । एव सति किं कार्यमित्याकाङ्क्षायामाहु, साक्षिवत् तत्कृत पश्यत ॥ ६ ॥

सेवाकृतिर्गुरोराज्ञा बाधन वा हरीच्छया ।

अत सेवापर चित्त विधाय स्थीयता सुखम् ॥ ७ ॥

सेवाकृतिरिति । गुर्वाज्ञाया अबाधन यथा भवति, तथा सेवाकृति पूर्वगपेक्षिता । एव वतमानाना कदाचिद् विशेषतो भगवदाज्ञा चेत्, गुर्वाज्ञा विरुद्धा भवेत्, तदा तथा कार्यमित्याशयेनाहु बाधन वा हरीच्छया । विकल्पेनाबाधनमित्यर्थ । एव सति गुर्वा

श्रीविद्वलेशासनधीवल्लभकृतदिप्पणीसमेतम् ।

लक्षणान्तरमपीति । पूर्वश्लोके भगवत पुरुषोत्तमत्वगेतद्विषयकाङ्गीकारे लक्षण सन्देहाभावसाधकमुक्तम् । तत्र पुरुषोत्तमोपि नहि सर्वानङ्गीकृतवान्, किन्तु काश्चन तादृ कृपसादविषयान्, तत्राह कीदृश इति स्फुटं ज्ञातु न शक्यत इत्यधुना लोकवेदस्वास्थ्य दूरीकर्तृत्वरूप लक्षणान्तरमप्युच्यते इत्यर्थ । स्वास्थ्यपदसार्थमाहु आस्थिताविति । आस्थिति कायवाचनसा तदीयत्वमिति लक्षणमेकादशस्कंधसुबोधियामुक्तम् । तथा च मूले स्वास्थ्यमित्यत्र स्वपदेन लोकवेदौ तन्निष्ठता न करिष्यति, सिद्धा च दूरीकरि ष्यति, विघ्नसम्पादनेनेति शेष । तथा चैव विघ्नेनाङ्गीकारो निश्चय इति भाव । आस्थितौ विघ्नकथनेन इद मम कार्यसाधकमिति ज्ञात्वा तद्विश्वासेन वाणिज्यादिकमाश्र मधर्मादिक च न कर्तव्यम्, किंत्वेतद्वारा भगवान् करिष्यतीति ज्ञात्वा तदुभय कर्तव्य मिति भाव । स्वयमेव समर्थत्वात् स्वकीयाना साधननिष्ठता निवारयतीत्याहु तद्वि नापीति । ननु तथापि सिद्धस्य साधनस्य विघाते को हेतुरित्याशङ्क्य तृतीयपरणस्य तात्पर्यान्तरमप्याहु पुष्टिमार्गाङ्गीकारे इति । किं कार्यमिति अनास्थया कृतो यत्र कथ फल जनयेदित्यर्थ । साक्षिवदिति । यथा साक्षी कर्तुर्हानिदृष्टोर्हर्षशोकरहित सन् कर्तृसम्पादित फल पश्यति, तथा हर्षशोकरहिता सन्त साधनानास्थया भगवत्सम्पा दित फल विघ्ने वा पश्यतेत्यर्थ । तथा च भगवानेव तस्य यत्नस्य फलजनकता सम्पाद यिष्यतीति भाव ॥ ६ ॥

विकल्पेनेति । साक्षात्सेवाया सिद्धाया साधनरूपसेवापामचानमिति च्यव

ज्ञाया अवाधने वाधने वा सेवैव मुख्या यतोऽतस्तस्यैव स्थेयमित्याहुः अत इति । एवं सति पर्यवसितं सुखमेवेत्याशयेन सुखमित्युक्तम् ॥ ७ ॥

कदाचित् पुत्रादिवियोगशङ्काजनितदुःखेन चिन्तासम्भवे गतिमाहुः चित्तोद्वेगमिति ।

चित्तोद्वेगं विधायापि हरिर्यद्यत्करिष्यति ।

तथैव तस्य लीलेति मत्वा चिन्तां द्रुतं त्यजेत् ॥ ८ ॥

नन्विदमखिलमशक्यमिव भाति । तथाहि । श्रवणमारम्य सख्यपर्यन्तागतौ हि पश्चात्निवेदनवार्ता । तत्र प्रत्येकं तदेव दुरापमिति दूरतरा निवेदनदिगपि । अतस्तत्कृत-चिन्तान्यवियोगचिन्तादिसमाहितिर्निरर्थेति विचार्य साधनफले एकीकृत्य सर्वसमाधान-माहुः तस्मादिति ।

तस्मात् सर्वात्मना नित्यं श्रीकृष्णः शरणं मम ।

बद्धिरेवं सततं स्थेयमित्येव मे मतिः ॥ ९ ॥

भीतिद्वेषात्प्रमत्तधीमस्तमकृतदिग्गणिसमेतम् ।

स्थितधिकल्पेनेत्यर्थः । तथैव स्थेयमिति । आवश्यककार्यार्थं कदाचित् कार्यस्य तत्तरक्षेपि चित्तं सेवापरमेव विधातव्यम्, ननु तत्कार्यपरमिति यत्नानुचिन्तनं न कर्तव्यमिति अन्यात्मने उक्तोर्थे उपसंहृतः ॥ ७ ॥

कदाचिदिति । कदाचित् पुत्रादिविद्युक्तो भवेदिति सम्भावनाया जनितां यदुःखं चित्तस्य पुत्रादिपरता इति यावत्, तेन हेतुना निवेदनविषयिणी चिन्ता सम्भवति । तथा च लोकवन्ममापि चित्तं पुत्रादिपरं जायत एवातो निवेदनं सम्पन्नं भवेति चिन्ता-सम्भवे गतिं तद्भावप्रकारमाहुरित्यर्थः । चित्तस्योद्वेगं भगवदीयत्वाननुत्तन्धानेन पुत्रादि-परतां विधायापि यद्यत् करिष्यति सा सा तथा तत्तत्प्रकारिकैव तस्य लीला निवे-दिनां सर्वं कार्यं स्वयमेव करोतीति भावः इति मत्वा निवेदनविषयिणीं चिन्तां त्यजेदिति मूलार्थः । एतच्चिन्तास्थापने 'एतथात्मा विनश्यती'तिवाक्यात् सर्वमेव नश्यतीति द्रुतमित्युक्तम् । निवेदनं सम्पन्नमेव, परं विलम्बेन भगवतः स्वप्रापणं चिकीर्षि-तमिति ज्ञेयमित्यर्थः ॥ ८ ॥

सत्कृतेति । निवेदनकृता यत्नकरणाकरणविषयिणी चिन्तेत्यर्थः । साधनफले इति । साधनं श्रवणाद्यष्टकम्, फलमात्मनिवेदनम्, शरणागतावेकदैवैते सम्पद्येते इत्यर्थः ।

१ भगवद्भक्त्यात् भगवच्छरण्यगमनं तदनुगत्यान च साधनम् । फल भगवद्कीर्तार । ततो भगवद्भक्त-द्वारा भगवच्छरण्यगता भगवता निवेदनस्याक्षीनाराद्वक्तुषु क्रमविषयाभावात्निवेदनलिङ्गत्वेन चिन्तासाधनना-मनुक्तत्वाविति भावः । २ उत्पृष्टं वेगमिति पाठः ।

यस्मादुक्तगीत्या स्वतः सर्वमशक्यमनः सर्वात्मना शरणागतौ प्रभुत्वे सम्पाद-  
यिष्यतीति हृदयम् । भक्तिमार्गीयान् सर्वानंशान् विचार्य तत्र प्रतिदग्धं स्वात्मि च म-  
चेन् पश्यति, तदा सर्वात्मना तया भवति । नित्यमिति नैस्तयमुच्यते । अल्पदा काले-  
नामुत्थमप्रवेशः स्यात् । अन्तःकरणे तयाभावेऽनयाभावे वा तया पदनमावस्वतिरिति  
ज्ञापयितु मत्तमेवं पदङ्गित्युक्तम् । एव नति लोकगिशाप्यानुपद्विती विष्यति ।  
एवमुक्तपराण्य सेवासत्तदा म्येयनित्यतां वा । नन्विदमति न मन्तव्यमित्याशङ्क  
'यमेवैव वृत्तुत' इति ध्युतेमं मतिरित्येव, एवमकारिर्वेत्त्यर्थः ।

भक्तिमार्गे प्रवृत्तस्य दार्ढ्यार्थमिदमुच्यते ।

अन्धस्य दृश्यं इव तद्विदुषाम्नात्र नार्थिता ॥ १ ॥

भक्तिमार्गगुणान्धोविचारमथनः मयम् ।

स्फुटीकृतानि रत्नानि भीमदाशार्थपण्डितैः ॥ २ ॥

मयोऽवर्टीकृतानां ग्धं इदि धृन्ना मजापिपम् ।

भजन्तु भक्ता येनात्मा न विमुञ्चति बर्हिषिन् ॥ ३ ॥

इति श्रीभीमविठ्ठलदीक्षितविरचितो नवरत्नप्रकाशः समाप्तः ।



श्रीकृष्णाय नमः ।

## नवरत्नम् ।

श्रीसुरलीधरकृतविवृतिसमेतम् ।

नवरत्नसुवर्णनिर्मिता परमानन्दरसस्य घोषिका ।  
हृदये पततात् सदर्पिणी परभोजप्रहरश्मिरूपिणी ॥ १ ॥  
रसमयसुवर्णधारवर्षणशीला दशविधप्रगुणाः ।  
श्रीसुरलीधरलीला सुरलीधरमानसे सन्तु ॥ २ ॥  
वसु सुवर्णमयं परितः परं रसमयं च विधाय सुमण्डलम् ।  
विविधनर्तनदर्शनवत्परा रसनिधिर्भवि सैव विराजताम् ॥ ३ ॥  
ललिते हृन्दाविपिते वैकुण्ठादप्यतीव रमणीये ।  
क्रीडसि नवरसचिरे श्रीस्वामिन् मम हृदम्बुजे क्रीड ॥ ४ ॥  
श्रीशुकदेवरहस्यं प्रकाशितं येरसीव रमणीयम् ।  
श्रीवल्लभाभिधानैर्नैवधा तेभ्यो नमोस्तु मे सततम् ॥ ५ ॥  
श्रीमद्विठ्ठलप्रभुषु श्रीनवरत्नप्रकाशनिपुणेषु ।  
सप्तविभक्तिरहस्यप्रकाशकेष्वस्तु मे प्रणतिः ॥ ६ ॥

अन्तःखलधर्मप्रधानकलिट्पिनसमयतीर्थकर्तृगद्यद्रव्यश्रद्धादीनामसाधकत्वाद्बुद्धिष्णु-  
दुरवगाहभाषण्डादिनिपुणजनतासङ्गसज्जाताज्ञानान्धकारसंभृतहृदयदरीनिविष्टविषयविपरस-  
संभृतानन्तसंसारसागरे निगम्यतया चेततः स्थिरत्वाभावाद्बिभ्रुकरीला श्रवणादिसाध-  
नाभावात्प्रवर्षी रत्नैश्चिन्ताभानपूर्वकं तदीयत्वानुसन्धानपूर्वकं च निरन्तरमष्टाक्षरवदनकृति-  
साधनरूपसाध्यफलापतिसुगमं च श्रीकृष्णस्य श्रीमद्ददनरूपाः श्रीवल्लभाचार्या दैविजी-  
वानुदिपीर्षन्तः प्रथम मध्यमादकल्पेनालौकिकश्रेष्ठभानोर्विशेषरूपया निगूढदिमात्रया आर्थ-  
योपदिशन्ति चिन्ता कापि न कार्येस्तादिना ।

चिन्ता कापि न कार्या निवेदितात्मभिः कदापि ।

भगवानपि पुष्टिस्थो न करिष्यति लौकिकीं च गतिम् ॥ १ ॥

घसन्तादिपूर्णरसमयपटैश्वर्यादिमूर्तिमद्भिः सेवितस्य गोरसदानादानप्रवीणस्य  
द्वादशसुवर्णरत्नाशिकल्पतरुकरुणारूढस्य श्रुतिगीतद्वादशभाससंवेत्परादिरसमयसमयप्रा-  
दुर्भावकस्य गायकपरित्राणनिपुणकल्पितपदनागाविद्योतितसकलसुषमास्पर्दकीर्तिप्राकटा-  
कारकस्य सप्ताक्षरव्यधितोत्तमवासरस्य त्रिभुवनललितमाधुर्यादिसुगन्धलतामधुपागप्रवीण-

षट्पदस्य स्वीयजनानामाधिदैविकसकलज्योतिषानामुकूल्येन चिन्तानिवर्तकस्य द्वितीयचरणमात्राविधौतितलपोदशमाससप्तसरस्य लौकिकसकलशुभकर्मानर्हसाध्यस्य भगवद्भक्ता-  
 वाधिक्यघोतकस्य तथाधिकमात्रायास्त्रयोदशीत्वेनानह्नसापि साङ्गतासिबोधकस्य उत्तरद-  
 लाद्वैलक्षण्यघोतनायाधिकैकमात्रस्य वा । सा मात्रा तु गायकप्रतिष्ठाणसमर्थाया, प्रथमचरणे  
 गूढा न्यासे द्वितीयचरणे च प्रकटीकृता । अत्र च याकारे आकृतिरूप निगूढवासुदेव-  
 पदमुत्तरान्वयि गूढमासमन्तात् सर्वप्रकारेण निवेदित आत्मा यैरित्यर्थात् । अत एव पद-  
 पदत्वमुक्तम् । तस्य चरणान्तत्वेन गुप्तवामनत्वे सत्येकादेशेति प्रथमचरणेन साम्यम् ।  
 अनेन मलिम्लुचातिरिक्तैकादशमासाना सङ्ग्रहोपि घोतित । द्वितीयचरण तु त्रयोदश-  
 मान सममेव, त्रिपदायास्तृतीयान्वयस्य व्यञ्जनस्य न्यासेऽगणनाद्याकारस्य वैकल्पिकवाम  
 नत्वे द्वादशमात्रा । अकारोप्यत्राकारात्पूर्वं प्रच्छिद्यो येद्य सकलवाग्रूप । असा  
 गायत्र्याश्च तुरीयस्य तुरीयनिगमवेदैकत्वाभावात् निचरणे साम्यम् । असाञ्चिचरणाया-  
 श्चालौकिकश्रेष्ठमानुप्रकाशत्वम् । एकस्मिन्नक्षरे मध्यस्था दिव्यव्यक्तिरव्यक्ता पूर्वोत्ता-  
 न्वयिनी । पूर्वान्वयित्वे यशोदोऽसहलालिता व्यक्तिरुत्तरान्वयित्वे कीर्त्यङ्गलालिता  
 व्यक्तिर्व्यक्षिता वेद्या । अङ्गो ह्यानन्दारामा विद्यारूपो भगवत्पाकल्पस्थानम् । व्यक्तद्वये-  
 प्यङ्गस्य समत्वात् । सकलवाग्रुपाक्षर एकस्मिन्नेकाङ्क । द्वितीयाया व्यक्तौ द्वितीयत्वेपि  
 तज्जातित्वेनाद्वयत्वादेकाङ्क । एव चैकाङ्कस्य द्वित्वे द्वेकादशी कृष्णवह्निभा प्रकटा भवति ।  
 तथा च दलद्वयस्याद्यन्तरहितत्वेन वर्तमानता उत्तरोत्तर वर्तमानस्यैव रसावहत्वात् ।  
 योगशलेन भूतभविष्यत्सदार्थयोर्वर्तमानत्वेपि सर्वेषा तथात्वाभावात् । अत एव  
 यद्योत्तर मुनीनां ग्रामाण्यमिवैचोश्चोत्तरभूयस्त्वनिवान्तिभवर्णेऽर्धपर्यवसानमनुभवसिद्ध  
 रसावहम् । अतो वाज्यपदीये 'पदेन वर्णा विद्यन्त' इत्यादि । किम्, दीर्घे  
 मात्राद्वयम्, इवने त्रयमिति हरि पञ्चधा इह द्वितीयचरणे मात्रात्रय गुप्तम्,  
 तद् द्वितीयव्यक्त्या व्यक्तीकृत कदापीतिपदेनेति । न हि कदापीतिपदमेकम्,  
 किन्तु पदनम् । एवञ्च कदाप्येतस्मात् पदद्वयात् यदितिपदमाचार्यं शेषत्वेन  
 पूर्वोक्तसकलप्रकारबोधक ह्येव स्यापितम् । गायत्रीमात्रार्थसाम्याय तत्स्वात्मद्वितीय-  
 व्यक्त्या व्यक्तीकृत वेद्यमिति भाव । द्वितीयचरणान्त इति पदे सति पञ्चदशमात्राभि-  
 स्तिथय इति कृष्णजन्मपक्ष । पदैर्भूतभविष्यद्वर्तमाना एतत्सकलरहस्यार्थबोधवस्य  
 'क्षय कार्तिकादित्रये नान्यत स्यात् तदा वर्षमध्येऽधिमामद्वय चे'ति सवत्सरस्यास्य  
 मासास्त्रयोदशेति सोपि सगृहीत । इति पदप्राकट्ये गूढा योऽद्यकला द्वादशकले  
 प्रविशन्ति । तृतीये मात्राणि सूर्यस्य कलागामक्षरैर्गाताना पदैः प्रातरादीना त्रयाणां  
 घोतकस्य तुर्ये मात्राणि शुक्रपक्षघोतकस्य रुद्रसहस्राक्षरैर्मलिम्लुचातिरिक्तगायाना च  
 पदैर्हरे पञ्चात्मकत्व स्पष्टयत, प्रातःसहस्रमध्याह्नपराह्णसायाह्नना च घोतकस्य,

दिनमणेरुत्तरपदमात्रस्य भावप्रयोगात् (?) स्वाधिके कनि सत्याद्युदात्तस्य भाणिकस्य रसेन परिपूर्णस्य सम्बन्धानन्दात्मकरत्नस्य प्रतिपादकतया आर्याविशेषरूपाया मध्यनायक-रत्नयोधिकाया अपि तद्रूपता वेद्या । वेद्यवेदकयोः संपृक्तवत्वात् । एवमग्निमेष्वपि वेद्यम् । श्रीकृष्णस्य हरेः पञ्चविधत्वं श्रीप्रभुचरणैर्निबन्धे उक्तम् 'अग्निहोत्रं तथा दर्शः पूर्णमासः पशुस्तथा । चातुर्मास्थानि सोमश्च क्रमात् पञ्चविधो हरिः । तत्साधनं च स हरिः प्रयाजादि सुगादि यत् । प्राकृत रूपमेतद्धि नित्यं काम्यं तु वैकृत' मिति वेदार्थस्य पञ्चधात्म-भारूपं च पञ्चममिति पञ्चधा हरिः । तथा कृष्णनाम्नि घर्णाः पञ्च । पञ्चवर्णोऽमिति । स चर्वेदादिरिति पञ्च, अस्यासनत्वं पशुनामगम्यत्वाय सूचितम् । भगवतः भक्तानां तु विद्यात्मकमुखारविन्दपङ्क्तिं प्राप्य कृतार्थता भवति । रमन्ते भक्तानां मनांसि यत्र तद्रत्नम् । प्रत्येकं रत्नेषु नवत्वेपि क्रमो विवक्षितः । श्रेष्ठभानोः समयपरिच्छेदकज्योतिषां प्राधान्यात् तद्रत्नस्य मध्यनायकत्वम् । आर्याविशेषरूपछन्दसा द्योत्यद्योतकयोः श्रेष्ठत्वसूचनात् ।

अर्थस्येयमतिश्रेष्ठा श्रेष्ठभानो रसात्मिका ।

विशेषरत्नतापन्ना चसुररत्नप्रकाशिका ॥ १ ॥

मध्यस्था प्रथमं प्रोक्ता श्रीमद्भद्रमदीक्षितैः ।

सोर्वशी राज्ञतां नित्या मुरलीधरमानसे ॥ २ ॥

अष्टरत्नप्रधाननवमस्योर्वशीत्वं प्रधानतयोक्तं भाणिक्यस्य ।

रसमध्यसुवर्णनायिका घरमाणिक्यतया निरूपिता ।

हृदये मुरलीधरस्य सा लसतान्नित्यमनन्तवैभवा ॥ ३ ॥

त्रिचरणसमगायत्री तुरीयचरणेन संप्रुता तस्वम् ।

वेदानां प्रसवित्री मुरलीधरमानसे प्रकाशयताम् ॥ ४ ॥ १ ॥

दिनमणेर्दिनप्रधानस्य रत्नमभिधाय क्षणदाप्रधानस्य कृष्णसाराङ्गस्य स्वात्यमृतवि-  
न्दुद्रव्यं मुक्ताफलामिधं द्वितीयं रत्नमाहुः निवेदनं च स्मर्तव्यमित्यादिना ।

निवेदनं च स्मर्तव्यं सर्वथा तादृशैर्जनैः ।

सर्वेश्वरश्च सर्वात्मा निजेच्छातः करिष्यति ॥ २ ॥

स्मरणं चन्द्रेच्छे च मानसे । एवं च 'अहं तवासि' इति निरन्तरं स्मर्तव्यम् । तच्च भगवत्प्राप्तौ मुरयं निमित्तम् । तेनाविकृतपोडशदल आधिदैविको भगवन्मनश्चन्द्र आधिभौतिकेऽविकृते सत् विद्यात्मतां याते अक्षरात्मनि व्यापके पद्मदशकलत्वं प्राप्ते सेव-कमनश्चन्द्रे निविश्यते, तदा पोडशकलो भवति । अत एव पोडशसङ्घाकाधरणाद्वाः । अत

एव रसिकशिरोमणिमि श्रीहरिराये 'यद्ब्रह्मानाञ्चेतोपि च षोडशकलमञ्जसा भवति' इत्युक्तम् । इहापिशब्दाच्चित्तनुद्ब्रह्मकाराणा तत्सङ्ख्याकाना चतुषष्टधरात्मिका कला सम्पद्यन्ते । सर्वाथा तादृशै कायवाच्यनोभिरनन्यतया ये भवन्त प्रपन्ना तादृशैरिति सहायै तृतीया । यद्यपि स्मरणे सङ्गपेक्षा नास्ति, तथापि तादृग्भिन्नै सह सङ्गनिवृत्त्यर्थं तथोक्ति । सर्वसेवकानामीश्वरत्वेन निरोधकत्वात् तेष्वेव दैवेषु आत्मत्वमात्मीयत्व च मनुते । अतो 'निजस्य नैजाना चाविकृतेच्छात' इत्युक्त प्रकाशे । भगवद्विच्छा परीक्षाधर्या तात्त्विकी नैत्य-विकृतोक्ता । स्वतन्त्रप्रवाहमर्यादयो रत्ने शोकोत्पादकत्वात् शोकाश्रयत्वात् वा शुक्तित्वम् । क्षीणे पुण्ये मर्ललोकनिवेशम्योक्तत्वात् शोकननकत्वम् । करिष्यतीति सामान्योक्त्या केषुचिदविलम्ब, केषुचिन्मध्यविलम्ब, केषुचिदतिविलम्ब इति द्योत्यते । वर्तमानसामीप्ये मविष्यत्प्रयोगात् प्रथम पक्ष, इतरौ तु सामान्यप्रयोगाद्वेधौ ।

उपरितनमर्यादा शुक्तिरधस्तात् प्रवाहरूपा च ।

उभयो' सम्पुटगर्भे स्वातिरसालं विरत्नरत्नेव ॥ १ ॥

उपरि महामर्यादाधस्तनशुक्त्या तु सम्पुट याता ।

पुष्टिर्मुक्ता मध्येऽससृष्टा निर्गता ततः शुद्धा ॥ २ ॥

पुनरनयोर्न प्रमिश्रति भगवद्भूपासु ससक्ता ।

इत्थं मुक्तारत्न द्वितीयमथ द्वय वेद्यम् ॥ ३ ॥

प्रवाहवेदमर्यादाशुक्तिसम्पुटनिर्गताः ।

कलानिधे रत्नरूपा मुक्ताः स्वातिरसात्मिकाः ॥ ४ ॥

भवन्तु भावे सरसे तासा मम रसात्मनः ।

सदा येन भवेद्भावो भूषणे भूषणे विभो ॥ ५ ॥

प्रदास्तपुष्पवद्भजे सर्वरूपरसान्विते ।

श्रीकृष्णहृदये भाते भासेता हृदये मम ॥ ६ ॥ २ ॥

रसवर्षणभावद्वादशत्मककृष्णसाराङ्गाहादकरसरश्म्युदयमात्रेण प्रफुल्लता प्राप्त-वतो, अत एव प्रशस्तयोरर्थैत्कृष्टरमार्णवक्षरत्नरूपयो कमलयो पुष्पयो सदा विद्यमानसाययोगोविप्रप्रतिपालकवशप्रवर्तकयोरलौकिकयो राकलभुवनाप्यायकत्वेन पुष्टि-प्रदयो सूर्याचन्द्रमसो सदानन्दरूपे रत्ने अभिधाद तृतीया सेवकव्यक्तिं विना सेव्यलीलानुदयात् पूर्वोत्तरान्वयिनी सदानन्दमध्यस्था चिदानन्दाक्षरदैवजीवसम्बन्धिदेह-रूपविटुमारया मध्यपुरुषवोध्यामदिगन्ता रत्नव्यक्तिमाहु सर्वेषामिति ।

सर्वेषां प्रभुसम्बन्धो न प्रत्येकमिति स्थितिः ।

अतोऽन्यचिनियोगेऽपि चिन्ता का स्वस्य सोऽपि चेत् ॥ ३ ॥

वसुन्धराप्रधानानां प्राकृतानां स्वस्वीयदेहानां परब्रह्मसम्बन्धादलौकिकतां यातानाम-  
क्षरस्वरूपत्वेन चिद्रूपसात्विकानां विशेषेण महलद्रुमरूपता भवति । सा तु श्रीकृष्णामर-  
णत्वेन । किञ्च, द्रव्यतेर्यत्यर्थकत्वेनान्यत्र विनियोगसम्भव उक्तः । न हि स वस्तुतो भवति ।  
यतोऽलौकिककृतिपकेन प्रशुचरणारविन्देन स्वसेवकमनोनात्तमातङ्गस्य स्वस्मिन्नेव  
स्थापनाय नित्याङ्कुशधारणं कृतम् । अत उक्तं ललिते 'एतत्पदपङ्कजमधुमत्तस्यायं निसर्ग  
एवाम् । नेतरभावं भजते यदङ्कुशो नित्यमेवास्ती'ति । प्रभोरिच्छायाः सर्वकार्यकरण-  
समर्थाया यः सम्बन्धः स परब्रह्मणः समत्वात् सर्वत्र समः । ईदृग्देहानां महलमन्दिरवे-  
दवयात्मकाक्षराधारत्वेन महलरत्नत्वम् । स्वयं विराजमानत्वात् ।

भौनानां विद्रुमत्वं भवति निजपरस्वीयदेहादिकानाम्  
कृष्णेऽद्वा स्वर्पितानां रसमयपरमालौकिकानां स्वभक्तैः ।  
स्वीयाचार्यस्य मार्गे परमगुणगणालङ्कता भूषणार्हाः  
सेवायुक्ता यत्तले रसमयवपुषो जङ्गमाः कल्पवृक्षः ॥ १ ॥

मच्चित्ते वा भवन्तु प्रणयरसभरा उर्वशी रत्नमध्यात्  
पाद्यायां बीधिकायां हृदयपरिसरे रत्नरूपाः सुवर्णै ।  
इत्थं रत्नं तृतीयं नवसु निगदितं पूर्णकामायमानम्  
तस्मै दिव्याय भे स्नात्रम इह परमानन्दलाभाय नित्यम् ॥ २ ॥ ३ ॥

ननु मध्यहीनाधिकारिभिः स्वयं ज्ञात्वा स्वदेहस्वार्पितत्वेपि पुत्रादीनां ज्ञाना-  
भावात् तदेहानामज्ञानावृत्तचित्तत्वेन लौकिकत्वादन्वविनियोग एव भवतीति भवति-  
चिन्तेति दुषस्य सेवकजनशिक्षकस्य महापुरुषस्य निवेदकस्य प्रभावादज्ञानकृतनिवेदि-  
तदेहानामपि चिन्ता न कार्येति मरकताभिधं तुरीयं रत्नमाहुः अज्ञानादिति ।

अज्ञानादधया ज्ञानात् कृतमात्मनिवेदनम् ।

वैः कृष्णसात्कृतप्राणैस्तेषां का परिदेवता ॥ ४ ॥

अज्ञानस्य व्युत्थरणोत्तरक्षण एव सम्बन्धात् प्रथममुपादानम् । तत्रावरकत्वात्  
सङ्कर्षणनिचोलनिभम्, यतः ज्ञानात् प्रकाशकत्वेन मास्त्रप्रायात् स्वच्छाद्देतुपुतात्  
कृतं देहादीनां परमात्मने समर्पणम्, श्रीकृष्णाधीनकरणं प्राणानामविकृतमव्ययत्वाद्देयम् ।  
अतस्वस्यै हितः प्रत्ययः सातिथ्य वेद्यः । बुधेऽज्ञानाद् ज्ञानाद्वापि तं स गृह्णाति, बुधत्वेन वैप-  
म्याभावात् । तदीयत्वेन रसमपि तादृशम् । त्रियतेऽनेनेत्यहन्ताममतात्मको विविषदुःखदो  
मनोदेहेन्द्रियविकृतिजनकः संसारो मरः, तस्य कतो नैर्भल्पजनकः । यतः कं निरतिश-  
यानन्दः, तं तापति तनोति वा उपलभयान्तः । मनोदेहेन्द्रियादीन् समावतो मलिनान्

कतकापरपर्यायनिर्मलीकृतघनरसं शोधयति, तथेदमपि । अतः प्रमाणरूपरामेण ताद-  
वर्णवसनं घृतम् । अञ्जं सुञ्जं वा पण्डितत्वादनुगृह्णाति ।

सरस्वतीरूपनिचोलरामस्याङ्गे य आनन्दमये रसायाम् ।  
श्रीनालकृष्णो रमते यथेच्छं तं पूर्णकामं प्रणमामि देवम् ॥ १ ॥

सुधो विद्यारूपः प्रकटपरमानन्दजनको  
निचोलं यस्मीलं सकलरसज्ञहारविभवम् ।  
घृतं येन स्वच्छं मरकतमणिप्रख्यमतुलम्  
स मे चित्ते भूयादखिलतिमिराज्ञानदलनः ॥ २ ॥

निवृद्धे यस्मीलं सरसरमणीनां हृदि तटे  
प्रसिद्धं शृन्दाया विपिनभ्रवनेत्र प्रतिदिनम् ।  
प्रमेयं विख्यातं दशरमरसालहृतवधुः  
महातेजःपुङ्गवं मनसि मम भूयाद्गुमितम् ॥ ३ ॥

मरकतमिह रत्नं यद्दुघस्योक्तमेत-  
त्प्रभवतु मम चित्ते शोधनाय प्रकामम् ।  
गुरुचरणसमर्प्या स्वाघया पुण्यकरीं  
सकलदुरितहारीं सर्वकामप्रदात्री ॥ ४ ॥

इति सुपस्य मरकतारस्यं धनुर्धं रत्नम् ॥ ४ ॥

स्वतन्त्रः कर्ता सकन्तरममयः धीनिरेतनः पूर्णपुरुषोत्तमोऽर्पितमहीकृतवान्, न वेदि  
संशयमुत्तिथीर्षवो मुकुन्दमुत्तारविन्दनेत्रोनिपिरूपाः श्रीशारपत्र आचार्याः सर्वदा

यनामनामित्वेन तदीयत्वात् । एवं ब्रह्मानन्दादुद्धरणं पदार्थमात्रस्य वेद्यम् । भजनानन्दे शोभनं तु पूरणात् पुरुषधर्मः ।

पूरणात् पुरुषतामनवधामुत्तमां समधिगम्य रमेशः ।

सौमित्र नहि मुञ्चति भक्तान् क्रीडति प्रतिदिनं हृदयेषु ॥ १ ॥

पुष्यति प्रतिदिनं हृदये वै येन राग इह भक्तजनानाम् ।

तद्गुरो रसमयं पररत्नं पुष्पराग इति मे मनसि स्यात् ॥ २ ॥

सस्य स्वीयजनस्य वा परब्रह्मत्वादन्वययोगो भवेत्

दैवादत्र सदा तदा निजजनैश्चिन्ता न कार्या यतः ।

सामर्थ्यं पुरुषोत्तमस्य सततं श्रीमर्तुरन्याहृतम्

जानीयादिति पुष्परारचना मे मानसे भासताम् ॥ ३ ॥

इति पुष्परागाल्यं पञ्चमं गुरुदेवस्य रत्नम् ॥ ५ ॥

अहं ममेत्यसद्वाहेण लोचति यस्मिन्निति लोकः, पुनः पुनरावर्तनदः प्रवाहमार्गः ।

अत्र लोचनं नामाहन्ताममतयोरेव विशेषज्ञानम् । तत्र व्यवहारे क्रियमाणे सेवकस्य स्मयनाशनाय फलं न भवति, किन्तु लोके व्यवहारेण फलाभावात् खेदे सति हरिः करिष्यति, तदेव भविष्यतीति निश्चये जाते भगवान् पुष्टिमार्गं एव तिष्ठतीत्यनायासेन सकलमनोरथाः सेत्सन्तीति तदृश्यतया सेवकैः स्वेयमित्युपदिशन्ति, मर्यादामार्गेषु स्मयनाशनायोपदिशन्ति लोके स्वास्थ्यमित्यादिना ।

लोके स्वास्थ्यं तथा वेदे हरिस्तु न करिष्यति ।

पुष्टिमार्गस्थितो यस्मात् साक्षिणो भवताखिलाः ॥ ६ ॥

भक्तानां स्मयनाशनेन सकलं दुःखं हरतीति हरियतोऽयं तृतीयमार्गस्थः । मर्यादा-  
मार्गे देशादीनां कृष्णाश्रयोक्तरीत्या साम्प्रतमसाधकत्वात्, तत्र प्रत्युत प्रत्यहमेव करोति परीक्षायै, स्वतन्त्रेच्छत्वाच्च, पुष्टिमार्गस्थितत्वेन सुखमेवान्ततः प्रयच्छतीति पुरुषार्थदयं सम्पद्यते । अन्यथा विततानेकविध्युक्तसाधने क्लेशेषु फलाभावे सुतरां क्लेशः । तस्मात् स्वयं कविनाम्ना रसाधायकरीत्या अलौकिकं न केनाप्यपनोद्यं फलं प्रयच्छतीति भावः । अत एव कवेर्वज्ररत्नेन व्रजति पर्वततुल्यं किल्विषं गच्छत्यनेनेत्यन्वयेन सर्वं सेत्सतीति साक्षितया सेवकैस्त्वृत्तिं पश्यद्भिव स्वेयम् ।

वाणिज्यादौ च वेदे विविधविधिकृतौ विभ्रमेवेति वेद्यम्

यस्मात्तस्मात् फलं वै न भवति नितरां कर्तुरस्य कृपायाः ।

अन्तःस्वभूयोभिमानो न भवति सुतरां मानसं व्रजतुल्यम्

नीरीभूतं यथा स्यात् फलमपि भवति श्रीयनिष्ठं यत्सत् ॥ १ ॥

पर्वतसदृश किलिपमिह जात भक्तवर्गस्य ।  
 त्रजति त्वरित वज्रादित्यन्वर्थं कवे रत्नम् ॥ २ ॥  
 साक्षीवत्कृतिमादराद्भगवतो यूय सदा पश्यते  
 त्वेव सिध्यति सर्वमीप्सिततम कार्ये फलं कर्तुतः ।  
 पुष्टिं श्रीपुरुषोत्तमादुपदिशन्त्यद्वा तदास्यात्मका  
 आचार्या इह वैष्णवान् स्वकुलतोप्यन्याननन्याश्रितान् ॥ ३ ॥  
 मर्यादात्यजन विरुद्धमिह यत्तत्र पर ये विदुः  
 गुप्तेः किन्तु दरिभरित्वमिति तन्न स्वीकृत्य पुष्टिं गताः ।  
 दुष्टास्ते दयया सदा विरहिता वेदाक्षरान् वाचय-  
 त्यद्वाज्ञानगुरुमोक्षर ह्युपदिशन्तीशस्य चाज्ञाद्बुहः ॥ ४ ॥  
 इति कवे शुक्तस्य रत्न पत्रम् ॥ ६ ॥

कविर्ज्योतीरूपो देवः सुरासुरभावज्ञ आसुरभाव निन्दयन् दैवभाव स्तुवन् स्वर-  
 लेन । एव च प्रह्लादादिष्वासुरत्वेपि तद्धर्माभावादनुग्रह, अन्येषु निग्रहोपि सूचितोऽ-  
 नेनेति । दैवै किं कृत्वा स्थेयमित्यादिसन्देहान् सारिरत्नेन निवर्तयन्ति सेवाकृतिरित्यादिना ।

सेवाकृतिर्गुरोराज्ञा चाधर्मं वा हरीच्छया ।

अतः सेवापर चित्त विधाय स्वीयता सुखम् ॥ ७ ॥

गृणाति परमात्मनस्तत्त्वमिति गुरु, 'गुरु न मर्त्यं मन्येते ति वाक्यात् तदुपदिष्टमार्गेण  
 रसमयी सेवा विधेया । तत् कदाचिद्भगवदनुग्रहवशात् सेवकस्य विशेषेच्छया भावरूपा  
 भगवदिच्छा विशेषाकृतिरूपेण तमनसा प्राकण्यमाप्नोति, साद्धा भगवदिच्छेत्यनुमित्या  
 मन्तव्या सेवकै । एव हि गुर्वीश्यायाधनमवाधन वा हरीच्छया भवतीति भाव । इन्द्रनीलम्र  
 त्वतिमन्थरगते सर्ववर्णरनपनोषवर्णै तमसाप्यनुपनोष च सर्ववर्णत्वात् । इन्द्र परमात्मा  
 परमैश्वर्यवान् सकलरसाया जीवनरसवर्षणशील, अत एवाद्युदात्तस्तद्भक्तिनिविडश्याम-  
 सुन्दरमूर्ति, तस्येदम् । अनेन श्यामसुन्दरसेवाया मन प्रभृतीना वृत्तयोऽन्यावृत्ततया  
 मन्थरगतयो रसमयशिरविबुल्लतारूपा भवन्त्यत उक्त सेवापर चित्त विधाय  
 स्वीयता सुखमिति । निन्दारसकुत्रसेवाया मन्थरा गतिर्भवतीति सेवामकत्या सकल  
 स्तिष्यतीति व्यनितम् ।

गुरणा परमेश्वरेण या कथिता सर्वरसप्रदायिनी ।

परमा तनुसेवना तथा वसुना स्वस्य च सा परा मता ॥ १ ॥

यदि सा त्रयशिका ततो भवेन्मनगस्तस्य परात्मन प्रभो ।

परमेष्टतयावगम्यता निनभर्त्तरवरेष्य चेन्द्रियम् ॥ २ ॥



स्थिरतामुपगम्य सेवयावसरेऽन्यत्र कथारसैस्तथा ।  
रविन्दनरत्ननीलतां रमणीयां हृदये विचिन्तयेत् ॥ ३ ॥

इन्द्रनीलमणिवद्विराजिता सर्ववर्णसमवायदेवता ।  
मन्दमन्दगतिमद्रसान्विता मे मनस्यविरतं विराजताम् ॥ ४ ॥

यद्यप्यनेन भगवत्सेवायां देहेन्द्रियाणां स्थिरतोपदिष्टा, तथापि 'यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विषथितः । इन्द्रियाणि प्रमार्थानि हरन्ति प्रसभं मनः । इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते । तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नाविबाम्मसी' त्यादिवाक्यैर्वायोरिव मनसो दुर्ग्रहत्वेनानेकदुःखोत्पत्त्या चित्तोद्विग्नतायां सेवाया असम्भवात् तत्रिवृत्त्यर्थं गोमेदाख्यं विधुंतुदस्याष्टमं रत्नमाहुः चित्तोद्वेगमित्यादिना ।

चित्तोद्वेगं विधायापि हरिर्यद्यत्करिष्यति ।

तथैव तस्य लीलेति मत्स्या चिन्तां द्रुतं त्यजेत् ॥ ८ ॥

सांसारिकानन्तदुःखजन्योद्वेगस्य चित्तधर्मतयाऽवश्यं प्रथमं भवनमित्यङ्कतोपि स कृतो भवतीति कत्वोक्तिः । तदुत्तरं सेवकस्य यत्कर्तव्यं तदाहुः हरिर्यद्यत्करिष्यतीत्यादिना । सेवकानां सकलदुःखहर्ता हरिर्यद्यदनेकविधं दशललितलकारप्रकृतियेषोपितफलाश्रयं करिष्यति, तथैव तस्य होलीलेति मनसि ज्ञात्वा चिन्तां शीघ्रं निश्चेत् । विधौ लिङ् । विधिः कर्तव्यार्थोपदेशः । करिष्यतीति वर्तमानसामीप्ये लृट् । अनेन वर्तमानकार्यं भविष्यत्कार्यं सकलं भगवलीलेति सेवकैर्मन्तव्यमिति भावः । अतीतसमये स्मृतिमात्र आनन्द उपलक्षणत्वेन वेद्यः । वर्तमानस्यानुभूयमानागणितानन्दत्वे रसापायकत्वम् । भविष्यति तु गाविनि कार्येऽत्युत्कृष्टितं मन इति रसापायकत्वमिति त्रिष्वपि समयेषु यवत्कार्यम्, सा लीला । एवं च सदा चिन्तात्यागे गवामिन्द्रियाणां तेषामाधारसारूपमङ्गलदेहस्य योषकगणीनां च क्षेत्रात्मकभेदो वृद्ध्या गोमेदो विधुंतुदरत्नप्रकाशकस्यास्य भवति । क्रिय, भगवत्सेवकमानसचन्द्रस्य भगवद्विद्योगजरसं रूपस्फूर्त्या तत्तलीलायाः स्मरणान् तन्मयत्वेन मत्समूयं लब्ध्वा परमद्वयमगवत्प्राप्तिरविलम्बेन भवतीति श्रुतिरहसाधोऽनेन व्यञ्जितः ।

चिन्तात्याजनवस्त्वनेन विदुषां याणीद्वपीकादिकाः

पुष्टिं यान्ति निरन्तरं विधुमनःतेदं विधायाद्भुवम् ।

शीघ्रं प्राप्तिरतो यतो भगवतो लक्ष्मीपतेरजगा

गोमेदाभिधरत्नरूपत इदं मे मानसं मामताम् ॥ १ ॥

गोपालगोरक्षणधर्महेतोर्विन्द्यत्समन्नीहृत्वमप्र विद्वन् ।

चगुन्धरां गां परिपालनाय हृतावनारत्वमुपेधने कथम् ॥ २ ॥

मद्यप्यदेवायु निजेषु कथिद्विषोऽनीयः गुरतावनाय ।

नो येत् कथं मे विदुदं निरं सात् वृषानिधेःनन्व शरस्य विद्वन् ॥ ३ ॥

इति मुरलीधरवाण्या देहहृषीकाणि पुष्टिमुपयान्तु ।

मुरलीधरस्य सततं श्रीगोपालप्रसादेन ॥ ४ ॥

इत्यष्टमं गोमेदाख्यं रत्नम् ॥ ८ ॥

नन्विदानीन्तनानां सेवकानां श्वः श्वः पापिष्टदिवसत्वेन देशादीनां साधकत्वाभावात्  
श्रवणादीनां सम्यक्तयाऽसम्भवात् पूर्वोक्तप्रकाराणां सुतरामसम्भवाच्च कथं फलप्राप्तिरित्याशङ्क  
सा भवत्यनायासेनेति तत्प्रकारः त्रिसूत्रापरपर्यायेण नवमेन वैदूर्यरत्नेनाहुःतस्मादिति ।

तस्मात् सर्वात्मना नित्यं श्रीकृष्णः शरणं मम ।

वदद्भिरेव सततं स्थेयमित्येव मे मतिः ॥ ९ ॥

यस्मात् पूर्वोक्तं कर्तुमशक्यम्, तस्माद्धेतोः सर्वात्मना वाचा व्यक्ततया मनसा  
न्तरव्यक्ततया तदर्थानुसन्धानपूर्वकं सदा आसुरावेशाभावायाष्टाक्षरमुच्चारयद्भिरेव सेवकैः  
स्थेयम् । यथा मनसोऽन्यत्र वृत्तिर्न भवति, तथा विधेयमिति मे मनीषाऽस्तीत्युपदेशः ।  
अयं भावः । श्रीकृष्ण इति विशेषणम्, शरणमिति विशेष्यम्, व्यक्षरं सूत्रद्वयम् । ततः  
समसम्बन्धबोधकं द्व्यक्षरमपि परोक्षास्तिना व्यक्षरीति नव । किञ्च । जीवात्मनः सम्बन्धबो-  
धकं द्विधा, अव्ययमनव्ययं च । अव्ययात् विकाररहितात् पुष्टिमार्गीयसिद्धा पुष्टिमार्गी-  
याणाम्, साध्येतरेषामिति भावः । भक्तबोधकादनव्ययाच्च प्रवाहमार्गीयभक्तबोधकादस्तीति  
लीलाबोधकं पदमस्त्विति वा शेषत्वेन विज्ञैर्विज्ञेयम् । एवं च सलीलाप्रकाशकत्वेन सह  
व्यक्षरी तृतीयेति नवाक्षरी परमावधिसङ्ख्या चेद्य । एता ब्रह्मसूत्राक्षररूपाः सङ्कर्षण-  
प्रद्युम्नानिरुद्धैर्धृताः, सदैव शिखापद्मोपवीतधारणं ब्रह्मवैवर्ते व्यक्तम् । ब्रह्मादिभिश्च सह  
जातत्वेन तद्धारणमत्र उक्तत्वाद्दतः सदा धारणम् । 'सदा वदद्भिरेव चे'तिकारिकाव-  
न्मालापि सदा धार्या । मलघातोर्धारणार्थकत्वात् । मल्यते सदा ध्रियते सा माला ।

अनुपमसुवर्णरत्नैरद्भुतमाला वसुमितैर्विहिता ।

मध्यश्रीमाणिवया विराजतां मामके मनसि ॥ १ ॥

इत्थं नवाक्षरीयं परोक्षनित्यास्तिना चोक्ता ।

प्रत्येकं व्यक्तीनां स्वरूपमस्या विराजतां हृदये ॥ २ ॥ ९ ॥

तत्र प्रथमं जगन्मङ्गलमङ्गलमूर्तिर्भगवदुरसि स्थितेन श्रीवर्णेन सकलरत्नसुवर्ण-  
रससम्भृता नित्यानन्ता द्वितीया प्रकृतिः संसिद्धार्थिका विराजते । द्विसुवर्णाकृतिवर्णो  
यत्र । अत एवादिर्विस्तरेण विस्ताराय श्रेष्ठभानुकीर्तिवैद्यपरम्परया प्रकाशकौ यत्र  
द्वौ सदा विराजगानौ सिद्धसाधौ यथा रामित्युक्तं श्रुत्यानुनासिकी तौ तु व्यवहार्या-  
व्यवहार्यौ । तत्र पूर्वो गत्यर्धप्रकृतिश्चतुर्थः ।

इति श्रीमुरलीधरभट्टविरचिता नवरत्नटीका संपूर्णा ।

## परिशिष्टम् ।

श्रीसातृमहत्तय ।

अथ नवरत्नग्रन्थविषये किञ्चिद्विल्यते । 'श्रीयतेऽमलया भक्त्या हरित्पद्मिद्विडम्ब-  
नम्' 'भक्त्याहमेकया श्राद्धः' 'वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या' 'भक्त्यैव तुष्टिमभ्येती'-  
त्यादिवचोभिः प्रेमलक्षणया भक्त्या भगवान् लभ्यः । 'दारान् सुतान् गृहान् प्राणांनि-  
त्याभ्य' 'उद्धवात्मनिवेदिनां मयि सञ्जायते भक्ति'रित्यन्तेन वाक्येन प्रेमलक्षणया  
निवेदनलभ्यत्वम् । निवेदनं च देहादिषु स्वकीयत्वाध्यासनिवृत्तिपूर्वकभगवदीयत्वबुद्धि-  
सम्पादने भवति । 'श्रीडार्थमात्मन इदं विजगत्कृतं ते स्वाम्यं तु तत्र कुषियोऽपर ईश  
कुरु'रित्यादिवचनैर्निखिलवस्तुनां भगवदीयत्वात्तदीयत्वबुद्धिसम्पादनेन देहादीनां भग-  
वत्सेवोपयोगिकरणस्य निवेदनपदार्थत्वात् । जावे च निवेदने पुनरिष्टानिष्टासिनिवृत्तु-  
पापविमर्शनादिरूपचिन्ताकृतौ स्वकीयत्वाभिमानेन याहिर्हृत्यसम्भवात्निवेदनवैयर्थ्यं स्यात् ।  
तथा सति न निस्वार इति परमकृपालुमिराचार्यचरणैश्चिन्तारूपप्रतिपत्त्यनिवृत्त्यर्थं 'चिन्ता  
कापि न कार्ये'त्याद्युपदिदिष्टे । तथापि निवेदनस्य श्रवणाद्यष्टकानन्तरभावित्वात् श्रव-  
णादीनां च प्रत्येकं दुरापतया निवेदनस्य सुतरां तयात्वेन प्रेमलक्षणया अनुत्पत्या कथं  
भगवदासिरित्याशङ्क्य 'श्रीकृष्णः शरणं ममे'त्यष्टाध्वरमप्रो निरन्तरमावर्तनीयः, तेन च  
सर्वाणुपपत्तिपरिहारः सकलसिद्धिभ्येत्सुपदिष्टम् । तत्र कथमनुपपत्तिपरिहारपूर्वककार्यसिद्धि-  
रित्याकाङ्क्षायां तदाशयं विवृण्वन्ति प्रसुचरणाः 'साधनफले एकीकृत्य सर्वसमाधानमा-  
हु'रित्याभासग्रन्थेन । 'श्रीकृष्णः शरणं ममे'त्यष्टाध्वरमप्रे साधनफलपौरेकीकण्णात्सर्व-  
समाधानमिति भावः । तथाहि । श्रीकृष्णः फलरूपः निःसाधनजनोद्भूतिकृताभिव्यक्तिः  
सर्वोद्धारप्रयत्नात्मा मम निःसाधनस्य शरणं आश्रयः सक्याशक्त्यसम्पादक इति मन्त्रार्थः ।  
यद्यपि स्वायोग्यताविचारे श्रवणादिसाधनदौर्लभ्येन भगवत्प्राप्तिसिद्धिन्त्याभावः, तथापि प्रभोः  
पुष्टिसरूपविचारे शरणागतौ सर्वं सुलभम् । 'तेषामहं समुद्धतां मृत्युसंसारसागरा'दि-  
त्यादिवाक्यात् । तत्र साधनक्रमेण चेदुद्दिष्टीपुं, तदा जीवाशक्त्यापि श्रवणादीन् सम्पा-  
पोद्धरति । अन्यथा विनापि साधनं कृताथयति । अतः शरणगमनं पुमर्थसाधनम् ।  
अत एव 'शरणं भावपेद्धरि'मिति श्रीमदाचार्यैरुक्तम् । 'भक्तद्रोहे भक्त्यभाव'इति च ।  
इह भक्त्यभावे भक्तिप्रसिद्धार्थं हरिं शरणं भावपेदित्यर्थः । प्रकृतेषु श्रवणादिनरविषमकृतीनां  
दौर्लभ्यं ज्ञात्वा नवविषमभक्तिप्रसिद्धार्थमेतन्नप्रावृत्तिरुपदिष्टा । अतः प्रमात्नफलविचारेण  
पूर्वपक्षः । प्रमेयफलविचारेण समाहिनिरिति ज्ञेयम् । तथाच फलमेव साधनीकृतेति  
फक्किर्कार्यः । अनेन 'श्रीकृष्णः शरणं ममे'ति मन्त्रार्थो व्याख्यातो ज्ञेयः ।

किम् । अयं मधो नेतरसाधारणः । किन्तु पुष्टिमार्गीयः । समर्पणघरम् । अत  
एव प्रसुचरपैरभिहितं 'यदुक्तं तातचपैः श्रीकृष्णः शरणं मम । तत्र एतानि नैधि-  
न्यभेदिके प्रातीकिक' इति । पुष्टिमार्गीयत्वं च भगवत्स्वरूपानिरिक्तकलाभाववत्त्वात् ।  
तथाच पुष्टिसौम्यं मन्त्रोत्तरमावर्तनीयः । मनसा पूर्वोक्तदर्यानुग्रहानेन शरणमारने

च कार्यम् । अत एवोक्तम्, 'एव चित्ते सदा भाव्यं वाचा च परिकीर्तये'दिति । एवं प्रपत्तौ भगवानशक्यमपि साधयिष्यतीति निष्कर्षः । अत एव तद्विद्युतौ प्रभुचररूपे 'सर्वात्मना शरणागतौ प्रभुरेव सम्पादयिष्यतीति हृदय'मिति । तथा सति चिन्ताले-  
शोपि नास्तीति प्रतिबन्धाभावे सिद्धे निवेदनसिद्धौ मुख्यभक्तिलाभः, तेन च भगवत्प्रा-  
प्तिरिति चिन्ताकरणनिराकरणनिरूपणस्य सार्थक्यमिति कोविदा एव विदाङ्कर्वन्तु ।

नवरत्नप्रकाशे, 'अन्यथा दारपरिग्रहोत्तरक्षण एव तन्निवेदने कृतेऽग्रे तदविनियोगे प्राप्ते तत्परिग्रहवैयर्थ्यापत्तिः ।' इयं फक्किका पूर्वफक्किकया न सगच्छत इति बहूनामार्याणां महानेवोद्यमोऽस्मिन्ग्रन्थे नानाविधोऽस्ति । परन्तुधमशतेनापि न लगतीयं फक्किका । तत्रायं निष्कर्षो बोध्यः । इह लेखकादिदोषवशात्फक्किकानां वैपरीत्यं जातं लेखने । अतः फक्किकानामर्थस्वारस्यं विचार्य पूर्वापरभावं निर्धार्य फक्किका लिख्यन्ते । तथाहि । इह पूर्व 'निवेदने मजनाधिकारस्तस्मिन् सति तदनिर्वाह इत्युभयतः पाशारजुरिति चेत्' इति फक्किकास्ति । तत्रोत्तरमुक्तम्, 'अत्र वदाम' इत्यादिना । तत्र 'गायत्र्युपदेशजसंस्कार-  
व'दित्यन्तेन निवेदनस्यावश्यकतोक्ता । एवं निवेदनस्यावश्यकत्वमुक्त्वा निर्वाहः केन कार्यं इत्याकाङ्क्षायां 'निवेदितानामर्थानां भगवद्भोगार्थं विनियोगे जाते तद्वत्प्रसा-  
दत्वेन स्वोपभोगकृतिरुचिततरा' इति फक्किकास्ति पठिता । तथाच देहादिनिर्वाहः केन कार्यं इत्याकाङ्क्षायां निवेदितेन निर्वाहः कार्यं इत्युत्तर सिध्यति । तत्र किं प्रमाणमित्या-  
काङ्क्षायां 'दासधर्मत्वात्' इत्युक्तम् । तदग्रे भगवद्वाक्य प्रमाणत्वेनोपन्यस्य निवेदितेन निर्वाहः कार्यं इति ज्ञापनार्थं 'मुच्छिष्टभोजिनो दासा' इत्यादिवाक्यै 'रात्मशोध-  
कत्वाच्चे'ति पठितम् । तदग्रे 'अन्यथा दारपरिग्रहोत्तरक्षण एव तन्निवेदने कृते-  
ऽग्रे तदविनियोगे प्राप्ते तत्परिग्रहवैयर्थ्यापत्तिरिति फक्किकया अन्यथानुपपत्तिः प्रद-  
र्शिता । तदग्रे 'अपरश्चे'त्यारम्य 'अनिवेदितस्य निषिद्धत्वा'दित्यन्तेन निवेदनदानयोः पुनः स्वविनियोगतदभावान्यां वैलक्षण्यं प्रदर्श्य भगवदनिवेदितेन निर्वाह निषिध्य भगव-  
न्निवेदितपदार्थेन भगवदुपभुक्तशिष्टेन प्रसादतया प्राप्तेन निर्वाहः कार्यं इति सिद्धान्तितम् । एवं फक्किकानुमे सर्वोऽपि ग्रन्थः सङ्गतो भवति । तथाच सिद्धमेतत् । 'द्विजस्य वैदिके कर्मणि गायत्र्युपदेशजसंस्कारव'दिति फक्किकाया अग्रे 'निवेदितानामर्थानां भगवद्भोगार्थं विनियोगे जाते तद्वत्प्रसादत्वेन स्वोपभोगकृतिरुचिततरा । दासधर्मत्वात् । 'उच्छिष्टभोजिनो दासा' इत्यादिवाक्यैरात्मशोधकत्वाच्चे'त्यन्तो ग्रन्थो ज्ञेयः । एतदग्रे 'अन्यथा दारपरिग्रहो-  
त्तरक्षण एव तन्निवेदने कृतेऽग्रे तदविनियोगे प्राप्ते तत्परिग्रहवैयर्थ्यापत्तिः । अपरश्च । दासे हि न स्वविनियोगः । न तु निवेदने । अन्यथा निवेदिताज्ञादेर्भोजनं न स्यात् । अनिवेदि-  
तस्य निषिद्धत्वात्' इत्यन्तो ग्रन्थोऽस्ति । तदग्रे 'किन्तु प्रभौ निवेदितार्थविनियोगे जातेऽग्रे तदर्थं यत्नः कार्यो न वेति भवति चिन्ते'त्यादिरूपो ग्रन्थोऽस्तीति सर्वमनवयम् ।

श्रीमद्-वल्लभाचार्य-महाप्रभु-विरचित-षोडश-ग्रन्थान्तर्गतः-सप्तमो

## अन्तःकरणप्रबोधः

पञ्चशतीकाभिः समलंकृतः

- १ श्रीगोकुलनाथानां विवृतिः
- २ श्रीरघुनाथानां विवरणम्
- ३ श्रीहरिराधानां विवृतिः
- ४ श्रीवज्रराजानां विवरणम्
- ५ श्रीपुरुषोत्तमानां विवरणम्

श्रीमद्-वल्लभाचार्य-महाप्रभु-प्रवर्तित-शुद्धाद्वैत-सम्प्रदायस्य-  
सप्त-षोडशान्तर्गत-षष्ठ-षोडाधिष्ठित-नित्यश्लोकास्थित-  
गोस्वामिभ्यो १००८ श्रीवल्लभलाल-महाराजानां-  
स्मृती-तैषा-श्रीमती-कृष्णावती-बहूजी-महा-  
राजधीत्येताभिः-प्रकाशित

प्रकाशक ।

गोस्वामी १००८ श्रीवल्लभलालजी महाराज (पण्डीठाधीश्वर) के  
श्रीशृण्णावती बहूजी महाराज,  
श्री कल्याणरायजीकी हवेली, बंक रोड, बड़ोदा, गुजरात ३ ९ ० ० ० ६, भारत

साधारण संस्करण २००० प्रति  
राज संस्करण १००० प्रति  
श्रीवल्लभाब्द . ५०३

ग्रन्थ-परिचय लेखक . गोस्वामी श्याम मनोहर

मुद्रक :  
स्टूडियो बहार, २३-ए, सेंट्रल चौपाटी बिल्डिंग चौपाटी,  
बम्बई—४०० ००७.



गोस्वामिथ्री १००८ श्रीवल्लभलालजी महाराज

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यधरणकमलेभ्यो नमः ॥

## ग्रन्थ-परिचय

अन्तःकरणप्रबोध ग्रन्थ श्रीमहाप्रभुकी सन्यासग्रहण करनेसे पूर्वकी तथा पौडशाग्रन्थोमे योजित ग्रन्थोमे अन्तिम कृति है.

श्रीयदुनाथजी-विरचित बल्लभदिग्विजयके अनुसार सन्यासग्रहण करनेके वाद श्रीमहाप्रभु भूतलपर ३९ दिन विराजे थे और यह सन्यास आपने इस ग्रन्थमे वर्णित तृतीय भगवदाज्ञाके पालनहेतु लिया था अतः आपाठ शुक्ल द्वितीयासे ३९ दिन पहले यानि वैशाख (ब्रज जेष्ठ) कृष्णा सप्तमीके आसपास किसी दिन वि सं. १५८७ मे इस ग्रन्थकी रचना हुई यह माना जा सकता है

कुछ आधुनिक विद्वान् इस ग्रन्थमें वर्णित तीन भगवदाज्ञाओंकी व्याख्या श्रीमहाप्रभुको दोवार हुई अस्वस्थता तथा अन्तमे श्रान्ति तथा देहत्यागकी आन्तरिक प्रेरणा के रूपमें देते हैं, जो बात इन विद्वानोंके गले नहीं उतरती है वह है इन तीन भगवदाज्ञाओंका चमत्कारिक रूप! श्रीमहाप्रभुके प्रति किसी अतर्कित लगावके कारण ये मिथ्याभाषणके आरोपका साहस जुटा नहीं पाते अतः भक्ति और श्रान्ति के सहारे इन स्पष्टतम विधानोंकी अतीव अस्पष्ट और अटपटी व्याख्या प्रस्तुत करते हैं इन विद्वानोंको कभी लगता है कि किन्हीं श्रान्तिके क्षणोमे ये तीन भगवदाज्ञाकी श्रान्तिया पैदा होगी होगी—कभी इन्हें लगता है कोई तीन साधारणिक विमानियोंमे पैदा हुई निराशाके वश श्रीमहाप्रभु इन विचारियोंकी परलोक सिधारनेकी भगवदाज्ञा ही मान बैठे हैं—कभी इन्हें लगता है कि सम्भवतः किसी अन्तरवाणीके रूपमें श्रीमहाप्रभुने लोक-त्यागका आदेश सुना हो और उसे ही श्रद्धावश भगवदाज्ञा मान ली हो!

न पूर्ण श्रद्धा और न पूर्ण अश्रद्धा अर्थात् मध्यमार्गकी अपनानेकी मनोवृत्ति-वश अपनी निराधार कल्पनाओंको बौद्धिकताके रूपमें ये विद्वान् मान्य करना चाहते हैं जगतके कारण स्थिति या प्रयोजन को ईश्वरीय चमत्कार मान कर भी जो चमत्कृत नहीं होते, वे ईश्वराज्ञाके श्रवणकी 'चमत्कारपूर्ण' घटना कहकर अस्वीकार करना चाहते हैं. इससे अधिक चमत्कारपूर्ण तार्किकता और क्या हो सकती है!



इन कपोलकल्पित व्याख्याओको प्रस्तुत करनेका एकमात्र हेतु स्वयम्बी तूटती हुई श्रद्धाको कयञ्चित जोड़ना होता है पर अपने इस मोहमें ये विद्वान् अक्सर यह बात भूल जाते हैं कि ऐसी अटपटी कल्पनासे श्रीमहाप्रभुका न तो कोई बुद्धिबल और न कोई चारित्रिक महत्ता ही सिद्ध होती है. जिस व्यक्तिका मनोबल दोवार केवल बीमार पड़ जानेपर तूट जाता हो उसे 'युगप्रवर्तक व्यक्ति' कैसे माना जा सकता है ? दोवारकी बिमारीसे पतयी निराशाको देहत्यागकी भगवदाज्ञा मान लेनेवाले भ्रान्त आत्मघातीको किस अर्थमें बुद्धिमान् माना जा सकता है ?

भारतवर्षकी तत्कालीन नितान्त विपम परिस्थितिमें किस अदम्य उत्साह निष्ठा और सकल्प के साथ श्रीमहाप्रभुने वैष्णवधर्म और सस्कृति की मशालको अपने सुदृढ़ हस्तोमें धारण किया था ! देशके कोने-कोनेको उससे प्रकाशित करनेको जूझते रहनेवाले व्यक्तिको इननी कमजोर डच्छाशक्तिवाला माननेमें कौनसा गौरव सिद्ध होता है ? वर्ण-आश्रम जाति-रिग निम्नवर्ग-उच्चवर्ग देशी-विदेशी के भेदके बिना सभी व्यक्तियोंके हृदयको पुष्टिभक्तिके उपदेशसे भावपूरित श्रीमहाप्रभुने कर दिया था. ऐसे व्यक्तित्वके धनी श्रीमहाप्रभु बीहड़ जगलोमें वर्षा-शीत-आतप आदिकी परवाह किये बिना निरन्तर परिभ्रमण करते रहे--विदेशी आक्रामकोसे आतंकित नगर-जनपदोमें बसनेवाली जनतामें निरन्तर आस्थाका सञ्चार करते रहे वे स्वयम् दो वारकी बीमारियोंसे घबराकर आत्मघात करें यह कल्पना कैसे बुद्धिसगत मानी जा सकती है ? जबकि वे जनताको-- "त्रिदुःखसहन धर्ममामृते सर्वत सदा" का उपदेश देते रहे ! अतः —

आज्ञापूर्वं तु या जाता गगासागरसगमे ।

यापि पश्चान्मधुवने न कृत तद्-द्वय मया ॥

देहदेशपरित्यागस्तृतीयो लोकगोचरः ।

पश्चान्नाप कथ तत्र मवकोह नचान्यथा ॥

इन शब्दोमें रास्ती अन्तर्वाणी या सधर्मजन्य श्रान्ति या शारीरिक अस्वास्थ्यजन्य निराशा और भगवदाज्ञाकी श्रान्ति की खोजना श्रीमहाप्रभुका अनादर है--उनकी अनुभूतिकी आध्यात्मिक-आधिदैविक गहनतासे नितान्त अपरिचयका द्योतन है !

श्रीमहाप्रभुके पौत्र श्रीगोकुलनाथजी इस ग्रन्थका सन्दर्भ यो देते हैं

द्वादश स्कन्धात्मक श्रीभागवत पूर्णपुरुष पुष्पोत्तम श्रीकृष्ण भगवान्का ही नामात्मक स्वरूपमें प्रकट दूसरा रूप है भागवतकी वाणीके अर्थको प्रकट करनेके लिए ही वाणीके पति तथा भगवन्मुखरूप अग्निका श्रीमहाप्रभुके रूपमें प्राकट्य हुआ (यह रहस्य भागवतकी सुबोधिनी व्याख्याके प्रारम्भम स्वयम् श्रीमहाप्रभुने ही प्रकट किया है) भागवतपर सुबोधिनी व्याख्या श्रीमहा-  
प्रभुके अवतारका प्रमुखतम प्रयोजन है. दशमस्कन्ध भागवतका हृदय है प्रथमस्कन्धसे प्रारम्भ कर क्रमश दशमस्कन्ध तक पहुचनेमें पर्याप्त विल-  
म्बकी सम्भावना थी फलत तृतीयस्कन्धतक पहुचनेके बाद अविलम्ब दश-  
मस्कन्धकी व्याख्या पूर्ण करनेकी कही एक विषय भगवदाज्ञा श्रीमहाप्रभुको हुई (उसका पालन तो सर्वथा हुआ ही अब यहा उस आज्ञाका उल्लंघन नहीं किया गया है. परन्तु उस आज्ञाके निगूढ आशय तथा अपने अवतारके प्रयो-  
जनकी पूर्तिका सन्तोषोद्गार स्वयम् श्रीमहाप्रभुके मुखसे दशमस्कन्धकी सुबो-  
धिनीके समाप्तिपर प्रकट हो गया है—'प्रवरणमिह पूयंतेऽनव-  
च त्रयमपि विश्वजमाय मादृशाना, निजपदसमवाप्तये च नित्य निजगुरुणा हरिणैव लोकबन्धम्" )

दशमस्कन्धकी व्याख्या पूर्ण करनेके बाद श्रीमहाप्रभु पूर्वनिर्धारित योजनाके अनुसार अवशिष्ट स्कन्धोंकी व्याख्या लिखने प्रवृत्त हुए

भागवतके सातों अर्थोंमें एकवाक्यता स्थापितकर दिखलानेकी अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार भागवतार्थ—निबन्धमें शास्त्रार्थ स्कन्धार्थ प्रकरणार्थ तथा अध्यायार्थ की व्याख्या लिखी जा चुकी थी इसी तरह वाक्यार्थ पदार्थ और अक्षरार्थकी व्याख्या भी प्रथम सूक्ष्मटीकामें लिखी जा चुकी थी पुन गूढतम रहस्योंको प्रकट करनेके लिए द्वितीय टीका सुबोधिनीका प्रणयन हुआ यह एक सुदीर्घकालम पूरी होनेवाली लेखनशैलीमें लिखा जा रहा ग्रन्थ था भूतलपर उतने विलम्ब तक श्रीमहाप्रभुका विराजना भगवान्को अभिप्रेत न था अतएव शीघ्र दशमस्कन्धपर सुबोधिनी-लेखनकी आज्ञा हुई और वह परिपूर्ण भी हुई अब पुन इसी शैलीमें अवशिष्ट स्कन्धोंकी व्याख्या भगवदभिप्रेत नहीं थी श्रीपुष्पोत्तमजी अतएव पाचवे और छठे श्लोककी व्याख्यामें कहते हैं :  
"नद्य पूर्वाज्ञप्तासम्पूतिदोष यावदुक्तमेतावत्कृत्यैव साज्ञा कृतास्तु, अधिक

न कार्यम् . इदञ्च सूक्ष्मटीकातिरोधान—स्कन्धक्रमव्याख्यात्याजन दशमस्कन्धव्याख्यानान्तरमसामयिकमाधवभट्टकाश्मीरिशरीरशराहृतिप्रभृतिभिः कार्यरनुमीयते ”

गंगासागर और मधुवन में जब सुबोधिनी-लेखनको बन्द करनेको आज्ञा हुई तो रासपञ्चाध्यायीवाली गोपिकाओकी तरह श्रीमहाप्रभुने भी इन आज्ञाओकी उल्लघन करना चाहा वेणुनाद सुनकर जो गोपिकायें भगवान्के समीप पहुच पायी उन्हें पुन घर लौट जानेकी भगवान्ने आज्ञा दी थी, पर वे लौटी नहीं श्रीमहाप्रभुने भी इसी तरह लेखन-कार्य बन्द नहीं किया भगवदाज्ञाके उल्लघनके इन दोनों प्रकारोमे किन्तु एक विशेष अन्तर यह था कि गोपिकाओंने भगवत्स्वरूप सुखके लिए भगवद्-वाणीका उल्लघन किया था, जबकि श्रीमहाप्रभुको भगवद्वाणीका उल्लघन नामसेवार्थ भगवद् विप्रयोगको सहते हुए करना पड रहा था फलतः सूक्ष्मटीकाका तिरोधान हो गया. चतुर्थसे नवमतककी व्याख्या छोडकर दशमस्कन्धकी व्याख्या लिखनेका भगवदादेश भी हुआ ही था और पुन अवशिष्ट स्कन्धोकी व्याख्या लिखनेको प्रवृत्त होनेपर लिपिकार श्रीमाधव भट्ट काश्मीरी किसी पारधीके तौरस आहत हो गये यो सारी प्रतिकूलतायें कवल प्रतिकूल भगदिच्छाकी अनुनायिका थी तभी तृतीय भगवदाज्ञा हुई—लोकगोचर देह-देश-परित्यागकी. इस तृतीय भगवदाज्ञाने भगवदाग्रहकी स्पष्टता हुई श्रीमहाप्रभु अतएव अपने आपही मनको भगवदाग्रहके अधीन होनेको मना रहे है

“मेरे अन्तःकरण ! मेरी बात सावधानीसे सुनो कि कृष्णसे उत्कृष्ट एवम् निर्दुष्ट कोई तत्त्व न है और न हो सकता है भागवतकी सुबोधिनी व्याख्या पूर्ण करनेके लिए जिन दो भगवदाज्ञाओका उल्लघन किया था वह अपने आप्रहिल अन्तःकरणके कारण ही हुआ अन्तःकरणको भगवदाग्रहके अधीन होनेको समझाया जा सके तो अन्य सभी देहेन्द्रियादिकी वृत्ति और प्रवृत्तियो पर काबू पाया जा सकता है.”

वैसे तो भागवतकी व्याख्याका प्रयोजन अन्ततः श्रीकृष्णके स्वरूपमें आसक्ति सम्पादन करना ही था पर यह समस्या श्रीमहाप्रभुकी नहीं किन्तु अन्य पुष्टिजीवोकी थी भागवतके वास्तविक अर्थको प्रकट करनेसे पुष्टिजीवोका उपकार होगा वे श्रीकृष्णकी पुष्टिलीलाके वास्तविक रहस्यको समझ

कर उसमें आसक्त हो पायेंगे जहातक श्रीमहाप्रभुका प्रश्न है तो उन्हें तो इस-प्रक्रियामें भागवतकी लौकिकी भाषा और परमतभाषा का भी चिन्तन-मनन-व्याख्यान करना ही पड़ता था केवल भगवल्लीलाके मनन या प्रवचन तक सीमित रहा नहीं जा सकता यो अनेक पुष्टिजीवोंके उद्धारार्थ परोपकारकी मनोवृत्तिसे श्रीमहाप्रभु स्वयम् भगवद्-विप्रयोग सहते उद्यत हुए थे.

जितना व्याख्यान सम्पन्न हो चुका वह पुष्टिजीवोंको पुष्टिभागपर प्रवृत्त करनेके लिए पर्याप्त है. इससे अधिक परोपकारकी आवश्यकता नहीं है सर्व-निर्णय-निवन्धमें श्रीमहाप्रभु स्वयम् यह निर्णय दे चुके हैं कि भगवत्सेवाके अवसरमें हिस्सा बढानेवाले धर्मोंका त्यागकर देना चाहिये परोपकारादि धर्म भी यदि भगवत्सेवामें बाधक होने हो तो छोड़ देने चाहिये "एतद्विरोधि यत्किञ्चित् तत्तु शीघ्र परित्यजेद् । धर्मादीना तथा चास्य तारतम्य विचार-यन् ॥ २३९ ॥ एतद्विरोधीति सामान्यवचन धर्मादीनामुपलक्षण .परोप-कारादि सर्वधर्माणामपि दायिष्ण्वेव फलम्. अत उभयोरन्तर ज्ञात्वा परोप-कारादिधर्मा न कर्तव्या, यदि पूजाविरोधिनो भवन्ति" कोई धर्म या कर्तव्य भगवत्सेवामें सहायक होता हो तो अनुष्ठेय है अन्यथा भगवत्सेवामें बाधक होनेपर परोपकार आदि धर्म भी त्याज्य समझने चाहिये. फलत आत्मसमर्पण के बाद भगवत्सेवासे अधिक और कोई भी कर्तव्य पुष्टिजीवका ही नहीं सकता.

श्रीमहाप्रभु अतएव कहते हैं कि समर्पणसे पूर्व सभी पुष्टिजीवोंकी स्थिति अस्पृश्य कुलमें उत्पन्न किसी सुन्दर स्त्रीकी तरह होती है पर आत्म-समर्पणके बाद इन्हीं पुष्टिजीवोंकी स्थिति, उबत सुन्दरी यदि किसी राजाके मनको भा जाये और वह उसे अपनी रानी बना ले ऐसी, सम्मानपूर्ण हो जाती है इस असाधारण सम्मानकी प्राप्तिपर अभिमान भी कभी पैदा हो सकता है और उस अभिमानके कारण कभी अपमानित होनेका अवसर भी प्राप्त हो सकता है परन्तु अपनी पूर्वावस्थाकी अधमताका विचार करनेपर प्राप्त सम्मानित अवस्थाम थोडा-बहुत अपमान पदचात्तापका विषय नहीं लगेगा क्योंकि राजाके द्वारा अपमानित भी रानी जगतमें तो सम्माननीय ही मानी जाती है

इसी तरह किसी प्रीढीभाववश भगवदाज्ञाके उल्लंघन करनेके कारण

अपने देहके साथ भी ऐसा ही मोहजन्य व्यवहार देहके स्वामी श्रीकृष्ण को कैसे सुहायेगा ? कैसे सन्तुष्ट कर पायेगा ? अतः यह विचार करना चाहिये कि आत्मसमर्पणरहित अन्य लौकिक जनोक्ती तरह हमारी भी स्थिति होती तो क्या होता ?

शरीरका हठात् त्याग करना अशक्य कार्य लगता है परन्तु सर्वदुःखहर्ता श्रीहरिके स्वरूपका विचार करना चाहिये कि साक्षात् नित्यलीलामें नित्य सयोग-सुखका दान, जब वे करना चाहते हैं तो दुःख कैसा ? अतः किसी भी प्रकारके मोहकी आवश्यकता नहीं है कि प्रभु लौकिक स्वामीकी तरह रुष्ट हो जायें तो क्या करना—या फलदानमें प्रभु विलम्ब करेगे तो क्या होगा—या देह-देशके लोकमोचर त्याग करने पर पुष्टिजीवोका उद्धार कैसे होगा—या श्रीमद्भागवतकी व्याख्या सुबोधिनी सम्पूर्ण नहीं हो पायी इत्यादि-इत्यादि

अपने इस अन्तःकरणके प्रबोधनको ग्रन्थके रूपमें उपनिबद्ध कर श्रीमहा-प्रभुने यह प्रकट कर दिया है कि निज अन्तःकरणके उपदेशके व्याजसे श्रीमहा-प्रभु उन सारे पुष्टिजीवोके अन्तःकरणको सम्बोधित तथा प्रबोधित करना चाहते हैं, जिनमें भगवत्सवासे अन्य किसी आध्यात्मिक या आधिदैविक फल प्रयोजन या कर्तव्य के प्रति अधिक आकर्षण पैदा हो सकता है अतएव "तव कथामृत तप्तजीवनम्" की सुबोधिनीमें श्रीमहाप्रभुने विवेचन किया है कि अमृतकी आवश्यकता मृत्युके उपस्थित होनेपर है. अन्यथा स्वतः अमृतपानकी प्यास किसीकी भी नहीं होती इसी तरह भगवान्के स्वरूप और भगवान्का कथामें भी घनीभूत रस और तरलीभूत रस का सा अन्तर होता है अन्यथा रासमें भगवान्के तिरोहित हो जानेपर उन्हें खोजनेके वजाय गोपीजनने भी भागवत कथाका आयोजन किया होता । "रसपिण्डयोरिव तव कथायाश्च त्रिशप अन्यथा कथार्थमेव यत्न कृत स्यात्" अतएव "सेवाया वा कथाया वा" में 'सेवा और कथा' मुख्य कल्प है जबकि 'सेवा अथवा कथा' गौण कल्प है.

अतः सभी पुष्टिजीवोको निश्चिन्त होकर यह निश्चित कर लेना चाहिये कि "भगवद्रूपसेवार्थं तत्सृष्टिनान्यथा भवेत्" अर्थात् भागवत-कथा भी वस्तुतः भगवत्सेवाका अंग ही तो उत्तम कल्प है अन्यथा गौण कल्प या अनुकल्प ही

है. इस तरह श्रीमहाप्रभु सेवागभूत अन्त करणकी शुद्धिका प्रकार उसे भग-  
वान्की सेवामे अनन्यरुचि होनेकी प्रेरणाके द्वारा इस ग्रन्थमे दे रहे हैं

प्रस्तुत सस्करण वि. म. १९८१ मे प्रकाशित सस्करणका ऑफसेट प्रॉसेस  
द्वारा पुनर्मुद्रित रूप है. श्रीमद्गोस्वामिकुलभूषण श्रीजीवनेशात्मज श्रीरण  
छोडलाल महाराजश्रीके प्रवन्धमे श्रीचीमनलाल हरिशकर शास्त्रीजीने उस  
सस्करणका सम्पादन किया था. आथिक सेवा अनेक वैष्णवोने मिलकर की  
थी. इन सभी महानुभावोका हम कृतज्ञताके साथ स्मरण करते हैं इति शम्

है. इस तरह श्रीमहाप्रभु सेवागभूत अन्त करणकी शुद्धिका प्रकार उस भग-  
वान्की सेवामे अनन्यरुचि होनेकी प्रेरणाके द्वारा इस ग्रन्थमे दे रहे हैं.

प्रस्तुत सस्करण वि स. १९८१ मे प्रकाशित सस्करणका ऑफमेट प्रीसेस  
द्वारा पुनर्मुद्रित रूप है. श्रीमद्गोस्वामिकुलभूषण श्रीजीवनेशास्त्रमज श्रीरण  
छोडलाल महाराजश्रीके प्रबन्धमे श्रीचीमनलाल हरिशकर शास्त्रीजीने उस  
सस्करणका सम्पादन किया था आधिक सेवा अनेक वैष्णवोने मिलकर की  
थी इन सभी महानुभावोका हम कृतज्ञताके साथ स्मरण करते है इति शम्

श्रीकृष्णः

## श्रीमद्ब्रह्मार्च्यचरणविरचितान्तःकरणप्रबोधः ।

अन्तःकरण मद्वाच्यं सावधानतया शृणु ।  
कृष्णात्परं नास्ति दैवं वस्तुतो दोषवर्जितम् ॥ १ ॥  
चाण्डाली चेद्रागपत्नी जाता राज्ञा च मानिता ।  
कदाचिदपमानेऽपि<sup>१</sup> मूलवः का क्षतिर्भवेत् ॥ २ ॥  
समर्पणादहं पूर्वशुचयः किं सदा स्थितः ।  
का ममापवता भाष्या पथात्तापो यतो भवेत् ॥ ३ ॥  
सत्यसङ्कलयतो विष्णुर्नान्यथा तु परिष्पति ।  
आहौब कार्या सततं स्वाधिद्रोहोऽप्यथा भवेत् ॥ ४ ॥  
सेवकस्य तु धर्मोऽयं स्वापी स्वस्य करिष्पति ।  
आज्ञा पूर्वं तु या जाता गङ्गासागसङ्गमे ॥ ५ ॥  
याऽपि पथान्मधुवने न कृतं तद्द्रव्यं मया ।  
देहदेशपस्त्यागस्तृतीयो लोकगोचरः ॥ ६ ॥  
पथात्तापः कथं तत्र सेवकोऽहं न चान्यथा ।  
लौकिकमधुवरकृष्णो न द्रष्टव्यः कदाचन ॥ ७ ॥  
सर्वं समर्पितं भक्त्या वृत्तार्थोऽसि सुखी भव ।  
मौढाऽपि दुहिता यद्गस्त्रेहास्य मेष्यते वरे ॥ ८ ॥  
तथा देहे न कर्तव्यं वस्तुष्पति नान्यथा ।  
लोकवचेत्स्थितिर्भे स्यात्किं स्यादिति विचार्य ॥ ९ ॥  
अशक्ये हरिरेवास्ति मोहं मा गाः कथञ्चन ।  
इति श्रीकृष्णदासस्य ब्रह्मस्य हितं श्रुतः ॥ १० ॥  
चित्तं प्रति यदारुण्यं भक्तो निश्चिन्तनां व्रजेत् ॥ ११ ॥  
इति श्रीमद्ब्रह्मार्च्यविरचितोऽन्तःकरणप्रबोधः सम्पूर्णः ।

१' अपमाने या ' इतिपाठः भीमजगन्धीपुत्रयोक्तमचरणानां टीको ।



श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनयज्ञभाष्य नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

## श्रीवल्लभाचार्यचरणविरचितान्तःकरणप्रबोधः ।

श्रीगोकुलनाथचरणैर्विरचिता विवृतिः ।

दर्शयन् स्वस्य सौभाग्यं स्वीयानां भक्तिवर्षं च ।  
स्वमनोबोधवाक्यानि प्रकटीकृतवान् प्रभुः ॥ १ ॥  
प्रगम्य पितृपादाब्जं चिन्तिताधिकदापकम् ।  
स्वमनोबोधकाचार्यवचो व्याख्यातुमुद्यतः ॥ २ ॥  
यद्यथाश्वरवाक्यानि दुर्बोधानि सदा स्वतः ।  
तत्कृपैव तदीयस्य तदर्थावगमे गुरुः ॥ ३ ॥  
भविष्यतीति निश्चित्य प्रवृत्तोहं न चान्यथा ।  
अतः स्वाचार्यचरणौ शरणं मम सर्वदा ॥ ४ ॥

अयं भगवान् पूर्णपुरुषः पुरुषोत्तमः स्वस्वरूपं श्रीभागवतं द्वादशस्कन्धात्मकं प्रकटीकृत्य तदर्थाकृत्ये स्वातिरिक्तस्यायोग्यतां ज्ञात्वा स्ववागधिरतिरूपश्रीवल्लभाचार्य-  
माकृत्यं विधाय तदर्थाकृत्ये आज्ञां च दत्त्वा तदर्थाकाशिकां सुबोधिनां कारितवान् ।  
तत्र क्रमेण स्कन्धत्रयकरणे फालविम्बन्वादाचार्यविप्रयोगासहिष्णुः सन् श्रीभागवततत्त्वार्थ-  
प्रतिपादकदशमस्कन्धविवरणार्थं विप्रोपाज्ञां दत्तवान् । तदाचार्यैः स्कन्धक्रमे विहाय दशम-  
स्कन्धविवृतिरेव कृता । तत्समाप्तौ स्वस्वाचार्यमिलनविलम्बं ज्ञात्वा तद्विलम्बासहिष्णुः शीघ्रं  
स्वनिरुदागमनार्थमाज्ञां दत्तवान् । तदाचार्याः स्वसौभाग्यमौदिस्यवलम्ब्य स्वचिकीर्षित-  
सम्पूर्णश्रीभागवतविवरणस्याजातत्वात् स्वस्य धर्मिणाम्पितात्तन्मार्गभावमोक्ष्या वास्त्रप-  
माज्ञोच्छ्रानं कृतवन्तस्तथापि भगवानाचार्यमिलनं स्वस्वात्यन्तावश्यकमिति श्रीभागवत-  
विवरणार्थं दत्ताज्ञाप्यन्यथाकृत्वातिक्रुपारीपपूर्वकं पुनः स्वनिरुदागमनार्थं तृतीयामाज्ञां  
दत्तवान् । तदाचार्या अत्यन्तं भगवद्भक्त्यं दृष्ट्वा पूर्वमाज्ञादोषोच्छ्रानभावमौदिस्यानि स्वकी-  
यमन्तःकरणमेवेति ज्ञापनाय तदेव बोधयन्ति । अन्तःकरणं मद्भाष्यमिति ।

अन्तःकरणं मद्भाष्यं सावधानतया शृणु ।

कृष्णात्परं नास्ति देवं वस्तुतो दोषवर्जितम् ॥ १ ॥

यद्यपि, अत्रार्थे सर्वेन्द्रियोपयोगात्सर्वेन्द्रियप्रबोध उचितस्तथापि तेषामन्तःकर-

गाधीनत्वाप्रया राजनि निष्टहीते सर्वमेव राज्यं निष्टहीतं भवति । तयान्तःकरणे प्रबोधिते सर्वाण्येवेन्द्रियाणि प्रबोधितानि भवन्तीत्यन्तःकरणमेव प्रबोध्यन्ति । मद्भास्यं सावधानतया शृण्विति । यद्यपि मद्भास्य शृण्वित्येतावतैव प्रबोधसिद्धयेत् सावधानतयेत्युक्तं, तस्यापमाशयः । यथा स्वस्य धर्मिणामाभिमानयौढ्या व्रजसीमन्तिनीभिः फलप्रकरणे भगवदाज्ञोद्बुद्धनेन स्ववीर्यतन्पत्तिः साधिता, तथाहमपि सम्पूर्णश्रीभागवतविद्वृतिं साधयिष्यामीत्याग्रहोऽस्मिन्नर्थे वैपरीत्यादनुचितः । वैपरीत्यं तु व्रजसीमन्तिनीभिः पियवाक्यानि फले प्रतिबन्धकानीतिभावयौढ्या निराकृतानि, प्रकृते तु भगवदाज्ञां फलसाधिकेति तत्राग्रहो विपरीतफलकः, अनिष्टपर्यवसानादितिवाच्यश्रवणे सावधानतयेत्युक्तम् । कदाचिदतिभौढ्या विलम्बकरणे बाधकमाहुः । कृष्णात्परं नास्ति दैवमिति । कृष्णात्फलरूपात्परमतिरिक्तं दैवं परमेष्ठरूपम् । दैवमितिपदादिबुधातुक्ताः सर्वेभ्यः अप्र विवक्षिताः । तत्र धर्मिणाम्क्रीडास्यानभिदमेव । ( क्रीडाया ) विनिगीयाप्यत्रैव । ( भक्तेन सह ) स्वमार्गमव्यवहारोपि । ( भक्ताय स्वमाहात्म्यशोतनेन ) द्युतिरप्यत एव, नो चेत्तद्व्यतिरेकेण शुष्कतैव । ( भक्ताना ) समयविशेषे स्तुतिरपि । ( भक्ताय मोददान यथा कालीपदभनेन ) मोदोऽपि तथा । भावविशेषजनितमदोपि । परमनिर्दृतिजनितं स्वप्नोपि । स्वप्नानन्तर भावविशेषप्रचक्रकटाक्षसूचितरत्नेऽपि । तदनन्तरं स्वाभिलषितस्थानमातिरपि, ( भक्तसमीपगमनम् ) इत्यादिकं सर्वमेव पूर्वभावयौढ्या बाध्यत इत्यनिष्टहेतुत्वात् प्रौढिरवाज्येऽयत् उक्तं कृष्णात्परं नास्ति दैवमिति । ननु श्रीभागवतविचारः पुरुषोत्तमपर्यवसाय्येषेति कदाचित्सौदिग्विचिता भवेदिति शङ्कानिराकरणार्थमुक्तम् । वस्तुतो दोषवर्जितमिति । अत्राय भावः, यद्यपि श्रीभागवतविचारः पुरुषोत्तमपर्यवसायी तथापि विचारे क्रियमाणे स्वसिद्धान्तरूपणार्थं तद्विद्वशास्त्रान्तरीयसिद्धान्तनिराकरणमावश्यकमेव, भगवदाज्ञाहेतुकफलविचारे एतद्भावातिरिक्तभावनमवश एव फलयोगे दोष इति वस्तुविचारे क्रियमाणे फलस्यैव निर्दुष्टत्वभावात्प्रवैश्वहेतुवस्तुनः सर्वात्मना न निर्दुष्टत्वमितिज्ञापनायोक्तं वस्तुतः स्वरूपतो न निर्दुष्टत्वम् ॥ १ ॥

एव प्रबोधनेपि पूर्वप्रौढिकृताज्ञोद्बुद्धनजनितापरापेन यदि भगवानप्यपानेन फलविलम्बं कुर्यात्तदोभयभ्रशादेकमपि कार्यं न सिध्येदिति श्रीभागवतवार्थनिवृत्तिसमाप्त्याग्रह एव समीचीन इति मनःकालिल लौकिकदृष्टान्तेन केमुतिसंन्यायेन निरस्यन्ति, चापह्वाली चेदिति ।

† भगवतरात्रिकरूपात् ।

\* दिषु क्रीडा-१ विनिगीया-२ व्यवहार-३ द्युति-४ स्तुति-५ मोद-६ वा-७ स्वप्न-८ कालि-९ मविद्व १० ।

१ तत्रेति पाठ ।

चाण्डाली चेद्राजपत्नी जाता राज्ञा च मानिता ।  
कदाचिदपमानेपि मूलतः का क्षतिर्भवेत् ॥ २ ॥

चाण्डाली चाण्डालजातीया राजपत्नी जाता राज्ञा पत्नीत्वेन परिगृहीता, इतर-  
पत्यपेक्षयाधिकं मानिता कदाचित्कामादतस्तस्या अपराधावेद्रूपयानोपि कृतस्तदा मूलतः  
राजपत्नीत्वतः का क्षतिर्भवेत् राजपत्नीत्वं न गच्छतीत्यर्थः । यत्प्रपस्यां यज्ञसंयोगा-  
भावात्पत्नीत्वं न सम्भवति तथापि ऋभोग्मा जातेतिपदं विहाय पत्नीपदोपादानाद्यथा  
पत्नी त्यागयोग्या न भवति, तथैवास्यामपद्गीकाराभिधानो ज्ञापितः । तेन स्वातिरिक्ता-  
दृश्यत्वस्पर्शायोग्यत्वान्यविनियोगाभावादयो धर्मा ज्ञापिताः । यदि मूलपदेन चाण्डालीत्व-  
मुच्यते तदा मानस्य चाण्डालीत्वमेव हेतुः स्यान्न तु राजपत्नीत्वम् । अत्र तु सम्मानने  
राजपत्नीत्वमेव हेतुत्वेनोच्यते न तु चाण्डालीत्वम्, अनपया पत्नी जातेतिपदं व्यर्थं  
स्यात् । तस्मात्तच्छ्रुतापमानेपि तथा न रोदः कार्यः, राजपत्नीत्वरूपमूलस्य विद्यमानत्वात् ।  
यथा फाल्गुने मासि प्राचीनपत्राणामेऽपि समूलस्य वृक्षस्य नूतनपत्रवाद्युद्गमेन पुनर्यथा-  
पूर्वत्वं तथा पत्नीत्वे सति पुनः पूर्ववदेव भविष्यतीति विचार्य रोदो न कार्यः । चेदिनि  
पदाद्योग्यतायामपि दैवगतयाद्गीकारेऽपि यत्रैवं व्यवस्था लौकिके, तत्र सर्वथाद्गीकारयोग्ये,  
अद्गीकर्तुरलौकिकत्वे, अद्गीकारस्य च निरपत्वे, तवेयं फलविलम्बचिन्ता सर्वात्मना नोचि-  
तेति नाग्रहः कर्त्तव्यः । यदि विलम्बः नोपि रसस्य संयोगविमयोगात्सर्वत्वादित्यम्बस्य  
विमयोगरसात्मकत्वात् फलमध्यपथात्वेति सर्वप्रवदानम् । एवमर्थोक्तिरुपकारेण स्वप्नः-  
प्रबोधनेनानुपद्भिः स्वमार्गायाणामपि शिक्षा ज्ञापिता ॥ २ ॥

यद्यपि फलविलम्बजनितः स्वेदो नास्ति तथापि भावब्रौंध्यभिधानदानिजनितः  
पथात्तापो जात इति सिद्धमन्तःकरणं प्रबोधयितुमाहुः समर्पणादिति ।

समर्पणादहं पूर्वमुत्तमः किं सदा म्थितः ।

का ममाधमता भाव्या पश्चात्तापो यतो भवेत् ॥ ३ ॥

मानदानिजनितः पथात्तापः स्वसमान एवोचितो न तु स्वोयत्नेन दिनार्थं मह-  
कृतमानदानौ । भावजनितमानोत्तमिचिपोपतापि तत्र मन्वभाषाणसम्प्रन्धेनैव जाता न  
तु उतः पूर्वपरीति विचारयेति ज्ञानार्थमुक्तं पूर्वमुत्तमः किं सदा म्थित इति । सदा,  
असमर्पणदशापामपि उत्तमः पूर्वोक्तभाषयोग्यः किमहं स्थितः ? । तस्मान्मप पूर्वोक्तभाष-  
जननयोग्यताऽमात्ररूपाऽधमता, का भाव्या, का कीदृशी भाव्या, विचारणीया । कीदृशी-  
तिपदाद्यधमताया निरवधित्वमुक्तम् । यस्मात्सर्वान्मना पथात्तापहेत्यभावरत्नत्वात्तथास्मिन्नर्थे  
पथात्तापो न कर्त्तव्यः ॥ ३ ॥

यद्यपि पश्चात्तापहेत्वभावात् पश्चात्तापत्याग उचितस्तथापि फले बहुकालविलम्ब-  
येत्तदा किं कार्यमिति सन्दिहानमन्तःकरणं बोधयन्ति सत्यसङ्कल्प इति ।

सत्यसङ्कल्पतो विष्णुर्नान्यथा तु करिष्यति ।

आज्ञैव कार्या सततं स्वामिद्रोहोन्यथा भवेत् ॥ ४ ॥

सत्यः यथार्थः सङ्कल्पः मनोविचारो यस्य तादृशत्वादिष्णुः वायाभ्यन्तरभेदेन  
सत्याप्तः । अन्यथा फलदाने विलम्बं न करिष्यति । अस्मिन्नर्थेन्यथाभावशङ्कानि-  
राकरणार्थं तु शब्दः । तस्मात्तथा फलविलम्बसन्देहमपि त्यक्त्वा प्रश्नाज्ञैव कार्या सततं,  
न तु भावमौढ्या कदाचिदप्यन्यथाभावः कार्यः । अकरणे बाधकमाहुः, स्वामिद्रो-  
होन्यथा भवेदिति । अन्यथा आज्ञाया अकरणे स्वामिद्रोहो भवेत् । आज्ञैव कार्या  
सततमित्येतावन्नैव आज्ञाकरणसिद्धावपि बाधकोक्तेरयमाशयः । यथा फलपकरणे  
ब्रजसीपन्तिनीनां भावमौढ्या प्रश्नाज्ञाया अकरणेपि कार्यं सिद्धं, तथा यमापि सेत्स्य-  
तीत्यज्ञाननिवृत्त्यर्थमुक्तं स्वामिद्रोहोन्यथा भवेदिति । अस्यायपर्यन्तं, ब्रजसीपन्तिनीनां  
भावमौढ्या आज्ञोलङ्घनं प्रभोः स्वस्य च पुरुषार्थसाधकं जातम् । तदुद्यत्नेन तदैवद्वारेण  
उभयोरपि विपरीतफलकत्वज्ञापनाय बाधकत्वमुक्तम् । बाधकत्वं हेतुः, तासां प्रश्नाज्ञी-  
लङ्घने फलमतिवन्धकनिराकरणे उपयुक्तं जातं, तेन प्रभोस्तासा च निर्वन्धानन्दः  
सिद्धः । तत्र आज्ञोलङ्घनं प्रभुदितिसतफलमतिवन्धकत्वेन प्रभोः क्रोधजननेन, तेन  
क्रोधेन तत्र फलविलम्बेन च, प्रभवपराधस्तत्र चानिष्टं भवेदिति तत्सर्वात्मना नैव कार्य-  
मित्येतदर्थमुक्तं, स्वामिद्रोहोन्यथा भवेदिति ॥ ४ ॥

एवं सौख्यनिकमायहाभावशुष्पणश्च कदाचित्पूर्वकृताप्रहेण प्रसुकोपे कथं स्वामिल-  
पितसिद्धिरिति सन्दिहानमन्तःकरणं प्रबोधयन्ति सेवकस्य त्विति ।

सेवकस्य तु धर्मोयं स्वामी स्वस्य करिष्यति ।

आज्ञा पूर्वं तु या जाता गङ्गासागरसङ्गमे ॥ ५ ॥

यापि पश्चान्मधुवने न कृतं तद्रथं मया ।

देहदेशपस्त्रियागस्तृतीयो लोकरुगोचरः ॥ ६ ॥

मया यत्पूर्वश्लोक उपपादितं, तत्र सेवकस्यासत्कारणसत्त्वाधिकधर्मत्वेन तच्चेत्तयि  
भविष्यति तदाज्ञासाधारण्यं दृष्ट्वा प्रभुरपि स्वस्वामित्वासाधारण्यं सेवकज्ञानागोचरमपि  
सेवके करिष्यति । ननु इदं दशायापि मपि सेवकत्वस्य विद्यमानत्वात् स्वामिन्यपि सहन-  
स्वामित्वासाधारण्यस्य विद्यमानत्वात् कथं फलविलम्ब इति सन्देहनिवृत्त्यर्थं फलविल-

स्वहेतुं सेवकपर्यं निरूपयन्ति, आज्ञेति । आज्ञा प्रश्नाज्ञा पूर्वं प्रथमतो गङ्गासागरसङ्गमे या जाता पश्चाद्द्वितीया या आज्ञा मधुवने मधुरायां जाता तदाज्ञाद्वयमपि मया न कृतम् । ननु तदाज्ञाद्वयं किं विषयकं यत्र कृतं तत्राहुः, देहदेशपरित्याग इति । पूर्वाज्ञाया विषयो देहपरित्यागः । द्वितीयाज्ञाया विषयो देशपरित्यागः । ननु बलात्कारेण देहपरित्यागस्य दोषरूपत्वात् कथं तदाज्ञासम्भवः । तदकरणे च कथं दोषसम्भव इति चेत्सत्यं, कर्माधीनदेहे प्रारब्धभोगसमाप्तिव्यतिरेकेण बलात्कारेण देहत्याग एव दोषसम्भवः । यत्र केवलं भगवदिच्छाधीनावेव देहग्रहणपरित्यागौ तदेहस्यालौकिकत्वात्तदाज्ञया परित्यागो न दोषायेति ज्ञात्वापि यत्तदकरणं तस्याज्ञोल्लङ्घनहेतुत्वात् प्रतिबन्धकत्वमित्युक्तम् । देशपरित्यागः स्पष्टः । एवमाज्ञाद्वयाकरणेऽनिष्टहेतुत्वं ज्ञात्वा तृतीयाज्ञा कृतेत्याहुः, तृतीयो लोकगोचर इति । तृतीयः परित्यागः लोकपसिद्धस्मृत्यादिशास्त्रेषु गोचरो विषयः संन्यासग्रहणपूर्वकं शृङ्गपरित्यागः स कृतः । यद्यप्यत्र कृत इति शब्दो नास्ति तथापि पूर्वाज्ञाद्वयाकरणनिषेधादत्र च कृत इति शब्दाभावेऽपि करणमायाति । यद्यपि पूर्वोक्ताज्ञाद्वयाकरणापरायः सम्भवति, तथापि तृतीयाज्ञाकरणेन तयोरप्याज्ञयोः करणं जातमिति नापरायः । तथापि, आज्ञोल्लङ्घनजनितपराधेन यदि फलविलम्बं कुर्यात् मधुस्तादा तज्जनितः पश्चात्तापो भवत्येवेति कथमपराधनिवृत्तिरितिसन्देहे समाधानमाहुः, पश्चात्ताप इति

**पश्चात्तापः कथं तत्र सेवकोहं न चान्यथा ।**

**लौकिकप्रभुवत्कृष्णो न द्रष्टव्यः कदाचन ॥ ७ ॥**

फलविलम्बेऽपि विलम्बस्य दण्डस्यानीयत्वात्सेवकेन पश्चात्तापो न कर्तव्यः । तत्र हेतुः, सेवकोहमिति । अहं सेवकः सेवाकरणयोग्यः । आज्ञाद्वयाकरणस्य सेवाप्रतिपन्थकत्वं ज्ञात्वा शीघ्रं सेवार्थं विलम्बजनतापेन शिक्षामिव प्रतिबन्धनिवृत्तिं विधाय पुनः सेवार्थमेव विलम्बं न कृतवान् इति न मम पश्चात्तापः । यतोहं सेवकः, न चान्यथा । यदि अपि सेवकत्वं न मन्येत तदापराधेनोपेक्षामेव कुर्यात्, न तु स्वीयत्वं ज्ञात्वा विन्मन्-जलापरूपशिक्षां कुर्यादित्यत उक्तं, न चान्यथेति, अस्मिन्मयेन्यथाभावो नास्तीत्यर्थः ।

ननु यथा लोके 'राजा मित्रं केन दृष्टं श्रुतं वे'ति लौकिकप्रभुन्यायेन तापानन्तर-मप्युपेक्षामेव कुर्यादिति चेत्तत्र बाधकमाहुः, लौकिकप्रभुवदिति । लौकिकाः प्राकृता जीवाः शभवो लोके मधुत्वेन व्यवहार्याः, तद्द्रव्यमज्ञं द्रष्टव्यः न ज्ञातव्यः । तत्र हेतुः, यतः कृष्णः फलात्मा मधुश्च । लौकिकप्रभूणां प्राकृतत्वात्सेवामद्गीकारस्यानित्यत्वाद्द्वि-कृतस्याप्युपेक्षा सम्भवति, प्रकृते प्रमोदलौकिकत्वेन तद्गीकारस्यापि नित्यत्वेन अद्गी-कृतोपेक्षासम्भावित्वेति ज्ञाननायोक्तं, न द्रष्टव्यः कदाचनेति । अत एव पिद्वारणे-शुरक्तं 'अद्गीकृतजनननितापराधपूटसमाविनीदोस्य । अद्गीकृतिश्च नित्या वदन्तु

कोन्योस्य साम्प्रतिया'चेनाङ्गीकारस्य नित्यत्वे न सन्देहः । कदाचनेति भूतपरिण-  
द्र्वमानकालेपीत्यर्थः ॥ ७ ॥

यद्यप्युपेक्षां न करिष्यति, तथापि, अपराधस्य जातत्वाद्युनः पूर्ववत्तार्क्षीं कृपा  
न करिष्यतीति मनःसन्देहमिच्छत्यर्थमाहुः, सर्वं समर्पितमिति ।

**सर्वं समर्पितं भक्त्या कृतार्थोसि सुखी भव ।**

रूपि पूर्व कृपासीदेव, यत्तत्त्वया सर्वमेव समर्पितं, तथापि भक्त्या भक्तिमार्गात्तु-  
सारणे, न तु विहितत्वाद्युपाधिना, तस्मात्त्वं फलरूपभक्तिमार्गाङ्गीकारेण कृतार्थ एवासि ।  
मध्ये भौदृषात्तोद्वह्नजननितापराधेन अन्तराये सति क्लेशं माप्तवानसि । अतस्तप्राग्रहं  
परिरयज्य प्रभ्याज्ञा कृत्वा पुनः पूर्ववदेव सुखीभव यथापूर्वं सुखं प्राप्नुहि । ननु, अङ्गी-  
कारस्य नित्यत्वात्फलमार्गीयं सुखं यद्यपि दास्यति तथापि पूर्ववत्सर्वत्वान्न दास्यति  
न वेति सन्देहजनितक्लेशप्रियदृष्टान्तेन दूरीकुर्वन्ति । भौदृषीति ।

**प्रौढापि दुहिता यद्यत्स्नेहान्न प्रेष्यते वरे ॥ ८ ॥**

**तथा देहे न कर्त्तव्यं वस्तुष्यति नान्यथा ।**

फले मधुः तारतम्यं तदा कुर्याद्यदि त्वदपेक्षा न स्यात्, यस्यापेक्षास्यवकी तस्य  
दोषमप्यनङ्गीकृत्य फलं ददात्येव । पूर्वोक्तं दृष्टान्तमेव विवृण्वन्ति । यथा भौदृ रमणयोग्या  
स्वर्गीया दुहिता तस्यां स्नेहाभिरमात्रं तस्या वरे भोक्तुरि भोगावश्यकरुद्रशरामये यदि  
न प्रेष्यते तदा वरः स्वाभिलाषाया अपूर्त्याऽसन्तुष्टो भवति । प्रेष्यते नैतसन्तुष्ट एव  
भवति । अपि शब्देन यद्यपि पाणिग्रहणमारभ्यैव तस्य भोगेच्छास्त्येव, तथापि तस्यां  
स्योपपदांसिद्विष्णुत्वेन विलम्बमपि सहते । सहिष्णुत्वरदशायां विलम्बकरुचि असन्तुष्ट एव  
भवति । तथा प्रभोः सरात्मना स्वापेक्षासमये यदि अपेक्षां ज्ञात्वा कार्यसंपत्तिर्न त्रियते  
तदा प्रभुरसन्तुष्ट एव भवति । तस्मादयं विलम्बः प्रभोः स्वाभिलाषितसिद्धयभावहेतुक  
इति, विलम्बामात्रे पूर्ववदेव सरात्मना स्वाभिलाषापूर्वमेव फलं दास्यत्येवैवसिमर्थे  
विलम्बस्त्याज्य प्रेष्यत उक्तम् । तथा देहे न कर्त्तव्यमिति । देहे देहत्यागविषये  
सरात्मना मधुसन्तोषाभावाद्द्विष्णुनो न कार्यः । यथा दृष्टित्वेगणविष्णुने स्नेहो हेतुः ।  
तन्निराकरणपूर्वकप्रेषणे वसन्तोषेणोभयकार्यसिद्धिस्तयाराग्याग्रहेतुत्यागापूर्वकमाश्रय-  
णेनोभयकार्यसिद्धिरिति सरात्मना मधुसन्तोषार्थं देहत्यागविष्णुहेतुहेतुस्त्याज्य एव ।

ननु यद्यप्यस्मिन्नर्थे दृष्टोऽनुचित्तयापि मगत्रभिदेनश्रीमत्परावतार्यमात्रश्रेयं लोकं  
परमोत्कर्षः सिद्धयतीति कदाचिद्यतिश्चिद्विष्णुनेच्छा सम्भवति । तस्या अपि फल-  
विष्णुहेतुत्वेन तां निराकुर्वन्ति, लोकावदिति ।

लोकवच्चेत्स्थितिर्मे स्यात्किं स्यादिति विचारय ॥ ९ ॥

यद्यपि भगवदभिप्रेतश्रीभागवतार्थभाक्येन जैमिनिव्यासादिवत् श्रुयविरुद्धालौकिकशास्त्रार्थभाक्येन लोक एवोत्कर्षः सिद्धयेत् । नत्वलौकिकस्वसिद्धान्तफलानुभवहेतुत्कर्षः सिद्धयति । लोकोत्कर्षसिद्धौ जैमिनिव्यासाद्युत्कर्षवज्रौकिक एवोत्कर्षः सेत्स्यति, न तु स्वमार्गीयोत्कर्षोपि । तस्माच्चद्रुत्कर्षसिद्धौमे मय स्वमार्गीयफलभोक्तुः पूर्वोत्कर्षफलविचारस्य स्वमार्गीयफलविलम्बहेतुवार्तिक फलं स्याच्च किमपीत्यर्थः । स्वमार्गीयफलविचारे यत्र मुचयादीनामपि निःफलत्वं वत्र पूर्वोक्तलौकिकस्यापि फलत्वगणना सर्वात्मना दूरापास्तेति ज्ञापनायोक्तम्, किं स्यादिति । अत एतत्फलतारतम्यविचारेण त्वयापि सर्वात्मना फलसिद्धिविलम्बाभाव एव विचारणीयो न त्वन्योपि विचारः कर्तव्य इति ज्ञापनायोक्तम् । विचारयेति ॥ ९ ॥

यद्यपि फलविलम्बाभाव एव विचारणीयस्तथापि बलात्कारेण शरीरत्यागस्य स्वतोऽशक्यत्वात् कथं सम्भवतीति सन्देहनिराणमकारमाहुः । अशक्ये इति ।

अशक्ये हरिरेवास्ति मोहं मा गाः कथञ्चन ॥ १० ॥

यद्यपि बलात्कारेण शरीरत्यागः स्वकर्तृकश्चेत्स्यात्तदाऽशक्यः स्यात् । मृक्ते शरीरत्यागस्तु भगवदिच्छाकर्तृक इति न स्वस्याशक्यत्वम् । यतोऽश्रय्यादिसर्वदुःखहर्या यो हरिः स एव सर्वपुरुषार्थसाधकत्वेन स्थित एवास्ति । अत्र हरिपदोक्त्या देहत्यागोपि फलान्तरापदुःखदूरीकरणार्थमेव । अतो लोके अशक्यस्याभ्यन्तयात्सेन साधकत्वमुक्तं भवति । तस्मात्फलविलम्बाभावाप्येतावश्यकर्तारि मोहं मा गाः, मोहं विचविशेषं मा गाः, न प्राप्तुहि, कथञ्चन केनापि प्रकारेण आश्लोद्धृत्तजननिगपराधफलविलम्बविषये आश्लोद्धृत्तानात्पूर्वसामयिकफलाश्रयण्ये, आश्लोद्धृत्तानन्तरं फलानुभवकारतम्यविषये च सर्वात्मना वैयम्यभावबोधनायोक्तम्, कथञ्चनेति । अतः पर-  
मुक्तार्थगुणसंहरन्ति ॥ १० ॥

एवं प्रबोधनेन सर्वात्मना वैयम्यनिवृत्तिरिति ज्ञापनापाहुः । इतीति ।

इति श्रीकृष्णदासस्य बलभस्य हितं वचः ।

चित्तं प्रति यदाकर्ण्य भक्तो निश्चिन्ततां व्रजेत् ॥ ११ ॥

इति श्रीबलभाचार्यविरचितमन्तःकरणप्रबोधः समाप्तः ।

इतीति समाप्तौ । श्रीकृष्णदासस्य धीकृष्णवदेन भक्तसहितस्त्रीनारसाविष्टं ज्ञापितं, तदासत्त्वेन शुद्धशुद्धिमार्गीयफलरूपदास्यं मातृस्य तदापि यद्विभ्रमस्य प्रभोः शुद्ध-

पुष्टिमार्गीयफलरूपदास्यभासानां च बलमस्यात्यन्तं प्रियस्य तादृशस्य स्वचित्तं प्रति हितं वचः, हितं हितकारि । वचसि हितमिति पदोपादानेन वचनस्य आसन्नवच्यत्वेन प्रामाण्यावधारणेन चित्तस्य सर्वात्मना वैयर्थ्याभावः सिद्ध इति ज्ञापनायोक्तम् । चित्तं प्रतीति । एवं मधोघनेन स्वचित्तस्य शुद्धपुष्टिमार्गीयपरमफलानुभवयोग्यतां निःसन्दिग्धामुपपाद्य एतच्छ्रवणेन स्वमार्गीयाणामपि स्वाधिकारानुसारेणापि भक्तिमार्गीयफलं सिद्धयतीति ज्ञापनायाहुः, यदाकर्ष्येति । यद्वच आकर्ष्य आसमन्ताच्छ्रुत्वा । यद्यपि वचः श्रुत्येतेतावतैव श्रवणसिद्धावपि आसमन्तात्कथनेन साभिप्रायश्रवणं ज्ञापितम् । साभिप्रायश्रवणस्य फलमाहुः, भक्त इत्यादि । भक्तो भगवति स्निग्धो भवति । तदनन्तरमाचार्याणां फलविलम्बहेतुदूरीकरणसामर्थ्यं ज्ञात्वा स्वस्यापि फलविलम्बहेतुचिन्तां दूरीकरिष्यन्तीति चिन्तापरित्यागेन निश्चिन्तयां ब्रजेत् मामोतीत्यर्थः ।

चित्तमबोधकाचार्यवचांसि विवृतानि वै ।

तेनाचार्याः प्रसीदन्तु स्वीये मयि सदा स्वतः ।

इति श्रीपितृपादान्जपरागधनिना मया ।

श्रीवल्लभेन विरचिता विवृतिः पूर्णतामियात् ॥ २ ॥

अर्पिता श्रीमदाचार्यपदाब्जेषु मया स्वतः ।

तेनैव कृतकृत्योस्मि इति मे निश्चिन्ता मतिः ॥ ३ ॥

इति श्रीवल्लभविरचितान्तःकरणप्रबोधटीका समाप्ता ।







भिन्नपदे, तच्छासमानेषु स्वरूपं तु स्वस्य पूर्वं सदोपमेवेति कुतस्तरां दोषावकाश इति ।  
 चकारादन्वैरपि राज्ञीत्वेन मानिता पूजिता । दृष्टान्ते एवं द्वेषं, सदोपाया अपि चाण्डा-  
 ल्या राजपरिप्राशत मानिताया अपि कदाचिद्राजकृततिरस्कारे स्वजातीयपतिकृतसंमान-  
 न्तो वरं राजकृतनिरस्कार इति, यथा सम्बन्ध्युत्कर्वात्स्वोत्कर्षः । एवं भगवत्कृता-  
 पमानैपि स्वस्य लाभ एव न हानिरिति भावः ॥ २ ॥

स्वस्यान्तःकरणं स्वयमेव कथं बोधनीयमित्यपेक्षायाभाहः ।

समर्पणादहं पूर्वंमुत्तमः किं सदा स्थितः ।

कामाधमता भान्या पश्चात्तापो यतो भवेत् ॥ ३ ॥

योहमिदानीमुत्तमत्वाभिमानेनावमतोस्मीति मन्ये स एतादृशपसमर्पणात्पूर्वमपि  
 किं सर्वकालमुत्तम एव स्थित आसम्, प्रत्युत तद्विपरीत एवासमतो मम पूर्वापेक्षयाऽधमता  
 का भाव्या भविष्यति । यतः पूर्वावस्थामनुस्मृत्य पश्चात्तापो भवेदित्यर्थः ॥ ३ ॥

नन्वेवं बहुशः समाधानेरीदानीन्तनावमानवत्कलदशायापन्वेवं कुर्याच्चिदानीं कथं  
 समाहितित्वित्यपेक्षायाभाहः ।

सत्यसङ्कल्पतो विष्णुर्नान्यथा तु करिष्यति ।

आज्ञैव कार्या सततं स्वामिद्रोहोऽन्यथा भवेत् ॥ ४ ॥

सत्यो यथार्यो यः सङ्कल्पो व्रतं तस्माद्विष्णुः सर्वत्र वर्त्तमानः फलदशापामप्य-  
 न्यथा न करिष्यत्येवेति द्वेषम् । तुशब्दो निन्दारणे च । स च सङ्कल्पो यथा । 'द्विःशरं  
 नाभिसन्धत्ते द्विःस्थापयति नाभितान् । द्विर्ददाति न चार्यिभ्यो रामो द्विनैव भावते' ।  
 'सङ्कल्पे मयस्यो यो यस्तवास्मीति याचते । अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्गतं मम' ।  
 'कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यती'त्येवमादिषु शेषः । येन भगवताहं सर्वतः  
 पृथक्स्य स्वभजने योजितः स कथमग्रे त्यक्ष्यतीति भावः । स्वस्यावश्यकर्त्तव्यमाहः ।  
 आज्ञैवेति । सततं निरन्तरमाचार्यद्वारा या आज्ञा सैव कार्या न तु कदाचिदुत्पनाङ्ग-  
 मन्यमतसिद्धं वा । अन्यथा एवमकरणे स्वामिद्रोह एव भवेत् ॥ ४ ॥

नन्वाज्ञातिरिक्तकार्यमात्राकरणे शस्ते चिकीर्षितकार्यस्य कथं सम्पत्तिरित्याहुः ।

सेवकस्य तु धर्मोयं स्वामी स्वस्य करिष्यति ।

सर्वस्वनिवेदिभक्तस्यापमेव धर्मो यद् स्वामी प्रभुरेव सर्ववैदिकामुष्मिकं स्वस्य  
 स्वीयभक्तस्य करिष्यतीत्यर्थः । एवमनुसन्धानेन स्थेयमिति भावः ॥ ५ ॥

अत्र विश्वासार्थमाचार्याः स्वानुभवमुद्गावपन्त्याज्ञा पूर्वमित्यारभ्य श्लोकद्वयेन ।

आज्ञा पूर्वं तु या जाता गङ्गासागरसङ्गमे ।

यापि पश्चान्मधुवने न कृतं तदयं मया ॥ ६ ॥

देहदेशपरित्यागस्तृतीयो लोकगोचरः ।

पश्चात्तापः कथं तत्र सेवकोहं न चान्यथा ।

लौकिकप्रभुवत्कृष्णो न द्रष्टव्यः कदाचन ॥ ७ ॥

आज्ञापूर्वमिति । मां प्रति पूर्वं भयममाज्ञा देशपरित्यागविषयिणी गङ्गासागर-  
सङ्गमे जाता । यापि पुनरन्या देहपरित्यागविषयिणी मधुवने मधुरायां जाता तदाज्ञा-  
दयं मया न कृतमेव । तृतीया या लोकगोचरा लोकविषयिणी लोकानुद्धरस्वेत्येवंख्या सा  
कृदेति शेषः ।

तत्राज्ञाद्वयभङ्गरूपेभ्यरे सति कर्यं मम पश्चात्तापो, यन्मया न कृतमित्येवं रूपः, स न  
कथमपि सङ्गच्छत इति । अकरणे हेतुः, सेवकोहमिति । सेवकरूप सर्वस्वनिवेदिनो या  
काचन कृतिः सा भगवद्विच्छदैवैति निश्चयात् । न चान्यथा अन्यसदृशो नास्मीत्यर्थः ।

ननु लौकिकप्रभुणामिवाज्ञाभङ्गस्यादोषत्वे भगवतोपि तथात्वापत्तिरित्यत्र आहुः ।  
लौकिकप्रभुवदिति । कदाचिदासुरव्यापोहार्यं लोकवदाचरणेपि लोकवद्भगवाच्च कदा-  
चिदपि ज्ञेय इत्यर्थः । लोकवदाचरणं तु रामायणमौसलादिषु प्रसिद्धम् ॥ ७ ॥

कस्मिन्नप्येवो चिन्ता न कार्येत्याहुः ।

सर्वं समर्पितं भक्त्या कृतार्थोसि सुखीभव ।

श्रीढापि दुहिता यदत्स्लेहान्न प्रेष्यते वरे ॥ ८ ॥

तथा देहे न कर्तव्यं वरस्तुष्यति नान्यथा ।

लोकवच्चेत्स्थितिर्मे स्यात्किं स्यादिति विचारय ॥ ९ ॥

सर्वं लौकिकालौकिकसाधारणं स्वीयं भक्त्या श्लेष्टपूर्वकं समर्पितमेवास्ति, अतः  
कृतार्थोसि कृतकृत्योसि सुखी भव, सुखैर्नैवं कर्तव्यं, न मिथ्या चिन्तयेत्सर्वम् । अज्ञान-  
दिना भगवदर्थं प्रियासदं स्वशरीरमनुपयुञ्जानं प्रति सदृष्टान्तं दोषमाहुः । श्रीढापीति ।  
श्रीढा वृद्धा, अपि शब्दाद्मौढापि दुहिता यदा श्लेष्टवशाद्देहे वद्वर्चरि न प्रेष्यते न याप्यते  
तदा तत्सामी वरस्तां विना प्रकारान्तरेण न तृष्टो भवतीति, यदयथास्ति तथा  
निवेदिते देहेऽप्यतिक्लेशवन्नादनुपयोगो भगवदसन्तोषकारक इत्यर्थः । लोकवदिति ।

साधारणलोकवन्द्ये यदि स्थितिः स्याच्चदेदानौतनावस्यापेक्षया तदधिकं लोके वेदे च किं  
स्यान्न किमपि, प्रश्रुत सर्वनाश एव भवेदित्येवं त्वमेव विचारय, इदमुपपन्नं न वेति ।

ननु सर्वथा शरीराद्यन्नक्तौ भजनासम्पत्तौ कथं निस्वत इत्यत आहुः ॥

अशक्ये हरिरेवास्ति मोहं मा गाः कथञ्चन ॥ १० ॥

सर्वमकारेण कृत्यऽसाध्येयं हरिरेवास्ति मम शरणमिति बुद्धिमवलम्बस्व । अस्ति-  
न्नर्थं कथमपि मोहं वैचित्यं मा गाः, मा प्राप्नुहि ॥ १० ॥

उपतंहरन्ति ।

इति श्रीकृष्णदासस्य बल्लभस्य हितं वचः ।

चित्तं प्रति यदाकर्ण्य भक्तो निश्चिन्तता व्रजेत् ॥ ११ ॥

इति श्रीमद्वृत्तभाचार्यचरणविरचितान्तःकरणप्रबोधः ।

धीकृष्णे दास्यं गतस्य बल्लभस्य, धीकृष्णदासस्येति जात्यभिप्रायेणैकवचनं वा ।  
धीकृष्णदासस्य चित्तं प्रति हितमभीष्टसम्पादकं बल्लभस्येदमभिरहितं वचो ज्ञेयम् । कथं  
तदित्यत आहुः, यदाकर्ण्येति । यद्भवः श्रुत्वा भक्तो नैश्चित्त्यं प्राप्नुयादिति ॥ ११ ॥

इति \* श्रीविद्वत्शेखरारामजन्मश्रीरघुनाथविरचितमन्तःकरणप्रबोधविवरणं  
संपूर्णम् ।

\* केनचिद्वेदकेन श्रीमद्वृत्तभाचार्यं विरत्नमिति किञ्चित्, परन्तु धीरघुनाथाभिरुक्तवन्द्येन  
धीमद्वृत्तभाचार्यविरचितटीकायावाच इतिरिपे धीरघुनाथाभिरिति विधीयत ।

धीकृष्णाय नमः ।

धीगोपीजनपङ्कजाय नमः ।

धीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

## श्रीबलुभाचार्यचरणविरचितान्तःकरणप्रबोधः ।

श्रीमन्महानुभावश्रीहरिरायचरणविरचितविधृतिसमेतः ।

अथ श्रीबलुभाचार्याः कृष्णेनातिदयालुना । निःसाधनजनोद्धृत्यै पुष्टिप्रकटनेच्छुना ॥  
स्वास्परूपाः स्वतस्तेन प्रभुणा मफटीकृताः । जिवोद्गाराय विवृतिं चक्रुर्भागवते मुदा ॥  
तथा स्वतन्त्रभजनप्रकारस्योपदेशनम् । ततश्च भगवान्पत्वा स्वभागोद्घाटनं हि तैः ॥  
आचार्यविप्रयोगं चासहमानोखिलेश्वरः । आज्ञाद्वपमदादेहदेशरपागैकबोधिकम् ॥  
ततः स्वभौदिवशतः फरुणावशतोपि च । तद्रयोऽलङ्घनं चक्रुः पथात्तापस्ततोऽभवत् ॥  
दोषस्फूर्त्या हरी सङ्गविलम्बान्यागजाद्गपात् । अङ्गीकृतिगतेश्यापि धर्मत्यागाच्च दुःसहः ॥  
बालवत्पूर्वमाज्ञप्तः पथान्नेति यदब्रवीत् । मां तेनास्थिरवाक्त्वं हि हरीं दोषस्तदास्फुरत् ॥  
ततः समादयुश्चित्तं वचनैः स्फूर्तिमागतैः ।

अन्तःकरण मद्वाक्यं सावधानतया शृणु ।

कृष्णात् परं नास्ति दैवं वस्तुतो दोषवर्जितम् ॥ १ ॥

अन्तःकरणपदतो बहिरहानबोधनम् ॥

दोषसम्बन्धतश्चिते\* स्वभिन्नत्वं हि मन्वते । आज्ञोऽलङ्घनतो दोषो भगवदोपभावनात् ॥  
अत एव तदास्मीयं कर्तुमत्र समाहतिः । अगम्या भौदिदार्ढ्यं तु सर्वभावाच्छ्रुतिर्भवेत् ॥  
मद्वाक्यमिति वाक्येषु स्वसम्बन्धो निरूपितः । निर्दोषभगवद्भावबोधकतवापु सर्वथा ॥  
अत एव समाप्तो हि पदयोश्च बोधितः । वाक्यमित्येकवचनं सर्वैरकार्यबोधनात् ॥  
स्ववाक्यस्य दुरुहत्वाद्भावबोधस्य चेतसः । अर्यान्वगमस्तस्मात्सावधानत्वबोधनम् ॥  
श्रवणोक्त्या सतात्पर्यमर्थावगमनं मतम् । श्रवणेनैव हि स्वीयविचारान्तरवारणम् ॥  
एतदश्रवणे दोषोपीति विध्यवतारणम् । पथात्तापो द्विधा जातः प्रभुदोषसमागतैः ॥  
आज्ञारूपस्यधर्मस्य परित्यागात्स्वदोषतः । तत्र तु प्रथमं दोषः प्रभौ नास्तीति कथ्यते ॥  
तदारोपणतश्चित्ते भ्रान्तत्वपि चोच्यते । न हि कृष्णं सदानन्दे दोषसम्भावजोद्भवः ॥  
सच्छब्देन यतस्तत्र दोषाभावाच्च रूपते । सर्वस्यैव तदात्मत्वाच्च परं विन्यते ततः ॥

अतो वैपम्पनैर्घृण्ये अपि दोषो न कर्तारि । नास्तीत्युक्त्या तदन्यस्य सत्ताभावो विबोध्यते ॥  
 दैवशब्देन पूज्यत्वं सर्वेषां ज्ञापितं ह्येतौ । तस्यैव च परत्वेन सर्वोक्तप्रत्यबोधनम् ॥  
 जगत्पूज्ये भगवति दोषसत्ता कथं भवेत् । अन्येषामपि पूज्यत्वं तद्विभूतित्वतोपि हि ॥  
 भृगवे हरिणा स्वस्य दोषाभावो विबोधितः । निर्दोषपूर्णगुणता सर्वत्रैव निरूपिता ॥  
 सर्वेषां भाग्यरूपत्वं दैन्यशब्देन बोधितम् । यथा भाग्यं विना सर्वसाधनं विफलं मतम् ॥  
 तथा तत्प्रतिकूल्ये न देवानां कथंदावृता । अत एवास्मदाचार्यैर्ग्रन्थे सेवाफलाभिषे ॥  
 तदान्पदेवसोत्रापि व्यर्थेति विनिरूपितम् । भायश्चिदानि चीर्णानीत्यादिवाक्यानि सन्ति हि ॥  
 स्वसम्बन्धेन सर्वेषां फलदे दोषवारके । स्वरूपतोपि निर्दोषे कथं दोषनिरूपणम् ॥  
 ननु भ्रुव्यवतारे तु क्रोधादि दृश्यते ह्येतौ । दैत्यमारणतोन्नत्युवतीनां परिमहात् ॥  
 क्रोधोपि देवस्येत्यादिवाक्यं च खलु दृश्यते । इति चेन्न ह्येतौ दोषः प्रतीत्या न हि वस्तुतः ॥  
 विचार्यमाणे क्रोधादि हितं पर्यवसानतः । मृत्किदानाभिमानन्दानाचदधिकारतः ॥  
 दोषा एव न जीवैस्तु प्रयुक्तास्तं स्पृशन्त्यपि । अभिकारा वैष्णववदतस्तदोद्यवर्जितम् ॥  
 एवं सतीदृशो नाथे दोषारोपणतः स्वतः । पूर्वं जातोपि शोचकर्मो नश्येचदपमानतः ॥  
 स्वामिसम्बन्धराहित्याद्भवेत्तु महती क्षतिः । इति चेत्तत्समाधानमग्निप्रश्नोक्तरूपितम् ॥

चाण्डाली चेद्राजपत्नी जाता राज्ञा च मानिता ।

कदाचिदपमानेपि मूलतः का क्षतिर्भवेत् ॥ २ ॥

संभावितस्य चाकीर्त्तिरिति गीतोक्तवाक्यतः । उक्तप्रस्य पुरा पश्चादपकर्षे क्षतिर्भवेत् ॥  
 पूर्वं स्वरूपे दृष्टान्तरस्या हीनो निरूपितः । तादृशस्य तयोत्कर्षे मूलं तु भगवान्भवः ॥  
 पुष्टिभारिण्येतौ नैव जीवोत्कर्षो नियापकः । भक्तिहंसे तथा शोक्तं मधुभिर्विद्वलेभ्यैः ॥  
 पूर्वं जीवगतोत्कर्षोऽप्यमयोजक इत्यपि । मूलतस्त्वपमाने तु न हीनस्य क्षतिर्भवेत् ॥  
 अपमानमदुःखं तु क्रियते स्वविवारतः । दास्यं स्मर मनः स्वीयं दासानां नाग्रमानम् ॥  
 चेदित्यनेन दौर्लभ्यमङ्गीकारे निरूपितम् । जातं पद्मामपत्नीत्वं तत्र याति कथञ्चन ॥  
 अन्यैर्वा सा न दुर्वावर्षैर्बहुं शनया वञ्चान्वितैः । न वा तदुपभोगोन्मैः पश्चात्कर्तुं हि शक्यते ॥  
 अपमाने विलम्बस्तु विरहानुभवार्थकः । बहिः संवेदने पश्चादन्यथावपसायकः ॥  
 तदनन्तरमन्येपि माहृत्वमतपो ध्रुवम् । मानयन्ति यतस्तत्रां हि नापकर्षस्तदो मतः ॥  
 कदाचिदित्यनेनात्र नित्यता नाग्रमाने । मनःपूर्वकृतित्वेन नित्यताङ्गीकृतौ ह्येतौ ॥  
 नाग्रमाने यतस्तत्र ह्येति शब्दा न तादृशी । शिष्याय दण्डनार्थं वा कुल्ले न भित्तेच्छया ॥  
 इच्छापूर्वकृतित्वे हि भवेदेव हि नित्यता । दण्डोऽप्यनुमहः शोकः सर्वत्रैवाव एव हि ॥  
 अपि शब्देन तस्यापि मानसाम्यं निरूपितम् । एवं वाक्यैर्बोधयित्वा दृष्टान्तेन च बोधनम् ॥  
 क्रियते दृढता यस्मात्कृत्वबोधस्य सिध्यति ।



सेवकस्य तु धर्मोयं स्वामी स्वस्य करिष्यति ।  
 आज्ञा पूर्वं तु या जाता गङ्गासागरसङ्गमे ॥ ५ ॥  
 यापि पश्चान्मधुवने न कृतं तद्वयं मया ।  
 देहदेशपरित्यागस्तृतीयो लोकगोचरः ॥ ६ ॥

सेवकस्य हरेः सेवां कुर्वतो मार्गवर्तिनः ॥

धर्मोपमेव नान्योस्ति यदाज्ञाकरणं प्रभोः । तुशब्देनान्यथा धर्मः पुष्टिस्थेषु विलोचयते,  
 तदाज्ञालोपमानादि तद्वरेषुर्भवेयानात् । तथैवात्रापि विज्ञेयं न, धर्मोयमितोरितम् ॥  
 अत एवाहुर्नैकोक्तं करिष्ये वचनं तव । न चायमीदृशो धर्मः सन्दिग्धफलसाधकः ॥  
 यत् आज्ञाभिधं धर्मं हरिः स्वीयं करिष्यति । 'अहं त्वा सर्वपापेभ्यः' इत्युक्तं हरिणा यतः ॥  
 अन्ये सर्वेपि ये धर्मास्ते विभूतिपराः कृताः । फलदानं विभूतिभ्यस्तेषु सर्वत्र निश्चितम् ॥  
 ईदृग् धर्मपरित्यागं स्वस्मिन्नाहुर्मनः प्रति । पश्चात्तापोप्यतो योग्यः सर्वयेति निरूपितम् ॥  
 तदेवाहुर्निनाचार्या मद्यभाज्ञात्रयं हरिः \* अदात्, तत्र स्थलं पूर्वाज्ञायां च तन्निरूपितम् ॥  
 यत्र देहपरित्यागः कर्तव्य इति सोऽत्रवीत् । तत्र बीजं तु साच्चिद्व्याद्भेदाव्यात्मरूपस्य हि ॥  
 साक्षात्तद्भावसम्बन्धो विना मार्गोपदेशनम् । ततः स्वरूपप्राकट्यं पुष्टिमार्गस्थितमभोः ॥  
 \*ज्ञानं च नाभिलषितं गूढभावस्व वै हरेः । सर्वत्र सर्वजीवानां \*तेनैवं प्रभुवत्त्वान् ॥  
 ततः प्राकृतवत्कृत्या गार्हस्थ्यदादौ विमोहनम् । सम्पाद्य स्वीयसाच्चिद्यं भक्तानामेव कारितम् ॥  
 उपदेशनमारब्धभाचार्यैः पुष्टिमार्गगम् । ततो मधुवने सर्वा गूढलीला प्रकाशिता ॥  
 उपदेशेन भक्तेभ्योऽनभीष्टं तदपि प्रभोः । लीलाधारत्वात् स्वस्य तद्वारैव प्रकाशनात् ॥  
 तद्वयं न कृतं कृष्णाऽऽज्ञाया रसविशेषतः । श्रीभागवतगूढार्थप्रकटीकरणानुया ॥  
 लीलास्थलदृगासक्तेर्न भयं प्रोदितो स्तेः । तुशब्देनाधुना नैव तादृगाज्ञां ददाति हि ॥  
 स्वास्थ्यवाचये न संन्यासे कुस्ते भावघातनम् । 'स्वास्थ्यवाचयं न कर्तव्यं' इत्यतोऽस्वत्वभोर्वचः ॥  
 स्थलं च प्रथमाज्ञायाः स्वसंयोगप्रबोधरूपम् । गङ्गायाः सागरेणात्र यथा योगस्यथा मया ॥  
 एकीभावेन सम्बन्ध इति स्वामिप्रलोभनम् । पद्ये द्वितीयं यः प्रोक्तोऽपिशब्दस्तेन बोधितम् ॥  
 एतदाज्ञायनमपि स्वसम्बन्धवलीभक्तम् । पश्चात्स्वदैतदाज्ञा विलम्बेन समुद्रता ॥  
 स्थलं मधुवने प्रोक्तं दुष्टसम्बन्धतस्यथा । तत्र नैवंविधं कार्यं कार्यमित्याशयो हरेः ॥  
 तत्रत्यानाञ्च विप्रणामतः प्रौक्तैव दुष्टता । एतद्वयं तु न कृतं तृतीयोऽर्थात्कृतो मतः ॥

\* अदात्तत्र च त्र पूर्वाज्ञायां तत्र निरूपितम् । इति पाठ ।

\* एतादृश प्रभुप्राक्कृत्यात्मकं ज्ञान सर्वत्र सर्वजीवानां स्यादिति गूढभावस्य हरेर्निरूपितम् ।

\* एव देहत्यागरूपम् ।



त्यागो लोकैकविषयो नापदानादिकर्जनात् । सेवाप्रदर्शनाभावात् सहनादुःखदस्थ च ॥  
नन्वेवं धर्मगमने पश्चात्तापस्तु संभवेत् । इति चेत्; यतः सेवाकरणात्सेवकोऽस्म्यहम् ॥

पश्चात्तापः कथं तत्र सेवकोहं न चान्यथा ।

लौकिकप्रसुवत्कृष्णो न द्रष्टव्यः कदाचन ॥ ७ ॥

सेवा तु स्वाम्यभिहितकरणेन भवेत्पुनः । स्वापिनेव यदुक्तं मे श्रीभागवतवर्णनम् ॥  
पुष्टिर्भाग्यप्रकटनं तदेव क्रियते मया । तदुत्तरं चैत्स्थास्यापि तदा दोषो भविष्यति ॥  
न चाहापाप्तसेवायाः करणे धर्मैर्न्ययुतिः । सेवाकृतेरज्ञापि स्थितेरन्यत्रिभूतनात् ॥  
तदा केन प्रकारेण पश्चात्तापो भवेन्नम । ननु मभूणां लोके तु दृष्टा सेवाकृतावपि }  
परित्यागकृतिः स्वीयोत्तराज्ञापरिपालने । अत्रापि चेत्तथाभावे पश्चात्तापस्तु सर्वथा }  
इति चेत् हरिः कृष्णो द्रष्टव्यो लौकिकेश्वरत् । स भावाज्ञो हरिर्भाववेत्ता स शणिको हरिः  
न तथा, स तु दोषादयो हरिर्दोषविवर्जितः । सोऽनिरास्योऽस्मीकृतिः कृष्णो नित्याज्ञीकरणो मतः ॥  
स दुःखरूपः कृष्णस्तु पूर्णानन्दो निरूपितः । सोऽन्यदः पूर्णपरमानन्दसन्दोदहो हरिः ॥  
कदाचनेति शब्देन सोऽस्थिरः स्थिरता हरेः । अतस्त्यागभावाऽभावाद्दनुतापो निवारितः ॥

सर्वं समर्पितं भक्त्या कृतार्थोऽसि सुखी भव ।

किञ्च, सर्वं लौकिकं हि वैदिकं च समर्पितम् । अहन्तामपते चापि स्वया तत्र समर्पिते ॥  
अतः कर्तव्यताऽभावात् कृतार्थत्वमभूत्तत्र । किमर्थं कुरुष्वे दुःखं किं तत्रास्ति सुखी भव ॥  
भ्रमादेवाभवद्दुःखं स्वजायितिश्रममात्रयः । सेवावशाद्गमने नातोपोऽलौकिकप्रभोः ॥

प्रौढापि दुहिता यद्वत्स्नेहात् प्रेष्यते वरे ॥ ८ ॥

तथा देहे न कर्तव्यं वरस्तुष्यति नान्यथा ।

सेवात्रियस्य करुणाकरस्य मृदुनेतसः । देहाध्याताद्गमने स्वसन्तोपो भवेत्प्रभोः ॥  
अतो विदधते चित्तसमाधानं निदर्शनात् । देहे न सत्ता स्थाप्या हि यथा दुहितरि स्वतः ॥  
जामात्र्यं पोषणं तु हर्षयं तद्दृश्यं हि । अयोग्यतायां तन्निन्ता कर्तव्या रक्षणार्थिषु ॥  
प्रौढा चेतसकला चिन्ता तस्मैवेति विदुष्यन्ताम् । अतो न देहाध्यासेन देहाचरैरस्य हरी  
उचितं तद्गतस्नेहात् न तुष्येद्यतो वरः प्रत्यग्रभोक्ता, नाऽज्ञातरसस्यापोऽप्यवस्तुनः ॥  
अतः स तु कथं तुष्येद्येत्तायाप्रनर्पणात् । तदाशयपरिज्ञानमात्राच्चेदर्थते स्वतः ॥  
तदा विशेषसन्तोषस्त्वाज्ञाप्यं मध्यमः स्मृतः । आज्ञायामपि चैलोभो देहादेस्तोषणं कथम् ॥  
यद्यं सकलापेक्षा तदभावेऽखिलं दृष्या ।

लोकवचेत्स्यतिर्मे स्यात्किं स्यादिति विचारय ॥ ९ ॥  
अशक्ये हरिरेवास्ति मोहं मा गाः कथञ्चन ॥ १० ॥

ननु देशदिलोभस्तु लोकोत्पन्नस्य जायते ॥  
ज्ञानभिन्नेतद्वयने प्राज्ञोपि भवति मिये । मदीयि मियसौभाग्यात्सासाधारण्यबोधकः ॥  
जायते दोषभावश्च मनो म्रौद्विद्वान्त्पुनः । अतः किञ्चित्प्रमिति चेन्नैवं चित्तोचितं मयि ॥  
अहं तदास्वरूपोस्मि भक्त्यात्मा वदिरूपपृक् । निर्दुष्टः केवलानन्दरूपादादिसङ्गतः ॥  
कृष्णापरसुधासागरः परमानन्दरूपवान् । भक्तिदाता समस्तानां स्त्रीपसान्निध्यमाश्रितः ॥  
श्रीकृष्णरसभावात्मा ब्रजस्त्रीहृदयस्थितः । लीलाशतसपाकान्तसर्वाङ्गो विस्मृताखिलः ॥  
हृदयस्वामिसहितो ह्याविर्भूतस्तदाज्ञया । एतादृशो ममापि स्याद्दोषवचेत्स्यतिर्मनः ॥  
हृदि किं स्यादिति पुनः स्वयं हृद्येव चिन्तय । नदास्यस्य स्थितौ चैवं प्रभोरपि तथा स्थितिः  
इत्यज्ञानं न तद्युक्तं हरेरानन्दरूपिणः । अवाच्यत्वादेवमुक्तं स्वयमेव विचारय ॥  
ननु जातेऽपराधे तु किं विधेयमशक्तितः । अज्ञात्वा वाथवा ज्ञात्वा यत्कृतं नाकृतं हि तत् ॥  
अतः कथं सोनुतापो हृदयास्तु निवर्तते । इतिचेन्न हरिः सर्वदुःखहर्ता ह्युपेक्षते ॥  
अज्ञाक्ये निजभक्तानां स्वयं सर्वत्र साधकः । यतो मजेन्द्रस्याश्रय्ये स्वयमाविर्बभूव ह ॥  
कार्यं च कृतवान् सर्वपतो हरिपदं यतः । एतेन साधनाभावे दैन्यमावोऽन्वे पुनः ॥  
निःसाधनकलात्मासौ मादुर्भवति निश्चितम् । एवकारेण नान्येषां निःसाधनकलात्पता ॥  
न वा कृपालता पूर्णानन्दाभावाद्द्रसास्थितेः । अस्तीति पदतः स्वाग्ने मादुर्भूतो निरूपितः ॥  
अतो मोहं स्वैककल्पं मा प्राप्नुहि मनो मम । पत्नं स्रान्तःसमाधानं विधाय स्वसदुक्तिभिः ॥

इति श्रीकृष्णदासस्य बल्लभस्य हितं वचः ।

चित्तं प्रति यदाकर्ण्य भक्तो निश्चिन्ततां व्रजेत् ॥ ११ ॥

इति श्रीमद्ब्रह्मभाचार्यचरणविरचितान्तःकरणप्रबोधः समाप्तः ।

सम्प्राप्त्य स्वस्वनेश्चिन्त्ये स्वीयान्मति नदन्ति हि । एवं प्रकारकं वाच्यं हितं फलदशानु हि ॥  
स्वचित्तं प्रति यत्प्रोक्तं तदाकर्ण्य भजनं हरिम् । स्वदोषेष्पारिस्त्यागी प्रभृतिष्वबोधतः ॥  
परित्यागभयाभावाज्जनो निश्चिन्ततां व्रजेत् । नन्वेवं कथनादेव नैश्चिन्त्ये तु कथं भवेत् ॥  
स्वानुभूतेरभावे तु वाङ्मात्राच्च हि सिध्यति । इति चेदुच्यते स्वीयान्तमाधातुं स्वदासता ॥  
आविर्भूतस्वरूपस्य शोक्तानुभवबोधने । अनुभूयैतदखिलं मयाव निनिरूपितम् ॥  
नात्र कार्यो ह्यविश्वासो भवद्विः सफलादिभिः । ननु दासत्वकृष्णत्वे विरुद्धे भवतः कथम् ॥  
किं वा विधाय कापट्यं तथात्वं स्वस्य कथ्यते । महापुरुषपवचनं कृष्णत्वं चैष्वचारिकम् ॥

अथवा भाववशतः स्वस्वरूपस्य विस्मृतिः । विरुद्धधर्मता वापि ब्रह्मवत्त्वं रूप्यते ॥  
यद्वा व्यामोहसिद्ध्यर्थमेवं रूपनिरूपणम् । एवं हि संशये कार्यां सद्भिरेवं समाहितिः ॥  
यथा रसात्मनो रूपं हरेर्यत्र यथाविधम् । वचः क्रियापि सर्वैवानुरूपा यत्र यादृशी ॥  
तत्र तादृग्विधं रूपमुच्यते न प्रदर्शनम् । अन्यथा न रसात्मत्वं स्याद्बोद्धत्वं रसवत् ॥  
लोकैपि यत्र नाव्यादौ प्रादुर्भवतिचेद्रसः । स्त्रीवेशादिद् तत्रैवमुच्यते सेव वर्तते ॥  
एवं हि भगवान् कृष्णो रसात्मा यत्र यादृशः । तद्गसानुभवार्थं हि विगिष्टस्तत्र तादृशः ॥  
रसात्मत्वात्तदास्यं च भन्तव्यं तादृशं पुनः । अतो दास्परसारायां प्रादुर्भूतं तदात्मना ॥  
मत्तयात्मकं मुखं तत्र रूपमेव हि तादृशम् । वचोपि तादृशं तत्र सत्यमेव न चान्यथा ॥  
यथा वचो हरेः स्वीयदेहभावनिरूपकम् । मानापनोदसमयेऽस्मत्प्रभोस्तद्गसात्मनः ॥  
तथाचार्येषु वाक्यानि नात्र कश्चन संशयः । बल्लभस्येति नामोक्त्या विश्वासस्यानमुच्यते ॥  
हरेः स्वर्दिगस्तथा नास्ति नित्या मीतिर्निरूपिता । ईदृक्स्वरूपविश्वासे नैधिन्त्यं निश्चितं भया ॥  
माग्यभानां हि विश्वासो भवेच्छ्रीवल्लभमर्षो । यथा निवेदने चिन्ता नवरत्ने निवारिता ॥  
एवमत्र फले चिन्ता स्वकीयानां समुद्धृता । संयोगमानविरहाभियभावत्रयं स्वतः ॥  
अनुभूतं तु संयोगः सेवया त्यागतोऽपरः । आज्ञाकरणतो मानवाबोत्र सफलीकृतः ॥  
स्वरूपस्फूर्तितः पश्चात्पश्चात्तापो निवारितः । इति श्रीवल्लभाचार्यपदाम्बुहरेणुषु—  
सक्तचित्तस्य विद्युतिर्हरिदासस्य पूर्णताम् । अगमतेन ते स्वीयं दृष्टं कुर्वन्तु मां सदा ॥  
अवद्यमनवद्यं वा विचारयतु मे प्रभुः । यत्प्रसादिदं सर्वं पूर्णतां याति सर्वथा ॥  
सन्तोऽपि कृपाया युक्तं मदीयं भूर्खजल्पितम् । श्रीमदाचार्यसम्बन्धात्प्रशस्त्यनुपपादताः १५१

इति श्रीहरिदासोक्तान्तःकरणप्रबोधविद्युतिः

समाप्ता ।



धीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

## श्रीवल्लभाचार्यचरणविरचितान्तःकरणप्रबोधः ।

श्रीश्यामलात्मजश्रीव्रजराजकृतविवरणम् ।

नत्वा स्वाचार्यपादाब्जं सर्वाधीष्टमदायकम् ।

तदुक्तबोधवाक्यानि व्याख्यास्ये बोधसिद्धये ॥ १ ॥

\* ( अथ ) श्रीमदाचार्यधरणाः ( स्वीयान् प्रति नवत्रे 'चिन्ता कापि न कार्या' इत्याशाप्य तस्या अन्तःकरणधर्मत्वादनन्तःकरणस्य च स्वभावचञ्चलत्वाद्वाध्यानादिसंप्रभे पूर्वोक्ताश्लभद्रसम्भवाभिवेदनं कृतमप्यकृतं स्यादिति तदभावाय प्रमेयचलेन यथा भवत्वात् प्रक्तान्तःकरणसम्बन्धी सन् फलप्रकरणे प्रदमाननिवारणं कृतवोदतयात्र ) स्वीयान्तःकरणबोधार्थं ( तद्भिषुस्वीकृत्य ) सप्रौढिस्वस्वरूपज्ञापनपूर्वकमन्तःकरणप्रबोधं निरूपयन्त्येकादशश्लोकैरेकादशोद्दिश्यबोधकत्वेन । अन्तःकरणेति ।

अन्तःकरणं मद्राक्ष्यं सावधानतया शृणु ।

कृष्णात्परं नास्ति देवं वस्तुतो दोषवर्जितम् ॥ १ ॥

हे अन्तःकरण ! मदीयानामिति शेषः ( समाप्तौ 'भक्तो निश्चिन्ततां प्रभेदित्युपसंहाराद्बोधः ) मद्राक्ष्यं सावधानतया सावधानीभूय शृणु शृणुष्वेत्यर्थः । स्वभावव्यत्येनाप्तोक्ता । अथपि सावधानत्वोक्तिः अत्रणानन्तरं तथाकरणार्थम् । अन्तःकरणस्यैकवचनं स्वगतं सर्वेषामेकरूपत्वज्ञापनाय जात्यभिप्रायेण । ( अत्र सर्वं भाष्यः स्वान्तःकरणमेव बोधनीयत्वेनाङ्गीचक्रुः । तदपि श्रीवल्लभाष्टके रूपद्वयेनावतारबोधनास्त-वोचने 'स्वास्यं मादुर्भूतं चकारेत्युक्तेषु, सुखान्प्रवृत्ताराशभिप्रायेण सद्ब्रह्मेव, ) एवं स्वीयानामन्तःकरणं सम्भ्रुवीकृत्य बोधनायमेवाहुः । कृष्णात्परमिति । कृष्णात् 'कृषिर्भूवाचक' इत्यस्य भावानन्त्याम्कतया विवरणेन प्रप्रवृत्तभावानां भावात्मिकात् ( परब्रह्मैष्टं देवं देवानां क्रीडाकृतां समूहो वा, 'देवं दिष्टं भागधेयं भागधमि'तिक्रीडा-सासां भाग्यरूपं वा । नास्ति इतरं ) नास्तीत्यर्थः । ननु किं सुविरेयेपमित्याशङ्क्यामाहुः, वस्तुत इति । तत्रोक्तद्वेषात्वात् वास्तवत्वार्थं विशेषणमाहुः-दोषवर्जितमिति । दोष-वर्जितं रहितमित्यर्थः । ( तथा चेदं तद्भास्तत्रने पीनम् । किञ्च, ) कृष्णपदात् सदानन्द

कस्तेन यया गोपिकार्थं कोटिकन्दर्पलावण्यं प्रकटीकृत्य प्रकटस्तया सर्वत्रापि तदर्थं कृतो भविष्यतीति ज्ञापितम् । तेनान्यत्र क्रीदारूपत्वं नास्त्येवेति जीवानामन्यत्र नायकभावेन भजनं दोषरूपमेवेति भावो दोषवर्जितमित्यनेन ज्ञापितः । अत एव 'वीरयोपिता'मित्यत्र 'व्रजनितम्बिनी'वाक्यव्याख्याने श्रीमदाचार्यैर्न हि कृष्णादन्य एवं सम्बोधनपर्यतीति निरूपितम् । आद्य धीमहिषीभिरपि 'त्वक्स्फुरोमे'तिपद्येनान्यत्र कान्तभावस्य दोषरूपता निरूपिता । ( तथा च स्वकीढानुरोधेन स्वीयभागरूपतया च स्वयमेवास्माकं करिष्यतीति निश्चित्य चिन्ता न कार्येत्यर्थः । )

(ननु सत्यमेवं तथापि भगवतो ब्रह्मश्रुत्यादिदुराचरणेषु त्वे स्तुतुञ्जले च स्फुरिते सोत्पद्येतैवेति कथं तन्निवृत्तिरित्याकाङ्क्षाया तन्निवृत्त्यर्थमेवं) दोषरहितस्वरूपं विचार्य तत्र मानापेक्षादिदोषराहित्येनात्रैव कार्येति सादृश्याभिर्वदन्तः प्रथमं (तुच्छत्वस्फूर्तरकिञ्चिद्भ्रत्वाय निर्दर्शनमाहुः) चाण्डाली चेदिति ।

चाण्डाली चेदाजपत्नी जाता राज्ञा च मानिता ।

कदाचिदपमाने वा मूलतः का क्षतिर्भवेत् ॥ २ ॥

चाण्डाली चेत्कदाचिद्राज्ञा मानिता सती राजपत्नी च जाता । चकारेण स्वस्यापि तथाभिमानोत्पत्तिर्जातेति ज्ञाप्यते । ( तदा ) तादृश्याः कदाचिदपमाने वा मूलतो राजपत्नीत्वतः का क्षतिर्भवेत् ? न कापीत्यर्थः । माने कारणं राजपत्नीत्वं न तु चाण्डालीत्वम् । राजपत्नीत्वेषु कारणं राजसम्माननं न तु स्वयमेव कोपि । तस्मात्तत्कृतापमानस्यापि न राजपत्नीत्वान्यथाकारित्वशङ्के । यथा राजपत्नीत्वसम्पत्त्यनन्तरमपमानेषु न तद्भानिस्तथात्र समर्पणानन्तरं ( परीक्षार्थं ) द्वितीयस्पर्धये वा भगवतापमानेषु कृते स्वस्य पुनरन्यभावो न भविष्यति । समर्पणेन यो भावो जातः स तु जात एव, ( पुनर्पदा परीक्षादिपूर्तिः ) संयोगरसदानेच्छा ( वा ) भविष्यति तदा पुनस्तथैव मानप्राप्तिरपि भविष्यतीति विचार्यम् । ( तथा द्वितीयव्याख्यामानीत्या राजपत्नीत्वमिव समर्पणानन्तरं स्वस्य सेवायोग्यत्वमेव विचार्य, न तु चाण्डालीत्वमिव स्वतुच्छत्वमपि विचार्यम् । भगवता पुष्टिपार्श्वस्य स्वार्थं प्रकटितत्वेन स्वोरीचिकीर्षितवर्जीव-दोषानादरण्यपुरःसरं तदङ्गीकरणे अन्तरा च जीवदोषादासक्तौ भगवामेवेति न्यस्त्येन विलम्बेपि पूर्वात्परावलीयस्त्वन्यायेन भाङ्गीकारतिरस्कारो, नापि दोषप्रावण्यमिति न तुच्छत्वात्सत्तर इत्याश)येनाहुः । समर्पणाद्दहमिति ।

१ (किञ्च यथा राजसम्पत्त्यनन्तरं पूर्वस्वरूपं न विचार्य, तद्विचारे सति स्वकीर्तये लक्षिते तस्य रसदायिः स्वात्म्या तत्पक्षे कृतेपि स्वत्वस्वाविचारेण प्रभु इत्या वरिष्यति च वेति वीरत्व च विचार्यम् । ) इति श्रीवृषोत्तमचरन्नेत्याहता पद्मय लक्ष्मणापरयोपिगतग्रन्थे सन्ति ।

समर्पणादहं पूर्वमुत्तमः किं सदा स्थितः ।

का ममायमता भाव्या पश्चात्तापो यतो भवेत् ॥ ३ ॥

समर्पणात् पूर्व किमहं सदा उत्तमः स्थितः ? अपि तु न । तथा च समर्पाद् पूर्व येन भगवद्वचनापेक्षा स्यादाहम्भावयुक्तस्तु न स्थितः । तदनन्तरमेव तयाजातस्ते-नापमानेपि ( मम ) कावयता भाव्या ( प्राविनी, विभावनीया वा ) । यतः समर्पणा-नन्तरं पश्चात्तापो भवेत् ? । ..... कदाचित्कर इत्यनेनाभासनार्थं स्वसहजधर्म आगन्तु-कधर्मश्च स्मारितः । अतः परमर्द्धेन नित्याङ्गीकाररूपं भगवद्दर्शं तदर्थं स्मारयन्तस्तेन, प्रत्युत्पानकरणात्मकस्वरूपसम्बन्धिभविष्यति, पुनरन्यथा सा न भविष्यत्येव, भगवदङ्गी-कारस्य नित्यत्वादित्याहुः । सत्यसङ्कल्पत इति ।

सत्यसङ्कल्पतो विष्णुर्नान्यथा तु करिष्यति ।

आज्ञैव कार्या सततं स्वामिद्रोहोन्यथा भवेत् ॥ ४ ॥

सत्यसङ्कल्पतो विष्णुर्व्यापकः, अन्यथा तु न करिष्यति । यथा 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते', 'द्विः स्यापयति नाश्रिता(नि'त्यादिः सङ्कल्पः सत्पो विप्रयाव्यभिचारी, तथा) 'मां प्रपन्नो जनः कश्चिन्न (पूर्वोर्हति शोचितु)मित्यादि(रपि)भगवतः सत्य एव सङ्कल्पस्तेन पुनस्तं (प्रपन्नमन्य)या न करिष्यति । ( शोकयुक्तं न करिष्य-तीत्यर्थः । किञ्च; ) विष्णुर्व्यापकस्तेन विप्रयोगसमयेपि रसदानं करिष्यति, 'प्रया परोसं भगवते'तिन्यायेनेति ज्ञायते । एवं (सत्यस्वरूपधर्मं भगवद्दर्शं च स्मारयित्वा स्वीयते-वकस्य रक्षणाय यतः ) प्रसुरान्यथा न करिष्यत्यतो भावात्मकं समर्पणमनुसन्धापापमान-जं क्लेशं परित्यज्य, भगवान् यथैवेन्द्रापूर्वकमाज्ञापयति तथैव कार्यमित्याहुः । आज्ञै-वेति । सततं निरन्तरमाज्ञैव कार्या । अन्यथा तदकरणे स्वापिनः प्रभोर्द्रोहो भवेत् । भगवता स्वकार्यकरणार्थं (स्वदासीय)देहकरणात्तदाज्ञाया अकरणे वापकमेव स्यादिति भावः । ( 'भगवदहं देहं भगवत्कार्यार्थं जीवो धृत्वा तिष्ठती'ति पुरञ्जनोपाख्यानाज्ज्ञेयम् । )

सिद्धमाहुः । सेवकस्येति ।

सेवकस्य तु धर्मोयं स्वामी स्वस्य करिष्यति ।

सेवकस्यापमेव धर्मो यदाज्ञाकरणम् । तु शब्देनान्यधर्मनिवृत्तिः सूच्यते ( एवं पादत्रयेण स्वाज्ञापविपालनरूपो दासधर्मो भगवत्प्रोपहंतुरिति, तुना पशान्तरनिरासपूर्वकं स सुख्यतपोपसज्जन्दे । ) एवं सेवकधर्मश्रुत्वा प्रभुधर्मस्वरूपमाहुः । स्वामी मनुः स्वस्य इच्छातः करिष्यतीति स्वपनोभिलषितकरणं मनुधर्म एव । सेवरूपमेतत्तु वदाज्ञाकरण-

मेवेति तुशब्देन ज्ञाप्यते । ( संयोगपृथक्त्वेनात्रापि तु शब्दस्यानुपङ्गः । यद्वा, स्वामी भगवान् स्वस्यास्त्रीयस्य दासस्य करिष्यति, स्वाज्ञापालनाग्रहं विलोक्य दयया तं धर्मं निर्वाहयिष्यतीत्यर्थः । अतस्तदर्थमपि न चिन्तावसर इति भावः । एवं सार्धैस्त्रिभिराक्षैव कार्षेति सम्यगुपदिश्य, ) एवं भगवदाज्ञासंकरणसंलुप्त्यशुसम्पादितेन स्वस्थोत्पत्त्वेन फदाचिदाज्ञानन्याकरणेपि स्वस्य तादृक्सेवकत्वमेव भव्यं, न त्वन्यथा विचारणीयं, पश्चात्तापो वा कर्तव्यो, यतः प्रभुरेव स्वेच्छातस्तथाकारयतीत्याशयेन स्वदृष्टान्त-माहुः । आज्ञेति ।

आज्ञा पूर्वं तु या जाता गङ्गासागरसङ्गमे ॥ ५ ॥

यापि पश्चान्मधुवने न कृतं तद्वयं मया ।

देहदेशपरित्यागस्तृतीयो लोकगोचरः ॥ ६ ॥

या आज्ञा पूर्वं गङ्गासागरसङ्गमे गङ्गासागरसमीपे जाता, पश्चात्ता मधु-  
वनेपि जाता, तदाज्ञाद्वयं मया न कृतम् । तु शब्दस्त्वाज्ञाद्रूपाकरणस्य भगवद्विज्ञा-  
विषयरूपत्वज्ञापनार्थः । ननु, आज्ञाद्वयं किं विषयकमित्यपेक्षायामाहुः । देहदेशपरि-  
त्याग इति । गङ्गासागरसङ्गमेऽप्यत्र गमनकृतस्वनिर्कटस्थित्यभावज्ञकोपेन देहपरित्याग-  
विषयिणी । सापि पूर्वोक्तप्रकारेऽजनिताज्ञानवियोगासङ्घिण्युत्था जाता । ( एवं मधुवने  
मधुरायां देशत्यागविषयिणी । ) स्वाचार्यैस्तु स्वीयशिक्षार्थकविषययोगतापानुभवार्थं  
दूर एव स्थितिः क्रियते । भगवता स्वार्थं तथाज्ञाप्य । श्रीमदानार्थैः स्वसौभाग्यज्ञापनाय  
तदाज्ञाद्वयमपि न कृतम् । तृतीया लोकगोचरा लोकरूपपरित्यागविषयिणी जाता, सा  
कृतेति भावः । ( .....यादे, तृतीय आज्ञाविषयः, स चोपयसमुदायरूपः सन्यास  
इति व्याख्येयम् । तथा च द्वयं न कृतमप्येवं कृतं, तदपि मया तदन्वारेण । अतो  
मन्निदर्शने पुरस्कृत्य अन्येन तथा न कार्यम्, किन्तु यथा प्रख्याता तथैव कार्यमिति-  
भावः । यद्वा, न कृतमित्यत्र काकुः । 'दिह' उपचये, 'दिश' अतिसर्जने, देह  
उपचयः, देशो दानम् । अयमर्थः, भगवता श्रीभागवतार्थप्रकटनाय पूर्वमाज्ञासं, तादृक्स्म-  
टीकाकरणेन कृतम् । ततः सुबोधिन्यामुपनयो ग्रन्थराहुल्यात्मा आरन्व्यस्तदा देहपरि-  
त्याग आज्ञासं । ततस्तद्विषय निरोध एव विवृतः । ततो मुक्तीं विव्रीयमाशायां देशपरि-  
त्याग आज्ञासं । तदा विमोचने स्वाश्रयमापणे च विवृते फलं दत्तमेव स्यादितितद्भावाय  
तादृक्प्राज्ञाद्वयं मयापि स्वाग्रहत्यागेन कृतञ्चेदन्वेन तु सर्वथा कर्तव्यमेवेति भावः । )

( एवमाज्ञाया अकरणकरणे उक्त्वा ) स्वस्याज्ञाद्रूपाकरणजपश्चात्तापामावापमाहुः ।  
पश्चात्ताप इति ।

पश्चात्तापः कथं तत्र सेवकोहं न चान्यथा ।

लौकिकप्रभुवरकृष्णो न द्रष्टव्यः कदाचन ॥ ७ ॥

तत्राज्ञादयाकरणे पश्चात्तापो मया कथं कर्तव्यः ? । यतोहं सेवकोस्मि । तदपि स्वस्य सेवकत्वमौचित्यैव कृतम् । न चान्यथा, न केवलं स्वपौष्ट्येति । तथा च ममेदं ( शोभते न त्वन्यस्येति भावः । यदा, आज्ञादयाकरणान्यथापि पश्चात्तापयेदन्यस्य त्वत्यन्त एव स्यादतस्तथान्येन न कार्यमिति भावः ) । ननु सेवकत्वे सति स्वपौष्ट्या आज्ञाया अकरणे भगवानप्रसन्नो भवेदिति कथं भवतां शोभाकरं, यदि शोभाकरं कथ-  
मन्येन न कार्यमिति तथा प्रकृत्य भगवतोऽलौकिकत्वेन तदभावात्पाहुः । लौकिकप्रभुवदिति ।  
लौकिकप्रभुवत् कृष्णः सदानन्दः फलरूपः कथञ्चन केनापि प्रकारेण न द्रष्टव्यः ।  
तथा च, यथा लौकिकप्रभुणां स्वोक्ताकरणे क्रोधो भवति भगवत्तथा न भवति ।  
यतस्तदसातुमवार्थं प्रसुरेव तथा भेरपति । अत एव भगवता शर्षं प्रत्युक्तं "कर्तुं नेच्छसी"-  
त्यारभ्य 'मायये'त्यन्तम् । लौकिकानामतथाभावात् क्रोधो भवति । ( भक्तो भगवदप्रसन्न-  
ताया अभावाद्दस्पाकं शोभाकरम् । अन्यस्य तु तादृग्योग्यताया अभावेन भगवद्विच्छा-  
ज्ञानाभावादानुचितमेवेत्यर्थः ) ।

(एवमाज्ञाकरणतदकरणव्यवस्थामुक्त्वा तेन यत् सिद्धं तद् वदिष्यन्तो, ) भगवति सर्वसमर्पणं जीवशर्मः, पश्चात्तु प्रभुः संच्छया यत्करिष्यति तत्करोतु, तथापि कथं स्वशर्मः कृतोस्तीति नैथिन्येन स्वीयतापित्वाहुः । सर्वमिति ।

सर्वं समर्पितं भक्त्या कृतार्थोसि सुखी भव ।

प्रौढापि दुहिता यद्रत्नेहान्न प्रेष्यते वरे ॥ ८ ॥

तथा देहे न कर्त्तव्यं वरस्तुष्यति नान्यथा ।

भक्त्या स्नेहेन सर्वं समर्पितमः कृतार्थोसि सुखी भवस्तुत्वेनैव स्वीयताम् । परिणामे सुखमेवेति सुखी भवेत्युक्तम् । सर्वपदेन लौकिकरसाधिकरणदेहसम्बन्धिमाव-  
रूपमलौकिकञ्चेति हापितम् । समर्पणे कृते देहेपि सम्बन्धस्य नावतत्त्वादेनैव सोपा-  
कर्त्तव्येति लौकिकरसात्मकनिदर्शनपूर्वकं (तत्कर्त्तव्यत्वावदयकत्वमाहुः) । प्रौढापीति ।  
प्रौढापि रसयोग्यापि दुहिता स्वस्य स्नेहात्मस्य वरे यद्ग्न प्रेष्यते तथा देहे न कर्त्त-  
व्यम् । स्वस्य देहदेहेन भगवत्स्नेहायां देहस्याविनियोगो न कर्त्तव्यः । किन्तु देहेन  
लौकिकेन भावात्मकेन च भगवत्सयोग्यसेवैव कर्त्तव्यम् । तदकरणे वरः प्रसुरन्दया न  
तुष्यति । यथा स वरः स्वस्त्रीं विना न तुष्यति तथा प्रसुरपि न तुष्यति । अत्रापि



समर्पणाऽनन्तरं मुख्यो भावः स एवोच्यते । एतज्ज्ञानार्थमेव पूर्वं निदर्शने राजपत्नी-  
त्वमुक्तम् । द्वितीयेनापि तथैवोक्तम् ।

( एवं वेदक्षेत्रत्यागपूर्वकं देहेन सेवैव कारणीयेति निर्दार्प्यं पूर्वं भगवता परीक्षार्थं  
कृते विलम्बे मम कथं गतिर्भवितीति या चिन्ता कृता, सा ते गुणायैव जाता, न तु  
दोषाय । न घेषानङ्गीकृतौ चिन्ता भवति, किन्त्वङ्गीकृतायैवेत्याश्वासनाय दृष्टान्तमुखेन  
परिचायकान्तरं वदन्त ) एतत्सेवाग्रभावे सर्वं व्यर्थमेवेत्याहुः । लोकवदिति ।

लोकवच्चेत्स्थितिर्मे स्यात्किं स्यादिति विचारय ॥ ९ ॥

अशक्ये हरिरेवास्ति मोहं मा गाः कथञ्चन ॥ १० ॥

चेत्, समर्पणाभावे मे स्थितिर्लोकवत् सर्वसाधारण्येन स्यात्तदा किं स्यात्,  
फलमितिशेषः । इति विचारय । किं स्यात् ? न किमपीत्यर्थः । ( तथा च, तथा  
स्थित्यभाव एव गुणपरिचायक इति भावः ) । नन्वेतद्भावस्य सर्वफलरूपत्वमस्तीति  
सत्त्वम्, तस्य परं भावस्याशक्यत्वात्तस्मात्तिः कथं स्यादितिचिन्ता तु भवतीतिचेद्विभेपि  
तदा तादृशभीते भगवानपि दयालुरेव)त्याहुः । अशक्य इति । अशक्ये सति हरि-  
रकारणसर्वदुःखहर्याऽस्त्वैव, शरणमिति शेषः । अतस्तदभावे सर्वं व्यर्थमिति लौकिकेन  
विचारेण कथञ्चन तत्प्राप्त्यर्थं मोहं मा गाः, मा मामुहि ।

एवं प्रबोधं निरूप्या(तः परं शङ्कापिशाच्यनुदयाद्)पतंहरन्ति । इतीति ।

इति श्रीकृष्णदासस्य बल्लभस्य हितं वचः ।

चित्तं प्रति यदाकर्ण्य भक्तो निश्चिन्ततां व्रजेत् ॥ ११ ॥

इति श्रीमद्बल्लभाचार्यचरणविरचितान्तःकरणप्रबोधः ।

इतीति समाप्तौ प्रकारे वा । श्रीकृष्णे दास्यं गतस्य बल्लभस्य रसस्वत्वेन  
मिपस्य चित्तं ( स्मृतिजनकमन्तःकरणं ) प्रति हितं हितकरं वचोस्तीत्यर्थः । यद्यच्चः  
आकर्ण्य, आसमन्तात्तात्पर्यपूर्वकं श्रुत्वा भक्तो भूत्वा, निश्चिन्ततां निश्चिन्तस्य  
भावमलौकिकत्वं व्रजेत् ।

चित्तप्रबोधवाक्यानि स्वाचार्योक्तानि सर्वदा ।

तिष्ठन्तु हृदये येन मतीदति हरिः स्वयम् ॥ १ ॥

इति श्रीमत्प्रभुचरणरेणुधन(श्रीश्यामलात्मजश्रीव्रजराज)-

कृतम् अन्तःकरणप्रबोधविवरणम्

सम्पूर्णम् ।

धातुप्याय नमः ।

श्रीगोपीजनबहुभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यां नमः ।

## श्रीबलभाचार्यचरणविरचितान्तःकरणप्रबोधः ।



श्रीदशादिगन्तजैत्रश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतं विवरणम् ।

सन्तुस्वभावदोषोत्पत्तेरुचिन्ताकुलान् स्वकात् ।

अन्तः श्रीमदाचार्याः सन्तु मत्त्वान्तगोचराः ॥ १ ॥

अथ श्रीमदाचार्यचरणा उपदिष्टसेवाया निर्दोषत्वाय सिद्धान्तरहस्ये ब्रह्मसम्बन्धेन सेवाकर्तृणां २ पूर्वेषां देहजीवयोः दोषाणामकिञ्चित्करत्त्वप्रे दोषासंसर्गोपायं च भागवदुक्तं निरूप्य, सेवाया आधिदैविकीत्वाय नवरत्ने चिन्तानिष्ठस्युपायकथनसुखेनोद्देशात्प्राप्त-  
बन्धकनिवृत्तिप्रकारञ्च निरूप्य तथा सेवाकरणे भगवत्प्राकृत्यस्यानुभावप्रदर्शनस्य चावश्यंभावाच्चस्मिन् सत्यपि यदा भारवादिबशात्पूर्वदोषोपोद्भूतं तदा पात्रस्य स्वत्य-  
त्वान्महत्त्वाः कृपायास्तस्मिन् माने तत्र स्वोत्कर्षस्युक्तौ भगवद्वाङ्महादावपराये जाते  
भगवतोऽपसन्नता भवेत्तापि भगवद्दर्परूपायाः सेवाया निरर्थं क्रियमाणत्वात् 'न  
छद्मोपक्रमे घंसो मद्दर्मेस्योद्भवामपि,' इत्येकादशे भगवद्वाक्यात् सेवाया नाशाभावेना  
पराभजनितपथात्तापोत्पत्तौ चिन्तासम्भवे क्रियमाणकरिष्यमाणसेवयोर्नाधिदैविकत्वं  
स्यादिति तच्चिद्वच्यमस्ति न मन्ये विचारालम्बकं साधनमुपदेष्टुं तत्र विश्वासाय स्वाख्या-  
यिकां मये वदिष्यन्तो 'मनोवरोन्व्ये छभवंस्य देवा मनस्तु नान्पश्य वशं समेति, भीष्मो  
हि देवः सहस्रः सहीयान् युञ्जाद्दशे तं स हि- देवदेव' इति भिक्षुगीताशाक्तपान्थनस एव  
दुष्टदुष्टुत्पादकतया तस्यैव साधनीयत्वं निश्चित्य स्ववाक्यध्वनार्थं स्वीयानापन्तःकरण-  
मेवाभिगुह्यस्वीकुर्वन्ति । अन्तःकरणेत्यादि ।

अन्तःकरण मद्वाक्यं सावधानतया शृणु ।

कृष्णात् परं नास्ति देवं वस्तुतो दोषवर्जितम् ॥ १ ॥

यद्यप्यन्तःकरणपदं स्वपरान्तःकरणसाधारणं तथाप्युपसंहारं 'भक्तो निश्चिन्तता  
प्रजेदि'तिफलकयनेन ग्रन्थकरणस्य तादृश्यं निश्चायिते परान्तःकरणबोधन एव तात्प-  
र्यावगत्या स्वीयानां भक्तानामेव यदन्तःकरणं तद्ग्रहणस्यैवोचितपात्तदेव ब्राह्म्य । श्रीगो-

१ ( ५५-अपराय ) २ 'पूर्वेषां देहजीवोपयो ' इति स्वहलाक्षरपाठः । पूर्वेषां देहजीवो-  
संवागाम् ' इत्ययमतिप्रसक्तो पाठः ।

कुलनायास्तु स्वसौभाग्यप्रदर्शनार्थं स्वीयानां भक्तिमार्गप्रदर्शनार्थञ्च श्रीमदाचार्यचरणैः  
स्वान्तःकरणमेव बोध्यत इत्याहुः । तथैवान्येपि सर्वे । शीरघुनायास्तु स्वान्तःकरणव्य-  
पदेशोनान्येषामेवान्तःकरणं बोध्यत इत्याहुः । एतत्विदमेव रोचते । सौभाग्यप्रदर्शनस्य  
सुबोधिन्यारम्भस्येन 'अर्थं तस्य विवेचितु'मिति श्लोकेनैव कृतत्वात्ततोधिकदर्शनस्य  
भक्तानुपयोगात् । भक्तिमार्गप्रचारार्थमात्रिर्भूतत्वेन भक्तान्तःकरणस्यैव साधनीयत्वा-  
दिति । तथाचायमर्थः । हे अन्तःकरण ? इन्द्रियान्तरदुर्जय ? त्वं महत्कार्यं 'योन्तर्ब-  
दिस्तनुभृतामि'त्येकादशीगवात्रपाद्'चार्यनैत्यवपुषा' द्रुताशनरूपेण स्वर्गतिं ध्वजतो  
वस्तुतः कृष्णत्वेन चाक्षतमस्य मम चाक्षर्यं वक्ष्यमाणं त्वद्धितकरं ग्रन्थरूपं सावधानतया  
शृण्वन्कार्ष्येति । एवमभिमुखीकृत्य ब्रह्मसम्बन्धकरणपूर्वकसेवया स्वस्य व्रजभक्तमार्गी-  
यत्वेन भगवदनुभावदर्शित्वादिना च स्वस्मिन्नुत्कर्षस्फूर्त्या भगवदाज्ञादौ धनस्यदृष्टान्तेन  
प्रमाद्यन्तं प्रति तदभावाय तेभ्योपि भगवत उत्कर्षं पूर्वं भावयितुमाहुः । कृष्णादि-  
न्यादि । वस्तुतः श्रुत्यादिरूपतया निर्गुणसेवया च लोकवेदोक्तदोषवर्जितं दैवं प्राह-  
गसक्रीडानां देवीनां कदम्बकं कृष्णात्परं भिन्नं न । उत्कृष्टं वा न । 'तस्मान्न भिन्ना  
एतास्तु' इति तापनीयभूतेः, उत्कर्षस्य निरवधिसदानन्दरूपं भगवत्येव विधान्तैश्च ।  
अतस्तदीयतया तद्दृष्टान्तेन स्वोत्कर्षं विभाव्य प्रौढ्या भगवदभिमर्शेन न कार्यम् । तास-  
मप्यागन्तुकदोषोत्पत्तौ ताः प्रत्यपि पञ्चाध्यात्म्यां 'प्रज्ञप्तय प्रसादाय तत्रैवान्तरधीयते'ति-  
वाक्येन भगवत्तिरोधानस्योक्तत्वादिति । अत्र गावन्तार्थकक्रियापदाभावाद्ययपि वाक्यस्य  
साकाङ्क्षत्वं तथाप्यग्रे उपान्त्ये विचारयेति क्रियाया वक्ष्यमाणत्वादेतेष्वान्तरवास्येष्वपि  
दूरतरापि सैव योज्या, न तु क्रियान्तरमध्याहार्यम् । 'दूरान्वापेक्षयाऽध्याहारस्य  
गुरुत्वात्' । तथा नेति विचारयेत्यर्थः । एवमग्रे गथायोग्यं बोध्यम् ॥ १ ॥

एवं प्रौढिहेतुं निवार्येतस्य जीवस्य पुनस्तथाभावाय दैन्यसिद्धयर्थं स्वभावतो  
निरूपेण बोधयितुं दृष्टान्तमाहुः । चाण्डालीत्यादि ।

चाण्डाली चेद्राजपत्नी जाता राज्ञा च मानिता ।

कदाचिदपमानेपि मूलतः का क्षतिर्भवेत् ॥ २ ॥

भारग्यवशादतिदुष्टकुलोत्पन्नापि, केनचिद्गुणेन कथञ्चिद्राजपत्नी, राजा पतिर्पत्या-  
स्तादृशी, राज्ञः पत्नीव पत्नी, पतनात् पत्नी, राज्ञो भोग्या सती राज्ञा मानिता च जाता ।  
तस्याः कदाचित् कालविशेषे अपमाने; अर्थादाश कृते वाशान्दादनपमानेपि मूलतो  
अपमानहेतुभूताचाण्डालीत्वादनपमानहेतुभूताद्राजपत्नीत्वाच्च का क्षतिः का हानिर्भवेत् ?  
न कापीति विचारयेत्यर्थः । एतस्य वाक्यस्याऽऽचार्यविषयत्वं यैरङ्गीकृतं; तस्यैव तु

\* मृगयुरिव कपीन्द्रमित्यादौ तेषामशाश्रया भक्तैर्भगवति टोप आरोपितस्तथाऽऽचार्यः  
स्वस्मिन्निति बोध्यम् ॥ २ ॥

एवं दृष्टान्तपुत्रत्वा दृष्टान्तिके तन्साध्यं वदन्तस्तादृजिवचारकलमाहुः । समर्पणा-  
दित्यादि ।

समर्पणादहं पूर्वमुत्तमः किं सदा स्थितः ।

का ममाधमता भाव्या पश्चात्तापो यतो भवेत् ॥ ३ ॥

समर्पणाद् भजनार्थकसंस्काररूपात् स्वसर्वतद्विज्ञातमनिवेदनात्तत्राजपरिग्रहस्थानी-  
यात् प्रथमहं प्राकृतः, चाण्डालीवत्सदनागन्तुस्तोषदृष्टः, किं सदा सर्वकालमभिव्याप्य;  
उत्तम उन्मूल्यः स्थितः ? । किं शब्दः वाक् स्फोरयति । अपि तु न स्थितः । किन्तु;  
समर्पणादेशोरदृष्टो राजवत्नीत्वाचाण्डालीवदुत्कर्षवान् जातः । अतः स्वपूर्वस्थितिविचारे  
राजकृतापमानतुल्यभगवदपसन्नतायां जातायां मम चाण्डालीवदुष्टस्याधमता निकृष्टता  
का भाव्या ! । कतमा भवती ! । यतो यया कृत्वा; पश्चात्तापस्तन्नितत्वेदविशेषो  
मे भवेत् । । नहि प्राकृतरूपा; तस्याः सहजत्वात् । नाप्यभगवदीयस्था; भगवता  
अत्यक्तत्वात् । अङ्गीकारात्मकस्यापि भगवद्दर्भस्य नित्यत्वात्; संसारावेशरूपस्य भगव-  
त्प्रागुक्त्याभावेनात्यागनिश्चयाच्च; तेनैवाधिमात्यागानुमितेथ । अतो जातायापसन्नता-  
याम् पूर्वदशात् उत्तमैव दशास्ति; नत्वपनेति पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थं विचारय । तथा  
चैवं विचारे भगवत्पसादसाधनं दैन्यमप्युद्बुद्धं भविष्यतीत्यमसन्नतापि निवर्त्यत  
इत्यर्थः ॥ ३ ॥

एवं जीवधर्मपुरस्कारेण विचारमुद्दिश्य भगवतोऽप्रतिहतैन्द्रत्वानुसन्धानाय मग-  
नद्धर्मपुरस्कारेण तमुपदिशन्ति । सत्येत्त्यादि ।

सत्यसङ्कल्पतो विष्णुर्नान्यथा तु करिष्यति ।

अज्ञैव कार्या सततं स्वामिद्रोहोन्यथा भवेत् ॥ ४ ॥

विष्णुर्नान्यथा; अन्तर्गमितया सर्वान्तः प्रविष्टश्च यो भगवान् सत्यसङ्कल्पतः  
सत्यो विषयान्यभिचारी यः सङ्कल्प आलोचनमिदमेवं करिष्यामीत्याहारक तस्मादन्यथा  
प्रकारान्तरेण न करिष्यति । तुः शङ्कानिरासे । भगवान्निवेदितात्मनाम् आत्मैःस्मदपि-  
प्रेतमेव करिष्यतीति शङ्का न कर्तव्या । यतः स तेषामोश्वरो नियापकोपि; अतस्तेषां  
विक्रान्तेन्द्रायां तददुरोधं न करिष्यति, किन्त्वप्योपसङ्कल्पात्तस्त्रालोचितमेव करिष्यति,  
तद्विचार्यम् । अयं तुशब्दोक्तः शङ्कानिरास उत्तरवाक्ये हेतुत्वेन भविष्यति । अत एव

गङ्गानिरासाद्धेतोः सततं प्रभादराहित्येन निरन्तरं; आलौकिक कार्या । अन्यथा प्रभा-  
देनाकरणे स्वामिन्द्रो महान्पराधो भवेत् । अत्रापि 'इति विचारये'ति पदं सम्बध्यते ॥४॥

सेवकत्वपुरस्कारेण पुनर्विचारान्तरमुपदिशन्ति । सेवकस्येत्यद्वेन ।

**सेवकस्य तु धर्मोयं स्वामी स्वस्य करिष्यति ।**

तु पुनरयं वक्ष्यमाणः सेवकस्य धर्मस्तं व्यक्तीकुर्वन्ति । स्वामी स्वस्य करि-  
ष्यतीति । स्वामी भक्तो स्वस्वामीपस्य मम करिष्यति, मयर्थं यद्यदालोचितं तत्  
करिष्यति । अत्रापि तथा सम्बन्धः ।

सेवकत्वविचारस्यावश्यकत्वाय तेनोपदेशे विश्वासार्यं स्वाख्यायिकामुपदिशन्ति  
द्वाभ्याम् ।

**आज्ञा पूर्वं तु या जाता गङ्गासागरसङ्गमे ॥ ५ ॥**

**यापि पश्चान्मधुवने न कृतं तदयं मया ।**

**देहदेशपरित्यागस्तृतीयो लोकगोचरः ॥ ६ ॥**

**पश्चात्तापः कथं तत्र सेवकोहं न चान्यथा ।**

आज्ञेत्यादि । तुरवधारणे । पूर्वमेव गङ्गासागरसङ्गमपदेशे सर्वापि वा या  
आज्ञा जाता पश्चात्तदुत्तरकाले मधुवने पथुरायामपि याज्ञा जाता, तदयं मया  
भगवता स्वात्मानुभावमकटनार्थं श्रीभागवतगुदार्यमकटनार्थं चाज्ञानेन न कृतम् । तयोर्विषयः  
क इत्याकाङ्क्षायां तयोर्विषयमाहुः । देहदेशपरित्यागः । द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणस्य परित्या-  
गशब्दस्य मत्येकमभिसम्बन्धः । तथा च पूर्वं देहत्यागविषयिणी, द्वितीया देशत्याग-  
विषयिणीति सिद्धयति । तदकरणे बीजन्तु नाभिमानो न वा शास्त्रविरोधः । किन्तु;  
श्रीभागवतार्थमकटनार्थाज्ञाकार्यसम्पत्तिरेव । नहि देहे त्यक्ते साक्षा सिद्धयति; वाग्व्या-  
पारस्य तदेतुकत्वेन तदभावे तस्याप्यभावात् । पकारान्तरेणोक्तौ च कलिप्रस्तानां  
विश्वासाभावात् । नापि भगवदेशे त्यक्ते देशान्तरस्यानीदृशत्वेनैतद्विचारमतिबन्धकत्वात् ।  
तदेतदवधार्य आचार्यैराज्ञाद्वयं न कृतम् । भगवत्स्वप्नमाशयः । देह उपचयः; देशो  
दानम्; 'दिह उपचये,' 'दिश अतिसर्जने' इति धातुनिष्पन्नत्वाद्यौगिकामेतौ शब्दा-  
वाङ्मयासुक्तौ । तथा च, उपचयो बाहुरूपं दानञ्च परित्यक्तम् । न च पूर्वाज्ञास-  
म्पूर्त्विदोषः । यावदुक्तमेतावत्कृत्वैव साक्षा कृतास्तु; अधिकं न कार्यम् । रहस्यमकाश-  
स्यानभिमतत्वात् । अधिककरणेनानधिकारिणामपि तज्ज्ञानसम्भवेन कृतार्थतामसक्ताव-  
धिकार्येनधिकारिविभागभङ्गायाश्चेत् । इदञ्च सूक्ष्मटीकातिरोधानस्कन्धक्रमव्याख्यात्या-  
जनदशमस्कन्धव्याख्यानानन्तरसामयिकमाथवभट्टाक्याम्बोरिशरीरशरारहितमभूतिभिः कार्य-

\* मृगपुरिव कपीन्द्रमित्यादौ हेतवशाद्यथा भक्तैर्भगवति दोष आरोपितस्तथाऽऽचार्यः स्वस्मिन्निति बोध्यम् ॥ २ ॥

एवं दृष्टान्तमुक्त्वा दार्ष्टान्तिके तत्साम्यं वदन्तस्तादृशविचारफलमाहुः । समर्पणादित्यादि ।

**समर्पणादहं पूर्वमुत्तमः किं सदा स्थितः ।**

**का ममाधमता भाव्या पश्चात्तापो यतो भवेत् ॥ ३ ॥**

समर्पणाद् भजनार्थकसंस्काररूपात् स्वसर्वसहितात्मनिवेदनादानपरिग्रहस्यानीयात् पूर्वमहं प्राकृतः, चाण्डालीवत्सहजागन्तुमदोषदुष्टः, किं सदा सर्वकालमभिव्याप्य; उत्तम उत्कृष्टः स्थितः ? । किं शब्दः वाकुं स्फोरयति । अपि तु न स्थितः । किन्तु; समर्पणादेवोत्कृष्टं रामपत्नीत्वाद्याण्डालीवदुस्वर्षान् जातः । अतः स्वपूर्वस्थितिविचारे रामकृतान्मानतुल्यभगवत्प्रसन्नतायां जातायां मम चाण्डालीवदुष्टस्याधमता निकृष्टता का भाव्या ! । कतमा भवती ! । यतो यथा कृत्वा; पश्चात्तापस्तज्जितस्वेदविशेषो मे भवेत् ! । नहि प्राकृतरूपा; तस्याः सहजत्वात् । नाप्यमगवदीयरूपा; भगवता अत्यक्तत्वात् । अङ्गीकारात्मकस्यापि भगवद्दर्पस्य नित्यत्वात्; संसारावेषरूपस्य भगवत्प्रागकार्यस्याभावेनात्यागनिश्चयाच्च; तेनैवाग्रिमात्यागानुमितेय । अतो जातायामप्यमसन्नतायां पूर्वदशात् उत्तमैव दशास्ति; नत्वधमेति पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थं विचारय । तथा चैवं विचारे भगवत्प्रसादसाधनं दैन्यमप्युद्बुद्धं भविष्यतीत्यमसन्नतावि निवर्त्येन इत्यर्थः ॥ ३ ॥

एवं जीवधर्मपुरस्कारेण विचारमुद्दिश्य भगवतोऽप्रतिहतोच्छ्वातुसन्धानाय मध्वधर्मपुरस्कारेण तदुपदिशन्ति । सत्येत्यादि ।

**सत्यसङ्कल्पतो विष्णुर्नान्यथा तु करिष्यति ।**

**आज्ञैव कार्या सततं स्वामिद्रोहोन्यथा भवेत् ॥ ४ ॥**

विष्णुर्व्यापकः, अन्तर्धामितेण सर्वान्तः प्रविष्टश्च यो भगवान् सत्यसङ्कल्पतः सत्यो विषयाव्यभिचारी यः सङ्कल्प आलोचनमिदमेवं करिष्यामीत्याचारकं तस्मादन्यथा प्रकारान्तरेण न करिष्यति । तुः शङ्कानिरासे । भगवान्निवेदितत्पत्न्याम् आत्मैक्यसदमिप्रेतमेव धरीष्यतीति शङ्का न कर्तव्या । यतः स तेषामीश्वरो नियामकोपि; अतस्तेषां विकृतैरज्ञायां तदनुरोपं न करिष्यति, किन्त्वमोयसङ्कल्पत्वात्स्वालोचनमेव करिष्यति, तद्धितार्थम् । अयं तुशब्दाक्तः शङ्कानिराम उत्तरवाक्ये हेतुत्वेन प्रविशति । अत एव

शङ्कानिरासाद्धेतोः सततं प्रमादराहित्येन निरन्तरं; आज्ञैव कार्या । अन्यथा प्रमा-  
देनाकरणे स्वामिन्द्रोहो महानपराधो भवेत् । अत्रापि 'इति विचारये'ति पदं सम्बन्धते ॥४॥

सेवकत्वपुरस्कारेण पुनर्विचारान्तरमुपदिशन्ति । सेवकस्येत्यर्द्धेन ।

सेवकस्य तु धर्मोयं स्वामी स्वस्य करिष्यति ।

तु पुनरयं वक्ष्यमाणः सेवकस्य धर्मस्तं व्यक्तीकुर्वन्ति । स्वामी स्वस्य करि-  
ष्यतीति । स्वामी भर्ता स्वस्यात्मीयस्य मम करिष्यति, मदर्थं यद्यदालोचितं तत्  
करिष्यति । अत्रापि तथा सम्बन्धः ।

सेवकत्वविचारस्यावश्यकत्वाय तेनोपदेशे विश्वासार्यं स्वाख्यायिकामुपदिशन्ति  
द्वय्याम् ।

आज्ञा पूर्वं तु या जाता गङ्गासागरसङ्गमे ॥ ५ ॥

यापि पश्चान्मधुवने न कृतं तद्वयं मया ।

देहदेशपरित्यागस्तृतीयो लोकगोचरः ॥ ६ ॥

पश्चात्तापः कथं तत्र सेवकोहं न चान्यथा ।

आज्ञेत्यादि । तुरवधारणे । पूर्वमेव गङ्गासागरसङ्गमप्रदेशे सर्पी वा या  
आज्ञा जाता पश्चात्तदुत्तरकाले मधुवने मधुरायापि याज्ञा जाता, तद्वयं मया  
भगवता स्वत्पालुभावप्रकटनार्थं श्रीभागवतगूढार्थप्रकटनार्थं चाज्ञेन न कृतम् । तयोर्विषयः  
क इत्याकाङ्क्षायां तयोर्विषयमाहुः । देहदेशपरित्यागः । द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणस्य परित्या-  
गशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धः । तथा च पूर्वा देहत्यागविषयिणी, द्वितीया देशत्याग-  
विषयिणीति सिद्धयति । तदकरणे बीजन्तु नाभिमानो न वा शास्त्रविरोधः । किन्तु;  
श्रीभागवतार्थप्रकटनार्थाज्ञाकार्यसम्पत्तिरेव । नहि वेहै त्यक्ते साज्ञा सिद्धयति; वाग्पा-  
पारस्य तज्जेतुकत्वेन तदभावे तस्याप्यभावात् । प्रकारान्तरेणोक्तौ च कलिग्रस्तानां  
विश्वासाभानात् । नापि भगवदेशे त्यक्ते देशान्तरस्यानीदृशत्वेनैतद्विचारप्रतिबन्धकत्वात् ।  
तदेतद्व्यभार्य आचार्यैराज्ञाद्वयं न कृतम् । भगवतस्त्वयमाशयः । देह उपचयः ; देशो  
दानम् ; ' दिह उपचये, ' दिश अतिसर्जने ' इति धातुनिष्पन्नत्वाद्यौगिकान्वेतौ शब्दा-  
वाज्ञायाद्युक्तौ । तथा च, उपचयो बाहुल्यं दानञ्च परित्यक्तव्यम् । न च पूर्वाज्ञास-  
म्पूर्तिदोषः । यावदुक्तमेतावत्कृत्यैव साज्ञा कृतास्तु; अधिकं न कार्यम् । रहस्यप्रकाश-  
स्यानभिमतत्वात् । अधिककरणेनानधिकारिणामपि तज्ज्ञानसम्भवेन कृतार्थतामसक्ताव-  
धिकार्यनधिकारिविभागभङ्गाद्यापत्तेः । इदञ्च सूस्पटीकातिरोधानस्कन्धक्रमव्याख्यात्या-  
जनदशमस्कन्धव्याख्यानानन्तरसापथिकमाथकभट्टकाश्यातिशरीरशराहतिमभृतिभिः कार्य-

रतुमीयते । सोयमाचार्यैर्नाविचारितः । न वाचार्थानां भगवदाशार्थान्तवधारणकरुणमयुक्त-  
मिति शङ्कयम् ; भक्तानां पश्चाध्यायीस्यस्कन्धारोहणसाक्षात्कार्याज्ञानवत् सम्भवात् । तदा  
तृतीयाज्ञा जाता । तद्विषयस्त्वृतीयपरित्यागः स लोकगोचरः । 'लोकस्तु भुवने  
जन' इति कोशाज्जनविषयः । स च संन्यासेन भवत्येकचार्यनिकेतः स्यादित्यादिवाक्यैः  
संन्यासे तथात्वात् । तत्र तादृश्यायाज्ञायां जातायां पश्चात्तापो मम जात इति शेषः । स  
कथं केन प्रकारेणेति विचार्यमाणे, सेवकोहं; अहं सेवक इति सेवकत्वप्रकारेणाज्ञाभ-  
ङ्गकरणदेतुकः । च पुनरन्यथा न, स्वचिकीर्षितकार्यात्सम्पूर्णाविहेतुको न । अतो  
मत्कृत्यादिविचारेपि मत्सेवकत्वपुरस्कारेण विचारात् पश्चात्ताप एव युक्त इत्यर्थः ।

\* 'आज्ञा पूर्वन्तु या जातेत्यत्र । अत्रेदं बोध्यम् । माकथ्यात् पूर्वं हि 'अर्थ  
तस्य विवेचितुम्' इत्युक्ताज्ञा जाता, तदनन्तरमाज्ञादये देहदेशपरित्यागविषयं गङ्गासा-  
गरसङ्गमे मधुरायाञ्च जातमिति । एवमाज्ञात्रयं सिद्धम् । तत्र श्रीमदाचार्यैश्चतिकरुणत्वमस्ति  
न वेति लोकानां संशयनिवारणार्थं पुष्टिपार्थस्यत्वात् स्वस्य वा तदर्थं प्राकृत्यानन्तरमाज्ञाद-  
यमतिकरुणत्वविरोधिनातम्, तदाज्ञादयं स्वस्य भगवतश्च स्वाङ्गीकृतेषु अतिकरुणत्वव्याप-  
नार्थं न कृतम्, तत्कृतौ हि सर्वमाज्ञातं न स्यात्चेन च स्वाङ्गीकृतानामनुद्धारः स्यात्,  
तेन चोभयस्य करुणत्वं न स्यात्, यदि तदेव न स्यात्तदा पूर्वं तदर्थं नाज्ञापयेत् ।  
भगवान् स्वयं च नाविर्भूयात् । नत्वेवम् । अतः शरोक्षार्थत्वान्नान्तःकरणगोचरा । अतो न  
विशेषगत्यादि कृतमित्यर्थः । न च पूर्वयैव तत्सम्भवे रिकं देशत्यागविषयिण्या तयेति  
वाच्यम्, क्रीडादेशे त्यक्ते विरहेण स्वयमेव देहं त्यक्ष्यन्तीति तेनातिकरुणत्वमेव परी-  
क्षितं न भविष्यतीति भगवदभिप्रायः । श्रीमदाचार्यैस्तु तदपि तथैव ज्ञातमिति सापि न  
कृतेति भावः । नन्वयमेवाज्ञयो भगवतः श्रीमदाचार्याणाञ्च तथैव ज्ञानं जातं, इत्यत्र किं  
बानमित्येषेसायां भगवदादिसर्वसम्भवं हेतुमाहुः । तृतीयो लोकगोचर इति । तद्व्यापे-  
तया पूर्वमाज्ञातः सर्वोद्धारः लोकगोचर इति न किञ्चिद् अलौकिकं मानं वाच्यम् ।  
किन्तु सर्वलोकप्रसिद्धमेव मानमित्यर्थः । एवं कृते पश्चात्तापः कथम् ? न कथमपि ।  
यतः सेवकधर्मान्ताःकरणकृपाज्ञाकरणम्, न चान्यथा तद्विरुद्धमित्यर्थः । अत एव  
श्रीमदाचार्यैराज्ञातं विवेकधर्म्याश्रये 'विशेषतश्चेदाज्ञा स्यादित्यनेनेतिदिक् । (इति  
स्ववन्त्रलेखः) ॥ ५-६ ॥

ननु युक्तोयं विचारस्तथापि पूर्वापराभनितभगवदप्रसन्नवताया अनिद्वयौ भय-  
रूपोयमुद्रेगः, स कथं निवर्ततामित्याशङ्कायां तदर्थं विचारान्तरमुपदिशन्ति । लौकिक-  
प्रसुवदित्यादि ।



लौकिकमभुवत्कृष्णो न द्रष्टव्यः कदाचन ॥ ७ ॥

सर्वं समर्पितं भक्त्या कृतार्थोसि सुखी भव ।

लौकिका हि प्रभवोपराधेनाशसन्नाः कस्यचित्प्रसीदन्ति, कस्यचिन्न मसीदन्ति, तद्वत् कृष्णो भगवान् कदाचन अवतारकालेऽनवतारकाले च न द्रष्टव्यः । अवतारकाले 'अहो षकीयमि'तिवाक्येन अनवतारकाले च वरणश्रुत्या 'महादाय यदा दुःखेदनिष्येपि परोर्जितमि'ति देवान् प्रति भगवद्राक्येन चापराधसन्तुल्यपूर्वकसत्कल्पादावृत्तस्य भक्ते कृपावस्य च सिद्धत्वात् । त्वया च सर्वं भक्त्या भगवते समर्पितमतो भक्तत्वात् कृतार्थोसि । 'एवं यैर्मनुष्याणामि'तिवाक्ये भगवता भक्तौ जातायां निरवशेषार्थासिद्धयनात् सर्वं साधनरूपं फलरूपं चार्थं प्राप्तवानसि । अतः सुखी भव, दौर्मनस्यनिवारणेन निष्ठो भवेत्यर्थः । इयं चोक्तविचाररत्नकाशकर्तुः प्रभुभिराशीरेव दीयते ।

अतः परं विद्यमानेषु दैहिके सेवासामर्थ्ये पूर्वोक्तसेवेन वा देहाध्यासेन वा कार्यान्तराभिनियेसादिना वा दैहिकसेवायां प्रमाद्यन्तं प्रति पुनर्विचारान्तरसुपदिशन्ति । प्रौढापीत्यादि ।

प्रौढापि दुहिता यद्वत्स्नेहान्न प्रेष्यते वरे ॥ ८ ॥

तथा देहे न कर्त्तव्यं वरस्तुष्यति नान्यथा ।

प्रौढा भर्त्सकलकार्ययोग्या तत्समर्थापि दुहिता यद्वत् यया, स्नेहाद् इयं बाला पतिगृहे महत्कार्यं कर्त्तव्यं तत् कुर्वन्ती श्रान्ता क्लिष्टा च भविष्यतीति ज्ञात्वा वरे भर्त्समीपे न प्रेष्यते, तथा तद्देहे स्नेहात् सेवां विना स्थापनं न कर्त्तव्यम् । तत्र हेतुः । वरस्तुष्यति नान्यथेति । अन्यथा प्रेषणविरुद्धे प्रकारान्तरे चरो न तुष्यति; तथा शरीरेण सेवाया अकरणे भगवानपि न तुष्यति । एतस्य देहस्य भगवता स्वसेवार्थमेव दत्तत्वात्; 'भवाय नाशये'ति पञ्चमस्कन्धीये वाक्ये तथैव मतिपादितत्वात् । अत एव विचारेण पूर्वोक्तदोषान्वत्कृत्यात्ससेवैव कार्येत्यर्थः ।

अयापराधेन प्रतिबन्धादिना वा देहस्य तदर्थतायां सन्देहे विचारान्तरसुपदिशन्ति । लोकयचेदित्यादि ।

लोकवचेस्स्थितिर्मे स्यात्किं स्यादिति विचारस्य ॥ ९ ॥

अशक्ये हरिरेवास्ति मोहं मा गाः कथञ्चन ।

लोका यया संसारासक्ता नानास्यभावास्तत्र तत्र तेन तेन शास्त्रादिना प्रवर्त्तन्ते, तद्दृष्टेन्मे स्थितिः स्यात्; उक्तरीत्या पश्चात्तपो न स्यात् तदा किं स्यात्? लोक-तुष्टपतैव स्यात् । सा तु मे न जाता, अतो मदुपरि भगवान् दयां करोतीति विचारस्य ।

तथा चैवं विचार्य देहस्य सेवाकार्यत्वं निश्चितुहि; निश्चित्य चाज्ञातं कुर्वित्यर्थः । एवमुच्य-  
 क्ततया सेवाकरणेऽपि पुनः प्रतिबन्धसम्भवश्चेत्तत्राप्युपायमाहः । अशक्य इत्यादि ।  
 पूर्वोक्तं कर्तुमशक्यं चेद् भारतं तदा हृदिः स्मृत्सर्वाप्रदर्शा भगवानेवास्ति । 'सर्वधर्मात्  
 परित्यज्ये'तिवाक्ये स्वस्य मपन्नसर्वपापनिवारकत्वं वदन् रसकोस्तीति विचारय । कथ-  
 न्न, केनापि पूर्वयुक्तेन कृतैनासुक्तेन भाविना सम्भावितेन वा प्रकारेण मोहं वैचित्यं  
 प्रमानः परं किं भविष्यतीति मौढ्यात्प्रश्नुद्गं मा गाः । एवं भगवतः चरणत्वविचारेणैव  
 सर्वद्वैगनिवृत्त्या भगवत्कृपाया अभिव्यक्तैरित्यर्थः ।

एवं सर्वं विचारनामययुक्तोपसंहरन्ति । इतीत्यादि ।

इति श्रीकृष्णदासस्य ब्रह्मस्य हितं वचः ॥ १० ॥

चित्तं प्रति यदाकर्ण्य भक्तो निश्चिन्ततां व्रजेत् ॥

चित्तं प्रति अन्तःकरणं लक्षीकृत्य उद्दिश्य श्रीकृष्णदास्य हितं सुखसम्पा-  
 दकं ब्रह्मस्य भगवतो भक्तानां च प्रियस्य वचः विचारोपदेशवाचययुः; इति पता-  
 वत् चरणोपदेशान्तयेव नाधिकं; यदाकर्ण्य भुञ्जा भक्तः पूर्वोक्तः कृतापराधोऽपि निश्चि-  
 न्ततामुद्ग्रेगनिवारणेन चिन्ताराहित्यं व्रजेत् प्राप्तुवादित्यर्थः ।

अच्येत्तत् सिद्धम् ।

( १ ) भगवान् समाभ्यधिकराहित्यात् स्वतन्त्रः ।

( २ ) मार्गप्रवर्तका भक्ताः स्वरूपतो दोषरहिता भगवतोक्तभक्तवश्यतायामपि  
 भगवद्दीना एव भगवद्भिन्नाश्चालः स्वस्य तन्मागीयत्वेऽपि मार्गप्रवर्तकभक्तवत् स्वस्य  
 भगवदाज्ञाभङ्गोऽनभिषेवकरणं च न युक्तम् ।

( ३ ) स्वस्य स्वभावतो दोषसत्त्वेऽपि समर्पणादुक्तव्यतीति कृपाबाहुल्येऽपि  
 स्वोक्तयो न भावनीयः ।

( ४ ) भगवतः सत्यसङ्कल्पत्वात् किं चिकीर्षतीति तदिच्छायाश्च ज्ञातुमशक्यत्वात्  
 सर्वदा तदाज्ञैव कर्तव्या । तदकरणे 'आज्ञाभङ्गो नरेन्द्राणामि'तिवत् स्वाभिद्वेहात्मको  
 महान् अपराधः स्यात् ।

( ५ ) किञ्च, अहं सेवक इति मदनु रूपं यत् तन्न स्वामी एव कस्मिन्पतीति विचारः  
 सेवकस्योचित इत्यतोऽप्याहैनं कार्या । नाप्याचार्यकृतिदृष्टान्तेन स्वयं मौढिः कर्षण्या ।  
 तैरपि स्वमौढ्या तथाकृतौ पश्चादापस्वस्वैवोक्तत्वत् पश्चात्तापस्यापि सेवकत्वमयुक्तानाया  
 एवोक्तत्वाच्च ।

( ६ ) किञ्च, भगवान् न लौकिकमहृषद् अपराधेन कुपितः परित्यजति । भग-  
 वद्वर्षयस्याङ्गीकारस्यापि नित्यत्वात् । स्वस्य चाङ्गीकृतौ समर्पणादिनास्तुमितायां

भगवदुक्ततद्धर्माचरणे उपक्रमदशायापि फलतः साधनतश्च वैगुण्यामानस्योद्धवं प्रति स्वयमेवोक्तत्वात् कृतार्थतैव भवतीति भावनीयम् । न तु सन्देह्यव्यम्, 'अज्ञथाश्रद्धानश्चे'ति वाचयेन भगवता दोषस्यैवोक्तत्वात् ।

( ७ ) किञ्च; देहोपि प्रौढदुहित्प्रपणन्यायेन देहार्थं स्वार्थं न संरक्ष्यः । किन्तु, येन केनचिदुपायेन भगवति एव विनियोक्तव्यः । भगवतास्य देहस्य स्वसेवार्थमेव दत्तत्वात् । तदकरणे लोकतौल्यमेव स्यात् । यदि पुनरतस्य तत्र विनियोजने प्रतिबन्धसम्भवस्तदा भगवानेव शरणत्वेन भावनीयः । एतदतिरिक्तस्योपायान्तरस्याभावात् । प्रतिबन्धो हि भगवन्भाषया, तस्यास्तत्राधिकृतत्वात् । तच्चरणोपायश्च प्रयत्तिरेव नान्य इति भगवतैव गीतायामाज्ञापनादिति ।

इति श्रीसद्ब्रह्मभाचार्यचरणैकनानपीताम्बरात्मजपुरुषोत्तमकृतौ  
अन्तःकरणप्रबोधविवरणं सम्पूर्णम् ।

तया चैवं विचार्य देहस्य सेवार्थत्वं निश्चितुहि; निश्चित्य चाज्ञात्तं कुर्वित्यर्थः । एवमुक्तवया सेवाकरणेऽपि पुनः प्रतिबन्धसम्भवश्चेत्तत्राप्युपायमाहुः । भ्रशक्त्य इत्यादि । पूर्वोक्तं कर्तुमशक्यं चेद् भातं तदा हरिः स्मर्तुं सर्वोपहर्ता भगवानेवास्ति । 'सर्वधर्मान् परित्यज्यो'तिवाक्ये स्वस्य मपन्नसर्वगापनिवारकत्वं वदन् रसकोस्तीति विचारय । कथञ्चन, केनापि पूर्वमुक्तेन कृतेनानुक्तेन भाविना सम्भावितेन वा प्रकारेण मोहं वैचित्यं ममातः परं किं भविष्यतीति पौरुषात्मकमुद्देशं वा गाः । एवं भगवतः शरणत्वविचारेणैव सर्वोद्देशनिवृत्त्या भगवत्कृपाया अभिव्यक्तेरित्यर्थः ।

एवं सर्वे विचारनावयमुक्तोपसंहरन्ति । इतीत्यादि ।

इति श्रीकृष्णदासस्य ब्रह्मस्य हितं वचः ॥ १० ॥

चित्तं प्रति यदाकर्ण्य भक्तो निश्चिन्ततां व्रजेत् ॥

चित्तं प्रति अन्तःकरणं लक्षीकृत्य उद्दिश्य श्रीकृष्णदासस्य हितं सुखसम्पादकं ब्रह्मस्य भगवतो भक्तानां च प्रियस्य वचः विचारोपदेशवाक्यम्; इति एतावद् शरणोपदेशान्तयेव नाधिकं; यदाकर्ण्य श्रुत्वा भक्तः पूर्वोक्तः कृतापरशोऽपि निश्चिन्ततामुद्देशनिवारणेन चिन्ताराहित्यं व्रजेत् प्राप्नुयादित्यर्थः ।

अथेतत् सिद्धम् ।

( १ ) भगवान् समाभ्यधिकारादित्यात् स्वतन्त्रः ।

( २ ) मार्गप्रवर्तका भक्ताः स्वरूपतो दोषरहिता भगवतोक्तभक्तवश्यतायापि भगवदधीना एव भगवदभिप्रायातः स्वस्य तन्मार्गांयापेऽपि मार्गप्रवर्तकभक्तवत् स्वस्य भगवदाज्ञाभङ्गोऽनभिप्रेतकरणं च न युक्तम् ।

( ३ ) स्वस्य स्वभावतो दोषसत्त्वेऽपि समर्पणादुत्कृष्यतीति कृपाबाहुल्येऽपि स्वीकर्षो न भावनीयः ।

( ४ ) भगवतः सत्पसङ्कल्पत्वात् किं चिकीर्षतीति तदिच्छायाश्च ज्ञातुमशक्यत्वाद् सर्वदा वदाज्ञैव कर्तव्या । तदकरणे 'आज्ञाभङ्गो नरेन्द्राणामि'तिवद् स्वापिद्रोहात्मको महान् अपराधः स्यात् ।

( ५ ) किञ्च, अहं सेवक इति मदनुरूपं यत् तत् स्वामी एव करिष्यतीति विचारः सेवकस्योचित इत्यतोऽप्यज्ञैव कार्या । नाप्याचार्यकृतिदृष्टान्तेन स्वयं मौढिः कर्षण्वा । तैरपि स्वभोक्त्या तथाकृतो पश्चात्तापत्वस्यैवोक्तत्वाद् पश्चात्तापस्यापि सेवकत्वमप्युक्ताताया एवोक्तत्वाच्च ।

( ६ ) किञ्च, भगवान् न लौकिकमशुवद् अपरापेन कुपितः परिरयन्ति । भगवद्दर्शयस्याङ्गीकारस्यापि नित्यत्वात् । स्वस्य चाङ्गीकृतौ समर्पणादिनानुमितायां

भगवदुक्ततद्दर्माचरणे उपरुपदशायामपि कल्पतः साधनतथ वैगुण्याभासस्योद्धव प्रति स्वयमेवोक्तत्वात् कृतार्थैतैव भवतीति भावनीयम् । न तु सन्देग्धवपम्, 'अज्ञश्चाथदधानश्चे'ति वाक्येन भगवता दोषस्यैवोक्तत्वात् ।

( ७ ) किञ्च; देहोपि मौढुहिरमेपणन्यायेन देहार्थं स्वार्थं न संरक्ष्यः । किन्तु, येन केनचिदुपायेन भगवति एव विनियोक्तव्यः । भगवतास्य देहस्य स्वसेवार्थमेव दत्त-  
त्वात् । तदकरणे लोक्तौल्यमेव स्यात् । यदि पुनरतस्य तत्र विनियोजने प्रतिबन्धसम्भव-  
स्तदा भगवानेव शरणत्येन भावनीयः । एतदतिरिक्तस्योपायान्तरस्याभावात् । प्रतिबन्धो  
हि भगवन्मायया, तस्यास्तत्राधिकृतत्वात् । तत्तरणोपायश्च प्रपत्तिरेव नान्य इति भगवतैव  
गीतायामाज्ञापनादिति ।

इति श्रीमद्ब्रह्मसंहितायां श्रीपुरुषोत्तमचरणकृतानपीताम्बरात्मजपुरुषोत्तमकृतौ  
अन्तःकरणप्रबोधविवरणं सम्पूर्णम् ।



श्रीमद्-वल्लभाचार्यं-महाप्रभु-विरचित्त-खोडशा-प्रन्थान्तर्गतो-अष्टमो

## विवेकधैर्याश्रयः

चतसृभिष्ठीकाभिः समलंकृतः

१. श्रीरघुनाथाना वीपिका
२. श्रीगौपीशाना विवृतिः
३. श्रीगोकुलोत्तवानां विवृति
४. श्रीद्वजरायाणा विवृति

श्रीमद्-वल्लभाचार्यं-महाप्रभु-प्रवर्तित-शुद्धाद्वैत-सम्प्रदायस्य-सप्त-  
पीठान्तर्गत-सप्तम-पीठाधिष्ठित-नित्यलीला-रिधत-  
गोस्वामिश्री १००८ श्रीरमणजी-महाराजश्रीत्येतेषा-  
-स्मृतौ-तदात्मजे -गोस्वामिश्री १००८  
श्रीरघुनाथलाल-महाराजश्रीत्येते  
प्रकाशित

प्रकाशक

गोस्वामिश्री १००८ श्रीरघुनाथलालमहाराज  
मनुभवन, भगतसिंह मार्ग,  
पाल्लो (पश्चिम) बम्बई ४०० ०५६ भारत

साधारणसस्करण २,००० प्रति

राजसस्करण १,००० प्रति

श्रीवल्लभाब्द ५०३

ग्रन्थ-परिचय लेखक गोस्वामी श्याम मनोहर

मुद्रक

स्टूडियो बहार, २३-ए, सेंट्रल चौपाटी बिल्डिंग, चौपाटी,  
बम्बई-४०० ००७.



गोस्वामिश्री १००८ श्री रमणशो महाराज



॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

## ग्रन्थ-परिचय

कब कहीं और किस प्रसंगमें विवेकधैर्याश्रय ग्रन्थका प्रणयन हुआ यह पता नहीं चलता।

वैसे तो विवेक धैर्य तथा आश्रय का सम्बन्ध प्रपत्तिमार्गके साथ अधिक घनिष्ट है किन्तु भक्तिमार्गमें प्रवृत्त होनेवाले पुष्टिजीवोके लिए विवेक धैर्य तथा आश्रय भगवत्सेवामें भी उपयोगी होते ही हैं वास्तविकता तो यह है कि इन तीनोंकी कर्म ज्ञान एवम् भक्ति रूप तीनों ही मार्गमें अपेक्षा रहती है. 'विवेक' 'धैर्य' या 'आश्रय' शब्द सामान्य अर्थोंमें श्रीमहाप्रभुको विवक्षित नहीं हैं अपितु एक निश्चित पारिभाषिक अर्थमें ही विवक्षित हैं.

यथा :

(१) विवेक = हरिः सर्वं निजेच्छतो करिष्यति

(२) धैर्य - त्रिदुःखसहनमानृते सर्वंत सदा

(३) आश्रय = ऐहिके पारलोके च सर्वथा शरण हरि

इन्हीं पारिभाषिक अर्थोंमें विवेक धैर्य तथा आश्रय पुष्टिमार्गीय कृष्णसेवामें उपयोगी बनते हैं

कृष्णसेवामें प्रवृत्त पुष्टिभक्त किन्-किन परिस्थितियोंमें कृष्णसेवाकर्ताके लिए आवश्यक विवेक धैर्य या आश्रय को सो सकता है तथा किन् उपायोंसे इनकी रक्षा सम्भव है आदि विषयोंका निरूपण इस ग्रन्थमें हुआ है.

सिद्धान्तमुक्तावलीमें उपदिष्ट सेवाके बाह्य अंगोंका निरूपण हमें सिद्धान्तरहस्यमें तथा आभ्यन्तर अंगोंका निरूपण नवरत्नमें मिलता है. इन्हीं बाह्य तथा आभ्यन्तर साधनोंकी सांगोपांगता विवेक-धैर्य-आश्रयके सम्पन्न होनेपर सम्भव होती है. अन्तःकरणप्रबोध ग्रन्थद्वारा जो अन्तरात्माका प्रबोधन किया गया उस प्रबोधनके लिए भी विवेक-धैर्य-आश्रयकी निरतिशय अपेक्षा है.

इन विवेक धर्म तथा आश्रय का परस्पर सम्बन्ध विलक्षण है जिसे भगवत्कृपाओं आश्रय सिद्ध हो जाता है उसे विवेक और धर्म ही सिद्ध हो जाते हैं, अन्यथा विवेक और धर्म के बिना आश्रय दृढ़ नहीं हो पाता। हमारे अविवेक और अधर्म हमें भगवदाश्रयसे विचलित कर सकते हैं अतः अपने जागृत विवेक तथा धर्म के द्वारा अदृढ़ आश्रयकी रक्षा आवश्यक होनी है इस तरह विवेक धर्म एक कोटी है तथा आश्रय दूसरी कोटी है

यह आश्रय पुष्टिभक्तिवा आवश्यक अंग होनेपर भी केवल पुष्टिभक्ति ही नहीं अपितु कर्म-ज्ञान-भक्ति सभी मार्गोंका अनुकूल है कर्म ज्ञान भक्तिने अनेकविध उपायोंको दिखानेके बावजूद भगवान्ने गोताके अन्तमें— "सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज" के महान् उपदेशद्वारा एक पृथक् शरणमार्गके रूपमें इसी आश्रयको समझाया है भागवतके एकादशस्कन्धमें भी इसका स्पष्टीकरण मिलता है— "तस्मात्स्वमुद्धवोत्सृज्य चोदना प्रतिचोदना प्रवृत्ति च निवृत्ति च श्रोतव्यं श्रुतमेव च मान्यमेव शरणमात्मानं सर्वदहिना याहि सर्वात्मभावेन मया स्या ह्यकृतोभयम्" अर्थ श्रुतिस्मृतिमें उत्सर्ग अपवादके रूपमें कहे गये विधि निषेध और तत्परित विविध कर्मोंमें प्रवृत्ति और निवृत्ति तथा विविध ज्ञानमार्गीय श्रोतव्य श्रुत विषयोंके श्रवण-मनन निदिध्यासन आदि किसी भी प्रणालीकी अपेक्षा रखे बिना केवल एकमात्र भगवान्की शरणमें सर्वात्मभावके साथ जाना चाहिये यहाँ भी इसी आश्रय या पृथक्शरणमार्ग का विवेचन अभीष्ट है

एवमाश्रयणं प्रोक्त सर्वेषां सर्वदा हितम् ।

कलौ भक्त्यादिमार्गा हि दुःसाध्या इति मे मतिः ॥

अर्थ इस तरह आश्रय सभीके लिए सर्वदा हितकारी सिद्ध होता है क्योंकि कलियुगमें भक्ति आदि मार्ग दुःसाध्य होगये हैं

कर्म ज्ञान या भक्ति के मार्गपर चल सकनेवाले जीवोंके लिए विवेक धर्म आश्रय अच्छी तरह चल पानेमें सम्भव बन जाते हैं जो इन मार्गोंपर चल नहीं पाते उनके लिए आश्रय ही मार्ग भी बन जाता है और चल पानेका बल भी ।

आश्रयका सुलभतम स्वरूप श्रीमहाप्रभुने इस तरह समझाया है •

यथा कथंचित् कार्याणि कुदाद्दुष्चावचान्यपि ।

किंवा प्रोक्तेन बहुना शरणं भावयेद् हरिम् ॥

अर्थ: जैसे भी जो भी छोटे-बड़े या अच्छे-बुरे कार्य व्यक्ति करता हो परन्तु किसी भी समय श्रीकृष्ण ही मेरे एकमात्र सहारा-शरण है, यह भावना मनसे दूर नहीं होनी चाहिये।

मूलतः गीतामें जिस तरह—“अहं त्वा सर्वं पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः” या भागवतमें जिस तरह—“मया स्या ह्यकुतोभयम्” में भगवान् ने अपने श्रीमुखसे शरणगतोंको अभयदान दिया है वही इस आश्रय या प्रपत्ति की क्रिया एवम् भाव को पृथक-शरणमार्गकी पदवी प्रदान करता है. अतएव श्रीमहाप्रभु भी यहा षोडशग्रन्थके अन्तर्गत विवेकधर्मश्रयमे भगवत्सेवाके अग्र-रूपसे तथा अनुकल्परूपसे आश्रयका निरूपण करते हैं जो स्वयम् अनुकल्प हो सकता हो वह यदि अंग बन जाये तो भगवत्सेवाके स्वरूपमे एक विशिष्ट निखार आना स्वाभाविक ही है. अतएव श्रीमहाप्रभु उपदेश देते हैं विवेक धर्म की रक्षा सतत करनी चाहिये इसी तरह आश्रयकी भी.

विवेक

विवेकके बंधे तो अनेक अर्थ तत्तद् शास्त्रोंमे उपलब्ध होते हैं. यहा परन्तु 'विवेक'का विवक्षित अर्थ इनना ही है कि जो कुछ जहा जब जैसे घटित हो रहा है वह सर्वदु खहारी भगवान् श्रीहरिकी अपनी इच्छासे ही हो रहा है ब्रह्माण्डके सारे क्रिया-कलाप भगवान् की क्रीडाके अंग हैं. भगवान् जो कुछ करते हैं उसमें किसी न किसी तरह हमारा हित ही निहित होता है, हमारे हृदय और बुद्धि में यह भावना और धारणा सर्वदा ही बनी रहनी चाहिये यही 'विवेक' कहलाता है.

“भगवान् सर्वसमर्थ है मर्त्यामा तथा सर्वान्तिप्रोमी है” ऐसे भाव भगवद् धर्मके विचारमें 'विवेक' कहलाते हैं मैं भगवान् का अंग हू, दास हू, भगव-त्क्रीडाका अंग हू तथा मेरी अहन्ता-ममताका कोई अर्थ नहीं है इत्यादि मनोभाव जीवधर्मके विचारसे 'विवेक' कहलाने हैं. इस तरहके विवेकसे सम्पन्न होनेपर हममें से चतुर्विध अविवेक दूर हो जायेगा हमारे भीतर चार प्रकारकी

वृत्तियां अविवेकके कारण घर कर जाती हैं. वे अविवेकजन्य वृत्तियां इस तरह हैं :

- १) प्रार्थनाकी वृत्ति
- २) अभिमानकी वृत्ति
- ३) हठकी वृत्ति
- ४) आग्रहकी वृत्ति

१) हमें थोड़ा सा कष्ट होने लगता है या कोई कामना उत्पन्न हो जाती है तो हम अपने कष्टोको दूर करनेके लिए अथवा हमारी क्षुद्र कामनाओकी पूर्तिके लिए भगवानसे प्रार्थना करने लग जाते हैं. मानो भगवान् सर्वज्ञ सर्वान्तर्गामी या सर्वविद्या ही न हो ! भगवान् तो हमारी प्रार्थनाके बिना भी सब कुछ जानते हैं कि हमारी क्या अपेक्षाएँ हैं तथा किन कामनाओकी पूर्तिमें हमारा हित निहित है और किनमें अहित हम पहचान नहीं पाते पर परमात्मा तो हमारी आत्मामें निवास करते ही है अतः हमारे स्वामी हमें क्या और कितना देना चाहते हैं उसे जाने बिना हम मागनेकी भूल कर बैठते हैं हमारे हितमें ही परमात्मा कुछ हमें देता है या नहीं देता परन्तु हम हमारे हित-हितके ज्ञानके बिना ही मागनेकी बेसज्जी कर बैठते हैं! अतः भगवान् सर्वज्ञ है सब कुछ देनेमें समर्थ है पर देंगे वही जिसमें हमारा हित निहित हो, ऐसे वृद्ध विश्वासको मनमें रख कर प्रार्थना—कष्टनिवृत्ति या कामनापूर्ति की याचना—न करना विवेकका प्रथम लक्षण है

२) यह प्रार्थनात्याग पूर्वोक्त भावभूमिपर किया जाये तभी 'विवेक' कहलाता है. अन्यथा पुष्टपार्थवादी अहंकारयुक्त मनोवृत्तिसे अथवा अनीश्वरवादी अश्रद्धाकी मनोवृत्तिसे या कि कर्तव्य-विमूढ बुद्धिसे प्रार्थना न करना विवेकका लक्षण नहीं है. अतः प्रार्थनात्यागकी तरह अभिमानका त्याग भी आवश्यक है अभिमान केवल हमें अपने स्वामीका होना चाहिये—अपने पुष्टपार्थपर या परमात्मामें भिन्न किसी जडशक्ति यथा प्रकृति काल कर्म स्वभाव माया गैतान आदिका नहीं क्योंकि इनके कारण यदि कुछ सुख-दुःख हमें होता है तो वह भी परमात्माकी वैसी इच्छा होनेके कारण ही अन्यथा ये सभी प्रभावहीन होते हैं यह विवेकका द्वितीय लक्षण है

३) मित्याभिमान तथा प्रायना रहित जीवनप्रणालीमें यह सहज सम्भव है कि हमारे अन्दर अकर्मण्यताका एक ऐसा हठीलापन पनप जाये कि सामान्य-विशेष परिस्थितिके विवेकके बिना केवल हाथपर हाथ धरके बंठे रहना ही हमें आदर्श लगने लग जाये अभिमानत्याग तथा प्रायनात्यागके साथ ही साथ विवेकरहित अप्रवृत्तिकी हठका त्याग भी अतएव आवश्यक होता है भक्तकी प्रवृत्ति किन्तु अपने दैहिक स्वार्थोंकी पूर्तिसे प्रेरित नहीं होती। भक्तकी प्रवृत्ति होती है जब उसके अन्तःकरणमें विशेष भगवदाज्ञाका अनुभव होने लगे ऐसी विशेष भगवदाज्ञायें अवसर—विशेषपर किसी भक्तविशेषमें किसी विशेष भगवत्कार्यको पूर्ण करानेके लिए होती हैं भगवदाज्ञाके अनुसार यह कार्य मुझे ही पूर्ण करना है ऐसे भगवदीय अभिमानके साथ तथा अकर्मण्यताकी हठको छोड़कर उस विशेष कार्यको सस्पन्न करना चाहिये

सब कुछ भगवदिच्छाके अनुसार होता है इस सिद्धान्तकी सहज स्वीकृति तथा असहज हठीलापनसे उसमें साथ चिपक जानेमें बहुत अन्तर पड़ जाता है अवसरविशेषपर स्वधर्म — भगवन्तेवा या उसमें सम्बन्धित किसी कर्तव्य -- को विशेष आयास-प्रयाससे पूर्ण करनेकी भगवदाज्ञाजय प्रेरणा जब हमारे अन्तःकरणमें उठती हो, तब जो होगा सो भगवदिच्छाके अनुसार होगा, ऐसी अकर्मण्यताकी हठ रखते समय हम यह भूल जाते हैं कि उक्त प्रेरणा भी तो विशेष भगवदाज्ञासे हुई है. अतः हठवादितापूर्ण सिद्धान्तके दुष्प्रयोगका त्याग विवेककी तीसरी पहचान है

(४) एक बार किसी अवसर विशेषपर "सब कुछ भगवदिच्छाके अनुसार होता है" इस सिद्धान्तको हठवादितासे न लेनेका तात्पर्य यह नहीं हो जाता कि सिद्धान्तिक आग्रहसे सर्वथा मुक्त ही हो जाना चाहिये व्यवहारमें सिद्धान्ततः क्या धर्म है तथा क्या अधर्म है इसका विचार प्राथमिक होना चाहिये. तदनुसार ही किसी कार्यमें प्रवृत्त या निवृत्त होना चाहिये अतः आपद्धर्म या अवसरोपात्त किसी विशेष कार्यरतिको सार्वदिक माननेका आग्रह भी नहीं रखना चाहिये अतः हठत्याग भी आग्रहरहित होना चाहिये. आग्रहसहित नहीं !

यही विवेकका वास्तविक एवम् परिपूर्ण स्वरूप है इस ग्रन्थके एक व्याख्याकार श्रीगोपीबन्धुके अनुसार श्रीमहाप्रभु नवविध विवेकका यहा उप-

देश करते हैं, जिसे इनकी व्याख्यामें इन्होंने भलीभांति समझाया है यहाँ विस्तारभयसे हम अनुवाद नहीं दे रहे हैं  
धैर्यं

जन्ममें मृत्युपर्यन्त सभी तरहके दुःखोंको सहन कर लेना धैर्यं है। दुःखोंको सहन करनेका मतलब होता है उन्हें स्वीकार लेना—उनका प्रतिकार न करना कभी एकाद दुःख सह लेना और कभी विचलित हो जाना धैर्यका स्वभाव नहीं है निरन्तर सभी तरहके दुःखोंको सबंदा सहना ही पूर्ण धैर्यका स्वभाव है

दुःख अनेक प्रकारके हो सकते हैं यथा—रोगादिजन्य कायिक या भौतिक दुःख होते हैं कामक्रोधादिजन्य—इन्द्रिय और मन से सम्बन्धित आध्यात्मिक दुःख होते हैं। सेवार्यं उपयोगी वस्तुओंके अभाव अथवा ऐसे अन्य भगवत्सम्बन्धी दुःखोंका आधिदैविक दुःख कहा जाता है इस तरह धर्म अर्थ और काम पुष्टियोंके सम्पादनके लिए लौकिक आयास आधिभौतिक, वैदिक आयास आध्यात्मिक तथा भगवद्धर्म आपाम आधिदैविक दुःख माने जाते हैं कभीकभी काल कर्म-स्वभाव-जन्य दुःखोंसे भी हम पीड़ित हो जाते हैं इन सभी तरहके दुःखोंको सहन करना धैर्यं कहलाता है

धैर्य धारण करनेके चार उपाय होते हैं

- १) अनाग्रह
- २) सहन
- ३) त्याग
- ४) असामर्थ्यभावना

१) दुःखोंको सहन करना चाहिये पर स्वयम् चलाकर दुःखी होनेके काम नहीं करने चाहिये अपने प्रयत्नके बिना स्वतः भगवदिच्छासे दुःख दूर हो जाते हैं तो जान-बूझकर दुःखी बने रहनेके अस्वस्थ दुराग्रहकी भी कोई महत्ता नहीं है अतएव समागत दुःखोंका प्रतिकार सहज-सरलतया हो जाता हो सहनेकी कोई आवश्यकता नहीं और न होता हो तो विचलित भी नहीं होना चाहिये यही धैर्यका वास्तविक स्वरूप है

दुःख सहनेको उद्यत रहनेपर भी दुःखी बने रहनेके अस्वस्थ दुराग्रहसे बचनेका उदाहरण भद्रोलिखित कथाश्लोक द्वारा अच्छी तरह समझा जा सकता है

तत्रवत् धैर्यधारण

हत्वा नृप पतिमवेश्य भुजगदष्ट

देशान्तरे विधिवशाद् गणिकास्मि जाता ।

पुत्र पति समधिगम्य चिता प्रविष्टा

शोचामि गोपगृहिणी कथमद्य तत्रम् ॥

अर्थ मुझे हठात् रनिवासमे पकड रखनेवाले राजाकी हत्या करके अपने सच्चे पतिके पास जब पहुँची तो सर्पदशके कारण उसे भी मृत गया देश देशान्तरोंमे भटकती हुई वेश्यावृत्ति अपनातेको बाधित हुई तो एक दिन स्वयम् अपने पूर्वपतिसे जात पुत्रको सम्पन्न ग्राहक मानकर आमन्त्रित कर बैठी. वास्तविकताका ज्ञान होनेपर अपने पुत्रके साथ प्रायश्चित्त हेतु आत्मदाहको उद्यत हुई तो पुत्र जलकर मर गया परन्तु मैं कथञ्चिद् बच गयी बचानेवाले ग्वालकी पत्नी बनकर छाछ बेचती हूँ सो आज वह भी ढुल गई अब बताओ कि कितने दुःखोंको रोऊँ! इस छाछके ढुल जानेके दुःखको कहाँ तक रोऊँ ?

जीवनमे एकसे बढ़कर दूसरे कष्ट आते हैं किन किनको रोया जाये और कब तक रोया जाये ? ग्वालकी पत्नी अपने पूर्वानुभूत कष्टोंका विचार कर नित-नये आनेवाले दुःखोंको झल जाती है जब भी जैसे जीवन यापनक अवसर सामने आते हैं, उन्हें स्वीकार लेती है न तो दुःखसे विचलित होती है और न दुःखी बने रहनेकी निराशा या कुण्ठा से ग्रस्त ही होती है न दुःखोंके आनेका कोई आग्रह और न दुःखोंके जानेका कोई आग्रह । 'प्रतीकारो यदृच्छातो सिद्धश्चेन्नाग्रही भवेत्'

२) धैर्य धारण करनेका दूसरा उपाय है — दुःखोंको कष्टोंको या तिरस्कारोंको सह लेना हमे यह सोचना चाहिये कि जो हमे कष्ट है वह अन्य किसीका भौं हो सकता है हमारा बरत किसी दूसरेके लिए सुख भी हो सकता है हमारी सुख दुःखकी अनुभूतिके हम अकेले ही दायेदार नहीं हैं परन्तु अनेक दायेदार हैं फिर अकेले हमारे उद्दिग्ध होनेकी क्या तुक है ?

## देहवत् धर्मधारण

देहं किमत्रदातुर्वा निपक्वतुमत्रुरेव वा ।

मातुर्पितुर्वा वलिनः श्रेयुरने सुनोपि वा ॥

अर्थ इस देहपर सच्चा अधिकार किसका है ? क्या उसका जो हमें अन्न देता है, या हमारे जनक पिताका, या गर्भधारण करनेवाली माताका, या बलपूर्वक जो अधीन कर ले उसका, या धन देकर जो हम खरीद ले उसका, या देहको भस्मसात् करनेवाली अग्निका, या उसे खानेके भूखे कृमी-कौट-पशु-पक्षियोंका !

जब हमारे देहके दावेदार अकेले हम ही नहीं — इतने सारे हैं सभीके किसी न किसी तरहके कष्ट और आनन्द हमारे देहके साथ जुड़े हुए हैं ऐसी सार्वजनिक सम्पत्तिसे अकेले हमारे दुःखी होनेकी क्या आवश्यकता है ?

इसी तरह हमारे सुख-दुःखमें भी हमारे परिवार समाज राष्ट्र मानव-मात्र और प्राणिमात्र का कुछ न कुछ या किसी न किसी तरहका हिस्सा तो है ही फिर अकेले हमें ही अपने कष्टोंको असह्य क्यों मानना चाहिये ? किसीका कष्ट जैसे हमारे लिए सुख बन जाता है, इसी तरह हमारा कष्ट किसी दूसरेके लिए सुख होगा वनस्पतीका कष्ट वकरोका सुख है—वकरोका कष्ट सिंहका सुख है—सिंहका कष्ट शिकारी मानवका सुख होता है इत्यादि अतः हमारे पारिवारिक सदस्य पत्नी आदि या अन्य भी अनाधु पुरुषों द्वारा किया गया तिरस्कार हमें सह लेना चाहिये

३) धर्म धारण करनेका तीमरा उपाय है त्याग त्यागका अर्थ है अपनी ओरसे सभी इन्द्रियोंके व्यापारोंको स्थगित कर देना. उन्हें काया वाणी और मन के अभिव्यक्तिसे मुक्त करना

## जडवत् धर्मधारण

जैसे जडभरत अपनी मस्तीमें बैठे हुए थे जब राजाके सैनिक उन्हें पालकी ढोनेके लिए ले गये तो आनाकार्ना किये बिना पालकी ढोने लग गये ठीकसे न ढो पानेके कारण राजा माली देने लगा तो वह भी मरतीम मुन ली. पूछनेपर बुद्धिमत्ता पूर्ण उत्तर दिया और राजा चरणोम पड गया तो उसी पुरानी मस्तीसे ज्ञानोपदेश भी कर दिया !



इस तरह जडवत व्यवहार करके भी धैर्य धारण किया जा सकता है

४) धैर्य धारण करनेका चौथा उपाय है स्वयम् अपनी असमर्थताकी भावना करना

गोपभायैवत् धैर्यधारण

कृष्णके विरहमे गोपिकाओने तथा अन्य भी ब्रजवासियोने अपनी असमर्थताके बोधद्वारा धैर्य धारण किया था, रासके प्रकरणमे तथा मधुरा-गमनके प्रमगमें भी भगवान्पर जब बस नही चलता तो अपनी असमर्थताकी भावनाद्वारा धैर्य धारणके अलावा और कोई उपाय भी नही रह जाता है

इस तरह भगवदिच्छाका और अपनी असमर्थताका विचार कर आधि-देविक दु खोको सहन कर लेना चाहिये

ये सारे उपाय जो शक्य या सुकर नही लगते हो तो सर्वदु खहर्ता हरिको आश्रय ग्रहण करना चाहिये. क्योंकि भगवान्के आश्रयसे अज्ञान भी सुशक्य हो जाता है सारी दुर्लभ बातें भी सुलभ बन जाती हैं इस तरह धैर्यका निरूपण किया गया. अब आश्रयका स्वरूप समझना चाहिये

आश्रय

ऐहिक पारलौकिक सभी बातोमे सर्वथा एकमात्र हरिको ही सहाय स्वीकारना आश्रय कहलाता है आश्रमको दृढताके भी चार उपाय है

✓ १) मन और वाणी से निरन्तर शरणभावना

✓ २) कायिक वाचिक और मानसिक रूपमे अग्याश्रयका त्याग करना

३) मेघपर चातकके दृढ विश्वासकी तरह भगवान्पर सर्वदा दृढ विश्वास रखना—स्वयम् प्रयुक्त ब्रह्मास्वरपर स्वयमेव मेघनादकी तरह भगवान्पर कभी अविश्वास न करना.

✓ ४) सुखसे या दु खसे जो भी मिल जाये उसका भ्रमतरहित उपभोग करना

१) हमारे जीवनमे अनेक प्रकारकी विषम स्थितिया सामने आती रहती हैं जिन उद्वेगजनक परिस्थितियोमे हम विचलित हो जाते हैं, उन परिस्थितियोमे यदि हमारे मन और वाणो से हम शरणभावना बनाये रखें तो आश्रय दृढ हो जाता है जीवनमें अनेकविध आधिभौतिक आध्यात्मिक एवम् आधिदेविक कष्ट आते हैं ऐसे समय वृद्धा हम विवेक और धैर्य

निमा नहीं पाते. पर मन और वाणी में यदि शरणभावना बनाये रखनेमें सफल हो पायें तो आश्रय दृढ हो जाता है

चाहे कोई भी परिस्थिति हमारे सामने आ पड़े—पापकी, भयकी, अपूर्ण कामनाओंकी, ससतद्रोहकी, भक्ति-अभावकी या भक्तोंसे तिरस्कृत होनेकी—मभी स्थितियोंमें भगवद्दर्शनभावना एक कारगर उपाय है जब किसी असह्य कार्यको सम्पन्न करनेका उत्तरदायित्व हमपर आ पड़ता है तब उद्वेग आसका एवम् कुण्ड के कारण हम भगवान्को भूल जाते हैं जब कोई सुसह्य कार्यको सम्पन्न करनेका उत्तरदायित्व हमपर आ पड़ता है तब सफलताकी आशा उत्साह और अहंकार के कारण हम भगवान्को भूल जाते हैं कार्य चाहे असह्य हो या सुसह्य भगवान्की शरणभावना सर्वदा मन-वाणीपर बनी रहनी चाहिये हमारा अहंकार जब प्रबल हो रहा हो—हमपर जो आश्रित हो उनके रक्षणपोषणके समय अथवा हमपर आश्रित व्यक्ति या सम्बन्धी जन जब हमारे अहम्को ठस पहुँचा रहे हो अथवा हमारे शिष्य भी जब हमारा तिरस्कार कर रहे हो, तब शरणभावनाको बनाये रखना बहुत आवश्यक होता है

मानसी सेवा, व्यसनदशा, निरोध या सर्वात्मभाव के अनुभव योग्य अलौकिक मनकी सिद्धिके लिए भी एकमात्र श्रोत्रि ही हमारी शरण होते हैं मनवाणीसे निरन्तर अप्टाक्षर मन्त्रका अनुसन्धान बनाये रखना चाहिये यह आश्रयको दृढ करनेका प्रथम उपाय है

२) काम वाणी और मन में अन्याश्रयका त्याग करना चाहिये श्रुतिमें तित्त्वकर्मके रूपमें विहित न हो तब भी किसी अन्य देवादिका स्वतः चलाकर—निष्काम या सकाम भजन करना अन्याश्रय है कही जाते समय मार्गमें किसी अन्य देवका मन्दिर मिल जाये तो दूतरी बात है, अन्यथा स्वयम् अपनी ओरसे चलाकर किसी अन्य देवके दर्शनार्थ उनके मन्दिरमें जाना अन्याश्रय है भागत जाते हुए अन्य देवका मन्दिर मिल जाये तो नमनद्वारा आदरभाव प्रकट करना अन्याश्रय नहीं है किसी लौकिक या अलौकिक प्रयोजनवश किसी अन्य देवताकी प्रार्थना करना अन्याश्रय है 'अन्यदेव' का अर्थ है—भगवान्के ऐसे देवहून कि जिनको पुष्टिमार्गीय सेवाप्रणालीमें मान्य नहीं किया गया है अन्याश्रयके त्याग करनेसे भी आश्रय दृढ हो जाता है

३) भगवान्‌पर अविश्वास कभी नहीं करना चाहिये—सर्वदा चातकका सा दृढ़ विश्वास रखना चाहिये लकामे हनुमानजीको जब ब्रह्मास्त्रसे बाधा गया तब स्वयम्‌ वाधनेवाले राक्षसको ही ब्रह्मास्त्रपर अविश्वास हो गया था. अतः वे जब ब्रह्मास्त्रके अलावा रस्सी या अगंला से बाधने लगे तब उनके अविश्वासको जानकर दोनों ही बन्धनोको तोड़कर हनुमानजी मुक्त हो गये. अतएव अविश्वास कदापि नहीं करना चाहिये जल बरसे या न बरसे पर चातकका विश्वास स्वातिविन्दुके वारेमे कभी खण्डित नहीं होता ऐसा दृढ़ विश्वास प्रभुपर रहना चाहिये दृढ़ विश्वाससे भगवदाश्रय दृढ़ होता है

४) हमे जो कुछ जैसा और जितना प्राप्त होता है, उसके ममतारहित उन्भोगका अत यदि हम लें तो न प्रिय वस्तुकी प्राप्तिसे हर्ष होगा और अप्रिय वस्तुकी प्राप्तिसे विषाद ही इस तरह प्राप्त वस्तुके ममतारहित उन्भोगसे भी भगवदाश्रयकी दृढता सिद्ध होती है.

**उपसंहार**

किसी भी तरह हो आश्रयकी दृढता अपेक्षित है. छोटे-बड़े अच्छे-बुरे किसी भी तरहके कार्योंको करते हुए यदि हम शरणभावनाको हृदयमे जगाये रखनेमे सक्षम हो जाते हैं तो अन्य सारी बातें शनै शनै स्वतएव सिद्ध होने लगेगी. इस तरह हमने देखा कि कलिपुगमे भक्ति आदि मार्गपर चल पाना दुःसाध्य हो गया है, फिर भी भगवान्‌ श्रीकृष्णका आश्रय सभीके लिए सर्वदा हितकारक होता है.

एक दृष्टिसे देखा जाये तो मार्ग तो कम ज्ञान और भक्ति रूप तीन ही है परन्तु जो जीव इन मार्गोंपर चरु नहीं पाते या चलने हुए थक कर बैठ जाना चाहते है, उनकी साधना अपूरी रह जाती है पर थके हुए या बिन थके जो जीव भगवान्‌के चरणोंमे बैठ जाते है, वे बिना चले भी गन्तव्यतक पहुच जाते है. भगवान्‌के चरण या गरण अपने आपमे मार्ग भी हैं और गन्तव्य भी "एवमाश्रयण प्रोक्त सर्वथा सर्वदा हितम्‌ "

प्रस्तुत विवेकधर्याश्रय ग्रन्थ वि स १९८३ मे प्रकाशित सरकरणका ऑफसेट प्रॉसेस द्वारा पुनर्मुद्रित रूप है बहु संस्करण श्रीमद्-गोस्वामीकुल-भूषण-विद्यानिधि-श्रीब्रजरत्नलालजी महाराजकी श्रीबालकृष्ण सुद्धार्ढत महासभा (सूरत) द्वारा प्रकाशित हुआ था सम्पादन श्रीचीमनलाल ह शास्त्रीजीने किया था इन दोनो महानुभावोंके प्रति हम हार्दिक गुन्जता प्रकट करते है

## उपकारस्मरण.

— ० —

आ विवेकधर्याश्रय भाटे नीये प्रभाखे प्रति उपलब्ध थर्भ हुती.

### (१) श्रीरघुनाथचरणविवृति—

१ क	गो० श्रीरघुनाथचरणविवृति श्रीरघुनाथचरणविवृति	३६	छ.	वाचेली
	तरुथी भये ती—मुद्रायुर्मा भास उपरोत्थी			अने प्राचीन छे
२ ख	”	”	”	प्राय शुद्ध
३ ग	गो० श्रीमन्नरत्नखालछ महाराज, सुरत तरुथी भये ती			अपूर्व अशुद्ध
४ घ	श्रीगुरुखालछनी सभ्यानी			
	श्रीसुत भूख्यन्त्र तेवीवाणा तरुथी	..		प्राय शुद्ध प्राचीन

### (२) श्रीमन्नरत्नखालछ—श्रीगोपीदासी महाराजकृतविवृति

१ क	गो० श्रीरघुनाथचरणविवृति महाराज तरुथी	शुद्ध	वाचेली, नूतन
२ ख	”	”	” प्राचीन
३ ग	लुतापदनी, गो० श्रीगोपूदन(यछ) महाराज तरुथी	नूतन,	प्राय शुद्ध
४ घ	गो० श्रीरघुनाथचरणविवृति महाराज तरुथी स १८५८		प्राचीन प्राय शुद्ध
५ ङ	गो० श्रीमन्नरत्नखालछ महाराज सुरत तरुथी	अपूर्व	
६ च	”	”	वाचेली शुद्ध
७ छ	”	”	अपूर्व
८ ज	श्रीगुरुखालछनी, श्रीसुत भूख्यन्त्र तेवीवाणा तरुथी		प्राय शुद्ध
९ झ	”	”	”
१० ञ	गो० श्रीगोपूदनाथछ महाराज मुम्बई तरुथी		अशुद्ध
११ ट	”	”	नूतन प्राय शुद्ध
१२ ठ	गो० श्रीमन्नरत्नखालछ महाराज सुरत तरुथी		वाचेली शुद्ध

### (३) श्रीगोविन्दरायात्मजधरिगुरुखोन्सवविवृति.

१ क	गो० श्रीरघुनाथचरणविवृति महाराज मुम्बई तरुथी	प्राय शुद्ध प्राचीन
२ ख	”	शुद्धतर वाचेली प्राचीन
३ ग	गो० श्रीरघुनाथचरणविवृति महाराज मुम्बई तरुथी	शुद्धतर स १७७०
४ घ	”	”
५ ङ	गो० श्रीमन्नरत्नखालछ महाराज सुरत तरुथी	..
६ च	”	” शुद्ध—नूतन

### विवेकधैर्याश्रयः ।

विवेकधैर्ये सततं रक्षणीये तथाश्रयः ।  
विवेकस्तु हरिः सर्वं निलेच्छातः करिष्यति ॥ १ ॥  
प्रार्थिते वा ततः किं स्यात् स्वाम्यभिप्रायसंशयात् ।  
सर्वत्र तस्य सर्वं हि सर्वसामर्थ्यमेव च ॥ २ ॥  
अभिमानश्च संत्याज्यः स्वाम्यधीनत्वभावेनात् ।  
विशेषतश्चेदाज्ञा स्यादन्तःकरणगोचरः ॥ ३ ॥  
तदा विशेषेणेत्यादि भाव्यं भिन्नं तु दैहिकात् ।  
आपहत्यादिकार्येषु हठस्त्याज्यश्च सर्वथा ॥ ४ ॥  
अनाग्रहश्च सर्वत्र धर्माधर्माग्रदर्शनम् ।  
विवेकोऽन्यं समाख्यातो धैर्यं तु विनिरूप्यते ॥ ५ ॥  
त्रिदुःखसहनं धैर्यमा मृतेः सर्वतः सदा ।  
तक्रवद्देहवद्भाष्यं जडवद्गोपभार्ययत् ॥ ६ ॥  
प्रतीकारो यदच्छातः सिद्धश्चेन्नाग्रही भवेत् ।  
भार्यादीनां तथान्येषामसतश्चाक्रमं सहेत् ॥ ७ ॥  
स्वयमिन्द्रियकार्याणि कायवाङ्मनसा त्यजेत् ।  
अश्रेणापि कर्तव्यं स्वस्यासामर्थ्यभावेनात् ॥ ८ ॥  
अशक्ये हरिरेवास्ति सर्वमाश्रयतो भवेत् ।  
एतत्सहनमत्रोक्तमाश्रयोऽतो निरूप्यते ॥ ९ ॥  
देहिके परलोके च सर्वथा शरणं हरिः ।

दुःखहानौ तथा पापे भये कामाद्यपूरणे ॥१०॥  
 भक्तद्रोहे भक्त्यभावे भक्तेश्चातिक्रमे कृते ।  
 अशक्ये वा सुशक्ये वा सर्वथा शरणं हरिः ॥११॥  
 अहंकारकृते चैव पोष्यपोषणरक्षणे ।  
 पोष्यातिक्रमणे चैव तथान्तेवास्यतिक्रमे ॥१२॥  
 अलौकिकमनःसिद्धौ सर्वार्थां शरणं हरिः ।  
 एवं चित्ते सदा भाव्यं वाचा च परिकीर्तयेत् ॥१३॥  
 अन्यस्य भजनं तत्र स्वतो गमनमेव च ।  
 प्रार्थना कार्यमात्रेऽपि ततोऽन्यत्र विवर्जयेत् ॥१४॥  
 अविश्वासो न कर्तव्यः सर्वथा बाधकस्तु सः ।  
 ब्रह्मास्त्रचातकौ भाव्यौ प्राप्तं सेवेत निर्ममः ॥१५॥  
 यथाकथंचित्कार्याणि कुर्यादुच्चावचान्यपि ।  
 किं वा प्रोक्तेन बहुना शरणं भारयेद्भरिम् ॥१६॥  
 एवमाश्रयणं प्रोक्तं सर्वेषां सर्वदा हितम् ।  
 कलौ भक्त्यादिमार्गा हि दुःसाध्या इति मे मतिः ॥१७॥  
 इति श्रीबल्लभाचार्यविरचितो विवेकधैर्याश्रयः समाप्तः

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनघट्टभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

श्रीमदखण्डभूमण्डलाचार्यवर्यश्रीमद्वल्लभाचार्यचरणविरचितः ।

विवेकधैर्याश्रयः ।

श्रीरघुनाथचरणप्रकटिता दीपिका ।

स्वर्गोकुलपरित्राणसम्भ्रमेणोद्धृताचलम् ।

क्रीडहोपाङ्गनावाङ्गसङ्गिगोपालमाश्रये ॥ १ ॥

मन्मानसेऽस्तु सततं श्रीविद्वल्लपदाश्रुजम् ।

संसारमयभीतानां यत्स्मृतिर्धैर्यनाशिनी ॥ २ ॥

अथ भगवन्मार्गप्रवृत्तानामेकान्तिरूपकानां भक्तिं सिसाग्रपिपूणां तत्साधनो-  
पायान् विवेकधैर्याश्रयान् स्वस्वासाधारणलक्षणलसितान् विवेकमादौ तानसाधारणस्वश-  
ब्देन निर्दिशन्ति ।

विवेकधैर्ये सततं रक्षणीये तथाश्रयः ।

विवेकस्तु हरिः सर्वं निजेच्छातः करिष्यति ॥ १ ॥

रक्षणीये स्वीकार्ये । तत्र विवेकादयः क्रीडशा इति स्वरूपजिज्ञासायां प्रथमो-  
द्विष्टस्य विवेकस्य फलितस्वरूपमाहुर्विवेकस्तु हरिः सर्वं निजेच्छातः करिष्यतीति ।  
तुदाब्दः प्रसिद्धिद्योतनार्थः । अन्यथाऽप्रमाणिकत्वं स्यात् । हरति त्रिविधमपि भक्तदुःख-  
मितिव्युत्पत्त्या सकलदुःखहारिसमभिव्याहारिहरिपदेन, 'भगवान् करिष्यति न वे'त्यवि-  
श्यातो निरस्तो वेदितव्यः । हरिपदनिर्वचनन्तु महाभारते स्फुटम् । तद्यथा, 'हराम्यघं  
हि स्मर्वृणां हविर्मांसं क्रतुपद्मम् । वर्णश्च मे हरिश्चेत्स्तस्माद्धरिर्हं स्यूत' इति । सर्वमैहिकं  
पारलौकिकं निजेच्छातो जीराहृष्टप्रयत्नादिनिरपेक्षाद्यौक्तिकस्वेच्छात इत्यर्थः । एवं  
वाक्यार्थानुसन्धानेन श्लेषमिति तात्पर्यम् ।

'ननु लोके भगवद्भक्तानामपि प्रौढदुःखदूरीकरणार्थं भगवान् धैर्येर्नाप एव ।  
तस्मादज्ञक्यार्थोपदेश एवार्थं पद्मोर्गिरिलङ्घनवद्विषेकोपदेश इत्यत आहुः ।

प्रार्थिते वा ततः किं स्यात् स्वाम्यभिप्रायसंशयात् ।

सर्वत्र तस्य सर्वं हि सर्वसामर्थ्यमेव च ॥ २ ॥

वेति विकल्पे विकेकास्फूर्तिशायाम् । ततः प्रार्थनातः किं स्यात् किमपी-  
त्यर्थः । कुत इत्यपेक्षायां, स्वाम्यभिप्रायसंशयादिति । स्वामी मनुः, तस्याधिपा-  
यस्य चिकीर्षितस्य ज्ञातुमशक्यत्वात् संशयो भवत्येव । यत्र 'फलानुमेयाः मारम्भाः  
संस्काराः प्राक्तना इवे'त्यादिषु लौकिकप्रभन्भिप्रायोपि पूर्वं ज्ञातुमशक्यत्वात् किं वाच्य-  
मलौकिकमभोरभिप्रायस्येति । ननु भक्तेच्छापूर्णाया भगवाननशक्यमर्थं सम्पादयति,  
तत्र, वहायाससाध्यप्रसदादिवद्भगवतोपि कदाचित् स्यादिति तदर्थं पुनः पुनः मर्थ-  
नया भगवान् स्मार्थते । ( भगवत्सन्त्र कार्यं स्मार्थते ) इत्यत्र आहुः सर्वत्रेति । सर्वस्मिन्  
काले देशे च यदिकञ्चिद्भन्तुमात्रं तत्सर्वं तस्य भगवत एवेत्यर्थः । हिन्दः प्रसिद्धौ ।  
सा च 'अहं सर्वस्य जगत्सः मभव' इत्यादिषु श्लोका । ननु भक्तार्थं भगवतोप्यकालवस्तु-  
सम्पादनमायाससाध्यं भविष्यतीति चेत्त्राहुः सर्वसामर्थ्यमेव चेति । न हि भगवतोपि  
कालमपेक्ष्यैव कार्यकरणं सम्भवति, प्रत्युत कालस्यैव भगवदधीनत्वाज्जन्यत्वाच्च तत्सा-  
पेक्षत्वम् । अकारात् कर्तुमकर्तुमप्यवाकर्तुं सामर्थ्यमपि द्योत्यते ॥ २ ॥

कदाचिदत्यन्तापेक्षितमपि कार्यं भगवान् करोति, तेन भक्तपनस्यभिमानो भवेन्नप्या  
भजनार्थमपि मयस्ते न कर्तव्य इति, तत्र कार्यमित्याहुर्भिमनश्च सन्त्याज्य इति ।

अभिमानश्च सन्त्याज्यः स्वाम्यधीनत्वभावात् ।

विशेषतश्चेदाज्ञा स्यादन्तःकरणगोचरः ॥ ३ ॥

तदा विशेषगत्यादि भाव्यं भिन्नं तु दैहिकात् ।

आपन्नत्यादिकार्येषु हठस्याज्यश्च सर्वथा ॥ ४ ॥

चकारात् कार्यानिव्यक्तिनिमित्तग्लानिरपि । समित्यनेन याथाभ्यन्तरभेदराहि-  
त्येन त्यागः सूचितः । ततो हेतुः, स्वाम्यधीनत्यभावात् । सर्वस्वनिर्देनेनान्तः-  
करणमपि निवेदितमेव । अभिमानथान्तःकरणार्थः । स च सुतरां न कार्य इति भावः । एव  
स्वतः कार्यमात्रं न कर्तव्यमिति मांसे भगवदाज्ञायां विशेषमाहुर्विशेषतश्चेदाज्ञा स्यादिति ।  
देहसम्बन्धि देशनिर्वाहकं कार्यं दैहिकमित्युच्यते । तत्र, सर्वत्राप्यानिपिद्धमेव ।

विशेषतो विशेषनिमित्तात् विशेषकार्यकरणार्थमिति यावत् । सापि न वाच्यता,  
किञ्चान्तःकरणगोचरान्तःकरणपूर्विका यदि स्यात्, तदैव दैहिकाभिन्नं विशेषग-  
त्यादि भाव्यं कार्यमित्यर्थः । गतिपदेन क्रियामात्रं लक्ष्यते । आदिपदेन प्रार्थनमपि  
कार्यमध्ये क्वचित्सम्भवति चेत् तत्र कर्तव्यमेवेति सूच्यते । ननु विशेषाज्ञायामपि मयसि-



स्कात्कालादिवशाद् भगवदाज्ञप्रकार्यानिष्पत्तिस्तदापि किं भगवदाज्ञप्रमितिकृत्वा प्राणादि-  
भयं सोढुमि हृतेनाशक्यमपि कार्यं कर्त्तव्यमेवोत नेति प्राप्त आहुरापद्मद्वयदिकार्यै-  
ष्विति । भगवदीयानामेवैविविधदशाप्रसौ भगवानेव हेतुरिति भगवदाज्ञोल्लङ्घनदोषोपि न  
भवतीतिज्ञेयम् । 'गति'शब्देन प्राप्तिरुच्यते । 'आदि'पदेनाशक्यार्थ उच्यते । तेनाऽऽपत्का-  
लीनाशक्यकार्येष्वपि सर्वेषु ह्यत्र आपद्भः सर्वथा सर्वप्रकारेण त्याज्यः । चकारारादपश्चि-  
दृत्तौ धुनराग्रहः स्वीकार्ये एतेत्यर्थः, । यद्वा, आपद्भितिरादियेषु कार्येषु कृतेषु भवति  
तेष्वप्यग्रे न कार्ये इति । भगवदनुक्तेष्वपि कार्येष्वनापद्यपि स्पृहा न कार्येत्पाहुरनाग्रहश्च  
सर्वत्रेति । कर्त्तव्यान्तरमप्याहुर्धर्मो धर्मोऽद्यदर्शनयिति । ययैवाथर्थश्च तयोरयं पर्यवसि-  
तफलं तद्दर्शनमपमत्तेन तदनुसन्धानम् । विहेतेपि कार्ये यस्मिन् कृते स्वयमर्थायः सम्पा-  
न्यते, तत्र कार्यम्, स्वयमर्थायस्यापमहेतुत्वात् । स्वयमर्थाविरोधिनश्च धर्महेतुत्वात् तत्कार्य-  
मितिभावः ॥ ४ ॥

उपरसंहरन्ति—

विवेकोयं समाख्यातः

क्रममात्रं धैर्यं निरूपयन्ति—

धैर्यन्तु विनिरूप्यते ।

त्रिदुःखसहनं धैर्यमाच्यतेः सर्वतः सदा ।

तत्रवदेहवद्भाष्यं जडवद्भोपभार्यवत् ॥ ६ ॥

प्रपाणां दुःखानां समाहारस्त्रिदुःखम् । दुःखस्य त्रिविधत्वं त्याग्भिभौतिकादिभे-  
देन कायिकादिभेदेन वा कालकर्मस्वभावैर्वा । तस्य सहनं तत्प्रतीकारं विनातुभवः ।  
तदप्याच्यतेः । मूर्तिपरिणं वर्तमानदेहत्यागः, तं धर्मादीकृत्य । तदपि न यत्किञ्चिन्  
परिगणितनिमित्तात्, किन्तु, सर्वतो भगवदिरच्छानो यद्यदुपस्थितं तत्तत्सर्वं रोहन्वमे-  
षेतिभावः । तदपि न कालनैयत्येन, किन्तु सर्वदा । आच्यते'रित्यनेन सार्वकाली-  
नत्वे तिद्धेपि सर्वदेति धुनः स्पृष्टार्थं वचनम् । नन्वनवरतदुःखसहनं शरीरशोषात्  
तन्नाशोपि स्यात्, तन्नोचिभिमिति न दुःखं सोढव्यमिति चेत्प्राहुस्तत्रवदेहवद्भाष्य-  
मिति । देहान्नौ शोको न कार्य इत्यर्थे प्राक्तनं दृष्टान्तव्यं ज्ञेयम् । तत्र त्रयं, तत्रव-  
ज्जडवद्भोपभार्यवदिति । अन्वयस्तु, देहवता भाष्यं देहवद्भाष्यम् । तत्र देहवता पुरुषेण  
शरीरादिक्रमेवात्मीयत्वेन भाष्यमनुसन्धेयं दृश्यते, तादृशन्तु न कार्यम् । तत्र कीदृ-  
गतुसन्धानं कार्यमित्यपेक्षायां तत्रादिषु यथा तेषामनुसन्धानं तथा स्वदेहेपि कार्य-  
मित्यर्थः । तत्राख्यायिका तु, "इत्या वृषं पतिमपेक्ष्य भुङ्क्तेऽहं देशान्तरे विधिवशाद्-

णिनापि जाता । पुत्र पति समधिगम्य चिता प्रविष्टा शोचामि गोपवृहिणी कथमत्र  
तक्रमम्” इत्यादौ प्रसिद्धा । जडो जडभरतस्तदाख्यायिका पञ्चमस्कन्धतोऽगमन्तव्या ।  
गोर्षेन्निपते धार्यते पोष्यते वेति गोपभार्यो, ( देहः ) गोपीना भगवत्सम्बन्धात् पूर्वकालीनः  
प्राकृतो देहस्तद्वयमे यथा गोपीना न शोक्रस्तथा स्वदेहेषु कार्यमित्यर्थः । अत्र गोपभा-  
यांशब्दे उच्यमाने ध्रुवद्भावानुपपत्तिः तेनान्यथा व्याख्यातम् ॥ ६ ॥

भगवदिच्छातः प्राप्ते दुःखे यथाऽपत्तिकारस्तथा तदिच्छाप्राप्ते स्वयं न विनैव  
दुःखप्रतीकारेषु मम सुखं मास्त्विति बुद्ध्या द.खाभावसम्प्रादकहेतुनिवृत्तावाप्तं न  
कुर्यादित्याहुः प्रतिकारो यदृच्छात इति ।

**प्रतिकारो यदृच्छातः सिद्धश्चेन्नाप्रही भवेत् ।**

**भार्यादीनां तथान्येषामसतश्चाक्रमं सहेत् ॥ ७ ॥**

भार्यादीनामिति । भार्या आदिर्येषां पुत्रादीनां तथैवान्येषां पोष्यवर्गाणां,  
असन्तश्च भार्यादिमध्ये स्वतोऽप्यन्तर्निष्ठस्य सदोषस्याप्यात्र तत्कृततिरस्कारमपि  
सहेत्तैत्यर्थः । अत्र सहेदिति परस्मैपद ‘सह मर्षेण’ इत्यात्मनेपदिनो न सद्गच्छते यत्रपि,  
तथापि सहन सह इति व्युत्पत्त्या ‘अच्’प्रत्यये कृते, पश्चात्सहकरोतीत्यावर्ततीति वा पर-  
स्मैपद द्वेषम् ।

तथा पूर्वं भगवदिच्छया प्राप्तस्य स्वयंपत्न विनैव सुखद.खादेः सहनमुक्तपि-  
दानीं स्वकृतिताप्य सुखादिकं न कार्यमित्याहुः स्वयमिति ।

**स्वयमिन्द्रियकार्याणि कायवाङ्मनसा त्यजेत् ।**

**अश्रूरेणापि कर्तव्यं स्वस्यासामर्थ्यभावनात् ॥ ८ ॥**

इन्द्रियकार्याणि । तच्चदिन्द्रियसाध्यविषयभोगः । तं तु कायेन वा वा मनसा  
त्यजेदित्यर्थः । कायवाङ्मनसेत्यत्र द्वैकवद्भावादेकवचनं द्वेषम् । दुःखं शोभुमशक्तेनापि  
तदर्थं वृद्धसेवनवैराग्यादिकं कर्तव्यं, न त्वादत्य धैर्यमेव । तत्र हेतुः, स्वस्यासामर्थ्य-  
भावनादिति । भावनं परिदृश्यमानत्वमिति ।

कर्तव्यान्तरमाहुरशक्य इति ।

**अशक्ये हरिरेवास्ति सर्वमाश्रयतो भवेत् ।**

सर्वप्रकारेणाश्रयैर्ष्ये हरिरेवास्ति मम नरगमिति बुद्धिमाश्रित्य तिष्ठन् सर्व-  
वैहिकं पारलौकिकं च भवेदित्यर्थः ।

उपसहरन्ति-एतदिति ।

एतत्सहनमत्रोक्तमाश्रयोतो निरूप्यते ॥ ९ ॥

क्रममाप्तमाश्रयं निरूपयति-आश्रयोत् इति । अत इति धैर्यं निरूपणानन्तरमित्यर्थः ।  
आदौ कलित रूपमाहुः-ऐहिकेति ।

ऐहिके पारलोके च सर्वथा शरणं हरिः ।

दुःखहानौ तथा पापे भये कामाद्यपूरणे ॥ १० ॥

भक्तद्रोहे भक्त्यभावे भक्तेश्चातिक्रमे कृते ।

अशक्ये वा सुशक्ये वा सर्वथा शरणं हरिः ॥ ११ ॥

अहङ्कारकृते चैव पोष्यपोषणरूपे ।

पोष्यातिक्रमणे चैव तथान्तेवास्यतिक्रमे ॥ १२ ॥

इहामिन् जन्मनि तदुपलक्षिते काले वा भवदैहिककार्येषु च्यते । परोऽस्मादन्यः,  
अन्तरिक्षलोकमारभ्य ब्रह्मलोकपर्यन्तः । अस्मिन्मन्वदिच्छया कदाचिन्नरकभोगः  
सम्भाव्यते चेत्तथापि सर्वकारेण कान्येन वाचा मनसा च हरिरेव शरणं ममेति चित्ते  
निश्चित्य स्थेषमित्यर्थः । भगवदीयानां नरकः स्वर्गादिवेव ननु तामिस्रादिः । अत एव  
विष्णुपुराणेऽप्युक्तम् “वासुदेवे मनो यस्य जपहोमार्चनादिषु, तस्यान्तरायो वैशेष देवेन्द्रता-  
दिक फलम्” साभान्ततः सर्वकार्येषु शरणगमनप्रोक्तम्, इदानीं तदेव पुनर्निमित्तविशेषेष्वप्यु-  
च्यते । तानि निमित्तानि ‘दुःखहानौ, इत्यारभ्य ‘सर्वथा शरणं हरिः’ इत्येतत्पर्यन्तोक्तानि  
हेयानि । दुःखस्य हानौ माप्तावामपि हर्षवद्वेन शरणविस्मरणं न कार्यमित्यर्थः । एवं सर्वत्र  
योज्यम् । पापे मारुत्प्रशान्तान्ते, भये शत्रुवादिकृते, काम इच्छा लौकिकालौकिकसाधा-  
रणी, आदिपदेन परादिरपि, तेषामपूरणेऽनिष्पत्तौ भक्तेषु द्रोहे जातेषु, अन्यत्र भक्ति  
दृष्टा स्वस्य भक्तिराहित्येन स्पृहापात्रेषु, भक्तैः स्वस्वान्तिक्रमे कृतेषु तेषु मातितृप्त्यं न  
कार्यमित्यर्थः । अशक्ये स्वयमन्यद्वारा वा कर्तुंभोगेभ्यः, सुशक्येऽनापासेन कर्तुं  
योग्येभ्यः, उभयत्रापि या शब्दोऽप्यर्थः । अहङ्कारेण कृतेऽहङ्कारकृते, पोषणस्य रक्षणस्य  
पोषणरूपे । पोष्याणां पोष्यवतांसां पोषणरूपे अहङ्कारेण कृतेऽपि । अकारः सर्वत्र  
समुच्चयार्थः । पोष्यवर्गस्य दैववशादतिक्रमे सति । अन्तेवासो भगवन्मार्गतिहासुः शिष्यः ।  
सर्वार्थं सर्वत्रिभुक्तानुक्तसर्वेषुपि हरिरेव शरणं इत्यर्थः ॥ ११ ॥

अलौकिकमनःसिद्धौ सर्वथा शरणं हरिः ।

एवं चित्ते सदा भाव्यं वाचा च परिकीर्तयेत् ॥ १३ ॥

अलौकिकमनःसिद्धाविति निमित्तमहर्षी । तेनालौकिकमनःसिद्धयर्थमेव सर्वार्थं  
हरिरेवाश्रय इत्यर्थः पर्यवसितः । एवमिति । विवेकदाता इत्यं वादन्मुक्तं वाचं

णिनापि जाता । पुत्रं पतिं समधिगम्य चितां प्रविष्टा शोचापि गोपगृहिणी कथमप्य  
तन्मम" इत्यादौ मसिद्धा । जडो जडभरतस्तदाख्यायिका पञ्चपस्कन्धतोऽवगन्तव्या ।  
गोपैश्चियने धार्यते वेति गोपभार्यो, ( देहः ) गोपीनां भगवत्सम्बन्धात् पूर्वकालीनः  
प्राकृतो देहस्तदपगमे यथा गोपीनां न शोऽस्तया स्वदेहेपि कार्यमित्यर्थः । अत्र गोपभा-  
र्याशब्दे उच्यमाने पुंवद्भावानुपपत्तिः तेनान्यथा व्याख्यातम् ॥ ६ ॥

भगवदिच्छातः प्राप्ते दुःखे यथाऽप्रतिकारस्तथा नदिच्छाप्राप्ते स्वयन्ने विनैव  
दुःखप्रतीकारेपि मम सुखं मासित्वति बुद्ध्या दुःखाभावसम्प्रादकहेतुनिवृत्तावाप्रदं न  
कुर्यादित्याहुः प्रतिकारो यदृच्छात इति ।

प्रतिकारो यदृच्छातः सिद्धश्चेन्नाग्रही भवेत् ।

भार्यादीनां तथान्येषामसत्तथाक्रमं सहेत् ॥ ७ ॥

भार्यादीनामिति । भार्या आदिर्षेषां पुत्रादीनां तथैवान्येषां पोषणवर्गाणां,  
असत्तथा भार्यादिमध्ये स्वतोऽत्यन्तनिकृष्टस्य सद्योपस्थाप्यक्रमं तत्कृतितिरस्कारमपि  
सहेतेत्यर्थः । अत्र सहेदिति परस्मैपदं 'सह मर्षण' इत्यात्मनेपदिनो न सङ्गच्छते यद्यपि,  
तथापि सहनं सह इति व्युत्पत्त्या 'अच्' मत्पये कृते, पश्चात्सहकरोतीत्याचरतीति वा पर-  
स्मैपदं ज्ञेयम् ।

तथा पूर्वं भगवदिच्छया प्राप्तस्य स्वयमत्नं विनैव सुखदःखादेः सहनमुक्तमि-  
दानीं स्वकृतिसाध्यं सुखादिकं न कार्यमित्याहुः स्वयमिति ।

स्वयमिन्द्रियकार्याणि कायवाङ्मनसा त्यजेत् ।

अशूरेणापि कर्तव्यं स्वस्यासामर्थ्यभावात् ॥ ८ ॥

इन्द्रियकार्याणि । तच्चदिन्द्रियसाध्यविषयभोगः । तं तु कायेन वाचा मनसा  
त्यजेदित्यर्थः । कायवाङ्मनसेत्यत्र द्बन्द्वैकवद्भावादेरुचनं ज्ञेयम् । दुःखं शोडुमशक्तेनापि  
तदर्थं हृद्दसेवनवैराग्यादिकं कर्तव्यं, न त्वाहृत्य धैर्यमेव । तत्र हेतुः, स्वस्यासामर्थ्य-  
भावात् इति । भावनं परिदृश्यमानत्वमिति ।

कर्तव्यान्तरमाहुरशक्य इति ।

अशक्ये हरिरेवास्ति सर्वमाश्रयतो भवेत् ।

सर्वप्रकारेणाश्रयार्थं हरिरेवास्ति मम शरणमिति बुद्धिमाश्रित्य विष्टनः सर्व-  
मैहिकं पारलौकिकं च भवेदित्यर्थः ।

उपसंहरन्ति-एतदिति ।

एतत्सहनमत्रोक्तमाश्रयोतो निरूप्यते ॥ ९ ॥

क्रममाप्तमाश्रयं निरूपयन्ति-आश्रयोन् इति। अत इति धैर्यनिरूपणानन्तरमित्यर्थः।  
आदौ फलितं रूपमाहुः-ऐहिकेति ।

ऐहिके पारलोके च सर्वथा शरणं हरिः ।

दुःखहानौ तथा पापे भये कामाद्यपूरणे ॥ १० ॥

भक्तद्रोहे भक्त्यभावे भक्तैश्चातिक्रमे कृते ।

अशक्ये वा सुशक्ये वा सर्वथा शरणं हरिः ॥ ११ ॥

अहङ्कारकृते चैव पोष्यपोषणरक्षणे ।

पोष्यातिक्रमणे चैव तथान्तेवास्यतिक्रमे ॥ १२ ॥

इहास्मिन् जन्मनि तदुपलक्षिते काले वा भवदैहिककार्यमुच्यते । परोऽस्मादन्यः,  
अन्तरिक्षलोकमारभ्य ब्रह्मलोकपर्यन्तः । चक्षुराद्भगवद्विच्छन्ना कदाचिन्नररुभोगः  
सम्भाव्यते चेत्तत्रापि सर्वप्रकारेण कायेन वाचा मनसा च हरिरेव शरणं मयेति चित्ते  
निश्चित्य स्थेयमित्यर्थः । भगवदीयानां नरकः स्वर्गादिव ननु तामिस्रादिः । अत एव  
विष्णुपुराणेऽप्युक्तम् “वासुदेवे मनो यस्य जपहोमार्चनादिषु, तस्यान्तराशौ मंत्रैश्च देवेन्द्रत्वा-  
दिकं फलम्” सामान्यतः सर्वकार्येषु शरणगमनमुक्तम्, इदानीं तदेव पुनर्निमित्तविशेषेष्वप्यु-  
च्यते। तानि निमित्तानि ‘दुःखहानौ,’ इत्यारभ्य ‘सर्वथा शरणं हरिः’ इत्येतत्पर्यन्तोक्तानि  
हेयानि । दुःखस्य हानौ माप्तावापि हर्षवशेन शरणविस्मरणं न कार्यमित्यर्थः । एवं सर्वत्र  
योग्यम् । पापे प्रारब्धवशाज्जाते, भये शब्दादिकृते, काम इच्छा लौकिकालौकिकसाधा-  
रणी, आदिपदेन धर्मादिरपि, तेषामपूरणेऽनिमित्तौ भक्तेषु द्रोहे जातेपि, अन्यत्र भक्ति  
दृष्टा स्वस्य भक्तिराहित्येन स्पृहाप्रापेपि, भक्तः स्वस्यातिक्रमे कृतेपि तेषु भातिकूल्यं न  
कार्यमितिभावः । अशक्ये स्वयमन्यद्वारा वा कर्तुमयोग्येऽर्थे, सुशक्येऽनायासेन कर्तुं  
योग्येऽर्थे, जन्मत्रापि वा शब्दोऽप्यर्थः । अहङ्कारेण कृतेऽहङ्कारकृते, पोषणञ्च रक्षणञ्च  
पोषणरक्षणे । पोष्याणां पोष्यवर्गाणां पोषणरक्षणे अहङ्कारेण कृतेऽपि । चक्षुरः सर्वत्र  
समुद्यमार्थः । पोष्यवर्गस्य हर्षवशादतिक्रमे सति । अन्तेवासी भगवन्पार्श्वजिज्ञासुः शिष्यः ।  
सर्वाथं सर्वस्मिन्मुक्तामुक्तरूपेऽपि हरिरेवाश्रयणीय इत्यर्थः ॥ १२ ॥

अलौकिकमनःसिद्धौ सर्वथा शरणं हरिः ।

एवं चित्ते सदा भाव्यं वाचा च परिकीर्तयेत् ॥ १३ ॥

अलौकिकमनःसिद्धाविति निमित्तमस्मदी । तेनालौकिकमनःसिद्धयर्थमेव सर्वाथं  
हरिरेवाश्रय इत्यर्थः पर्यवतिष्ठति । एवमिति । विवेकादीनां स्वल्पं पाठशुक्तं तादृशं

सदा चित्ते सम्पगनुसन्धयेम् । वाचा च वचनेनापि परबोधनार्थं स्वार्थमेव वा परि-  
कीर्तयेत् परितः सर्वतः क्लीर्त्तयेत् । चकारात् कायव्यापारयोग्यं कुर्यादपि ॥ १३ ॥

अन्यस्य भजनं तत्र स्वतो गमनमेव च ।

प्रार्थना कार्यमात्रेपि तथान्यत्र विवर्जयेत् ॥ १४ ॥

अविश्वासो न कर्तव्यः सर्वथा बाधकस्तु सः ।

ब्रह्मास्त्रचातको भान्यौ प्राप्तं सेवेत निर्ममः ॥ १५ ॥

यथाकथञ्चित्कार्याणि कुर्यादुच्चावचान्यपि ।

किं वा प्रोक्तेन बहुना शरणं भावयेद्भारिम् ॥ १६ ॥

एवमाश्रयणं प्रोक्तं सर्वेषां सर्वदा हितम् ।

कलौ भक्त्यादिमार्गा हि दुःसाध्या इति मे मतिः ॥ १७ ॥

श्रीमद्ब्रह्माचार्यचरणविरचितो विवेकधैर्याश्रयग्रन्थः सम्पूर्णः ।

अन्यस्य भजनं तत्रेति । तत्र तस्मिन्नाश्रयरूपेण सम्पन्ने, अन्यस्य भगवत्-  
क्तव्यतिरिक्तस्य भजनं सेवनं स्वतो गमनं स्वस्यानाकारितस्य स्वस्य तत्समीपे गमनम् ।  
चकारात्तेन सह शरीरसम्बन्धोपि न कार्यः । कार्यमात्रेपि कर्तुं विहिते स्वधर्माविरो-  
धिनि कर्तव्येर्धे प्रार्थना कार्यतिशेषः । प्रार्थनीयो भगवान् तद्रक्तो वा । अत एव विष्णु-  
धर्मोत्तरे शङ्करगीतासु “अपृष्टा यस्तु यां काञ्चित् क्रियां नारभते हरिम्, अतस्मिन्नाश्रय-  
मर्गादस्तस्य तुष्यति केशव” इति । तथान्यत्रेति । यथा भगवति प्रार्थना तथाऽन्यत्र  
विरोधिनि विशेषेण (ता) वर्जयेत् । यद्वा, भगवति विहिते कार्ये स्वधर्माविरोधिनि प्रार्थना,  
तथा अन्यत्र स्वधर्माविरोधिनि (कार्ये) न कार्येति । ननु भगवत्प्रार्थनायापि भगवोस्तु  
तासाञ्च वदत्येव किमपि, किन्वाचार्योक्तसङ्केतग्रहेणानुमीयते, इदमुक्तमिदं नोक्तमिति । तत्र  
जीवानामविश्वासः सम्भावित इति चेतवाहुरविश्वासो न कर्तव्य इति । आचार्योक्त-  
मार्गे ययविश्वासस्तदा कृतं सर्वं व्यर्थं भवेदित्यर्थः । अविश्वासस्य महाबाधकत्वाद्-  
सन्धानेन सर्वथा स न कार्यं एवेत्यर्थः । विश्वासदात्र्यार्थं किञ्चित्स्पर्णीयमाहुर्ब्रह्मास्त्र-  
चातकाविति । ब्रह्मास्त्रश्च चातकश्च तौ भान्यौ, विश्वासायं स्पर्णीयौ । अत्रापं भारः ।  
यथा हनुमान् ब्रह्मास्त्रेणापतिकार्येण बद्धोपि बन्धकानामविश्वासेन मुक्तः । पश्चादुद्यमः  
सर्वोपि व्यर्थो जातः । अत्राविश्वासस्य महादोषहेतुरेव ब्रह्मास्त्रं दृष्टान्तः । विश्वासपात्रस्य  
सर्वकार्यसम्पादकत्वे चातको दृष्टान्तः । स यथा चातकः कश्चन पत्नी यथा वर्षासु मह-  
ज्जलप्रपन्नास्वाद्य स्वातिनलमल्पमप्यास्वाद्य पुनर्वर्षपर्यन्तं तत्पत्नीसया जीयन् यथा पूर्वमेव

तिष्ठति । तस्य तु सर्वं स्वातिबिन्दुविश्वासेनैव योगक्षेपादिनिर्वाहो यथा, तथा सर्वं विहायाचार्योक्तमार्गविश्वासेन सर्वं भवेदेवेत्यत्र तात्पर्यम् । प्राप्तं स्वमार्गपर्याद्या कर्तव्यत्वेन प्राप्तं सेवेन कुर्यादित्यर्थः । निर्ममो निरहङ्कार इत्यर्थः । स्वयं बहुज्ञत्वाद्यभिमानेनाचार्योक्तौ कुष्ठष्टिरूपत्वं न कार्यमिति भावः । यथाकथञ्चिदिति । लोकरुवेदकुलाचारमाप्तानि कर्माणि येन केनापि प्रकारेण कुर्यान्न तु परित्यजेत् । उच्चञ्च, अवनञ्च, उच्चावनं, तानि उच्चावचानि, उःकृष्टनिकृष्टानि । यद्यपि भगवद्दर्शपिप्तया सर्वाण्यन्यानि कर्माणि हीनान्येव, तथापि लोकानुसारेणोत्तमाधमत्वं ज्ञेयम् । ईदृशापि सर्वथा करणं भगवानेनाह, 'सहजं कर्म कौन्तेय सदोपमपि न त्यजेत्' । आश्रयस्य विवेकधैर्यपिप्तयाऽत्यावश्यकत्वं कर्मज्ञानोपासनादिभ्योपि सर्वथा माधमत्वञ्चाहुः किं वेति । चेति पञ्चान्तरे । विवेकधैर्याद्यसप्तस्य महापापपतितस्यापि यथोक्ताश्रयाश्रयणेनैव सकलपुरुषार्थसिद्धिरित्यर्थेन बहूना मोक्तेन पुनः पुनर्वचनेन किम् ? न किमपीत्यर्थः ।

उपसंहरन्ति एवमिति । एवमप्युना प्रकारेण यदाश्रयणं तत् प्रोक्तम् । आश्रयणरूपं वस्तु प्रोक्तमित्यर्थः । सर्वेषां पतितापतितस्त्रीशूद्रसाधारणायम् । अत एव भगवताप्युक्तम्, 'मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येपि स्युः पापयोनयः, स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेपि यान्ति परां गतिमि'त्यादिना । सर्वथा समयानियमेन । हितमतिसौर्यसम्पादकम् । ननु भक्तिज्ञानरूपादिषु सस्य सर्वं विहाय यथं तदेकरतया स्थेगमिन्यत आहुः कलाविति । भक्तिरादिर्येषां, कर्मज्ञानादयो दुःसाध्या देशकालद्रव्यादिसाधनैर्गुण्येन कर्तुं न शक्या इत्यर्थः । हिशब्दो लोकरूपेणसिद्धिद्योतनार्थः । ननु लोके भवतु मक्यादीनामस्माकं तदकरणे किमायातम् ? इति विशेषज्ञज्ञासायां स्वमम्पनिपत्तिमन्त्र्ये विश्वासार्थमाहुर्मन्तिरिति । मतिः सम्पत्तिरित्यर्थः ।

न शक्यं मे विवेकादिनिरूपणमयापि तु ।

स्वल्पदाम्बुजसन्धानाभरतानीः कृतज्ञानइम् ॥ १ ॥

इति श्रीमदल्लभनन्दनचरणशरणाश्रीमदृगुनाथकृत्वा

विवेकधैर्याश्रयदीपिका

समाप्ता ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवह्नुभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेश्यो नमः ।

श्रीमद्भगवद्दानलावतारश्रीवृद्धभाचार्यचरणविरचितः

विवेकधैर्याश्रयः ।

श्रीगो० श्रीगोपीशविरचिता विवृतिः ।

श्रीमदाचार्यचरणनखचन्द्ररचे नमः ।

हृदि प्रविश्य यद्भवान्तं निर्धूतं मे यथा स्वयः ॥ १ ॥

यत्कृपातो विवेकादिधर्माः स्वीये भरन्ति हि ।

तथाद्गतसम्बन्धिरेणुः क्षरणवसि मे ॥ २ ॥

अथ भक्तिमार्गाद्गीकारेण भगवतो द्वातत्वं प्राप्तस्य सेवायां प्रवृत्तस्य सेरानिराहण  
यत्किदाचार्यो नवरत्नोक्तकविन्तातयागकदने विवेकधैर्याश्रया यथापि तद्गुरोरेण उक्तास्त-  
थापि विवेकादीनां विशेषविप्रानामाभये सेवायां तादृशीं वदता न भविष्यतीति स्वीयानां  
विशेषेण तदाद्यर्थं श्रीमदाचार्यचरणाय विवेकधैर्याश्रयान् विस्मरतो निरूपयन्ति विवेकेति ।

विवेकधैर्ये सततं रक्षणीये तथाश्रयः ।

विवेकस्तु हरिः सर्वं निजेच्छातः करिष्यति ॥ १ ॥

सेवायां प्रवृत्तस्य मयमे विवेकः सर्वपापेशिः । ततो धैर्यम् । एतद्व्यसिद्धपर्य-  
माभयधेति मयः । एवं सति सारान्यनाभय एव कृते सर्वं सेव्यतीत्यन्ते तद्विरूपणम् ।  
तत्र मयमे विवेकज्ञानं निरूपयन्ति विवेकस्त्विति । हरिः सर्वदुःखहर्ता । सर्वं स्त्रीकं  
स्वयमजसाध्यं योगक्षेमादि । अशौकिकं भगवन्मेरीपयिकं च स एव करिष्यति, न  
तु सेवां विहाय स्वयमन्नादिकं कर्त्तव्यमिति प्रथमो विवेकः । यतः सर्वपापवि हृत्-  
हर्ता स एव । मय स्त्रहोहृत्स्वापेशितं करिष्यायेति विधातेन सर्वैव कार्या, न तु मय-  
त्नादिकम् । तन्कारणे कारिर्मुग्यं सेवामनिबन्धादिकं भवतीति एतदेव “विन्ता  
कापी”विस्मोके निरूपितं नवरत्ने । ननु मार्यनायावे कथं करिष्यति तत्रादुर्निजेच्छात  
इति । स अशौकिकः प्रवृत्तः स्वस्वीयानामपेशितं जानाति । सेवामपि जानातीति



तथा न भविष्यतीत्युक्तं श्रीप्रभुचरणैः । किञ्च । यथा स्वदेहादिष्वभिमानस्त्याज्यस्तथा देहादिसम्बन्धिभार्यापुत्रादिष्वपि स त्याज्यः । तेषु स्वात्मना सह भगवतैवाङ्गीकृता इति तदधीना इति तेषामपि योगक्षेपं प्रभुरेव करिष्यतीति सर्वदातुसन्धानेन तदर्थपि प्रयत्नादिकरणं न भविष्यतीत्यपि भावो ज्ञापितः । तत्राप्यभिमानः सम्पद्य सवासनस्त्याज्यो यथा तद्वासनापि न तिष्ठति । एतदेव “ चिन्ता कापी ” तिश्लोके ‘लौकिक्यलौकिकी च सा त्याज्ये’त्युक्तम् ।

एवं श्रीमदान्तर्यामिण्या विवेकादिना सेनाकरणे स्वापेक्षितवस्तुशापिका भगवदाज्ञा, तं मर्याचार्याज्ञानो विशिष्टा चेज्जायते, तदा साक्षा कर्तव्या, तदाहुर्विशेषत इति ।

**विशेषतश्चेदाज्ञा स्यादन्तःकरणगोचरः ॥ ३ ॥**  
**तदा विशेषगत्यादि भाव्यं भिन्नं तु दैहिकात् ।**

चेद्विशेषतः सेनाविषयिण्याज्ञा स्यात्तदा भगवत्प्रेक्षितार्थज्ञाने तद्विशेषगत्यादि कार्यं कर्तव्यम् । नो चेदाचार्याज्ञानुसारेणैव कृतिः कार्या सेवायापि विभावः । ननु साक्षा कथं ज्ञायते ? तत्राहुरन्तःकरणेति । भगवद्दीपस्थान्तःकरणे गोचरः, साक्षा भवति, स्वप्नद्वारा ता ज्ञापयतीत्यर्थः । अथवा, एवं सेवाकरणे यतः स प्रभुरन्तःकरणगोचरो भक्तानामन्तःकरणे मनस्यात्मनि वा, अन्तःकरणं ज्ञानादिकार्यकरणं येनेत्यन्तःकरणे आत्मा वत्र स्थितो भवतीति शेषः ॥ ३ ॥

एवं सति तादृशप्रकारेण सेवाकरणे भक्तस्य सर्वांशे आत्मस्वरूपत्वेन भगवानेन स्फुरतीति साक्षापि ज्ञापन इति । तदा विद्वेषगतिर्भगवत्स्वरूपलौक्योः सम्बन्धिनी वा विशेषगतिः सेवाया ज्ञाना भवेत्, तदादि सर्वं स्नेहभावेन भाव्यं कर्तव्यं, नोचेदाज्ञानुसारेणैवेत्यर्थः । एतदेव “सेवाकृतिरि” तिश्लोके निरूपितं मवरत्ने । ननु कदाचित् लौकिककार्येष्वपि भगवदाज्ञा विशेषेण मनेत्तत्राहुर्भिन्नमिति । दैहिकादेहसम्बन्धिपुत्रादिविवाहोपनयनरूपाङ्घ्रिस्तं यथा भवति तथाज्ञा भवति, न तु लौकिककार्ये विशिष्टाज्ञा । तेन लौकिकं तु सर्वसमर्पणानन्तर सर्वस्य तदापत्कानुसन्धानेन तदचपसादरेण तावन्नात्रमेवावश्यकं यत्कर्तव्यं, न तु विशेषीतादेन घनादिव्ययादिकं कर्तव्यमिष्यादिरूपः पष्ठो विवेको निरूपितः । अथवा, भिन्नमिति विशेषगत्यादिविशेषणम् । तेन दैहिकाङ्घ्रिभविशेषगतिचरणमयनेन विशेषाद्यापि दैहिकविषयिणी न भवत्येतेत्युक्तं भवति, अनर्थरूपत्वात् ।

ननु सेवायामपेक्षितपनादिसाधनाभावे सा कथं निर्वहति? तदा ऋणादिकमपि कृत्वा सामग्यादिकं कार्यं ( सम्पादनीयं ) न वेति, तत्राहुरापद्गत्यादीति ।

आपद्गत्यादिकार्येषु हठस्त्याज्यश्च सर्वथा ॥ ४ ॥

अनाग्रहश्च सर्वत्र धर्माधर्माग्रदर्शनम् ।

विवेकोयं समाख्यातो धैर्यं तु विनिरूप्यते ॥ ५ ॥

आपत्प्राप्तौ यानि कार्याणि भगवद्विषयकाणि, तेषु हठो न कार्यः । ऋणं कृत्वापि मया सर्वं कर्तव्यमेवेति हठो न कार्यः, किन्तु ययालाभसन्तोषेण प्रयत्नाभावेन यत्सम्यक् भवति, तदेव समर्पणीयम्, नान्यत् । मार्गस्थित्या यदेव समर्पयिष्यति तदेव साक्षादङ्गीकरिष्यतीतिभावः । एतदेव 'प्राप्तं सेवेत निर्मम' इत्यग्रे वक्ष्यन्ति च । यत्र भगवत्कार्येष्वपि हठो न कार्यस्तत्र लौकिककार्येषु किं वाच्यमिति कैमुतिकन्यायोपि सूचित इति सप्तमो विवेकः ॥ ४ ॥

ननु वैदिकेषु का व्यवस्था? तत्राहुरनाग्रह इति । सर्वत्र स्मार्तश्रौतादिधर्मेषु अनाग्रह एव कर्तव्यः । भगवत्सेवापि विहाय स्मार्तश्रौतादिधर्माचरणं सर्वथा कर्तव्यमित्याग्रहो न कर्तव्यः । किन्तु भगवदाज्ञया प्राप्तमावश्यकं कर्म सेवानवसरे कर्तव्यमित्यर्थः । चकारात्साक्षाद्भगवत्सम्बन्धिव्यतिरिक्तसर्वेष्वप्यनाग्रह एव कर्तव्य इत्यष्टमो विवेकः । ननु वैदिकधर्मेष्वनाग्रहः कथं भवेत्तत्राहर्धर्माधर्ममिति । धर्माणां स्मार्तादीनामधर्माणां तत्तदकरणजनितानामग्रदर्शनं पर्यवसानविचारः कर्तव्यः, यस्मिन्कृते अपमौ भवेत् स न कर्तव्य इतिभावः । स्मार्तश्रौतभगवद्दर्मास्तु उत्तरोत्तरचलितः, तत्र यथा श्रौतविधौ स्मार्तत्यागे न दोषस्तथा भगवद्दर्मकरणे उभयविधस्यापि त्यागे न दोषः, सर्वाधिकबलवत्त्वादिति विचार्य तद्दर्माणां गौणत्वात्स्वपरमेत्वाभावत्वात्तानाग्रह एव कर्तव्य इति नवमो विवेक उक्तः । यत्र कर्मादिकरण तद्भगवदाज्ञया मार्गोऽभावात्प्रयत्नान्नापेति ज्ञेयम् । एवं भगवत्सेवाविषयकविवेकानुसन्वोपसंहरन्ति विवेकोपमिति । भगवत्सेवायां प्रवृत्तस्य विवेकः सम्पूरककारेण विस्तरेण आख्यातः । एतादृशविवेकेन प्रवृत्तस्य सेवानिर्वाहो भविष्यतीति भावः । एवं विवेकेन सेवायां प्रवृत्तस्य सहिर्भजनसिद्धिमकारमुत्त्वा धैर्यं विना सेना न मिदद्येदिति मुख्यमन्तरमिति तत्सिद्धयर्थं धैर्यं निरूपयन्ति धैर्यमिति । पूर्वमपि "चित्तोद्देशि" इत्यादिना धैर्यं निरूपितं, साम्प्रतन्तु विशेषेण निरूप्यन्त इति विशब्दार्थः । तुञ्जन्दः धैर्योपक्रमज्ञापकः ॥ ५ ॥ तद्गतमेवाहुः त्रिदुःखमिति ।

त्रिदुःखसहनं धैर्यमावृतेः सर्वतः सदा ।

तत्रवद्देहवद्वायं जहवद्गोपभार्यवत् ॥ ६ ॥

प्रयाणामाधिभौतिकद्वीनां दुःखानां सहनं धैर्यं गृह्यते, तत्र देशसम्बन्धजनितं दुःखं भौतिकं, कामादिजनितमिन्द्रियसम्बन्धि तद् आध्यात्मिकं, परीक्षार्थं प्रारब्ध-भोगार्थं वा भगवत्कृतं भगवदर्पस्वापेक्षितकरणविलम्बजनितं तदापिदैविकम् । तेषाम-सहने चित्तपाकुलतया सेवा न सिद्धयेत्तदभावे सेवकस्य स्वधर्महानिरिवेति सेनासिद्धयर्थं तत्सहनेव कार्यमिति धैर्यमुक्तम् । तदप्यामृतेः मरणपर्यन्तं, अपवा यावदायुरपि चेद्भ-येचावदपि धैर्यमेवै रक्षणीयम्, न त्वन्तर्निष्ठा हेया । तदपि स्वर्धनः देहेन्द्रियादिसर्वसम्बन्धि-ष्वप्येकस्य द्वयोर्वा सहनं तन्नास्ति, किन्तु सर्वतः । तदपि सदा निरन्तरं तत्सहजमिति धैर्य-लक्षणमुक्तम् । अतः परं देहाभिमानस्य विद्यमानत्वाद् दुःखसहनं दुष्करमिति दृष्टान्ते-न तदभिमानाकर्तव्यत्वनिरूपणात् तदुपपादयन्ति तत्रकचदिति । तत्रं यया निःसारं भवति हेयत्वेन तत्र नाभिमानः । कदाचित्तन्नाशेपि न दुःखं भवेत् । नवनीतन्तु तत्सारं तत्राभिमानो जायते तन्नाशेपि दुःखमिति तद् युज्यते, तथा देहादिषु तत्सम्बन्धिषु च निःसा-रत्वेन हेयत्वबुद्ध्या तत्राभिमानस्त्याग्यः । तत्राग्रेन तत्कृतमानापमानदुःखेषुपि अमि-मानत्याग्रेन दुःखं न भविष्यतीत्याशयेनोक्तं तत्रकचदेहचदिति, तत्रकचदेहवता देहादिषु तत्सम्बन्धिषु च भाग्यमिति । अनेन भगवत्सम्बन्धिकार्येष्वेव नवनीतवदभिमानो रक्ष-णीय इति सूचितम् । तेन भगवद्दीयानां प्रभुसेवाकरण एव सुखं, तदभावे दुःखम् । न तु देहादितत्सम्बन्धिकृतं तद्भवतीति ज्ञापितम् । एवं भौतिकदुःखसहने दृष्टान्तं निरूप्याध्यात्मि-कतत्सहने दृष्टान्तमाहुः, जडचदिति । आध्यात्मिकं दुःखं इन्द्रियादिसम्बन्धिकामक्रोधा-दिजन्यम् । तत्सहने जडस्य भावना कार्या । जडस्य यया सकलेन्द्रियाणां भगवत्त्वावा-विष्टत्वात् न तदिन्द्रियजन्यदुःखमानम्, जडत्वं च जातम् । तथा सेवायां मृत्तस्यापि सकलेन्द्रियाणां तदीयात्वानुसन्धानेन स्वाभिमानाभावात् भगवत्सेव विनियोगकरणे निरन्तरं तत्सेवागुणकीर्तनस्मरणवेशेन न कापादिजनितदुःखं भवेदित्याशयेनोक्तं जडचदिति । एवं सति यावत्पर्यन्तं जडवद्भावनया निरन्तरं भगवदाविष्टत्वं भवेत्ता-वत्पर्यन्तं तच्चदिन्द्रियदुःखसहनेन सेवा कार्या । न तु विषयभोगादिकं कार्यमिति । अतितुच्छत्वात्तद्देशेन भगवदावेशाभावाच्च । एवमाध्यात्मिकं निरूप्याधिदैविके दृष्टान्त-माहुर्गोपभार्यचदिति । प्रारब्धभोगार्थं परीक्षार्थं वा प्रभुधेद्विलम्बते तदा गोपभार्यानां भावना कार्या । यथान्तर्दृष्टगतानां जारत्बनुद्धिहेतुकप्रारब्धभोगार्थं विलम्बः कृतस्वप्नो-गानन्तरं तत्प्राप्तिजाता तथा ममापि प्रारब्धभोगानन्तरं भगवान् दास्यत्येवेति धैर्येण दुःखं सोढव्यमिति भावः । अत एवामृतेरित्युक्तम् । तासां गुणमयदेहत्यागानन्तरमेव फलं

जावमिति तद्दत्रापि परीक्षार्थं चेद्विलम्बते, तदा तद्यतिरिक्तानां भावना कार्या । यथा तासां रासारम्भे आगमनानन्तरं निषेधवाक्यप्रशरणेपि यज्ञपत्नीवदन्यथाभावो न जातः, किन्तु स्वापेक्षिताभावजनितदुःखभरणेन स्थाणुवदित्यतानां व्याकुलसकलेन्द्रियाणामपि तदुःखं सोढ्वा धैर्यमवलम्ब्य तच्छरणागतिभक्तिप्रार्थानुसार्युत्तरदानमेवाभूत्, न तु गृहादिषु प्रत्यागमनेच्छा जाता । तथास्यापि तादृग्भावनया विलम्बजनितदुःखसहनेन निरुपशितेहेन मार्गस्थितौ भगवान्कलं दास्यतीतिदुःखं सोढव्यमित्युक्तं गोपभार्ययदिति । किञ्च, गोपानां भार्याः, भार्यापदेन भर्तु योग्या यद्यपि तथापि तासां तत्कृतभरणपोषणादिकं नापेक्षितं किन्तु भगवत्कृतमेव । भगवत्कृतवदभावे तासां जीवनमेव न भवति । यतस्तदुपयोगाभावे सर्वमेव भरणपोषणादिसाधनं गृहादिकं रूपकं भवति । एतदुपयोग एव तद्गोप्यत्वेन गृहीतो भवतीति । तथा मधुविलम्बकारण्यपि तदयतिरिक्तदेहादिसम्बन्धि पूर्वोक्तं किमपि न भावनीयं, किन्तु मधुः मय भरणपोषणादिकं करिष्यत्येवेतिनिश्चयेन धैर्येण स्यात्तव्यमिति गोपभार्यपदेन ज्ञाप्यते । किञ्च, श्रीमदाचार्याणां सास्रात्पुरुषोत्तमास्यत्वेन तदुक्तवाचयानामुपनिषद्प्रस्तावदत्र भार्यापदे "हस्यच्छान्दसो ज्ञेयः । स्वकीयानामेतादृश्येव पुद्धिर्भविष्यति, परन्तु कस्य चिद्धान्तस्याशङ्का भवेत्तदभार्यय पसान्तस्तुच्यते । यद्वा, गोपानां भार्यः भरणपोषणयोग्यः, अर्थात्तेषामेव भार्यजन इति यावत् । यद्वा, गोपभार्यः भार्यानां समूहो भार्यः, गोपाना भार्यस्तत्समूह इत्यर्थः । एवं दृष्टान्तरप्रभावनया तच्चदुःखसहनेन फायमनोवाक्प्रचिर्भवेत् । तथा च देहसम्बन्धिभौतिकदुःखसहने मयमं सेवायां महत्तया कायिकी प्रचिर्भवेत्, इन्द्रियसम्बन्ध्याप्यात्मिकदुःखसहने मनो भगवदधिष्ठं भवेदितित्यपत्तिः । ततो भगवत्सम्बन्धितसहने भगवत्कृतविलम्बस्य विरहात्मकत्वेन तत्स्वभावात् निरन्तरं गुणगानकरणे वचोपि तदधिष्ठं भवतीति त्रिधा मपत्तिर्निरूपिता । अत्रैवं ज्ञेयं, देहेन्द्रियादिसङ्गन्धिनश्चेत्तद्विदूला भवन्ति, तदा सेवान्तापत्वेन तेषां परित्यागः फर्षव्य इति सेवाप्रकरणे तत्तार्थदीपे निरूपितं "भार्यादिस्तुल्लभे"दिति, तेन तत्त्यागे रसोपयोगाभावात्वे तिरस्कारादिकं दुर्बन्तीति लोके दृश्यते । तथा सखि भगवदीयस्य तु तेषु क्रोधादिकरणे धार्ष्ट्यरूपं सेनापतिरग्नो भवेदिति तत्सर्वं महत्सेवार्थं सोढव्यमित्यत्र तत्सहनमुक्तमन्यया तदभारे दुःखसर्वैवाभावात् किं सहन स्यादिति भावः ॥ ६ ॥

न्तु तिरस्कारादिना ते चेद् दुःखं न मयच्छेयुस्तदापि किं तेषां त्याग एव कर्तव्य इति चेच्चत्राहुः प्रतीकार इति ।

प्रतिकारो यद्वच्छातः सिद्धश्चेन्नाप्रही भवेत् ।

भार्यादीनां तथान्येषामसतश्चाक्रमं सहेत् ॥ ७

भगवद्विच्छया प्रतीकारः सिद्धश्चेन्नार्थादयो बलुक्त्वा उदासीना वा भवेयु-  
 स्तदा तस्यामे आमहवान् न भवेत्किन्तु अनुकूलत्वे भार्यादिभिरपि सेवां कारयेदु-  
 दासीनत्वे स्वयं कुर्यात् । परन्तु तेषां तथापि योगक्षेममात्रं कर्तव्यं न तु त्यागः ।  
 प्रतिकूलत्वे त्याग एव कर्तव्य इत्याशयेनोक्तं नाग्रहो भवेत् । प्रतिकूलत्वाभावेपि  
 सर्वथा त्याग एव कर्तव्य इत्याग्रहवान् न भवेत् । हठेन त्यागकरणे सतीचीनातामपि  
 भार्यादीनां क्रोधावेशेन स्वस्मिन्देपकर्तृत्वं संभवतीति तेन सेवाप्रतिबन्धकः स्वयमेव भवतीति  
 तत्र कर्तव्यप्रतिभावः । भौतिकदुःखप्रतीकारे परिमितं व्ययस्या । आध्यात्मिकदुःख-  
 प्रतीकारेपि व्ययस्योच्यते । सकलेन्द्रियाणां स्वस्वविषयभोग्यवस्तुत्यागे दुःखं भवति ।  
 तद्वगवद्विच्छया स्वभोगार्थं तेषु पुरैव प्रवृत्तिरेव न भवेत् चेत्तदा तज्जनितसेवान्तरायाया-  
 वात्तरयामे आमहवान् न भवेत् । यतस्तादृशस्य स्त्रकूवन्दनादिसकलभोगसाधनी स्वमनु-  
 निमित्तत्वेनावश्यमपेक्षितेति तदुपयोगे जाते तद्वत्तद्व्ययसाधनेन स्वसौभाग्यरूपत्वेन तदुप-  
 भोगकरणे वाद्याभ्यन्तरशुद्ध्या भगवद्दर्शाविष्टत्वं भवतीति न तस्यागः । एवं सति विष-  
 यभोगार्थं सर्वस्यापि त्यागस्तदभावे तस्यालौकिकत्वे फलमध्यपातित्वात् तस्याग इति  
 सूचितम् । इदमेवोक्तं सेवाफले, 'अलौकिकभोगस्त्रित्यादि, आधिदैविकदुःखप्रतीका-  
 र्व्यवस्थायाः । प्रारब्धभोगानन्तरं परीक्षानन्तरं वा भगवान् कृपया सेवोपयोगि घनादिकं  
 दातुमिच्छेत्तदा साक्षात्परम्परया च तद्विच्छया स्वमपत्तं विनैव तत्प्राप्तं भवति,  
 तदपि निरुपाधिकं विहितं शुद्धं चेद् भवेत्तदा तस्यागे आग्रहो न कर्तव्यः । जन्मान्तरे  
 प्रतिबन्धाभावात् मम प्रारब्धादिभोग एव भवतीति, प्रारब्धस्यापि तदधीनत्वात् । किन्तु  
 भगवता सेवोपभोगार्थमेवेदं दत्तमिति मत्ता सर्वं भगवदर्थमेवोपयोक्तव्यं न तु स्वार्थ-  
 मिति भावः । तथा चोक्तमपि, 'निजेच्छातः करिष्यतीत्यत्र स्वीयानामविकृतेच्छात  
 इति । सिद्धान्तश्रुक्तावल्यामपि 'अज्ञतोपयोग्यथापि सायापि मभुणैव सर्वं सम्प्राप्त इति,  
 तथा "कृष्णं परं ब्रह्मे"त्यस्य विवरणे । एवं सामान्यत आधिभौतिकादिदुःखसहनमुद्देशत  
 उक्तम् । अतः परं देहादिसम्बन्धिनः क इत्याकाङ्क्षायां प्रथमं देहसम्बन्धिनो विशेषत आहुः  
 भार्यादीनामिति । भार्यादयो भरणपोषणयोग्यास्ते देहसम्बन्धिषु स्वसमानास्तेषां  
 भरणपोषणमेवापेक्षितं न तु धर्मः, भरणपोषणं नाम सर्ववस्तुनो देहादिपर्यन्तस्य स्ववि-  
 पयको विनियोगस्तदकरणे तेतिक्रमं कुर्वन्ति, तदा तत्सर्वं सहनमेव कुर्यात्तु क्रीयादि,  
 तत्करणे तदावेदेन सेवान्तरायो वाङ्मिषुख्यं स्यादिति । तथाप्येषां बान्धवानां मिया-  
 दीनामुदासीनानां बहिर्मुखानां च पूर्वसापि कनित्पमिलनव्यवहारायकरणेनेष्यथा तेष्यति-  
 क्रमं कुर्वन्ति, तस्यापि सहनमेव कर्तव्यम् । अपवा मकत्वेपि बान्धवानां बन्धुत्वसत्त्वाद्  
 विभागादिजनितद्वेषाणि अतिक्रमः सम्भवति । अथ च, असन्तश्च स्वदासतोपि, यथा  
 भार्यापुत्रादयो देहसम्बन्धिनस्तथा दासो घनसम्बन्धी पोष्येभ्यन्तर्भवति, तेषां सङ्गेन

सोपि चेदतिक्रमं कुर्यात्तदपि ( दुःखं ) सद्यमेवेत्यर्थः । एते तु प्रतिकूला घर्षविरोधिन उक्ताः । चकारात् स्वयम्यानुरोधिनः शिष्ययक्तादयोपि ज्ञेयाः । प्रमादतो जीवस्वभावात् शिष्योप्यतिक्रमं चेत्करोति, भक्तोपि तदा स्वभारम्भादिभोग एवायमिति भावनया धैर्येण तदुःखसहनमेव कर्तव्यं, न तु क्रोधादि । क्रोधादिकरणे तु आहुरावेशेन सेवाप्रतिबन्धो वादिर्भूष्यञ्च स्यात् । किञ्च, शिष्यभक्तयोरपि प्रभुसम्बन्धो वर्तते स्वकृत एव, पुनस्तत्र क्रोधकरणे तदनिष्टं कृतं भवेत्, न हि भगवदीयानामयं स्वभावो यत् ( स्वकीयानां ) स्वाङ्गीकृतानामनिष्टं कुर्वन्ति इति तत्सहनमेव कर्तव्यमिति भावः ।

एवं सेवाप्रतिबन्धकत्वेन भार्यादीनां रमागेन तत्कृतातिक्रमसहने निरूप्य सेवाप्रति-  
बन्धकत्वेन भोगस्यागेपि तत्तदिन्द्रियजनितस्याध्यात्मिकदुःखस्य सहनमाहुः स्वयमिति ।

**स्वयमिन्द्रियकार्याणि कायवाङ्मनसा त्यजेत् ।**

**अशूरेणापि कर्तव्यं स्वस्यासामर्थ्यभावनात् ॥८॥**

स्वयं स्वभोगार्थं इन्द्रियकार्याणि त्यजेत् सेवायां प्रतिबन्धकत्वात् । तानि च ग्रिधा, क्वचित् कायिकानि, क्वचिद्वाचिकानि, क्वचिन्मानसानि भवन्ति । तस्यागकरणेन प्राकृतविषयांस्त्याजयित्वाऽलौकिकेषु तेषु तानि योजनीयानीति भावः । एवं सति याव-  
त्यर्थन्तमलौकिकेषु युक्तानि भवेयुस्तावन्पर्यन्तं तस्यागजनितदुःखं भवतीति तत्सहनमुक्-  
मिति ज्ञेयम् । एवमाध्यात्मिकं निरूप्यापिदैविकं तदाहुरशूरेणापीति । शरन्धभो-  
गार्थं परीक्षार्थं वा विलम्बकरणे स्वापेक्षितवस्तुभाष्यभावाच्चदुःखं सोढुं पश्यन्तूतो धैर्य-  
रहितः, यथा दन्दिः प्रातपह्निकमहाभागे, तथाप्यशूरेणापि तदैर्ष्यं कर्तव्यम् । तत्र हेतुः,  
इत्यस्येति । स्वस्यासामर्थ्यं भावनीयं, पूर्वोक्तदुःखसहने स्वयत्नोप्युक्तः । भगवत्कृत-  
विलम्बे मयत्न एव न, तत्करणेपि विग्रः प्रभुकृतो भवेदिति, स्वमयत्नसाध्यत्वाभावात् ।  
स्वस्यासामर्थ्यभावनया 'तथैव तस्य लीलेरयंनुसन्तानेन धैर्यमेव कर्तव्यमितिभावः ।

ननु स्वशक्यमपि पूर्वोक्तदुःखसहनमशक्यं, इतस्तरां यत्र स्वस्य सामर्थ्यमेव नास्ति  
तत्सहनमिति किमर्थमज्ञापयोपदेश इत्यत आहुरशूरेण इति ।

**अशक्ये हरिरेवास्ति सर्वमाश्रयतो भवेत् ।**

**एतत्सहनमत्रोक्तम्,**

सेवायां महत्तस्य विरेकशैर्ष्यादिद्विषयो चेदशक्तियर्थेचदा हरिरेव शरणमस्ति  
नाय इति मनसि भावनीयम् । विरेकशैर्ष्यादिमयनकरणेषु चेदशक्तितत्त्वात् तदर्थं  
प्रभुशरणगमने दयया स एव सर्वं सम्रादयिष्यतीति भावः । यतः स हरिः सर्वदुःखहतां,  
तदेवाहुः सर्वमाश्रयन इति । आश्रये कृते सर्वं संन्यति । अशक्यमपि शक्यं भवेत् । विरे-  
कोपि भविष्यति, धैर्यमपि भविष्यतीति भावः । यद्वा, तस्मिन्कृते सर्वं हरदास्यं सर्वथा

यदशक्यं च तत्सर्वं भवेद्द्वयया तद्भावे स्वशक्यमपि न भवेदित्यर्थः । किञ्च, प्रयत्नरू-  
पेऽपि तदेव सिद्धयेद्यत्नव्यत् । निःसाधनत्वेन शरणागतौ तरुहया सर्वं प्राप्तयेव सिद्धये-  
दित्यपि ज्ञापितम् । अनेन सर्वसिद्धयर्थमाश्रय एव कर्षव्यो नान्यत् किञ्चिदिति निश्चितम् ।  
एतदेवोक्तं कृष्णाश्रये 'विशेषार्थैश्चत्पादिरहितस्ये'ति । एवं धैर्यलक्षणमुत्सवोपसंहरन्ति  
एतदिति । अत्र भक्तिपार्श्वं पूर्वोक्तप्रकारेणोक्तं मदनस्वरूपमेतत् । अतः परमाश्रयो निरूप्यते ।

आश्रयोतो निरूप्यते ॥ ९ ॥

ऐहिके पारलोके च सर्वथा शरणं हरिः ।

नितरां विशेषेण रूप्यते स्वरूपतः कथयत इत्यर्थः । यद्वा, यत्र एतद्वि-  
शेषादिकं सर्वमाश्रयं विना अशक्यमत आश्रयो निरूप्यते । यस्मिन्कृते सर्वं  
भवतीति प्रथमं समुदायेनाश्रयस्वरूपासाहचर्ये ऐहिक इति । भक्तिपार्शाङ्गीकृतस्य सेवायां  
प्रवृत्तस्य प्रभुसेवाव्यतिरिक्तकर्मकरणस्यास्वधर्मत्वेनैवैहिककारणौकिकतापनकरणाभावात्  
सेवायामप्यन्तरायसाहचर्येन तथात्वाभावाच्च तदुभयमपि कथं सेत्स्यतीति तत्सिद्धयर्थं शर-  
णमेव सर्वोत्पन्ना भावनीयं न तु सेवां विहाय किञ्चित्साधनान्तरं कर्ष्यम् । शरणगतौ  
प्रभुः स्वयमेव सन्सादयिष्यति । यतो हरिः सर्वदुःखहर्ता, स्वकीयानां निरुधिमगव-  
त्सम्बन्ध्यपेक्षिताभावजनितदुःखं हरिष्यत्येवेति भावः ।

एवं समुदायेनाश्रयमुक्त्वा तत्रापि प्रत्येकभेदेन विशेषत आश्रयस्वरूपाहुर्दुःख-  
हानाविति ।

दुःखहानौ तथा पापे भये कामार्थपूरणे ॥ १० ॥

भक्तद्रोहे भक्त्यभावे भक्तेश्रातिक्रमे कृते ।

अशक्ये वा सुशक्ये वा सर्वथा शरणं हरिः ॥ ११ ॥

भक्तिपार्शाङ्गस्य सेवायां प्रवृत्तस्य पूर्वोक्तदेहेन्द्रियादिसम्बन्धाधिभौतिकादि-  
दुःखहानौ धैर्येण तत्कृतचिचोद्वेगाद्यभावार्थं शरणमेव भावनीयं, तेनैव सर्वं सेत्स्यतीति  
प्रत्येकं तत्तत्कार्यं भावनीयमित्यर्थः । तथा पापे पापनिवारणे पूर्वसाधनिके प्रमादाज्जा-  
यमाने च, सेवायां भगवद्विपके देहेन्द्रियादिभगवदपरापादिरूपे च तदेवोक्तं "महं त्वां  
सर्वपापेभ्यः" इति । न तु तदर्थं प्रायश्चित्तादिकं कर्षव्यं, तत्करणे शरणधर्मो गच्छे-  
दित्यर्थः । तथा भये राजचौरादिजनिते, पापादिविपके प्रभ्वपरायविपके च आधिभौ-  
तिकादित्रयं सर्वत्र ज्ञेयम् । कामार्थपूरणे इति । कामानामभिजायाणां देयाः पदायाः,  
ऐहिका भगवत्सम्बन्धिनश्च । तत्राप्यैहिकं द्विविधं, दैहिकमैन्द्रियकञ्च, तत्पूरणे च, तत्रापि  
विशेषमाहुर्भक्तद्रोहे इति । प्रमादतो जीवस्वभाववशात्कृतस्य द्रोहो जातश्चेत् सोपरायः

केनापि दूर्गकृत्तु न शक्यते पर्यादापामपि, किं पुनः पुष्टिमाणं । यथा दूर्वाससोम्बरीष-  
विषये तथास्यापि । तथा सम्भवे शरणमेव भावनीयं नत्वयत् । अन्वत्यभावे सेवायां  
मृत्तस्यपि स्वरूपे ज्येष्ठो न जायते, तदर्थं भक्तैश्च स्वस्यातिक्रमे कृते सति, नहि  
भगवद्दीपानामयं स्वभावो यन्निमित्तं विना यस्य कस्याप्यतिक्रमं कुर्वन्ति । तत्करणे तु  
स्वदीपमेव विचार्य शरणं भावनीयं तद्दीपनिवृत्त्यर्थम् । किञ्च, अज्ञाक्ये वेति । स्वस्य  
कर्तृमन्त्रक्ये कार्यं शरणं भावनीयम् । अज्ञाक्य इत्युक्ते शक्यत्वे स्वमेव कार्यमिति न ज्ञेयं,  
तत्राहुः सुज्ञाक्य इति । सर्वथा शरणं हरिः । स्वस्य सुतरां शक्यमपि, तथापि शरण-  
मेव भावनीयं, प्रभुशरणेनैवेदं सिद्धं नान्यथेति । मभोरिष्यातकरणे स्वस्य सापथ्याभा-  
वात्स्वकृतेनाभिमानान्छरणयमोपि गच्छेदिति सर्वात्मना तदीपत्वानुसन्धानेन शरण-  
मेव भावनीयम् । यथा प्रभुः हरिः सर्वदुःखहर्त्रां अज्ञानपादिदुःखं हरिष्यत्येतेत्यर्थः ।  
अथवा, अज्ञाक्ये भगवत्सम्बन्धिनि साधनासाध्ये, सुज्ञाक्ये साधनसाध्ये लौकिकेपि  
तदेव भावनीयं, न तु स्वमयजः कर्त्तव्यः, तत्करणे शरणमनो नश्येदिति ॥ ११ ॥

अहङ्कारकृते चैव पोष्यपोषणक्षणे ।

पोष्यातिक्रमणे चैव तथान्तेवास्यतिक्रमे ॥ १२ ॥

किञ्च, अहङ्कारकृते चैव जीवस्वभाववशात्केनापि उदासीनेन भक्तेन च सहा-  
हङ्कारः कृतस्तदा तेनासुरावेशो भवत्येवेति, पथाद्विवेके जाते पथात्तापो जायते मयाऽसमी-  
चीनं कृतमिति, तद्दीपपरिहारार्थं शरणमेव भावनीयम् । यद्वा, प्रभुकृपाभरणे मौज्या प्रभुणा  
सद्देवाहङ्कारः कृतस्तदापि दीपपरिहारार्थं तदेव भावनीयम् । किञ्च, पोष्याणां पोषणं रक्षणं  
च, तत्करणेपि तदेव भावनीयं, न तु प्रपन्नः कार्यः । पोष्यातिक्रमणे चैव । पोष्यादीनां  
भाषादीनां चकारादन्येषां चन्दुदासपर्यन्तानामप्यतिक्रमे, तथान्तेवासी स्वशिष्यस्तत्कृते-  
प्यतिक्रमे शरणमेव भावनीयं, न तु क्रोधादियम्, तत्करणे आसुरावेशसम्भवात् । किञ्च,  
तदुपरि स्वस्य क्रोधकरणे शिष्यस्थानिष्ठं भवेत् इति मुक्तिना नायं स्वभावो यदहीकृतं  
त्यजन्तीति । तस्य दण्डादिकं प्रभुरेव करिष्यतीति तत्राभिमानेन न स्वपर्यहानिः  
कार्येति भावः ॥ १२ ॥

ननु प्राकृतानां चित्तादीनामध्यासनिवृत्तिरतिशयिना, तदभावे सर्वमेव कठिन-  
मिति चेच्चानुरत्नाङ्किरेति ।

अलौकिकमनःसिद्धौ सर्वायं शरणं हरिः ।

एवं चित्ते सदा भाव्यं वाचा च परिकीर्तयेत् ॥ १३ ॥

मन इत्युपलक्षणम् । किन्तु सर्वेषां देशदिपादीनां प्राकृतानुसृष्टया यथा  
अलौकिकत्वं भवति तत्सिद्धौ तदनन्तरं सर्वायंऽलौकिकमन्त्रव्यवहारपर्यपरि हरिरियं



शरणं भावनीयो नान्यत्र, तदेवाद्भूरेवमिति । एवं मकारेण चित्ते ज्ञानरूपे, न तु जदे, सदा निरन्तरं भावना कार्या । अप च वाचापि परितः कीर्त्तयेत्शिरन्तरं मुखेन कथयेदित्यर्थः । क्षणपात्रारूपये तदैवागुरभावप्रवेशः स्यादित्युक्तं सदेति । चित्तस्य ज्ञानरूपत्वाभावेपि कीर्त्तनपर्यायस्यैवमिति कीर्त्तनमुक्तम् । एतदेवोक्तं नवरत्ने 'तस्मात्सर्वात्मने'त्येषा'न्तःकरणे तथाभावेऽतथाभावे वा षट्पदमावश्यकमिति । यद्वा, चकारात् कायेन सेवापि कर्त्तव्या, मनसा भावना, वाचा कीर्त्तनमिति त्रिविधापि प्रपत्तिरिह-पिता । एवं सति सर्वमेव पूर्वोक्तं शक्यं भविष्यतीति भावः ॥ १३ ॥

नन्वेवमपि सति महत्प्रशक्य एवार्थे इति शरणं भावनीयः स्वशक्त्या भगवति भारः स्मिर्ष देय इति तदर्थं देवान्तरभजनं चेत् कुर्याच्चरादुरन्यस्येति ।

अन्यस्य भजनं तत्र स्वतो गमनमेव च ।

प्रार्थनाः कार्यमात्रेपि तथान्यत्र विवर्जयेत् ॥ १४ ॥

अन्यस्य देवान्तरस्य भजनं स्वतस्तदर्थगमनमपि वर्जयेत् कुर्यात् । चरा-  
दुत्परेणयापि तत्र न गच्छेत् । यदि न वर्जयेत्तदा शरण्यदार्यो गच्छेदित्यर्थः । इदमे-  
नोक्तं 'न्यासादेशेषु' इत्यत्र 'मदित्तरभजनापेक्षगमि'ति । ननु प्रभो प्रार्थनाया अनुचितत्वाद्  
कदाचित्तरदार्यापेक्षायां देवान्तरादौ प्रार्थना मारं कुर्यात् न भजनगमनादिकं तत्राहुः  
प्रार्थना इति । यथा अन्यस्य भजनगमनादिकं न कुर्यात् तथा कार्यमात्रे महति स्वल्पेपि  
वा प्रार्थना अपि विवर्जयेत् । विशेषेण सर्वथा न कुर्यात्, कापि प्रार्थना न कार्येति  
बहुवचनमुक्तम् । \* अत्र केचन पूर्वपक्षं कुर्वन्ति, प्रार्थनारहिता न वेपीति, यतो लौकिकं  
पारमार्थिकं वा सर्वेषां प्रार्थनीयमस्ति । परमविरक्ता अपि पारमार्थिकं प्रार्थयन्त्येव ।  
केचन श्रुत्यादिकमपि न वाञ्छन्ति, तथापि भगवच्चरणारविन्दानुरागरूपां भक्तिं प्रार्थय-  
न्त्येव । तु तादृग्मत्तुदाराचनन्तरं किमपि न प्रार्थयन्तीति चेत्तद्व्यपन्ते परममेवासक्ति-  
व्यसनवन्तो ब्रजवासिनस्ते तु स्थले स्थले प्रार्थितवन्तः । अन्ये तु श्रुत्यादिकं प्रार्थयन्ति ।  
ब्रजवासिनान्तु दासानलक्षुद्गृह्यादिजनितलौकिकप्रार्थना तिष्ठतीति तद्वदितभक्तजनान्तरात्  
प्रार्थनानिषेधः कथं क्रियते ? तत्रोच्यते । रे दुर्विदग्ध ! सन्दिग्धप्रणय विदग्धेवन्पोसि,  
यतो यद्ब्रह्मादीनां मनसाप्याकलयितुं न शक्यं तत्स्वरूपं ये शुक्तिराः प्रेसासक्तिव्यसनिनः  
येषां तद्व्यतिरिक्तं लौकिकं पारमार्थिकं वा न किञ्चनस्ति । तेषां लौकिकनिदि-  
त्प्रार्थनादिकं प्रर्वीति । यदि वदासि शशुर्कैरुक्तं, तत्रोच्यते । एतत्स्वरूपानभिद् ॥  
स्वरूपनिष्ठः सन् शृणु । येषां तदन्तरस्ये बुद्धिर्गुणायते तेषां तदन्तरात्पदामहिष्णुत्वान्

\* अत्र पूर्वपक्षोत्तरे सप्तपल्लव्येऽ प्रार्थनेऽपि नयत् इत्येकेऽ नस्त । अर्त्तवीर्यवृत्तकथये वसेते । अत्र  
नेमाप्याश्रितेन विदुषा पक्षिते ते स्वताय ।

इहानिष्टे सम्भवे संभवतीति प्रार्थनं व्यसनस्वरभावेन न तु स्वनिष्ठं भवतीति कुतो लौकिक-  
 फलिपित्तप्रार्थनसम्भावनापि । यद्यपि तादृशानां मध्ये अतिष्ठे न सम्भवति, तथापि तत्र  
 क्रीडारसापेक्षेन यत्किञ्चिदपि प्रभौ स्वसाम्पाधिकव्यज्ञाने तन्निरोधार्यं प्रयुणैव क्रियत  
 इति हेतुम् । अन्यथा तन्निरोधो विशेषरसानुबन्ध न भवेत् । एतदेव दातानलपस्वाते  
 गोपेषु भगवति लौकिकभावेन स्वसाम्येनैव क्रीडासक्तेषु, गोषु च तृणलोभेन भगवन्तं  
 विस्मृत्य वनगल्हरं प्रगिष्टानु प्रपत्तिहीनैः सह भगवत्क्रीडा न भवतीति तन्निरोधार्यं प्रयुणैव  
 वनाभिरुत्थायितः । अन्यथा तादृशमश्रुकीडायां विग्रकरणे कः समर्थः । अत एव  
 तत्प्रपन्नन्तरमेव तस्य या ज्ञान्तिः कृता सापि प्रयुणैव कृता न तु साधनैः । तत्केवलं  
 स्वीयत्वं ज्ञापनाय, इतरमन्मध्ये स्वीयत्वामावात् । अग्रे तैरपि तथैव विज्ञापितम् तदा,  
 'नूनं त्वद्ब्रह्मन्वयाः कृष्ण न चाहंन्वयसीदितुं, वयं हि सर्वधर्मज्ञ त्वन्नायास्तत्परायणाः इति ।  
 अस्यार्थस्तु ये केवलं त्वद्ब्रह्मन्वया एव तेपि नावसीदन्ति, किं पुनः प्रपन्ना इति । स्वप्रार्थि  
 ज्ञापयन्ति वयमिति । अत्रार्थं मुदाभिसन्धिः । केवलं च्युतत्वेन तत्स्वभावात् कदाचित्  
 स्वसाम्येनापि प्रयुगा सह क्रीडादिकं संभवति, एवमिदं तत्प्रपन्नानामनिष्टकारकं तदस्माकं  
 पूर्वं ज्ञानमिति स्वापराधनिवेदनं, तथापि सा क्रीडास्माकं त्वां पिना न भवति, किन्तु,  
 त्वया सहैव, त्वन्नतिरेकेण जीवनमेव न भवेदिति विशेषणद्वयेन धोत्यते । अतः सर्वस्वना  
 मपन्नानां नो वनाभिभयं न भवति, किं तर्हि, पूर्वोक्तापराधेन महदनिष्टे सति स्वस्वरूपा-  
 न्तरायस्तु ततोऽप्यमद्य इति मर्त्यनमिव कुर्वन्तः स्वापराधं प्रपत्तिं च ज्ञापयन्ति । अत एव पूर्व-  
 श्लोके सर्वेषां प्रार्थनाया अनौचित्यमित्यभिप्रायेणैव ज्ञातुमर्हथेत्युक्तं, न तु "आशी"ति । पूर्व-  
 मपि काल्पित्तज्ञानन्तरं दाशानलोद्गमे 'न शक्यतुमस्त्वचरणं सन्त्यक्तुपकुतो भयमि'त्येवोक्तम् ।  
 दादृशतु सोढुं शक्यो न तु चरणवियोग इति विवरणे विवृतं, न हि व्यसनव्यतिरेकेणैव  
 वचनं सम्भवतीति भावः । ननु पूर्वमेवं कथमेतादृशी प्रपत्तिर्न कृता तत्राहुः 'सर्वधर्मज्ञे'ति ।  
 सर्वे धर्म त्वमेव जानासि, वयं तु मुडा अतोऽस्माकं तदुपदेशाभावेन तदज्ञानात् क्रीडारसा-  
 पेक्षेन तत्प्रपत्तिपचित्विस्मृतिर्भवतीत्यर्थः । इदानीं प्रमेयवत्त्वादेव तज्ज्ञानं ज्ञातमिति सर्वेषां  
 प्रपन्नानामस्माकं तत्स्वरूपान्तराणो मा भवत्विति स्वरूपाशक्तिस्वभावेनैव प्रार्थनमिव  
 कुर्वन्तः स्वशरणगतितरेव ज्ञापितेति सर्वमनवद्यम् । नन्वेतावदपि प्रार्थितमिति चेत्त्रोच्यते ।  
 रे कृतकानिमितिष्ठितमते ! शृणु । श्रीगोकुलं तु केवलं तदेकपरं, तेषां भावोपि तादृश एवेति  
 तादृशस्य तस्य प्रभुगपि स्वयं तदेकपर एवेत्युभयोः परस्परैकपरत्वमेव लोके ज्ञापयितुं  
 तन्निष्पत्त्येन प्रभुणैव तथा प्रेरितं यथा तैः प्रार्थितं, तदनन्तरं तदैव स्वयमेव साक्षाच्चि-  
 द्वाचिं च कृत्वानिति न तत्कृतप्रार्थितेति निर्गर्भः । प्रकृतेपि प्रपत्त्यभावे कृतेरपि प्रार्थने तत्र  
 फलोतीति स्वस्य तादृशं प्रति तत्परात्त्वाभाव एव ज्ञापयत इति भासः । प्रार्थनादिनिर्पेक्षस्तु  
 ज्ञापनदशायां न तु फलानुभवे । तथा च, श्रीगोकुलं तु फलरूपं फलोपयोगिसर्वैरसात्मकं

भगवता स्वलीलार्थं स्वस्वरूपेणैव साक्षात्पञ्चीकृतम् । सा लीला बहिलोकानुसारिणी, अन्तस्त्वलौकिकी, बहुप्रयोजनगर्भितेति यथा यथा तत्तद्रसात्मिकास्तारुणा लीला भवेयुः, ततः स्वमाहात्म्यगुणादिकं सर्वजनीनं च भवेत्तथा तथा भगवानेव सर्वं करोति, न तु तेषां तत्स्वरूपव्यसनवतां तदन्यदिकञ्चिदपेक्षितम् । अत एव दिनव्यन्यनुग्रहं कर्तुं मनसैव तादृशानां क्षुधामुत्पादितवान् । अन्ययाऽऽकस्मिन् तादृशी दुःसहा सा कथमुत्पद्यते । एवं सति श्रीगोकुले तत्तन्निरोधार्थं सर्वं भगवानेव करोतीति न किञ्चिदूर्ध्वपक्षारसरः । किञ्च, तेषां स्वरूपापेक्षापि आसक्तिव्यसनस्वभावात् एव न तु कृत्रिमा । तादृशी चेद् प्राप्तौ शक्येत । इयं तु तत्प्राप्तावपि उत्तरोत्तरं वर्द्धत इत्येतस्याः सर्वतो भिक्षैव रीतिर्नान्य-मार्गापिपूर्वपक्षादिना यदुपपितुं योऽपेक्षितं दिक् । किञ्च, प्रार्थनं तु यावन्मनोरथं भवति, प्रकृते मनोरथान्तमानन्दं दत्तवान् इति प्रार्थनानपेक्षा एव सर्ववर्धतेति किमर्थं प्रार्थनं भवेत् । यत्र दृश्यते तत्र हेतुः पूर्वमुक्त एवेति सर्वं सुरथम् । एवं सति धीगोकुलस्वरूपास्त्रीलाहरी-नामज्ञानान् तत्प्रार्थनावलीकनेन तदितरस्यापि प्रार्थना कर्त्तव्येतिगम्यो निरस्तः ।

मस्तुतमाहुः । ननु सर्वेषां देवानां धर्माणां च त्यागेन केवलं भगवत्शरणगतावपि को वेद भगवानपेक्षितं दास्यति वा न पेति चेत्तत्रादूरविश्वास इति ।

**अविश्वासो न कर्तव्यः सर्वथा बाधकस्तु सः ।**

**ब्रह्मास्त्रचातको भाल्यो प्राप्तं सेवेत निर्ममः ॥ १५ ॥**

अस्मिन् शरणगमनेऽविश्वासो न कार्यः, यः सर्वथा बाधकः । बाधकत्व-  
दापेक्षयाऽप्यधिकबाधक इति सर्वधेत्युक्तम् । यतोऽविश्वासेन धर्माऽऽगतमन्वये शरण-  
धर्मो गच्छेद्, इदमेवोक्तम् 'अन्यसंमेलने वा प्रत्यागम्याय उक्त' इति तेन विश्वास एव  
कर्त्तव्य इतिभावः । अतः परं विश्वासे कर्त्तं भवत्यविश्वासे नेत्यत्र दृष्टान्तं निरूपयन्ति  
द्व्यप्यारत्रेति । अविश्वासे प्रत्यासन्नं भाष्यं भावनीयमित्यर्थः । यथा इनुमद्विषये प्रयुक्त-  
मपि तेषामविश्वासेन धर्मान्तरसम्बन्धे ततो निर्गमनीयतायात्राप्यविश्वासेन धर्मान्तरस-  
म्बन्धे शरणमन्त्रो यास्यति शरणधर्मो न निवृत्तीति न न कर्त्तव्य इतिभावः ।  
विश्वासे चातको भाष्यः । स्वातिजलविश्वानेन वेत्तं त्रिष्टुति तदा मेयो वर्षयेव, स  
च पितृतीतिभावनया विश्वास एव कर्त्तव्यो न च विश्वासः । शरणगतौ विश्वासे भगवान्  
सर्वं करिष्यतीतिभावः । एवं विश्वासेन शरणस्थितौ भगवदिच्छया मयत्रं विना यदेव  
प्राप्तं भवेदनायासेन स्वल्पमपि तदेव प्राप्य, नत्रापि निर्ममः भगवद्गीमन्वाणत्रापि  
मन्तारहितः सन् प्रभुमेवां बुधांस्तु विनोपार्थं यन्नं बुधांशदेवादुः प्राप्तमिति । नरे-  
तेतिपदेन तन्मर्षं भगवदुपपुत्रमेव बुधांस्तु स्वार्थमिति सूचितम् ॥ १५ ॥

ननु धर्माऽऽगतमन्वये शरणगतायो गच्छतीत्यादौपकर्मोक्तिर्बहिर्दिक्कर्मणापि  
स्याते कदाचिदपामान्यशङ्का स्यान्मार्गे, तद्भावाद्ये तदशरणनकारादूर्ध्वपाकपञ्चिदिनि ।

यथाकथञ्चित्कार्याणि कुर्याद्ब्रुवावचान्यपि ।

किं वा प्रोक्तेन ब्रह्मना शरणं भावयेद्धरिम् ॥ १६ ॥

एवमाश्रयणं प्रोक्तं सर्वेषां सर्वदा हितम् ।

यथाकथमपि मार्गे लोकानामप्राणशङ्का न भवेत्तथोच्चावचान्यारम्यरुत्कीर्तिकर्तृद्विकसम्बन्धीनि कार्याणि मार्गप्राणार्थं मनोरथां ज्ञात्वा तानि कार्याणि, न तु स्वधर्मत्वेनेति । यथा “करिष्ये वचनं तमे”ति पार्थिव भगवदाज्ञा कृता तथेत्यर्थः । एवं सति शरणपदार्थो न गच्छेत् । इति पूर्वोक्ता शङ्का निरस्ता । नदेवोक्तं, पुष्टिपत्राहमर्पादायां “लौकिकत्वं वैदिकत्वं नापद्यतेषु नान्यथे”ति । अथवा, तदर्थमपि फर्मादकरणे न दोषः, शरणपदार्थस्यैव तावद्रूपत्वात्तदाहुः किं चेति । ब्रह्मना प्रोक्तेन क्रिम्, न किञ्चित्सिद्धयति, किन्तु सर्वत्र शरणमेव भावनीयं न तु लोकासङ्गदार्थमपि कर्मकरणम् । तदर्थमपि विधिरूपत्वेन कर्मकरणे शरणपदार्थाभाव इति भावः । एतदेवोक्तं ‘पन्थसम्पन्ने वेगस्य । एवं सति मनोरथां मत्वा कर्मकरणमायातं नान्यथेत्यर्थः । नन्वेवं सर्वस्या ज्ञानेन कदाचित्त्वायं सम्पन्नेत्तदाहुर्हरिमिति । स हरिः सर्वदुःखहर्ता तत्सम्भावनाया स एव पापादिक दूराकरिष्यतीति भावः । एतत्त्वं ‘सर्वेषांनि’त्यस्य निरूपणे न्यासादेतोक्ति-त्पत्र द्रष्टव्यम् । अतः परमुरसंहरन्ति एवमिति । एवं प्रकारेणाश्रयणमाश्रयस्वरूपं यकृतेन साङ्गमुक्तम् । तावता क्रिमिति चेत्यशङ्कः सर्वेषामिति । सर्वेषां जीवनायाश्र-माणा वर्गानां सर्वदा क्रियमाणं सत् कृतं हितकारि, साधनं विनाप्यैहिकारात्लौकिक-सम्पत्तिसाधकमित्यतः परं कियवतिष्यते ।

ननु सर्वपुण्ये साधनैरेव फलं भवतीत्यधुना तानि विहाय केवलं शरणमेव कथमुच्यते, तत्राहुः कलाविति ।

कलौ भक्त्यादिमार्गा हि दुःसाध्या इति मे मतिः ॥ १७ ॥

श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणविरचिनो विवेकधर्मोश्रयग्रन्थः सम्पूर्णाः ।

अन्यपुण्ये धर्मस्यैव प्रायान्याद्विहितभक्त्यादीनां साधनसाध्यत्वात् तैरेव विरि-तमवयुयासनाकर्मादीनां फलं भवति । कस्मिन्तु पापमयान इति साधनानामपसम्भवा-द्विहितभक्त्यादिमार्गा दुःसाध्याः, अप्युत यत् सिद्धिकरणेपि पापशुभमेतेन पाप-मपि जायत इति सर्वथा दुःसाध्याः, यतो यत्र साधनसाध्या अपि भक्त्यादिमार्गाः फलौ दुःसाध्यास्तत्र कृतादिपुण्येवपि यो भक्तिमार्गः मानानामप्यः वैचञ्चलवदनु-मर्ककल्पनस्य फलौ सुतामैव साध्यनामाध्यनेन दुःसाध्यत्वमिति सर्वोपमा शरण-

गतौ भगवान् वादशे भक्तिमार्गेऽप्यनुग्रहं करिष्यतीति, सर्वात्मना शरणमेव भावनीयं,  
नान्यत्कर्त्तव्यमिति स्वसिद्धान्तज्ञापनायोक्तं मे मतिरिति । मे मतिरियेव । तेन स्वग-  
र्गीयागामिदमेव कर्त्तव्यं नान्यदितिभावः ।

श्रीमदाचार्यचरणशरणस्मरणेन मे ।

हृद्यायाता प्रणालीयं ग्रन्थस्याध्वानुसारिणी ॥ १ ॥

भक्तिमार्गे स्वकीयस्य दाढ्यार्थे सर्वथा इमे ।

अपेक्षिता विवेकायास्त्वैतदर्थं तदाश्रयः ॥ २ ॥

श्रीमदाचार्यचरणैरिति ते वर्णिताः स्फुटम् ।

अतस्त एव चरणास्तदर्थं शरणं मम ॥ ३ ॥

॥ इति श्रीधनहृद्यामात्मजश्रीगोपीशचरणविरचिता  
विवेकधैर्याश्रयविवृतिसमेतः

सम्पूर्णा ।



श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनयल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

श्रीभागवतप्रतिपदमणिवरभावांशुभ्रूपितश्रीवल्लभाचार्यचरणविरचितः ।

विवेकधैर्याश्रयः ।

श्रीगोविन्दरायात्मजश्रीगोकुलोत्सवविरचिता विवृतिः ।

यथादाग्नाश्रयादासन् सर्वे पूर्णमनोरथाः ।

तमेव गोकुलापीशं सर्वसिद्धये सप्ताश्रये ॥ १ ॥

अथ सकलकर्मादिमार्गाधिकारेषु सत्सु भक्तिमार्गानुसारेण भगवदाश्रय एव सर्वपुरुषार्थसाधकस्त्वदाश्रये च विवेकधैर्यं हेतु । तथाहि । विवेके सति सर्वोत्पत्तं भगवति हात्वा तदाश्रयं करोति जीवः । धैर्यं च सति दार्ढ्यं भवति, तेन विवेकधैर्याभ्यामविरतं भगवदाश्रयो भवति तत्र स्वीयानां भक्तिसिद्धयर्थं विवेकधैर्याश्रयान् आचार्या निरूपयन्ति विवेकधैर्यं इति ।

विवेकधैर्यं सततं रक्षणीये तथाश्रयः ।

विवेकस्तु हरिः सर्वं निजेच्छातः करिष्यति ॥ १ ॥

विवेकधैर्यं निरन्तरं रक्षणीये । आश्रयो भगवदाश्रयः सोऽपि तथा निरन्तरं रक्षणीय इत्यर्थः । एतेषां रक्षणञ्चैतदनुसन्धानपूर्वकमेव तदनुकूलकृतिकरणम् । मुख्यो भगवदाश्रयः । तदङ्गे च विवेकधैर्यं इति ज्ञापनाय विवेकधैर्ययोरैक्यदेन निरूपणम् । आश्रयनिरूपणं चान्येन । तत्र विवेकरूप प्रथमोद्दिष्टत्वात्मयमं विवेकं लक्षयन्ति विवेकस्त्विति । विवेकस्त्वथमेव, नत्वन्य इत्यन्वययोगव्यवच्छेदार्थस्तुतद्वदः । विवेकस्त्वरूपमाहुः हरिरिति । हरिः सर्वदुःखहर्ता, तेन यत्करिष्यति तद्व्यपमेव करिष्यतीति भावः । तदपि कियत्कार्यं कृत्वा निषिद्धियत इति नास्तीत्याहुः सर्वमिति । निजेच्छातः । तथा च न प्रार्थनीय इत्यर्थः । अत एव प्रवृत्तावचने, 'नान्यथा तेऽग्विउगु-रोर्षदते करुणात्मनः' । 'यस्तु आश्रय आनास्ते न स भृत्यः स वै वणिहः,' अत एव

‘नकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचिन्मत्वादसेवाभिरता मद्गीयाः, येन्योऽप्यतो मागवत-  
मथानाः सभाजन्यन्ते मम पौरुषाणी’त्यादिकावयानि ॥ १ ॥

ननु सेवकैः प्रभुः प्रार्थनीय एवेति चेत्तत्राहुः पार्थिते वेति ।

पार्थितेपि ततः किं स्यात् स्वाम्यभिप्रायसंशयात् ।

सर्वत्र तस्य सर्वं हि सर्वसामर्थ्यमेव च ॥ २ ॥

प्रार्थितेपि ततः प्रार्थनात् किं स्यान्न विमपीत्यर्थः । तत्र हेतुः स्वाम्यभिप्रा-  
येति । यतः प्रभोरभिप्रायः पूर्वं ज्ञातुमशक्यः, प्रभुश्च स्वाभिप्रेतमेव करिष्यति । लौकिका  
अपीश्वराः स्वतन्त्रा भवन्ति किं पुनः सकललोत्सवेश्वरः । ननु निजेजान्तदा करि-  
ष्यति यदि सामग्री सङ्घटिता स्यात् । नयसम्भृतसामग्रीकः किमपि कर्तुं शक्नोतीति  
चेत्तत्राहुः सर्वत्रेति । तस्य भगवतः सर्वत्र सर्वैरिन्द्रैर्वायोग्येपि देसे सर्वयोनिषु च  
सर्वं वस्तु सिद्धमेवास्ति, अमतिहतच्छत्वात् । अत एव किमन्ध्रं भगवति मत्प्रे  
श्रीनिवेतने’ इत्यादि । ननु सम्भृतसामग्रीकोपि यदि स्वयमसमर्थः स्यात् तदा कथं बुधा-  
त्तत्राहुः सर्वेति । ‘यः सर्वज्ञः सर्वशक्तिरिति श्रुतेः । सर्वकारकं सामर्थ्यं विद्यत इति  
साधनन्यूनत्वे साधनमपि सम्भाय फलं दातुं समर्थः । साधनं विनापि फलं दातुं समर्थ  
इत्यर्थः । अत एव अत्रासिन्धो निःसाधनेभ्य एव फलं दत्तवान् । ‘तेनाधीनश्रुति-  
गणा नोपासितमहत्तमाः । अत्रतातमृतपसः सत्सङ्घान्मानुषागतः । वैशलेन हि भारेन  
गोप्यो गावः खगा मृगाः । येन्ये मृदभियो नागाः सिद्धा मामीपुरजमे’त्यादिवाचपात् ।  
अत एव निद्वारक एवकारः । चकारादिच्छापि । नदीच्छा विना कोपि किमपि  
करोति ॥ २ ॥

भगवद्दर्मान् विविच्य जीवधर्मान् विवेचयन्त्यभिमानश्चेति ।

अभिमानश्च सन्त्याज्यः स्वाम्यधीनत्वभावेनात् ।

विशेषतश्चेदाज्ञा स्यादन्तःकरणगोचरः ॥ ३ ॥

सर्वकैः सर्वदा स्वाम्यधीनत्वमेव मनसि भावनीयं दासधर्मत्वात् । स्वर्गोपे-  
पञ्चमी । तथा च स्वाम्यधीनत्वभावनं प्राप्य अभिमानः सर्वथा सम्पत् स्याज्यः ।  
सत्वात्मनसत्याज्य इत्युपसर्गः । अथवा, लौकिकस्वराज्यो नत्वलौकिक इति किनेकार्प-  
सुपसर्गः । अकारादन्त्येपि कामक्रोभादप्यः । ननु भगवद्गीयानां लौकिकं वैदिकं वा यदि  
विशेषतः कार्यं कर्तव्यं स्यात् तदा केन प्रकारेण कर्तव्यमिति चेत्तत्राहुर्विशेषतश्चेदिति ।  
यदि विशेषतो भगवाद्ज्ञासा स्यात्, तदा विशेषतः प्रकारः सर्वोपि कर्तव्यः । न ए

भगवदाज्ञां विना । साप्यन्तःकरणपूर्विका न तु क्रोयेन परिहास्तेन वा, तदाहुरन्तः-  
करणगोचर इति । अजहल्लिङ्गमिदं पदम् । तेन लौकिक आवश्यक व्यवहारे नाज्ञापेक्षा,  
वैदिकेषु नित्यकर्मणि वेदरूपसामान्याज्ञयैव उत्करणम् । उत्पन्नगवदीयानां लौकिके  
वैदिके वा विशेषकार्ये कर्तव्ये भगवदाज्ञापेक्षा ।

तदा विशेषगत्यादि भाव्यं भिन्नं तु दैहिकात् ।

आपन्नत्यादिकार्येषु हठस्तयाज्यश्च सर्वथा ॥ ४ ॥

अत एव राजप्रयोजनेन धर्मराजेन विज्ञापितं 'यज्ञे विभूतीर्भवत' इति । लौकिकेषु  
यावदावश्यकं तावदेव कर्तव्यमधिकन्तु भगवदाज्ञातः । गतिर्गमनम्, तेन विशेषगतिस्ती-  
यादिषाम्ना । आदिषदादन्यदभ्यागन्तुकम् । तथा च, यत्किञ्चिदभ्यागन्तुकं कार्यं,  
तत्र भगवदाज्ञापेक्षा । उत्पत्त्यर्थस्य\* भूषातोष्ये, तस्य भात्यल्लुत्पादयतीत्यर्थः । तथा च  
भाव्यते क्रियत इति भाव्यं कर्तव्यमित्यर्थः । ननु पुत्रादीनामुपनयनविवाहाद्याज्ञाप-  
पेक्षेत न वेत्याशङ्क्य, नेत्याहुर्भिन्नन्तु दैहिकादिति, दैहिकादिभ्यं विशेषकार्यमाज्ञाप  
कर्तव्यं नतु दैहिकमित्यर्थः । तु शब्दः सन्देहकारकः, तेन पुत्रादीनामुपनयनविवाहादिकरणे  
नाज्ञापेक्षा, किन्तु निर्वाहमात्रं कर्तव्यं । न त्वधिको वृथा व्ययादिः कर्तव्यः । ननु विप-  
दादौ कथं व्यवहर्तव्यमितिचेत्त्राहुरापन्नत्यादीति । आपन्नतिरापत्त्यामिस्तत्र यानि  
कार्याणि तेषु हठो न कार्यः, किन्तु यथा सौकर्यमेव विशेषम् । आदिषदाद्भगवदाज्ञा,  
आचार्याज्ञा, भगवदीयानामाग्रहः । तेष्वपि स्वकीयो हठो न कार्यः । ननु विपदादौ हठेऽपि  
का सतिः, भगवतैव तद्वहनिर्वाहात् । न हि भगवान्कदाचिदपि स्वस्तीयानुपेक्षते, 'ये यथा  
यां मप्यन्त' इति भगवत्ववित्तानादिति चेत्, सत्यम् । परन्तन्वयैव कार्यसम्पत्ते प्रभो  
सङ्कोचदानस्यानुचितत्वात् । इदंविषयस्य भगवदनभिप्रेतत्वे निर्वाहभावाच्च । ननुक्रमेव  
मया भगवान् कदाचिदपि मपन्नं नोपगत इति तत्कथमनिर्वाह इति चेत्, सत्यम् । यदि  
सर्वथा मपन्नः स्यात्, परन्तु भगवदनभिप्रेतस्य करणे मपत्तरेव न्यूनत्वात् । न हि सर्वथा  
मपन्नो यः स भगवदनभिप्रेतं कदाचिदपि करोति । तेन सर्वथा मपत्तभावे भागवतोपि  
नावश्यको हठनिर्वाहः । नन्वनभिप्रेतत्वं तेन कथं ज्ञातव्यमज्ञाते तु न तस्य दोष इति चेत्,  
सत्यम् । तथापि सन्देहेऽपि हठस्यानुचितत्वादित्यन्त्रं विस्तरणे । एतत्सर्वप्रभिसन्धापाहः  
सर्वथेति । सर्वथा सर्वैः प्रकारैः । तथा च केनापि प्रकारेण हठो न कर्तव्य इत्यर्थः ॥४॥

एवं भगवत्कृत्येषु विचार्य लौकिकेषु व्यवस्थामाहुरनाग्रहोति ।

अनाग्रहश्च सर्वत्र धर्माधर्माग्रदर्शनम् ।

विवेकोयं समाख्यातो धैर्यन्तु विनिरूप्यते ॥ ५ ॥



सर्वत्र लौकिके व्यवहारोऽनाग्रहेण कर्त्तव्यः । किन्त्वौदासीन्येन व्यवहर्त्तव्यं, न केवलमौदासिन्यैव कर्त्तव्यं लौकिके, किन्तु भक्तिविरोधिलौकिकांशस्य त्यागोपि कर्त्तव्य इति चकारार्थः । किञ्च, धर्माणां धर्माणां च पर्यवसानविचारेण तदनुसारेण व्यवहर्त्तव्यमित्याहुर्धर्माधर्माददर्शनमिति । एके स्मार्त्तधर्मा अपरे श्रौतधर्मा अन्ये भगवद्धर्माः, ते सर्वेपि सम्प्रदायतिभेदेन द्विविधाः उत्तरोत्तरवलिष्टाः । तत्र स्वाधिकारो विचार्यः । यदि भगवदाज्ञा भवति, तदा सापि विचार्या, भगवदिच्छा च विचार्या, आचार्याज्ञा च विचार्या । तथा च धर्माधर्माणां बलाबलभेदतस्तत्र च विचार्य यथा क्रियमाणे पर्यवसाने उत्तम भवति तथा करणीयम् । तेनैवं पदयोजनिका । धर्माणाधर्माणाञ्च यदर्थं पर्यवसानं तस्य दर्शनं विचारः कर्त्तव्य इति शेषः । उपसंहरन्ति, विवेकोपमिति । अयमेव विवेको नस्त्वय इति ज्ञापनायायमिति । सविस्तरमवान्तरभेदनिरूपणपूर्वकमिति समिति । आख्यातः कथितः । उद्देशानुसारेण धैर्यं लक्षयन्ति धैर्यमिति । विवेकानन्तरं धैर्यं विक्रमो न कार्य इति ज्ञापनाय अव्यधानेन पूर्वोपसंहारोत्तरोत्तरमयोन्निरूपणम् । तुशब्दः प्रकारभेदज्ञापकः विशेषणविस्तरप्रकारेण निरूप्यते ॥ ६ ॥

धैर्यस्वरूपमाहुस्त्रिदुःखेति ।

त्रिदुःखसहनं धैर्यमामृतेः सर्वतः सदा ।

तत्रवदेहवद्भाव्यं जडवद्गोपभार्यवत् ॥ ६ ॥

अयाणांमाधिभौतिकाध्यात्मिकाधिदेविकानां दुःखानां सहनम्, लौकिकायास आधिभौतिको, वैदिक आध्यात्मिको, भगवदर्थ आधिदैविकः । मरणपर्यन्तं सहनमित्याहुरामृतेरिति । तत्रापि मध्ये मध्ये विच्छिद्य सहनं न साधकमित्याहुः सदेति निरन्तरमित्यर्थः । सर्वस्मात्सहनं न तु तत्र हीनमध्यमत्वादिकं भावनीयमित्यर्थः । अन्यासनिवृत्तौ धैर्यं सुकरमिति देहाद्यध्यासनिवृत्तिप्रकारमाहुस्तत्रवदिति । देहवदिति, देहवता सद्गते तत्रवद्भावना कार्या । तथाहि, अत्रैवपाख्यायिका । काचिद्राज्ञी केनचित्पामरेण सम्बद्धचित्ता सती तेन सह सङ्केत कृतयती राजानमहं मारयिष्यामि, तत्र भार्या भविष्यामिति । ततः कस्मिंश्चिदने तं स्थापयित्वा स्वभक्तमयागत्य राज्ञौ राजानं हत्वा तदनं प्रतिष्ठा । तत्र च पतित्वेन कल्पितं तं पुरुषं सर्पदंष्ट्रं दृष्टवती । तदन्तरमितस्ततो अष्टा सती कुत्रचिद्देशे गणिका बभूव । तत्र चाज्ञानात् स्वपुत्रेण सम्भुक्ता । तदन्तरं च प्रसङ्गात् ज्ञातवती प्रमाथं पुत्र इति । तदन्तरमत्यन्तग्लानिमाहया शरीरं त्यक्तुं चिता प्रविष्टा । तत्रापि, वद्वितापमसहमाना ततो निर्गत्य कुत्रचिद्देशे कस्यचिद्रोपस्य भार्या बभूव । तत्र च,

गौरसधिक्येण जीविकां चकार । सा चैकदा स्वसमानाभिवद्भुभिः सह तक्रविक्रपाय निश्चक्राम । मध्येमार्गे केनचित्पयस्युदेन पत्नानि सर्वासां माण्डानि भग्नान्पन्वभक्तु । तदान्याशुभुभुः, सा तु जडास । तदा इसन्तीं तां सर्वाः पप्रच्छुः, कथं त्वं न धुभ्यसि किमिति च इससीति । तदा सा स्वष्टचान्तरूपनेन पत्रनेकेनोचरमदात् । तथाहि,

इत्वा वृषं पतिमवेक्ष्य भुर्गोहृदष्टं देशान्तरे विधिवगाद्रणिक्कास्मि जाता ।

पुत्रं पतिं समधिगम्य चित्वां प्रविष्टा शोभाभि गोपट्टिणी कथमय तक्रमि"ति ॥

तदाहुस्तक्रव्यदिति । साम्भ्येयं वति, तेन यथा तस्यास्तके उदासीनभावना नत्प्रभिवानः, तथा सद्वाते भावनीयमित्यर्थः । इयमाख्यापिकानान्पत्र प्रसिद्धेति सुप्रसिद्धपौराणं दृष्टान्तमाहुर्जडव्यदिति । तृतीये जन्मनि मरुते जडस्तस्य यथा सद्वाते नाभिवानस्तथा भावनीयमित्यर्थः । यथानदः स्ववन्धुसु सद्गं स्वतशानुदासीनेपि रहगणे च सद्गं कृतवान्, तथा श्रीमत्सुचरगारविन्दानुपयुक्तेषु वन्दुस्वपि सद्गो न कार्यः, श्रीमत्सुचरगारविन्दानुस्तेपूदासीनेष्वपि सद्गः कार्य इति जडदृष्टान्तेन सूच्यते । अत एव फर्दमं मति विज्ञापयन्त्या देवहत्या सद्गो यः 'संग्रतेर्हेतुरसत्सु विहितो धिया । स एव साधुषु कृतो निःसद्गत्वापः कवते' ( भा० ३-२३-५५ ) इत्युक्तम् । अत एव फणितदेवनाप्युक्तम्, 'ससद्गमनं पाशमामनः कवपो विदुः । स एव साधुषु कृतो मोक्षशरमाश्रयति' इत्युक्तम् ( भा० ३-२५-२० ) । अत एव दृष्टेणापि मार्गितम्, "ममोचमद्गो कृतनेषु सख्य"मिति ( भा० ६-११-२७ ) । यथा च मयत्रव-जुर्वाणेषु जडे भद्राजीसम्बन्धी चित्रो न जातस्तथा सर्वेष्वेव भगवदीयेषु देवान्तरकृतो चित्रो न भवतीत्यपि सूच्यते । अत एव गर्भस्तुतौ, "द्वेषाभिगुमा विचरन्ति निर्भया विनायकानीकप मूर्दसु प्रभो" इति देवचरने गीयते । किं चहृना, काचोपि न प्रभुर्न कर्तुमिष्टे । अत एव फणितदेवेनोक्तम्, "न कर्हिचिन्मतराः शान्तरूपे नृपदि नो मे निमिषो लेटि हेतिरिति" ( भा० ३-२५-३८ ) । अनिमेषो हेतिः काचः । अत एव ममेनाप्युक्तम् 'ते देवसिद्धारिणीतपवित्रताया ये साधवः सपदशो भगवत्प्रपमाः । शायोवसीदत हर्यैदयाभिगुमाक्षयां कथं न च वयः प्रभवाम्यद्गः' इति ( भा० ६-३-२७ ) वयः काचः । अत एव द्वितीयस्कन्धे द्वितीयाध्याये । न पर कानेति । ( भा० २-२-१७ ) एवं मध्ये सुप्रसिद्धं पौराणं दृष्टान्तमुक्त्वा पूर्वोक्तविज्ञाप्याः साम्भ्येयचरणाय पुनस्तमन्व-न्यनमेव दृष्टान्तमाहुर्गोपिभार्ययदिति । गोपेन त्रिपते बोध्यत इति गोचमार्थः, तस्या देहस्तद यथा तस्या उदासीनपुद्गिस्तथा देहादौ भावपित्यर्थः । ननु तत्र विपयत्रयोदा-भावकप्रनात्तक्रवियस्यसौदासीन्यं तस्या मासीद्विन्दुर्कं, परन्तु देहादौ तस्या उदासी-

नभावः कथं निर्वासीति चेत्, सत्यम्, यदि देहादानासक्तिस्तस्याः स्याच्चदा तद्वि-  
 क्रयेण जीवन्त्यास्तस्या देहादिपोषके तत्रै कथमौदासीन्यं स्यात् ? तेन ज्ञायते तस्या  
 उदासीनयुद्धिरं देहादौ । ननु प्रतिकाराश्रया कृतोपि शोको व्यर्थ इति शोकं न कृत-  
 वती, नत्वनासक्तिर्देहादाविति चेन्नैवम् । प्रतीकाराशक्तिं ज्ञात्वा प्रतीकारोद्यमं मा कुर्वात्,  
 शोकाभावस्तु दुर्निवारः । यो देहो राज्यदशापापनेरुदेहपोषकः सर्वसम्पत्तिसम्पन्नः  
 सर्वसुखसन्दोहनिधानमासीत् एव देहः पश्चात्पामरेण गोपेन पोष्यः, सर्वसम्पत्ति-  
 शुन्यः, सर्वदुःखनिर्धानमजनीति ज्ञापनाय गोपभार्यत्वेन निर्देशः । तथा च, यदर्थं  
 धैर्यं त्यक्तव्यं ताः सम्पदश्चञ्चला इव चञ्चला इति । किमिति । सर्वदा स्यायिसकलपुरु-  
 पार्थमत्तिसणपोषकं मनुष्यादपन्नं (कथं) परित्यक्तव्यमितिभावः । तथा च देहवता तद्वत्त्व-  
 दवद्रोपभार्यवत् स्वदेहादौ भाव्यमित्यर्थः पर्यवसन्नः । देहवता भाव्यमिति तृतीया-  
 समासः । देहावता देहाभिमानवता तेन यत्किञ्चिदभिमानोपि संरक्ष्यः । तथा च  
 भगवत्सेवादिविषयकः सर्वया संरक्ष्यो, लौकिकविषयकस्त्याज्य इति भावः, यद्वा, देह-  
 वतेति मनुष्याधिकारकत्वनियमो व्यावर्तितः । तेन पश्चादिशरीरेत्येवं भाव्यमितिभावः ।  
 अत एव भरतस्य हरिणजन्मन्यप्यध्यासनिवृत्तिः । तदुक्तम्, तस्मिन्नपि कालं समीक्ष्यमाणः  
 सद्वाच भृशमुद्रिप्र आत्मसहचरः शुष्कतृणपर्णवीरुधावर्चमानो मृगत्वनिमिचावसानमेव  
 गणयन्मृगशरीरं तीर्थोदकं किञ्चयुत्ससर्जेति तस्मिन्पुलहाश्रमे । अथवा । त्रिदुःखसह-  
 नमिति । भक्तिविरोधिदुःखनिवृत्त्युपायाकरणेन त्रयाणां कायिकवाचिकमानसिकानां  
 दुःखानां देहपातपर्यन्तं सर्वेभ्यः सहनं धैर्यमित्यर्थः । स्वशरीरस्वीयवस्तुनोरासक्त्या-  
 धिक्ये दुःखाधिक्यसम्भवाद्दैर्यमशक्यं स्यादिति तादृश्यासक्तिर्न कार्येति दृष्टान्तेराहु-  
 स्तत्रकवदित्यादि । जडेन तुल्यं जडवन, तृतीयासपर्याद्वृत्तिः । देह इव देहवत्, सप्तमी-  
 समर्याद्वृत्तिः । जडभरतेन स्वदेह इव देहेष्वासक्तिः कार्येत्यर्थः । गोपभार्यवद्रोपभार्यया  
 तुल्यं, गृहे स्थितायाः स्त्रिया भरणीयत्वात् । भार्यात्वाभावादस्तुत्त्वेन नपुंसकतानिर्देशः ।  
 तत्रकवदिति सप्तमीसमर्याद्वृत्तिः । गोपभार्यया स्वतक इव स्वस्तुत्वासक्तिः कार्येत्यर्थः ।  
 तेन स्वशरीरवस्तुनोनिर्वाहार्थमासक्तिं कृत्वा जडभरतेनेव भगवत्परतया स्थेपमितिभावः ।

ननु यदुक्तं त्रिदुःखसहनं धैर्यमिति तत्र यदि कदाचित् स्वत एव दुःखमतीकारः  
 सिद्धस्तदापि किं तं प्रतीकारं निवार्य दुःखं सोढव्यमेवाहोस्वित्प्रतीकारेण तद् दुःखम-  
 पोषम् ? इति सन्देहे निर्णयमाहुः प्रतीकार इति ॥

प्रतीकारो यदृच्छातः सिद्धश्चेन्नाप्रही भवेत् ।

भार्यादीनां तथान्येषामसतश्चाक्रमं सहेत् ॥ ७ ॥

पदछातः, अनापातेन चेद् यदि प्रतीकारः दुःखमतीकारः सिद्धः सम्पन्नः

स्पात्तदा आग्रही भवेदं दुःखं सोढव्यमेवेत्यामहवाच्यं भवेत् । इदमत्राहुतम्, अत्र हि भगवदाश्रयसिद्धयर्थं विवेकधर्मैः उच्येते । तेन त्रिदुःखसहनरूपं यद् धर्मं निरूपितं तदपि यदि भगवदाश्रयनिमित्तं तदा कर्तव्यं, नोचेत्ययोजनं विना किमिति तत्कर्तव्यं ? 'न हि प्रयोजनमुद्दिश्य पन्थोपि प्रवर्त्तते' इति न्यायात् । अत एव केनचिदुक्तम् 'अनिषिद्धसुख-  
त्यागी पशुरेव न संशय' इति । न केवलं प्रयोजनाभावमात्रं, प्रत्युत विपरितत्त्वमासुरत्वञ्च । अत एव गीतासु भगवताप्युक्तम्, 'अशास्त्रविहितं धोरं तप्यन्ते ये तपोजनाः । दम्भा-  
हङ्कारसंपुक्ताः कामरागबलान्विताः । कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः । माञ्ज्वलन्तः  
शरीरस्थं तान्विद्वद्यासुरनिश्चयानि'ति । यदुच्यते इति, स्वयं तदर्थमापासो न कर्तव्य  
इति सूचितम् । तदर्थमापासकरणे स्वसर्वस्वप्रभुचरणारविन्दविस्मरणं यतः । 'भूमिनि-  
न्दाप्रशंसा नित्ययोगेतिशयाने । संसर्गेस्त्विति विवक्षाणां भवन्ति मातृवाद्य' इति चाकषा-  
द्विन्दायामिति प्रत्ययोत्र । तथा चासदामहवाच्यं भवेदित्यर्थः । तेनायमर्थः पर्यवसतः ।  
यदि किञ्चिदपि भगवतो भगवदीयानां वा कार्यं सिद्धयेत्, तदा स्वतः सिद्धेपि प्रती-  
कारे दुःखं सोढव्यमेव । तत्रापदस्यासत्त्वाभावात् । न हि येन भगवतो भक्तानां वा  
सेवा सिद्धयति, तस्य कदाचिदप्यसत्त्वं भवति । यतो जन्मनो लाभः स एव यत्र भगवतो  
भक्तानां वा कार्यसाधनम् । इदमपि ज्ञेयस्यापरिपारकृद्दशापानुत्पत्ते । परिपारकृ-  
द्दशायां यथा यथा स्वयं क्लेशं सोढ्वा भगवतो भक्तानां वा साधयति, तथा तथा  
परमसन्तोष एवेति दुःखमेव नास्ति किं सोढव्यम् ? । अभिमानस्यैव संसारत्वा-  
दपमानजनितदुःखसहनमतिकठिनम् । तत्रापि स्वापेक्षाया हीनैः कृतोपमान-  
सुतरां सोढुमशयः । तत्रापि स्वस्वार्थीनैः कृतस्ततः सुतरां सोढुमशयस्तेन तत्सहने  
कदाचित्कल्पमिच्छिष्यता स्यादिति "त्रिदुःखसहनमि"ति सङ्क्षेपेणोक्तमपि पुनर्वि-  
शेषत आहुर्भार्यादीनामिति । भार्या आदिर्येषामिति । सर्वे एव बान्धवास्तेषामाक्रमं  
तत्कृतविरस्कारं सहेत् । आसपन्तात्क्रमः पादपिसेरः, शिरसि पादमहारपथेनत्यपि  
विरस्कारं सहेदित्यर्थः । पुत्र अपि कदाचिद्दिभागादिना स्वतया भवन्ति । भार्या तु  
केवलं भर्त्राभैवेति तदकृतविरस्कारो भर्तुरतिदुःसहनादशोपि सोढव्य इति ज्ञानाप  
ममं भार्याया निर्देशः । यथातददुःसहोपि विरस्कारः सोढव्यस्तत्रान्यसहने किं वक्त-  
व्यमिति कैमुतिकन्यायोप्यनेन सूचितः । तथा च, प्रभुचरणनलिनपुगलसमाश्रयणाप  
किं न कर्तव्यमिति भावोऽप्यमूचि । यतोत्रापयनिरूपणार्थं विवेकधर्मैः निरूप्येते ।  
चतुष्पत्ति एकस्य द्वयोर्वा सोढव्यो नास्ति, किन्तु स्वर्धेयामिति ज्ञाननाप यदुत्तरवन् । ननु  
"यद्"दर्शने, इति यातोऽनुदात्तत्वात्सङ्गैदिति परस्मैपदं कथं चहास्तीति चेद्, इत्यम् ।

३० विवेकधैर्याश्रयः श्रीगोविन्दरायात्मजश्रीकुलोत्सवविवृतिसमेतः ।

“अक्षिद् व्यक्तायां वाची”त्यत्रेकारसत्त्वेपि ङकारग्रहणं यत्, तत् ङितामेवात्मानेर्धं नित्यमनुदात्तेतान्तु अनित्यमिति ज्ञापयति । तेन अनुदात्तेतां कदाचिद् परस्मैपदमपि भवति, अत एव पण्डितप्रवणेन बोधदेवेन कविकल्पद्रुमपाठे अयम् उभयपदयुक्तः । अत एव महाकविना शाकल्यमूलेनाप्यधिमत्समेतुयसहस्रयुयन्ताविकलो भवेति मयवानमशासी-दिति प्रयुक्तम् । अत एवानुक्तमप्युहति पण्डितो जनः इतिप्रयोगः । ननु उदासीनाश्चेत् केपि निरस्त्युस्तदा किं करणीयम् इत्याशङ्क्य, तत्रापि यदि तदसहने आश्रये कथना-न्तरायः स्यात्, तदा सोढव्यमित्याहुस्तथान्येषामिति । यथातिदुःसहोपि बन्धूनां तिर-स्कारः सोढव्यस्तयोदासीनानामपि तिरस्कारः सोढव्यः इत्यर्थः । ननु नीचश्चेत् कोपि तिरस्कुर्वात् तदा किं कार्यमित्याशङ्क्य पूर्ववदेवाद्दुरस्तन इति । असतो जात्यादिहीनस्ये-त्यर्थः । यदि भगवत्सेवादिकं निर्वहति तदा तदर्थं म्लेच्छादीनामपि तिरस्कारः सोढव्यः इत्यर्थः । न केवलं तेषां तिरस्कारमात्रं सोढव्यं, प्रत्युत यदि तैः प्रभुसेवादिकं निर्वहति तदा बान्धवा उदासीना म्लेच्छादयश्च त्रयोपि अनुसर्तव्या इति चकारार्थः ।

यथा भगवदर्थमतिदुःसहोपि तिरस्कारः सोढव्यः, तथा प्रभुवरणसमाश्रयणाय प्रतिबन्धरूपः सर्वोपि सुखभोगः सुदुस्त्यजोपि त्यक्तव्य इत्याहुः स्वयमिति ।

स्वयमिन्द्रियकार्याणि कायवाङ्मनसा त्यजेत् ।

अशूरेणापि कर्तव्यं स्वस्यासामर्थ्यभावनात् ॥ ८ ॥

“स्वयं”पदात् श्रीप्रभुसदादत्त्वेन प्राप्तस्य विहितत्वेन प्राप्तस्य च मिष्टाच्चादेः परित्यागाभावः सूचितः । अतएव “स्वयोपभुक्ते”त्यादि । इन्द्रियकार्याणि सर्वेन्द्रिय-विषयभोगात् कायेन वाचा मनसा च स्वयं प्रयत्नेन त्यजेदित्यर्थः । अयमभिसन्धिः, “तस्मात्केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशये”दिति सप्तमे नारदवचनान्निरन्तरं भगव-ज्ज्ञानादिरेव परमपुरुषार्थः । अत एव “तस्माद्भारत सर्वान्मै”त्यादि । “तस्मात्स-र्वात्मना रामन् हृदिस्थं कुरु केशव । छिपमाणोऽपरहितस्तनोवाति पराङ्गतिम् ” । अतस्तत्साधक एव परमलाभकरस्तद्विधानक एव परमदानिहरः । यतश्चिन्तनादि-विच्छेदक एव परमदानिहरः । अत एव सा हानिः “कालोस्ति यत् आपुर्हरति वै पुंसाकित्यादि । भोगश्च स्मरणादिविधानकः । अतः परमदानिहरत्वेन भोगा-स्त्यक्तव्या इत्यर्थः ॥

नन्विदमसह्यतम्, तथादि, अन्येषां यथा तथास्तु, भक्तानान्तु विषया न बाधकाः । यतः सत्स्वपि विषयभोगेषु भक्तिरेव सर्वमाधिरास्ति । अत एव “बाध्यमानोपि मङ्गलः” “अपि चेलुदुराचार” इत्यादि । अत एव मियत्रप्रह्लादाम्बरीपादीनामपि

राज्यादिकरणम् । न हि स्मरणादिविधातकेषु ते प्रवर्तन्ते । अतः कथं भगवद्भाववि-  
 पातका विषया इति चेत् ? स्थानुभवं जानन्नप्येवं वदन् निरण्यपोसि । न हि त्वया भोगं  
 भुञ्जानो भगवच्चरणारविन्दामिनिविष्टचिन्तः कश्चिद्दृष्टचरः श्रुतो वा । ननु श्रुता एव बहवः  
 भियत्रतमभृतय इति चेत् ? रे मूर्ख ! तेषु भोगस्य नाममात्रम्, न हि ते विषयेष्वास्त-  
 क्तचिन्ताः, किन्तु, केवलं मनुचरणपरापणा एव । अतः प्रभोराज्ञया ते राज्यादिकं  
 कृतवन्तो न तु भोगं भुञ्जानाः । नन्वनुभवेन कथं निर्द्धारः प्रमाणसम्पत्तिं विज्ञातुमवत्व-  
 प्रमात्वयोः सन्देहादिति चेत् ? वत्स ! विपलापतिस्ते, यतः प्रमाणसम्पत्तिमपि श्रोतु-  
 कामोसि । अवहितः शृणु । मयं तावद्दीनास्तु श्रीपद्मकुलजलधिसमुद्भवश्रीकृष्ण-  
 चन्द्रोक्तमवधारय । तथाहि, 'विषयान्ध्यायतः पुंसः सङ्गस्तैषूपजायते । सङ्गात् सङ्गापने  
 कामः कापात् क्रोधोभिजायते । क्रोधाद्भवति सम्मोहः-सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः । स्मृति-  
 भ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणयपति' । सङ्ग आसक्तिः, कामोभित्तापः, क्रोधः  
 क्रोपः, सम्मोहो विवेकाभावः, स्मृतिविभ्रमो भगवच्चरणविस्मरणम्, बुद्धिनाशः  
 मुमुद्धिनाशः, प्रणाशः स्वरूपलाभाभावः । शुकौ लीलाप्रवेशे वा स्वरूपलाभस्तदभावः  
 संसारः । अत एव कपिनन्दैरप्युक्तम्, 'चेतः स्वस्वस्य बन्धाय मुक्तये चात्पनो मतम् ।  
 गुणेषु सक्तं बन्धाय रतं वा पुंसि मुक्तय, इति । ( भा-३-२५-१५ ) गुणेषु  
 रूपरसादिषु पञ्चत्वपि विषयेष्विति यावत् । अत एव 'मन एव मनुष्याणां  
 कारणं बन्धमोक्षयोर्हि' इत्यपि । अत एव विषयाविष्टचिन्तानां कृष्णावेशस्तु 'दूत'  
 इत्यपि । भोगेष्वपि स्त्रीसंभोगः सुतरां वापकः, तत्क्षणमेव बुद्धिविषयांस्कर-  
 त्वात् । अत एव कपिनन्दैरपि 'न तथात्प भवेन्मोह' इत्याद्युक्तम् । 'भोगान्त-  
 न्ययय यः सर्वांश्च जातु काम' इत्यादि यथातिरचनम् । 'महस्तेवाद्वाग्वाहुरिरिवादि ऋष-  
 भवारयम् । ननु तर्हि 'वाच्यमानोपि मद्रक्त, ( भा. ११-१४-१८ ) इत्यादिना विष-  
 याणांभावश्चैतत्त्वं पश्यन्मुक्तय इति चेद् ? अत्र वदामः । केवलं भजनं कुर्वाणः कदाचिदि-  
 न्द्रियनिग्रहं कर्तुमशक्नुवन्विषयैः स्ववशः क्लिश्यते, तस्याशययर्थे भगवान् सप्तम इति ।  
 न तस्य तत्प्रापभोगो भवति । अत एव कृपयाहं तथा सन्नादयामीति ज्ञापयितुं स्वयत्-  
 पातज्ञापकं 'मद्रक्त' इति पदमुक्तवान् । अत एव 'जिनेन्द्रिय' इति तस्याऽर्थात्किं  
 ( दृष्ट्वा ) दृष्ट्वापां हेतुमुक्तवान् । अजिनेन्द्रियः इन्द्रियजनयं कर्तुमशक्तः । ईश्वरः केनापि  
 न नियन्तुं शक्य इति कदाचिदेतादृशोपि न क्षमं करोति, तदा तेन पापेन सोभिभूयत  
 एवेतिश्राय इत्युक्तम् । प्रापो बाहुल्येन नतु सर्वथा निषयः । भक्तिरपि प्रगल्भा चेदुत्तरं प्राप्ता  
 भवति, नोनेत्र सप्तमे । तेनैवं पदयोजना, इन्द्रियजनयं कर्तुमशक्तः सन्निर्षयैरो यो मद्रक्तः स  
 विषयैः पराजितो न भवति परपथा मर्त्या । तथा च अनेनापि भक्तिरचरोचरमधिष्ठा फापां,  
 यावत्तदप्यमिन्द्रियनिग्रहश्च फर्चन्व इति सूचितम् । यदा, पूर्वमजिनेन्द्रियः सन् तत्र विषयै-

वाध्यमानोपि, यदा तन्सर्वं परित्यज्य प्रगल्भमक्तिमान् भवति तदा नाभिभूयते इति । अथवा, प्रौढियकारमेव प्रसुराद् 'वाध्यमानोपी'ति । तथाहि, प्रसुरेद्याप्यङ्गीकरोति मर्यादां पुष्ट्या च । तत्र पुष्ट्या यमङ्गीकरोति स नाभिभूयते, प्रगल्भया पुष्टिपार्गापया । एवमङ्गीकारे निमगनाभावात् 'त्याय' इति । यथा राजानोतिहृगयात्राय यत्किञ्चिदपि कार्यमकुर्वाणायापि सर्वस्वं ददति, तस्य सहस्रमप्यपराधान्न मग्न्यन्ते, गालिदानेषु परिहासं मग्न्यन्ते । अन्यस्मै च कार्यमकुर्वाणाय किमपि न मग्न्यच्छन्ति, उच्चैर्भाषणेपि दण्डं विदधति, स्वतन्त्रा एतः, तथा भगवानपि यस्मै अतीव क्लृपयति तस्मै निःसाधनायापि सर्वस्वं ददति, तस्य सहस्रमपि दुराचारात्न मनुते । यत्र क्षुद्राः स्वशुभकण्डहाधिपतयोपि स्वैरचारिणो भवन्ति, तत्र किं वाच्यं त्रिभुवनपरिवृष्टस्य पुरुषोत्तमस्य स्वच्छन्दाऽऽवरणे । यद्यपि मनुः कदाचित्साधनं नापेक्षतेपि, तथापि मर्यादा कदापि कस्यापि न हेया, किन्तु कार्यैव । सर्वेषां प्रभोरिच्छा दुर्ज्ञेया, एतः को वेद् भगवान्कथं वा मनुते, कदाचित्प्रभुः लोकसद्बुद्धार्थमपि काश्यति, कदाचित्देवमपि । अतः कारणे न बाधकप्रकरणे तु कदाचित्प्रभुकोपोपि सम्भावितः । तस्मात् "पाक्षिकोपि दोषः परिहरणीयः" इति न्यायेन करणीयैव मर्यादा । यदि च मर्यादात्यागे प्रभोरिच्छां ज्ञानीयाचदा त्यागेषु न क्षतिः । अत एव गुर्वादिहिननं विदधानोपि पार्थो न दोषभाग् जातः । यदा च ज्ञानस्य भक्तैर्वा प्राचुर्येण देहायतुसन्धानमेव निवर्त्तते तदा त्यागे न दोषः । अत एव नृपभदेवजडभरतादीनां तथैवाऽऽचरणम् । यदा च भगवत्पार्श्वेपु ष्यसनें स्यात्तदा ज्ञात्वापि मर्यादात्यागे न दोषः । अत एव "तावत्कर्माणो"त्यादि । यदा च तत्त्वज्ञानमुत्पद्यते तदापि न दोषः । अत एव "पि चेदसि पापेभ्यः" इत्यादि । तस्मात्पञ्चवपमिन्द्रियनिग्रहः कर्त्तव्य इति सिद्धम् । अत एव "सर्वेन्द्रियोपशान्त्या च" ।

तत्र मग्नवदिच्छया यदा भविष्यति तदा भवत्विति प्रकारकमालस्यं न कार्यं, किन्तु स्वयमुग्रयैन्द्रियनिग्रहः कर्त्तव्य इति ज्ञापनाय स्वयमिति ॥

स्वयमिन्द्रियकार्याणि कायवाङ्मनसा त्यजेत् ।

अशूरेणापि कर्त्तव्यं स्वस्यासामर्थ्यभावात् ॥ ८ ॥

बहुवचनेन सर्वेन्द्रियभोगस्त्याज्य इति सूचितम् । यदा, भोगानत्यज्यन्तमन्यं दृष्ट्वा कदाचित्कथिदालस्यं कुर्यात्तत्राहुः स्वयमिति, अन्यस्त्यजन्तु, वा वा, स्वयन्तु त्यजेन्द्रियर्थः । न ह्यन्यत्रारूपं दृष्ट्वा स्वयमप्यपकृष्टेन भाव्यं, किन्त्वन्यत्रोत्कर्षं दृष्ट्वा स्वयमुत्कृष्टेन भाव्यम् । अत एव तैत्तिरीयोपनिषत्त्राचार्येण शिष्यशिक्षणकारे "यान्यत्साकं सुचरितानि तानि त्ययोवास्यानि, नो इतराणी"त्युक्तम् । भोगस्य सामर्थ्या सत्या धैर्यं दुष्करमिति पूर्वमेव सामग्रीमेव न सम्पादयेदिति ज्ञापनायैन्द्रियकार्याणीति ।

अन्यथा 'भोगोऽस्त्वज्जैदित्येवोक्तं स्यात् । अत एव "मात्रा स्वप्ने"त्यादि । तेन समूलपातं भोगं हन्पादिति पर्यवसितोर्थः । अत एव शब्दादीनिपर्यास्त्यक्तयेत्यादि । त्यागे मकारमाहुः कार्येति । कार्येन वाचा मनसा चेत्यर्थः । हन्द्वासासोयम् । "सर्वो हि हन्तु" इत्येकवचनः । यद्वा, "कायवाम्प्यां सहितं यन्मन" इति मध्यमपदलोपो समासः । तेन कायवाचोर्गौणत्वं तृतीयया सूच्यते । तथा च गुरुषो मानस एव त्यागः । कायिको वाचनिकश्च गौणः । अत एव गीतासु "कर्मेन्द्रियाणि संप्रभ्ये"त्यादि । नन्विदमखिलमशक्तमिव भासति । यतः कठिनतम इन्द्रियनिग्रहः । अत एव गीतासु, "इन्द्रियाणि प्रमाथीनी"त्यादि । उपदेशश्चासम्मतः । न हि शास्त्रप्यशक्तयमुपदिशति । अतः कथमुपदेश इति चैत्राहुरशूरेणापीति । अशूरा इन्द्रियनर्णं कर्तुमशक्तः । तादृशो-  
नापि यथाशक्तोन्द्रियपदमनं कर्त्तव्यम् । तत्र हेतुः, स्वस्येति भावनात्, विचाराणात् । अथमभिसन्धिः । यदि जीवः स्वयं सदोपाश्रितकर्तुं समर्थः स्यात्तदा पर्यादोल्लङ्घनेन जनितदोषाश्रितार्यं सुखी स्यात्, परन्तु, स्वयमसमर्थः न होऽभ्यर्थादां मनसाऽन्यथा भावयितुं कोपीति । अत एव शस्य हि कोलोक-इत्यादि । तथा च, विचारे क्रियमाणे निग्रह एवेन्द्रियाणां कार्यः । अत एव "वेन्द्रियाश्रितनिर्माह" इत्यादि विचारभावप्रयुक्तः । न हि विना विचारं कोपि कुत्रापि प्रवर्त्तते । "न हि मयोजनमनुदिश्य मन्दोपि प्रवर्त्तते" इति न्यायात् । कुतस्तत्राश्रय विवेकी । पदसम्बन्धस्तु, स्वस्यासामर्थ्यविचारणादशूरेणापी-  
न्द्रियनियमनं कर्त्तव्यमिति ॥ ८ ॥

नतु निग्रहः सर्वथावश्यक इति सत्यं, परन्तु यदि कथमपि कर्तुं न शक्नोति तदा किं तस्य नाश एवाहोस्तिकथञ्चिन्निस्तार इत्याशङ्कायापाहुराशङ्क्य इति ।

अशक्तये हरिरेवास्ति सर्वमाश्रयतो भवेत् ।

एतत्सह नमत्रोक्तमाश्रयोतो निरूप्यते ॥ ९ ॥

अशक्तयेर्षं हरिरेवास्ति । रक्षक इतिशेषः । तत्र हेतुः, सर्वमिति । आश्रयतः भगवदाश्रयं कर्तव्यं गुरुषु सर्वं भवेत् । आश्रयन इति पद्यपी वा । इदमशङ्क्यम्, यदि सर्वथाऽशक्त्यं ज्ञाना केनचनं भगवन्लक्षणमेव भावयति तदा दयया भगवानेव तस्य सर्वं साधयति, अतो भगवदाश्रयात् सर्वसिद्धिः । अत एव "किञ्चान-  
हृणो"त्यादि । अतो न तस्य नाशः । अत एव "बौद्धेषु प्रतिनानाहो"त्यादि । सर्व-  
दुःखसां हरिः । तेन दीने परमदुःखालिरपश्यं कार्यं साधयत्येति ज्ञाननाय हरिय-  
दम् । एव कारेणान्यत्पदट्टैः । न ह्यन्यः सर्वेषां सर्वदुःखानि निचार्य सर्वानन्दं दातुं शक्तः । एवं सर्वथाऽशक्तये रक्ष इत्येव भगवद्भावनमपि गौणः पक्षः । मुष्णपरत्रे तु भगवान्  
क्रियपि करोतु, स्पेन तज्जावनमपि न कर्त्तव्यम् । न देशाननपि सद्योचः प्रभो



दातुमुचित इति ज्ञापनाय रक्षक इति विधेयपदस्यास्ययोग एव, किन्त्वध्याहारः ।  
 “ब्रह्मवर्चं पकामस्त्वित्”त्यादिवाक्यात्मनिनियतकार्यसाधका अन्ये, भगवांस्तु सर्व  
 साधयति, “अकामः सर्वकामो वे”ति वाक्यात् । तदाहुः सर्वमिति । अत एव  
 “किमन्यमि”त्यादि । आश्रयत इत्यासमन्ताद् श्रयतः सेवां कुर्वतः “श्रिञ्जेवापां,”  
 सेवा च चित्तस्य तदेकरता, “चेतस्तत्त्ववगमि”ति लक्षणात् । तदनुकूला च या काचन  
 कृतिः, सा सर्वापि सेवैव । अत एव “मानसी सा परामते”ति । तादृश्येव च कृतिः  
 सन्तोषजनिका, सेवा च सन्तोषजनिकैव । “यद्ध्ये”ति वाक्यात् । लोकेपि तात्पर्य-  
 पूर्विकैव कृतिः सन्तोषजनिका । तथा च, स्वज्ञानानुसारेण मनुसन्तोषजनिकां ज्ञात्वा  
 निरन्तरं कृतिः कार्येति सिद्धम् । शतृपत्पयेनाश्रयत्यागे किमपि न सिद्धयती-  
 त्यप्यसूचि । अत एव “पतन्त्यगोऽनाहत युष्मदहम्र” इत्यादि । अशक्य इति पदाच्छ-  
 वयत्वेऽवश्यमिन्द्रियनिग्रहः कर्तव्य इति सूचिनम् । शक्तौ सत्यां भगवांल्लङ्घने प्रभुरपि  
 क्रुद्धयति । अशक्यत्वे दयाविष्टः सन्सर्वमेव साधयतीति निगर्वः । अत एव सखलदुःख-  
 दूरीकरणज्ञापितपरमदयालुत्वज्ञापकं हरिपदं प्रयुक्तवन्तः । अत एव “समस्तदुःखतपय-  
 माशुधत्” इत्यादि । ननुपक्रमे त्रिदुःखसहनं धैर्यमित्युक्तम्, उपसंहारे च विषयभोग-  
 रूपसुखस्य त्याग उक्तः तथा चोपक्रमोपसंहार विरोध इत्याशङ्क्य निराकुर्वन्त उपसंह-  
 रन्त्येनदिति । अत्र धैर्यप्रकरणे एतत्त्रिदुःखसहनमित्यारभ्य यन्निरूपितं तत्सर्वं  
 सहनमेवोक्तमित्यर्थः । न हि दुःखमसोढ्वा भोगत्यागः कर्तुं शक्यते, तेन भोगत्यागे-  
 नापि पर्यवसन्नं दुःखसहनमेवोक्तमिति नोपक्रमोपसंहारविरोधः । नन्विदं न सहच्छते ।  
 तथा हि, भवद्भिः सहनमेव धैर्यमुच्यते, तच्चासङ्गतं, वचनविरोधात्, वचनेषु सर्वत्रोभयो-  
 भेदात् । तानि च “तेजो बलमि”त्यादीनि । अत एव श्रीमदुद्वैः पृथक् पृष्टं, श्रीमन्-  
 दुवंशजलधितेनापि तथैवोत्तरितम् । तस्मादुभयोरैव कथं घटत इति चेद्, अत्र वदामः ।  
 अन्यत्र यथा तथास्तु, अत्रास्मिन्मध्ये एतद्वैर्षमेव सहनमुक्तं न तु भिन्नमिति पद-  
 सम्बन्धः । वस्तुतस्तु द्वयोरैक्यमेव । उक्तप्रश्नोत्तरयोर्भिन्नतया कथनन्तु अवस्थाभेदमा-  
 श्रित्य । नतु क्षमाधृत्योभेदः । अत एवोत्तरे ‘तितिसा दुःखसम्पर्श’इति सामान्यतः  
 सहनमुक्तम् । ‘जिह्वोपस्यजयोष्टितिर्गिति विशेषतः । न हि जिह्वोपस्ययोर्यस्तदुभय-  
 सम्बन्धिदुःखसहनान्द्वयोस्ति । ये हि तदुभयजयनिमित्तं यन्ते ते तयोर्निग्रहे क्रियमाणे  
 जिह्वाविषयस्य सुखादन्नादेरुपस्यविषयस्य रुपादेरलाभेन यद् दुःखमापद्यते, तस्वीदृश-  
 मपि कठिनं सहन्ते नन्वन्यत् किञ्चि कुर्वन्ति । यथा यथा चाभ्यासस्तथा तथाऽनायासेन  
 सहन्ते । अत एव गीतासु क्षात्रस्वाभाविकरूपमु “शौर्यं तेजो धृतिर्दास्यमि”ति धैर्यं  
 गणितम् । न हि जिह्वोपस्ययोर्ययः क्षत्रियाणां सहनो धर्मः, किन्तु, दुःखसहनमात्रम् ।  
 अत एव गीतासु, (११) “धृति न विन्दामि गीतासु (१८) “धृत्या यथा” । उदशकमासु-

सारेणाश्रयमाहुराश्रयोत इति । अत इति ल्यबन्धोपे पञ्चमी । अत इदं द्वयं निरूप्येत्यर्थः ।  
 तेनैवं पदसम्बन्धः । अतः विवेकधैर्यं निरूप्य तदनन्तरमाश्रयो भगवदेकशरणत्वं  
 नितरां विविच्य रूप्यते कथ्यते इति । तथा चातः परमाश्रयो निरूप्यत इत्यर्थः ।  
 यद्वा, हेतौ पञ्चमी । अत आभ्यां विवेकधैर्याभ्यां हेतुभ्यामाश्रयो निरूप्यत इत्यर्थः ।  
 यद्यपि भगवदनुग्रहं विना नाश्रयः सम्भवति, तथापि, यदा साधनद्वाराङ्गीकरोति  
 तदा विवेकधैर्येण साधने । अत इति सदायं तृतीया । सार्धविवेकस्तसिल ।  
 तथा च, विवेकधैर्याभ्यां सदाश्रयो निरूप्यत इत्यर्थः । तृतीयया विवेकधैर्य-  
 योरप्राधान्यं, प्राधान्यं चाश्रयस्यैवेति निरूप्यते । अथवा, एतद् विवेकसहितं सहनं  
 धैर्यमत्रास्मिन्नर्थे उक्तं कथितम् । अतो हेतोराश्रयो निरूप्यते अयमपिसन्धिः ।  
 आश्रयनिरूपणार्थमद्भुत्वेन विवेकधैर्ये उक्ते, तेन यदाश्रयो न निरूप्यते, तदा विवेकधैर्य-  
 निरूपणं व्यर्थं स्यात् । तथा चैवं पदसम्बन्धः । यतः कारणादाश्रयनिरूपणार्थमद्भुत्वेन  
 विवेकधैर्ये उक्ते, अतो हेतोर्विवेकधैर्ययोर्निरूपणस्य सार्धकत्वाय विवेकधैर्यनिरूपणान-  
 न्तरमाश्रयो निरूप्यत इति । बुद्धिस्यवाचकत्वात्सर्वनाम्नां पूर्वं च विवेकसहितमेव धैर्य-  
 मुक्तमिति विवेकसहितमेवैतत्पदेनोच्यते । यद्वा, एतद्विवेकसहितं सहनं धैर्यम्, अत्राश्रये  
 उक्तमभिहितमतो हेतोस्तदुभयनिरूपणानन्तरं यत्रेदं द्वयं निरूपितं स आश्रयो निरू-  
 प्यत इति । तथाहि, अत्र हि भगवदाश्रये क्रियमाणे यादृशे विवेकधैर्ये अपेक्षिते तादृशे  
 निरूपिते, स आश्रयस्तदुभयनिरूपणानन्तरं निरूप्यत इति । आश्रयः आसन्नताद्  
 श्रयः सेवनम्, श्रित्सेवायाम्, अस्मात् घञ् । सेवा च चित्तस्य तदेकपरत्वम्, अत एव  
 “चेतस्तत्त्ववर्णं सेवे”ति लक्षणमुक्तमाचार्यैः । यद्यपि, मनोवाग्देहेः सेवा त्रिविधा,  
 तथापि, मुख्या मनोव्यसनरूपस्नेहात्मिका । अन्या तु सेवा तत्साधनरूपा । अत एव  
 “चेतस्तत्त्ववर्णं सेवे”तिलक्षणमुक्त्वा “तरितद्वयै तनुवित्तजे”ति सेवान्तरस्य तत्साधन-  
 त्वमुक्तम् । मनोवचनरूपायास्तु “मनसी सा परा मते”ति लक्षणात् । अत एव  
 भक्तिरित्युच्यते । शाण्डिल्यसूत्रे “सा परानुरक्तिरीश्वर” इति लक्षणात् । अत एव  
 गारदपञ्चात्रे “स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्त” इति लक्षणमुक्तम्, तत्र माहात्म्यज्ञानपूर्वकं  
 तु अपराधनिवृत्त्यर्थम्, न तु लक्षणे प्रविष्टम् । ध्वणादिलक्षणा तु भक्तिरस्याः साधन-  
 रूपा, अत एव ‘भक्त्या सञ्जातया भक्त्ये’ति । अतः सेवामार्गो भक्तिमार्गश्चैव एव ॥९॥

प्रतिज्ञातमाश्रयं पश्यन्तुष्टयेन लक्षयन्ति, एहिक इत्यादिना ।

ऐहिके पारलोके च सर्वथा शरणं हरिः ।

दुःखहानौ तथा पापे भये कामाद्यपूरणे ॥ १० ॥

भक्तद्रोहे भक्त्यभावे भक्तेश्चातिक्रमे कृते ।

अशक्ये वा सुशक्ये वा सर्वथा शरणं हरिः ॥ ११ ॥

अहङ्कारकृते चैव पोष्यपोषणरक्षणे ।

पोष्यातिक्रमणे चैव तथान्तेवास्यतिक्रमे ॥ १२ ॥

अलौकिकमनःसिद्धौ सर्वथा शरणं हरिः ।

एवं चित्ते सदा भाव्यं वाचा च परिकीर्तयेत् ॥ १३ ॥

एवं चित्त इत्यनेनान्वयः । “मुख्यो मानस” इति पूर्वमानसोक्तिः । तत्र सङ्क्षेपत आश्रयस्वरूपमर्द्धेन पद्येनाहुरैहिक इति, ऐहिके इह लोक सम्बन्धिनि, परलोके परलोकसम्बन्धिनि कार्यमात्रे सर्वथा सर्वैः प्रकारैः हरिः श्रीकृष्णः शरणं रसकोस्तु । एवं चित्ते सदा भाव्यमित्यग्निमेणान्वयः । रक्षणं चात्र हितकारित्वं, न तु प्राण-रक्षणत्वमात्रम्, लोकेपि महाशास्त्रुपस्थितौ धनादिमोषे वा उपस्थिते तस्माच्चिन्वारणे कृते अनेनायं रक्षित इति मयोगः । तेनैहिकपारलौकिकयोर्यथोः सर्वैः प्रकारैस्त्वमेवास्मद्वि-तकारी भवेति प्रार्थना । जीवाः प्रायेण स्वस्य हितमपि न विदन्ति । हितज्ञानेऽपि प्रबलेषु स्वदोषेषु विद्यमानेषु प्रबलैः मत्सूहेः कृत्वा स्वहितं कर्तुं न शक्नुवन्ति । तस्मात्त्वमेव सर्वान्दोषाच्चिन्वार्यं हितं साधयेति भावः कटाक्षितः । केचनैतादृशा ये किमपि न प्रार्थयन्ते, उच्यते त एवेत्यपि ज्ञापयितुमस्त्विति प्रार्थनार्थकक्रियापदस्याप्रयोगः । नन्वेतादृशाः के सन्ति, येयायैहिकं पारलौकिकं च किमपि न प्रार्थनीयमस्ति । न हि परमविरक्ता अपि पारमार्थिकाद्विरज्यन्त इति चेद्, अत्र वदामः । येषां प्रभुचरणारविन्दे व्यसनमस्ति ते मृत्पादिकमपि नेच्छन्तीति पारमार्थिकमपि न प्रार्थयन्ते । अत एव “न नाकण्ठं” “नैकात्मतामि”त्यादिवचनानि । ननु ये मुक्तिं न चाच्छन्ति, तेषु प्रभुचरणारविन्दा-पुरागरूपां भक्तिं चाच्छन्त्येव, न हि भगवदीयास्ततोपि निरपेक्षा भवन्ति । अतः सा भक्तिरेव परमार्थिकी प्रार्थनीयास्तीति प्रार्थनानिरपेक्षाः सर्वदुर्लभा इति चेत्, सत्यम्, दुर्लभा एव, कः सन्देहः, परन्तु, दुर्लभा एव, नत्वलभ्याः, तथाहि, ये चरणारविन्दे व्यसननिस्ते ततोपि निरपेक्षाः । यदि तावदप्यपेक्षितं स्यात्तदा तद्व्यसनमेव न स्यात् । व्यसनं हि तदेव यत्र तद्दिना स्यात्तुमेव न ज्ञातोति, इदमेव (व्यसनं) तत्र प्रवृत्तिनिमित्तं, नत्वन्यत् किञ्चित् । अत एव लौकिकेपि घृणादौ ये व्यसननिस्ते स्या-तुमशक्ता एव तत्र प्रवर्तन्ते, नत्वन्यन्निमित्तमस्ति । ननु धनानैव निमित्तमस्तीति चेत्, रे हृदयशुभम् ? यदि धनानैव निमित्तं स्यात् तदा घृष्टुर्घृष्टुः पराजिता अपि कथं प्रवर्तेरन् ? । सन्देहादेव प्रवर्तन्त इति चेत्, ज्योतिर्विद्भिः समूल्यारतं सन्देहे इतेपि प्रवर्तन्त एव । न ह्युपायसहस्रेणापि तत्तद्व्यसननिः कथमपि तेभ्यो निवर्तन्ते क्वचित् । किञ्च, इदमपि घृते आयाङ्कितं स्यात्, व्यसनान्तरेषु का गतिः, न हि पापद्विपरायणा धैर्यमत्ताः परदाररताथ धनाशया प्रवर्तन्ते, मत्सुत शम्भलीशुक्तसर्वस्वास्ते । तस्माच्चरणारविन्द-

व्यसनिनोपि निमिचनिरिपेक्ष एव, अत एव कपिलदेवेनापि “अनिमित्ता भाग-  
वती”ति फलभक्तिलक्षणं युक्तम् । यदि किमपि निमिचं तत्र विद्यते तदा अनिमिचत्वं  
कथं वदेत् ? अत्रे च “अहेतुवयव्यवहिता या भक्तिः सुरुपोत्तमे” इत्युक्तम् । “कुर्वन्पदैतु-  
किमपि” । अत एव कौण्डिन्यप्रभृतयस्तयाभूताः । अत एव व्रजवासिनामपि तथा  
भावः । ननु यदि व्यसनिनः किमपि न प्रार्थयन्ते, सर्वनिरपेक्षत्वात् तदा व्रजवासिनः  
कथं प्रार्थितवन्तः ? न हि तदपेक्षयाप्यन्ये व्यसनिनः सन्ति, “क्षणं युगशतपि-  
वे”त्यादि वाचयात् । प्रार्थयते च तेनारतमेव । ननु कैरुक्तं तैः प्रार्थयत इति ? शुक्रा-  
दिभिरेव । कुत्र ? श्रीभागवतादावेव । तथाहि, ॥ १२ ॥ “राम ! राम !” ॥ १६ ॥  
“कृष्ण ! कृष्ण !” ॥ २० ॥ “राम ! राम !” ॥ “कृष्ण ! कृष्ण !” ॥ २६ ॥  
“मैवं विभो” ॥ ४४ ॥ “मनसो वृत्तयः” ॥ ७९ ॥ “आहुय ते,” इत्यादिषु  
तत्कर्मकार्थना श्रूयते । न च तत्र प्रार्थनं किन्तु, कथनमात्रमिति वाच्यम्, “इति  
विज्ञापितो गोपैरि”त्यादि शुक्रोक्तिव्याकोपात् विज्ञापनं प्रार्थनमेव, अपि च, अन्ये तु  
मुक्त्यादिनिमित्तं प्रार्थयन्ते, न त्वैहिकनिमित्तम् । एते तु क्षुधादिनिवृत्त्यर्थमपि प्रभुं  
प्रार्थयन्ते । अल्पतमे क्षुधनिवृत्त्यादावपि यदि प्रभुं प्रार्थयन्ते तदा किमुवाच्यं महति कार्ये,  
यत्र निरूपमनिरूपधिनिरवधिस्तिग्धा व्रजवासिनोऽसन्नप्रार्थयन्ते तत्रान्यः को वा सनाथः  
स्वनाथं न नाथेत् । तस्मादपार्थः प्रार्थनारहितान्येषणप्रयास इति चेद्, अत्रोच्यते ।  
प्रथमं वाक्प्रार्थनास्वरूपं विचारय, प्रार्थना नाम कः पदार्थः । ननु मपेक्षमपेक्षितमित्यपे-  
क्षितकथनं प्रार्थनेति चेत्, न, राज्ञः सेवकं प्रत्येवं वचनमपि प्रार्थना स्यात्, न हि सा  
प्रार्थना, किन्त्वाज्ञा । तथा मित्रं प्रति अन्यं कश्चिदुदासीनं प्रति तादृग्वचनमपि  
प्रार्थना स्यात् । न हि सा प्रार्थना किन्तु, कथनमात्रम् । ननु तस्य प्रार्थनात्वे  
किं बाधकमिति चेत्, प्रयोमाभावा एव, न हि तत्र राज्ञा मित्रेण वा इदं प्रार्थयत  
इति कश्चित्प्रयुङ्क्ते । ननु लाभहेतुकं वचनं प्रार्थनेति चेत्, न, प्रार्थनानन्तर लामे  
तद्वचनस्य प्रार्थनात्वं न स्यात् । लाभरूपकार्याभावेन पूर्ववर्तित्वादिरूपकारणत्वा-  
ऽभावात् । न च सा न प्रार्थनेति वाच्यम्, प्रार्थितमनेन न दत्तमिति प्रयोगात् ।  
ननु लाभेच्छया वचनं प्रार्थनेति चेत्, न, प्रजाभ्यो धनं गृह्यतामिति राजाज्ञाया  
अपि प्रार्थनात्वप्रसङ्गात् । करादिसञ्ज्ञया प्रार्थने अच्यप्तिश्च । न च तत्प्रार्थनमेव न  
भवतीति वाच्यम्, इस्तेनायं याचत इति प्रयोगात् । गृहीतमौन्यवस्य भोजनादावपि  
तथात्वात् । स्यादेतत् । न वयं वचनपर्यन्तं वदामः, किन्तु लाभेच्छया यत्क्रियते तत्सर्वं  
प्रार्थनेति, तस्मात्प्रार्थयामः प्रार्थनेति चेत्, मैवम् । एवमप्याप्त्यासिन्वावर्त्तनेपि  
राजाज्ञायामपि त्विर्व्यभिचलेपायितैव । ननु दयोत्पादकं वचः प्रार्थनेति चेत्, मैवम् ।  
शृण्वतां दयोत्पादकं “दुष्टमेनमाशु मारये”ति महादारुणवचसोपि याश्चात्वमसङ्गात् । ननु

सम्बोध्यस्य दयोत्पादकं वचः प्रार्थनेति चेत्, न, आज्ञस्य दयालुत्वे उक्तवचने-  
ऽतिव्याप्तेः । निर्दयं प्रति प्रार्थने व्याप्तेश्च । अश्रवणे चाव्याप्तेः । न चेदं द्वयमपि न  
याञ्चेति वाच्यम्, निर्दयोपमेतत्प्रार्थनां न मनुते, व्यग्रोपमेतत्प्रार्थनां न शृणोतीति च  
प्रयोगात् । किञ्च, “अयं देवदत्तो भृशमकेशीदि”ति प्रासङ्गीकोक्तावप्यतिव्याप्तेः ।  
अथ स्वस्मिन्सम्बोध्य दयोत्पादकं वचस्तथेति चेत्, न, “सखे भृशमकेशिपमि”-  
तिवृत्तान्तवचनेऽतिव्याप्तेः । न हि सुहृत्केशश्रवणेपि नाजुक्मन्ते मनः । अथ दयार्थ-  
सुक्तिः प्रार्थनेति चेत्, न, किं स्वस्मिन्दयार्थमाहोस्वित्तरस्मिन्नुत सामान्यतः । न  
प्रथमः । परार्थं प्रार्थनेऽव्याप्तेः । न द्वितीयः । स्वार्थं प्रार्थनेऽव्याप्तेः । न तृतीयः ।  
“निर्दयमेनं सदयं बुवि”त्युक्तेन देवदत्तेन पूर्वराजकयादिभिः कृते क्रूरराजप्रबोधनेऽति-  
व्याप्तेः । न च या च नैव सेतिवाच्यम् । राजानमयं पुराणादिभिः प्रबोधयतीति  
व्याचत इत्यपि प्रयोगापत्तेः । तस्मात् मीमांसितव्यमेवैतदिति चेत्, न, धात्वर्थविचारेण  
याचनैव प्रार्थना, न च राजादिवचनादावतिप्रसङ्गः । तत्राऽपकर्पाद्यभावेपि प्रार्थना-  
न्वयेष्टत्वात् । अत्र निरपेक्षत्वमपि भगवत्स्वरूपभजनातिरिक्तनिरपेक्षत्वमेव । न हि  
भगवदीया भगवति निरपेक्षाः, तथा सति ज्ञानमार्गीपातात् ॥ १३ ॥

शरणसिद्धयर्थमाहुरन्यस्येति ।

अन्यस्य भजनं तत्र स्वतो गमनमेव च ।

प्रार्थनाः कार्यमात्रेपि तथान्यत्र विवर्जयेत् ॥ १४ ॥

देवान्तरस्य भजनं, तत्र देवान्तरसमीपे मार्गवशाद्यभावेपि स्वेच्छया गमनम्,  
चकारात्तदर्थमन्यभरणं च विवर्जयेत् । भगवति च कार्यमात्रे अल्पेपि कर्त्तव्ये अथवा  
सर्वेषु कर्त्तव्येषु प्रार्थना वर्जयेत् । अत्यशक्यार्थे प्रभौ प्रार्थनायां कृतायापि मुहुः प्रार्थना  
न कार्येति बहुवचनम् । तथा प्रभुवद् अन्यत्र देवान्तरं प्रार्थना विशेषण वर्जयेत् ॥ १४ ॥  
नन्वेवं सति कथमिष्टमिद्धिः? प्रभुरपेक्षितं कुर्यान्न वेति चेत् तत्राहुरविश्वास इति ।

अविश्वासो न कर्त्तव्यः सर्वथा बाधकस्तु सः ।

ब्रह्मास्त्रचातकौ भाव्यौ प्राप्तं सेवेत निर्भ्रमः ॥ १५ ॥

भक्तिमार्गे अविश्वासो न कर्त्तव्यः, “ये यथा मां प्रपद्यन्त ” इति वाक्यात्,  
सः सर्वथा बाधकः । विश्वासस्तु कर्त्तव्यः । जनयोः ( विश्वासाविश्वासयोः ) क्रमेण  
बाधकत्वसाधकत्वयोर्ब्रह्मास्त्रचातकौ भाव्यावनुसन्धेयौ । लङ्कायां राक्षसैर्ब्रह्मास्त्रेण  
बद्धो हनुमान् चलितवान्, ततस्तैरन्यैः पाशैर्बद्धमारव्यो ब्रह्मास्त्रे राक्षसानामविश्वासे दृष्ट्वा  
स्वयमपि ब्रह्मास्त्रमार्थादादृष्ट्वा य ततश्चलितवान् । ततो ब्रह्मास्त्रं व्यर्थमभूत् । एवं भक्तिमार्गाऽ-

विश्वासे भक्तिमार्गोपे सर्वं व्यर्थं भवति । चानकः पक्षिविशेषः, स्वातिर्वर्षिष्यति स्वाति-  
जलमेव मया देयमिति विश्वासेन महद्दन्त्यत् जलं विहाय तिष्ठति, तदर्थं स्वातिर्वर्षति  
स पिवति । एवं भक्तिमार्गे हरिः सर्वं करिष्यतीति विश्वासेन भक्तिमार्गमर्पादां  
गृहीत्वा पस्तिष्ठति, तस्य योगक्षेमनिर्वाहं प्रभुः करोति, “तेषां नित्याभिपुक्तानां योग-  
क्षेमं वहाम्यहम्”ति वाक्यान् । सर्वं भगवत एव, अहं भगवदासो भगवदक्षमेव भगवते  
समर्पयामीति मत्त्वं त्यक्त्वा प्राप्तं सेवेतेत्याहुः प्राप्तं सेवेत निर्मम इति ।

नन्वेवं मत्त्वामाये भगवत्कार्यातिरिक्तं कार्यं न कर्त्तव्यमिति चेत्त्राहुर्यथा-  
कथञ्चिदिति ।

यथाकथञ्चित्कार्याणि कुर्यादुच्चावचान्यपि ।

किं वा प्रोक्तेन बहुना शरणं भावयेद्धरिम् ॥ १६ ॥

उच्चावचान्यनेकप्रकारकाणि, वैदिकानि लौकिकान्यप्यविरुद्धानि कार्याणि ।  
यथा कथञ्चिद् न विस्तारेण कुर्यात्, व्यवहारोपयोगित्वाद्, व्यवहारस्य परम्परया  
भगवद्भक्तोपयोगित्वादित्यर्थः । कियन्तः प्रकाराः वक्तव्या इति सङ्क्षेपेणाहुः किं वा  
प्रोक्तेन बहुनेति । वर्मभिर्न मम निस्तारः, किन्तु, भगवदात्मया कृतैः भगवान्यसक्तः  
शरणं भवति इति भावयेदित्याशयेनाहुः शरणं भावयेद्धरिमिति ॥ १६ ॥

नन्वाश्रयनिरूपणेऽन्यस्य भजनवर्जनादिकं किमित्युक्तमित्याहुः यादुरेवमाश्रय-  
णमिति ।

एवमाश्रयणं प्रोक्तं सर्वेषां सर्वदा हितम् ।

कलौ भक्त्यादिमार्गा हि दुःसाध्या इति मे मतिः ॥ १७ ॥

इति श्रीमद्भैरवानरश्रीब्रह्मभाचार्यचरणविरचितो

विवेकधैर्याश्रयः सम्पूर्णः ।

“यावदन्याश्रयस्तावद्भगवानपि ते जनम् । आलोकयेत् कृपया, अनन्यजन-  
वत्सल” इति महादवाक्यात् । अन्यमजने सम्भगाश्रयणमेव न सिद्ध्येदिति तदभाव-  
स्याङ्गत्वात् मयाधिकाररूपत्वात् । अनेन प्रकारेण साद्धमाश्रयणमेव प्रोक्तं तत्सर्वेषां  
वर्णानामाश्रयणां च सर्वकालं सुखकारि । त्रु सुख्या भक्तिः कुतो नोच्यत इति  
आनन्दस्य, “प्रायेणात्यायुषः सूत कलावस्मिन्गुणे जनाः । मन्दाः सुमन्दमतपो मन्द-

४० विवेकधैर्याश्रयः श्रीगोविन्दरायात्मजश्रीकुलोत्सवविट्टिसमेतः ।

भाग्या लुपद्रुता” इति कलावेतादृशा जनाः किं साधयेयुः ? अश्वत्थोपदेशे वाज्नासत्त्वं स्यात् । इत्येवमाश्रये क्रियमाणे भगवान्कृपया भक्तिमपि दास्यतीत्याशयेनाहुः कलौ भक्त्यादिमार्गा हि दुःसाध्या इति मे मतिरिति । भक्तिरादिर्येषां ते भक्त्यादयः । तेन च ते मार्गाश्च भक्त्यादिमार्गाः । प्राचादिकभक्तिमार्गो मर्यादाभक्तिमार्गः पुष्टि-भक्तिमार्गश्चेत्यर्थः ॥ १७ ॥

विवेकधैर्याश्रयाणां विट्टतिः कृतिशर्मणे ।

श्रीगोविन्दसुतेनोक्ता गोकुलोत्सवसूरिणा ॥

इति श्रीमद्वल्लभनन्दनचरणैकनानश्रीगोविन्दरायात्मजश्रीगो-  
कुलोत्सवविरचिता विवेकधैर्याश्रयविट्टतिः सम्पूर्णा ।



श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

श्रीद्वैश्वानरावतारश्रीमद्वल्लभाचार्यचरणविरचिनः ।

**विवेकधैर्याश्रयः ।**

श्रीश्यामलसुतश्रीत्रजरायचरणविरचिता विवृतिः ।

यत्प्राप्तिमात्रतो नूनं रतिः स्याद्गोकुलाधिपे ।

स श्रीमदाचार्यपादरेणुर्मेघं प्रसीदतु ॥ १ ॥

अथ श्रीमदाचार्यचरणा निबन्धे वैदिकयोः कर्मज्ञानमार्गयोर्भक्तिमार्गस्य च सम्यक्प्रपञ्चितत्वेपि कलौ तेषां दुःसाध्यत्वं विमृश्य तत्रासमर्थानामर्थं सङ्क्षेपेण 'जगन्नाथे विह्वले चे'त्युक्तं मपचिमार्गं हृदि सिद्धवत्कृत्वेदानीं तं मपञ्चयिष्यन्तस्तस्य मार्गस्य पूर्वोक्तमार्गत्रयोपकारकत्वञ्च बोधयिष्यन्तो विवेकधैर्याभ्यामाश्रयस्य सिद्धिं बोधयितुं नत्सापने विवेकधैर्यं रक्षितुं निषुञ्जन्ति, तद्रक्षणस्यावश्यकत्वं वा बोधयन्ति । विवेकेत्यादि ।

विवेकधैर्यं सततं रक्षणीये तथाश्रयः ।

विवेकस्तु हरिः सर्वं निजेच्छातः करिष्यति ॥ १ ॥

सततं निरतरं रक्षणीये इति प्रेरे प्राक्तकाले वा अनीयस्तेन नियोग आवश्य-  
कत्वञ्च समञ्जसम् । रक्षणे नैरन्तर्पोक्या आश्रयोत्तरमपि तद्रक्षणत्ववश्यकत्वं बोध्यते ।  
सन्धानपूर्वकतदनुकूलाकृतिकरणत्वेन च बोधितम् । तेन च फलमाहृस्तथाश्रय इति ।  
तथाकृते आश्रयः सिद्धयेदित्यर्थः । यदा, ते तथा तेन प्रकारेण रक्षणीये मया आश्रय  
सिद्धयेदित्यर्थः । यच्चदोर्नित्यसम्बन्धात् क्रियापात्रस्वैराध्याहारः । आश्रये क्रियास-  
म्बन्धस्य कण्ठतोऽनुक्या पृष्णगुणादानेन च स्वकृत्यसाध्यत्वं तद्व्यवदानसाध्यत्वञ्च ज्ञाप्यते ।  
"सोऽहं तत्राह्वयुपगतोऽस्म्यसनां दुराणं तथाप्यहं मवदनुमरणीरामन्य" इत्यमूरस्तुतो  
मुषोधिण्यां तथा मपञ्चनान् । अत्र साम्प्रदायिकाः । अध्याहारापेक्षयाऽनुसङ्गस्य  
वचनविरिणामस्य च लघुलाचया आश्रयो रक्षणीय इत्येवं योजनं ज्यायो मन्वा केचन



श्यामां दण्डचक्रादिन्यायेन भक्तपुत्रापत्वसामान्यात् समनाधान्यं रोचयन्ते । केचन पूर्व-  
योरेकपदेन कथनात् तृतीयेषु पृथगेवोपादानात्पूर्वयोश्चरहेतुत्वं युक्तमुत्पश्यन्ति ।  
केचन श्यामां क्रमेणोक्तः सेवयां भक्तस्य पूर्व विवेक आवश्यकस्ततो धैर्यम्, आश्र-  
यस्तुभयनिर्वाहक इति तत्पर्यं प्रकाशयन्ति । यद्यप्येवं भक्तप्रपण्युपपन्नं, तथापि, समा-  
प्तावाश्रयस्य फलसम्बन्धबोधनात् स्वस्वाभिसंहितरूपेणाश्रयस्यैव मुख्यत्वप्रकाशनाका-  
घ्याहारेण योजनाप्यदृष्टैव । न च गौरवं शङ्कनीयम् । तत्पक्षेऽप्यनुपपन्नविवरणामयोर्द्वयो-  
रङ्गीकारेण तौल्यात् । किञ्चैवं “पृथक् शरणमार्गोपदेष्टे”ति नामापि पुष्टार्थं भवति ।  
अन्यथा तु निबन्धे सङ्क्षेपेण निरूपणात्सुबोधिन्यामप्यन्यशेषत्वेन क्वचित् सङ्कीर्ण-  
त्वात्तत्र तत्र किञ्चित् किञ्चित् कथनेन विभक्तीर्त्वाच्च “पृथक्”पदमप्युच्यते स्यात् ।  
न चैवं सति भक्त्यङ्गत्वभङ्गात् सुबोधिन्यादौ तथात्वेन निरूपणं विरुद्धघेतेविवाच्यम् ।  
अपकारत्वेन गौण्यापि तत्सम्भवात् । विश्वायं शरणमार्गो न भक्तिमार्गाद्विविक्तः,  
पुष्टिप्रवाहपर्यादाग्रन्ये पृथक् तदनुक्तेः । किन्तु, प्रवाहादग्रतन्तं विविक्तो भगवति स्वस्वा-  
मित्यस्य सर्वदानुसन्धानान्यपर्यादाया अपि विविक्तः, पुष्ट्या सङ्कीर्णः । तेन प्रयोजकै-  
क्यात्तत्र मिश्रमेतेष्वेतन्मिथ्यत्वानुक्तेरत्र च समाप्तावाश्रयकथने “कलो भक्त्यादिमार्गं हि  
दुःसाध्या इति” मार्गत्रयदुःसाध्यत्वस्य हेतुत्वकथनेनास्य भक्त्यादिमार्गात्तु कल्पत्वबोधनाच्च  
स्वरूपभेदात् त्रितयसत्तातीयः स्वफलभाषनेन तत्तदुपकारकधेति सिद्ध्यति । तत्रानु-  
कल्पत्वं “नामान्यनन्तस्ये”त्यत्र प्रथमसकन्धपक्षे प्रपञ्चितम् । यद्यपि, तद्विरुद्धाधिका-  
रित्वं तथापि, गीताया द्वादशोऽध्याये “अथैनदृग्प्रसक्तोसि कर्तुमुयोगमाश्रित” इत्यत्र  
“सर्वधर्मानि”त्यत्र च, गृहस्थमर्जुने प्रति कथनाद् गृहस्थाधिकारिकत्वमपि सिद्ध्यति ।  
अनुकल्पस्योपकारकत्वञ्च पूर्वतन्त्रसिद्धम् । एतावान्तरं विशेषस्तत्र फलोपकारकत्वं  
सिद्धमत्र तु स्वरूपोपकारकत्वमप्यस्तीति । तेन येषां यथा भातस्तेस्तथा विवृत इति न  
कोपि कापि विरोधः । ननु निबन्धोक्तस्यैवायं विस्तार इति कथं हि निगमत्वमिति चेत्,  
इत्यम् । तत्र पूजाप्रवाहस्य भावत्सान्निध्यमकल्पमुक्त्वा तत्र तत्परत्वेन स्थितिः प्रपञ्चि-  
रितिभार्गोस्वरूपं निष्कृष्टम् । परन्तु, तच्छरीरप्रविष्टं तत्परत्वं न विचारितम् । तदत्र  
मिध्यतीति तथा विनिगम्यते । किञ्च, प्रभक्तिपदार्थाः शरणमगमनम् । “कृष्ण कृष्णाम्मे-  
यात्मन प्रपन्नभयभङ्गन, वयं त्वां शरणं याम” इति मागधसकृद्द्वाराजवाक्यसुबोधिन्यां  
प्रपन्नभयनिवारकत्वं नवावश्यकं, “अतो वयं प्रपन्ना भवाम” इत्याहुः “वयं त्वां  
शरणं याम” इति शरणमगमनस्य प्रपन्नभवनत्वेन व्याख्यानान् । तत्रात्र स्फुटमतोपि

१ अनुकल्पस्योपकारकत्वं “अपि न्यन्त्रं सन्नामि” त्वेवकारणप्रपञ्चितम् । २ “अधिकारि-  
कम्” इति यावत् ।

तयेतिदिक् । प्रकृतमनुसरामः । एवमुभयोर्विवेकधैर्ययो रक्षणं, तस्य फलसम्बन्धश्च  
 बोधयित्वा तयो रक्षणमकारमाश्रयस्य च मार्गं वक्तुं तेन तत्स्वरूपश्च वक्तुमुद्देशानुसारेण  
 प्रथमं विवेकस्य स्वरूपमाहुः विवेकस्त्वित्यादि । साम्प्रदायिकास्तु, 'विवेकोयं समा-  
 रुग्णतः' 'एतत्सहनमप्रोक्तम्' 'एवमाश्रयणं प्रोक्तमि'त्युपसंहारदर्शनात् सामान्यविक्षेप-  
 मायेन विवेकधैर्याश्रयाणां स्वरूपस्यैव निरूपणमत्र ग्रन्थनाम्ना समासव्यासधारणस्य  
 विद्वदिष्टत्वेन च तथा कथनस्यौचित्याद्येत्याशयेन व्याकुर्वन्ति । तथा सति रक्षणमकार-  
 स्यार्थात् सिद्धिः । एवन्तु वचनादिति शेषः । प्रकृतमनुसरामः । विवेकशब्दः पृथक्ये  
 तज्ज्ञाने वा प्रसिद्धः । यथा नित्यानित्यवस्तुविवेक इति । शीलविशेषे च यथा उचित-  
 सत्कारकचरि विवेकीति । "विवेकः पुनरेकान्ते जलद्रोणीविचारस्यो"रिति कोशात्रिपु  
 रूदक्ष । गदत्र किमपि न विवक्षितमिति ज्ञापनाय तुशब्दः । कस्तर्हि ? । हरिः सर्वं  
 निजेच्छानः करिष्यति । हरिः सर्वदुःखहर्चा सर्वं स्वीयानां लोकिकालौकिकं,  
 निजेच्छानः स्वतन्त्रेच्छातः, क्रीडेच्छातो वा, निजानामिच्छातो वा, करिष्यति ।  
 अपञ्च निः-निर्देशस्तेनैतद्विषयकमनुसन्धानं विवेक इत्यर्थः । अत्र हरिपदेन गजेन्द्र-  
 पोसकद्वैतस्फोरणात्पशुवदज्ञानमत्यन्तदुःखहारित्वं सूच्यते । निजेच्छात इत्यनेन  
 "क्रीडाभाण्डमिदं विश्वं" "क्रीडार्थमात्मन इदं त्रिजगत्कृतमि"त्यादिवाक्योक्तं जगतः  
 स्वस्वाङ्गतं क्रीडाभाण्डस्यै वा स्फुरिते, "विश्वस्य यः स्थितिलयोद्भवहेतुरासौ योगेश्वर-  
 रपि दुरत्यययोगमायः, क्षेमं विधास्यति स नो भगवांरुपधीशस्तत्रात्मदीयविभूतेन क्रिया-  
 निहार्थं" इत्यादिरूपेणानुसन्धेयम् । विशेषतस्तदीयत्वस्फूर्तिं "अहं भक्तपराधीनः",  
 "मयि नैतेषु चाप्यहं," "आत्मारामोप्यरीरमदि"त्यादिवाक्योक्तं भगवतो भक्ताधी-  
 नत्वं परोक्षेण हितकारित्वं स्वनिकटवर्तित्वं स्वरूपमर्षादामप्यतिक्रम्य भक्ताभिन्नापूर-  
 णत्वं यथापिकारमनुसृत्य भाविहितकारित्वमनुसन्धेयमिति तस्य तस्य तादृक्तादनुस-  
 न्धानं पित्वेक इति भावः । करिष्यतीति भविष्यदर्थकप्रयोगो मान्यर्थचिन्ताया जाय-  
 मानत्वात्तन्निवृत्त्यर्थो, न तु भूतवर्तमानयोर्भगवत्कार्यत्वानुसन्धानव्यावृत्त्यर्थः । तेन  
 करोत्यकार्थत्वं करिष्यतीति प्रेषाप्यनुसन्धानं विवेक इति कनति ॥ १ ॥

एवं स्वरूपं विवेकस्य निरूप्य रक्षणमकारं यदिप्यन्तस्तत्सन्धेने कामनापास्तत्स-  
 णसाधनस्य च तन्नाशकत्वं हृदिकृत्य गजेन्द्रवद् भगवत्स्यवद् माप्रस्यापि मार्यनस्यवापकृत्य  
 हृदिकृत्य ततो रसितुं मार्यनस्य फलव्यभिचारित्वं युक्त्या सपर्ययन्ति मार्यनित्वेति ।  
 पार्थिते वा ततः किं स्यात् स्वाम्यभिप्रायसंश्रयात् ।  
 सर्वत्र तस्य सर्वं हि सर्वसामर्थ्यमेव च ॥ २ ॥

चेत्यनादरे, अभ्युपगम्य दृष्यते, प्रार्थिते प्रार्थनकृते ततः प्रार्थनातः किं स्यात् ? न किमपीत्यर्थः । न हि गजेन्द्रस्य प्रार्थनातो मोक्षदानं, किन्तु स्वेच्छातः । यदि ततः स्यात् प्राग्जन्मन्येव स्यात्, “जजाप परमं जाप्यं प्राग्जन्मन्यनुशिसितमि”ति वाक्यात्तदानीमपि प्रार्थनस्य तुल्यत्वात् । किन्तु, विचारितस्य मर्यादास्यापनस्य भक्त्या तोषस्य स्वसर्वात्मत्वज्ञापनादेश्च कार्यस्य जातत्वेन स्वेच्छात एव । अन्यथा “नय मामि”-त्यत्र नान्तर्दध्यात् । अपास्पेक्षितदानपापात्तत्रः प्रार्थनयैव चेदाद्रियते तदापि, काळविलम्बेन फलव्यभिचारेण चान्यथासिद्धत्वम् । अप सापि चेत् कथञ्चित् परिह्रियेत तर्हि, सा भगवदभिप्रायनिश्चयकृता प्रार्थना, न तु स्वाम्यभिप्रायसंशयकालीना । तथा सति तत्रापीच्छैर कारणत्वेन पर्यवस्यतीति तत्र प्रार्थनाया व्यापारतामारं सेत्स्यति । संशयकालीनायास्तु तदपि न । पत्युताधीस्त्वज्ञापकतया क्रोधोपेक्षावहतया वा बाधकत्वञ्च । एतेनैव भ्रमकालीनापि व्याख्यातैव । किञ्च, यथा तथास्तु, स्वस्य जीवत्वेनालाङ्गत्वात् स्वमनोरयस्याप्यल्पत्वात्प्रार्थितस्तावदेव दास्यति कुञ्जापा इव । कुमनीपित्वञ्चाधिकं भविष्यति । अपार्थितस्तु पशुरलौकिकन्वाचतो नन्तगुणं दास्यति । तदुक्तं “मनोरयान्तं श्रुतयो यथा यपुरि”ति । तदेतदुक्तं प्रार्थिते वा ततः किं स्यात्स्वाम्यभिप्रायसंशयादिति । तथा च प्रार्थनेन दाने विवेकस्य सामर्थ्यनाशः, अदाने रवेदात् स्वरूपनाशस्ततोस्पाद्भाषकादेवं विचारेण स रक्षणीय इति भावः । एतेन कामनायाः पूरकं साधनान्तरं कैश्रुतिकादेव निरस्तम् । प्रार्थनैव चेन्निष्फला काम्यकर्माणि किमुतेति । ‘सुखाय कर्माणि करोति लोको न तैः सुखञ्चान्यदुपारमं वा, चिन्दैत भूयस्तत एव दुःखं यदत्र पुक्तं भगवान्वदेन्न’ इति तृतीयस्कन्धे काम्यकर्माणां फलव्यभिचारस्पानिष्टहेतुत्वस्य च विदुरेणैव दर्शितत्वात् । न च साङ्गाद्वैदिककर्मणः फलावश्यंभावनियमात्फलव्यभिचारो न प्राप्तोऽवसर इति शङ्कयम्, दक्षयज्ञादिवत् साङ्गताया एव दुर्यटत्वात् । इदं यथा तथा “कर्मणां गहनागतिरि”त्यत्र निबन्धे प्रपञ्चितमिति ततोऽप्येवम् । नन्वस्त्वेवम्, तथापि निन्दावाक्यात्कुञ्जादावप्यभिप्रायाज्ञानादेव प्रार्थनस्य तथात्वं, ज्ञाने तु न तथा दोष इति स्वाभिलाषपूर्त्यर्थं प्रशुर्बिज्ञापनीय एवेति चेत्चेत्याहुः सर्वत्रेत्यादि । सर्वत्र ब्रह्माण्डे अन्तर्बहिश्च तस्य स्वामिनः सर्वं वस्तुमात्रमस्तीति शेषः । हीतियुक्तं क्रीडार्थत्वात्, सर्वसामर्थ्यञ्च तस्यैव, “यः सर्वज्ञः सर्वशक्तिः,” “सर्वस्य वशी सर्वज्ञेज्ञान,” इत्यादि श्रुतेः । तथा च यदि दित्सेत् सर्वत्रत्वात्सर्वदभिनापं ज्ञात्वा तत्रैव दद्यात् । यदि जीने तत्फलानुभवासाप्यर्थं पश्येत्तदपि विदद्यात् । तन्मनो-भिलषितमकारेणैव स्वस्मिन्नपि तथात्वं प्रकटीकृत्य वा तन्मनोरथं पूरयेत् । एतद्रूपि, “एवं सन्दर्शितापङ्ग हरिणा भक्तवश्यता, गोपीभिः स्तोभितोऽनृत्यत्,” दर्शयंस्तदिदं

लोक आत्मनो भृत्यवशपतामि'त्यादिभित्तकम् । एवं सत्यपि यत्र ददाति तस्मात्  
दित्ततीति निश्चितम् । निश्चिते चाभिभाषे प्रार्थना न प्राप्तवसरेति न प्रार्थनीय  
इत्यर्थः । एतदेवाभिसन्धाय श्रीमत्प्रभुवरणोक्तं, "यथा नयं तदीयाः स्पस्तथा सोपि  
निसर्गतः, अस्मत्प्रभुरतथिन्ता नैहिके परलौकिक" इति । एवं कामितपूरकाद्रक्षण-  
प्रयत्न उक्तः । अतः परं कामनातो रक्षणप्रकारो बक्तन्यस्तं वक्तुमाहुरभिमान इत्यादि ।

**अभिमानश्च सन्त्याज्यः स्वाम्यधीनत्वभावेनात् ।**

**विशेषतश्चेदाज्ञा स्यादन्तःकरणगोचरः ॥ ३ ॥**

अभिमानो गर्वः । यौगिकार्थगृहणे अभितः उपयतो मानोऽभिमानः, स्वतः  
परतश्च निचसमुभतिः पूजा वा । तत्सर्वमज्ञाभिमान इत्यनेन सङ्गृह्यते । चकारान्तसा-  
पनादिश्च । स सम्पक् लौकिकप्रकारेण त्याज्यः । तत्र हेतुः, स्वाम्यधीनत्वभावना-  
दिति । सप्लोपे पञ्चमी । स्वस्य स्वाम्यधीनत्वं विभाज्य त्याज्य इत्यर्थः । कामनापूर्णे  
दि गर्वधितोन्नतिः पूजा च । अहधीदृशः, ईदृशकुलोत्पन्नः, ईदृग्भिः प्रशस्यः, इत्या-  
द्यनुसन्धान एव । तदनुरूपाकामनादर्शनात् । तदनुत्पत्तिर्निष्ठश्च स्वाम्यधीनत्वपाव-  
नया, तदुत्तां तददर्शनात् । किञ्च, गर्वादिजनकस्य स्योत्कर्षस्यापि तदधीनत्वमेव, तस्य  
सर्वकारणत्वाद्भावनीयम् । तथा सति ष्येदं सम्पादितवान् तथाऽप्यदपि सत्यादविययती-  
त्यपार्या कामना, तन्मूलो गर्वादिभेदादिभाषनेन तद्विचार्य विवेको रक्षणीय इति  
भानः । एतेनेदपि ज्ञापितम्, यद्भक्तानां दासत्वात् स्वतोऽभिमानसम्भवः, किन्तु, दुःस-  
हादिवशात् । सोपि दासधर्मस्य स्वाम्यधीनत्वस्य भावनात्याज्यः । कदाचित्प्रभुः कृपया  
तदधीनत्वं स्वस्मिन् प्रदर्शयेत्तया वा सेवां कारयेत्तदापि, तत्रावनात्त न कार्यस्त्या-  
ज्यश्च । यदि वा स्वतन्त्रेच्छत्वाद्दण्डं कुर्यात्तदा खेदोपि त्याज्य इति चकारोऽनुक्तसमु-  
द्यायकः । अत्र हेतुवचनादेहाभिमाननिष्ठचित्तु न विवक्षितेति प्रतिपाति । अथ विव-  
क्षिता तदा क्षेत्रनक्षरणागतवतिहृन्नेदाध्यासनिष्ठचित्तियेति न विवादलेशः । एवमानसो  
रक्षणप्रकार उक्तः । अतः परं शब्दं वदिष्यन्त उक्तीत्याभिमानत्यागेन रक्षणे तत्त-  
द्व्यभिज्ञापकं मगवदाज्ञारूपनवान्तरफल्गमिव प्रदर्शयन्त्वस्तस्यां स्वाज्ञाविरुद्धायागृहणतः  
पाशाञ्जलिति शङ्कामपि चारयन्तः, मयोऽज्ञाविभागेन स्वरूपविभागेन विषयविधायनेन  
च व्यवस्थामाहुर्विदोऽप्यत् इत्यादि ।

**विशेषतश्चेदाज्ञा स्यादन्तःकरणगोचरः ।**

**तदा विशेषगत्यादि भाव्यं भिन्नं तु देहिकात् ॥ ४ ॥**

४६ विवेकधैर्यार्थयः, श्रोत्र्यामलसुतश्रीत्रजरायचरणविरचिता विवृतिः ।

उक्तदेतुर्देतुपक्षम्या अत्राप्यन्वेति । अन्यथास्य मन्यस्याकरिपकता स्यात् । सेवादेहेतुत्वपक्षेऽपि स्वाम्पधीनत्वभावनस्य तत्राप्यावश्यकत्वात्सहकारित्वमदण्डवारित्वमेव । तथा च तस्मात्तसद्वृत्तसेवादेर्विशेषतः श्रीयदाचार्याज्ञातो विशेषमाधिक्यं विषयीकृत्य वाऽऽग्रहस्योपक्रमकारतो वा दैहिकादाधिक्यं वैलक्षण्यं विषयीकृत्य वा चेद्भवत आज्ञा स्यात्, तदा तत्प्रयोजकं विचारणीयं, किमयमन्तःकरणगोचरो न वा । अजहङ्गिमिदम् । अन्तःकरणमभिप्रायस्तस्य गोचरः विषयभूता अभिप्रायप्रयुक्ता न वेति । किञ्च, अन्तःकरणस्य गोचरः, अन्तःकरणे विषयत्वेन भाता, न तु स्वामी, न बान्यद्धारिकेतिस्वरूपमपि विचारणीयम् । न चैवं सकृद्धारितः शब्दः सकृदर्थं गमयतीति नियमपङ्क्त इति शङ्क्यम्, प्रायिकत्वात् । अन्यथा क्षिप्रप्रयोगोच्छेदमज्ञात् । अतोर्थद्वयमप्यत्र सङ्गाद्यम् । तत्र मद्यन्तःकरणप्रयुक्तत्वेनान्तःकरणे भाता स्वामीभूतित उक्तप्रत्ययेन च भाता, तदा तु दैहिकादेहसम्बन्धिनो भिन्नपाङ्गं विशेषगत्यादि भाव्यस्तुत्यर्थं कार्यमिति यावत् । तथा चायमर्थः । आज्ञाविषयविचारेण तत्प्रयोजकं निधेयम्, यदि दैहिकविषया तदा नाभिप्रायपूर्विका, किन्तु, परीक्षायां, तदा ततोऽग्रतं विशेषगतिसाधनादिकं न कार्यम् । यदि स्वसेवाविषया, यदि वा सेवामतिबन्धकनिर्वर्तकविषया तदा साभिप्रायपूर्विका, ततस्तद्वगतो विशेषः सामग्र्यादिविषयसनादर्थी गतिस्तीर्धदेशान्तरादिविषया, आदिपदेन तादृशं तत्साधनञ्च कार्यम् । तेन यास्यो रक्षणमान्तरस्य स्वतुष्टित्वाभिज्ञानपाङ्गादर्थं विरोधपरिहारश्चेति सर्वं सामञ्जस्यमिति भावः । पुष्टिपार्श्वस्य नानाविधस्यापि कृपा एव मकटनाम् । “सर्वधर्माल्परित्यज्य,” “तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्य,” “धनं तस्मात्खिलसंशयाधिमि”त्यादिवाक्यैः शरणागतौ सेवायां च भगवत्प्राप्तयति । “अनन्पाधिनतयन्तो पापि”तिवाक्येन भगवत एव जीवस्याखिलनिर्वाहकत्वावगतेश्च नात्र कोपि शङ्काशेषः ।

नतु दैहिकातिरिक्तविषयाया भगवदाज्ञायां जातायां यदि तद्विरोधिनी काचिदापदन्तरा समागता, तदा आज्ञायाः करणे निर्वाहाभारादाज्ञाऽसिद्धिः, अकरणे तद्भङ्गम् स्वामिद्वेह इत्युभयतः पाशास्त्रजुतित्यतस्त्वोपायमाहुरावदित्यादि ।

आपहृत्यादिकार्येषु हृष्टस्याज्यश्च सर्वथा ।

अनाग्रहश्च सर्वत्र धर्माधर्माग्रदर्शनम् ॥ ५ ॥

विवेकोयं समाख्यातः

उक्तदेतुरवाप्यनुवर्त्तते, आपदो गतिः प्राप्तिरापहृतिः, सा आदौ येषां, तादृशानि यानि कार्याणि, अश्वत्थार्या इति यावत् । तेषु “स्वाम्पधीनत्वभावनान्” हृष्टस्या-

ज्यश्चाग्रहस्त्याज्यः । चोप्यर्थे । अयमाशयः, निर्वाहो ह्यभिप्रायस्य लिङ्गम् । प्रतिबन्ध-  
कापाते निर्वाहाभावत्साऽऽज्ञा नाभिमेता, परीक्षार्थैवेति निधेयेम् । नहि भगवतो  
भक्ताऽऽपदभिमेता, न वा कात्रादयस्तत्र प्रभवन्ति, “ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे तान्नि-  
धर्म्यंहमि”ति वाचयात् । अत आपत्परामृताया आज्ञायाः परीक्षार्थत्वेनानभिमतत्वान्नोक्त-  
दोषः । किञ्च, हेतुनिष्ठसम्भवात्सेवामतिबन्धः पर्यवस्यतीत्यतो इतो न कार्य इति ज्ञाप-  
नाय सर्वथेति । उक्तसमुच्चयार्थश्च । एतेनैवङ्करणे हेत्वनुसन्धानप्राबल्यादपिमान-  
नाशे विवेकपोषणम्, हेतु तु तन्नाश इति द्वितीयं कायिकं हठत्यागेन करणरूपं रसा-  
साधनमुपदिष्टम् । अयं दैहिकादिविषये व्यवस्थामाहुरनाग्रह इत्यादि । सर्वत्र दैहिके  
तत्सम्बन्धिसम्बन्धिबन्धन्यस्मिंश्च कार्ये अनाग्रहः, “कार्ये” इति शेषः । चोक्तकार्या-  
न्वरसमुच्चायकः । तथा च, स्वतःसिद्धावतिमुत्पत्त्याद्ये च न विचारः । सायासम्प्यौदा-  
सीन्येन कार्ये, तेन विवेकपोष इति भावः । अत्र हेत्वनुष्ठतिबोध्या । नन्वस्त्वेवं लौकिके,  
परं वैषय्यं तु सामान्याज्ञाविषयत्वादाग्रहः प्रसूज्येतेवेति चेत्त्रोपापमाहूर्धर्मत्वादि  
धर्माध्यमयोर्विहितनिषिद्धयोरग्रं पर्यवसितं परिणामस्तस्य दर्शनं विचारस्तत्कार्यमिति  
शेषः । पौराणस्मार्त्तधौतानामुत्तरोत्तरमुत्सर्गतो बलिष्ठत्वं, तथैव शारीरात्मभागवतधर्माणाम्,  
तेषु स्वयं तादृशे भगवद्गर्भे निष्ठितस्तदविरोधिविपरिणामकः कार्यः, इतरो न कार्यः ।  
तथा अधर्मोपि श्लेच्छसम्भवापणानुसरणादिरूपो बुद्धिमत्कृत्युपयन्स्वधर्मनिर्वाहाय चेत्युक्त्या  
कार्यः, इतरस्तु न कार्य इति । तथापि “स्वाम्पयीनत्वभावनाद्यपातत्सिद्धिस्तथा  
विवेकरक्षणमनुसन्धेयमिति भावः । एवं सपरिकरं विवेकं निरूप्योपसंहानि । विवे-  
कोयं समाख्यात इति, अयं न त्वन्यो विवेकः । सम्पक्त् रक्षाप्रकारोपदेशपूर्वक-  
माख्यातः प्रमाणयुक्तिगर्भाभिरुक्तिभिः कथित इत्यर्थः ।

एवं विवेको निरूप्याः परं प्राप्तवत्सं धैर्यं निरूपयन्ति धैर्यन्तु विनिरूप्यते इति ।  
धैर्यन्तु विनिरूप्यते ।

पूर्वोक्तरीत्या विवेकरक्षणे जिव्जोषस्यनपादिरूपस्य धैर्यस्य प्रसङ्गन एव सिद्धे-  
स्तन्निरूपणं न प्राप्तवत्समिति शङ्कानिरासाय तु गन्दः । विवेकरूपे हृदयाहटे धैर्यं  
स्वत एव भवेत्, परं यायान्येन स्वरूपे अज्ञानेऽक्षणे च कदाचित्किञ्चिदप्येवादिपि, अत-  
स्तदर्थं विज्ञेयं निरूप्यते रक्षणोपापसहितं कथ्यत इत्यर्थः ।

विवक्षितं धैर्यस्वरूपमाहुरत्राहुःतेन्यादि ।

त्रिदुःखसहनं धैर्यमाप्नुतेः सर्वतः सदा ।

तत्रवदेहवद्भान्यं जडवद्गोपभार्यवत् ॥ ६ ॥

आमृतैः सर्वतः, "मृति"शब्दो मरणकाललक्षणः । "मृति"मनके मर्यादीकृत्य सर्वस्मात् सदा सर्वकाले त्रिदुःखसहनं त्रयाणामाधिदैविकादिभेदभिन्नानां कायिकादिभेदभित्तानां कालरूपस्वभावानां "त्रैवर्गिकापासविघाते"ति वृत्राकवाप्तु त्रैवर्गसम्बन्धावच्छिन्नानाञ्च सहनं पर्यणद्धूपेक्षणयपतीकारयुक्तोऽनुभवो धैर्यभित्तयैः । ननु भगवदीयानामाधिदैविकादिदुःखसम्भावनेन नास्ति, यतः कालादयोपि न, तदःखहेतवो भवन्ति इति कथं तत्सद्भोक्तिः, इति चेत्—भोगवता धैर्यपरीक्षार्थं कात्रादयस्त्वया मेर्यन्ते, अतः पूर्वं भगवद्भयादेव न प्रवृत्तिस्ततस्तदात्रयाऽऽज्ञाभङ्गभयात्प्रवृत्तिरपि सम्भवति, पतो भगवत्सौख्येन "मत्रयादाति वातोयमि"त्यादि, श्रुतिश्च, "भीषास्मादि,"त्यादि । अयं न्यायः कालादावपि तुल्यः, भगवन्नियम्यत्वस्य तत्रापि समानत्वादिति । ननु भगवतः सर्वज्ञत्वेन परीक्षाकरणमपि न सम्भवति तत्कथं परीक्षार्थं तथा कारणम्, किञ्च, परीक्षार्थं भक्तेषु दुःखं ददातीत्यपि नोचितमिति चेद्, अत्रापि वदामः । भगवति सर्वज्ञत्वादिभ्यांस्तु ज्ञानादिमार्गेसाधारण्येन जायं मकटाः । पृथिव्यां विरोधरूपेण जायं तदीत्यैव सर्वं करोतीति नात्रुपपत्तिः । यतः "स्वागतमि"त्यादिना अन्तरङ्गभक्तेष्वपि परीक्षैव कृता । द्वारकालीलायापमपि "अव्यक्तलिङ्गं मकृतिष्वन्तःपुरगहादिषु, क्वचिन्त्वं योगेशं तत्तद्भावबुधुत्सयै"ति लोकोक्त्यापि तयाकृतायुक्तम् । अपरञ्च, "मदन्यसे न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनामपी"ति भगवता भक्तिमार्गरीत्या भक्त्याविरिकाज्ञानं स्वस्पोक्तम्, तेन ज्ञायते भक्तिमार्गे लौकिकरीतिमेव भूयः प्रदर्शयतीत्यतोपि नात्रुपपत्तिः काचित् । किञ्च, दुःखदानस्यायुक्ततायामप्युच्यते । साक्षात्स्वरूपात्मकाश्रयदानार्थमेव धैर्यपरीक्षा क्रियते इति बालाध्यापनार्थतादवन्त, पर्यवसानतः सुखरूपत्वमेवेतिनोक्तसङ्कालेशः । प्रकृतमपुत्रारामः । धैर्यस्वरूपमुक्त्वा दृष्टान्तपुरः सरं तद्रस्यप्रकारमाहुरतत्रावदित्यादि । भाव्यमित्यस्य विश्वस्यन्वयः । तत्रचतो राजकलत्रस्य देहस्तकचदेहस्तेन तुल्यं स्वदेहादौ भाव्यमित्यर्थः । इयञ्चाख्यायिका—

“हत्वा नृपं पतिपत्न्यस्य युजद्ददष्टं  
 देहान्तरे विधिवशाद्गणिकासिप जाता  
 पुत्रं पतिं सधिगम्य धितां प्रविष्टा  
 शोचामि गोपशृङ्घिणी कथमत्र तक्रमि"ति

श्लोके प्रसिद्धा । तथा च, तथा यथा स्वदेहादिपोषणसाधनीभूते तत्रे गते स्वदेहावस्थापलुसन्धाय श्लोकाभावापुरःसरममतीकारेण दुःखमेव सोढं, तथा स्वस्याधि-

! इ लक्षणे समर्था, न कालावकाशेभ्येव तथा, देहदेविति वाच्यं, तत्रकथायात्तत् । भगवतीरास्यस्य दत्तस्यम् । इत कथं त्रिदुःखतामोक्तिरिति चेत् । इत्यधिकं ज्ञापयि ।

भौतिकलौकिकसाधनीभूतवनपुत्रायनमेषि शोकमहत्त्वा अपतीकारेण दुःखसहनार्थं तथा भावनीयम् । वैष्णवत्वलाभानन्तरं तेषां हेयतैव यतः । यत एव निश्चयेषि श्रीमदाचार्यैः “प्रतिहृत्ते शृद्धं स्वजेदि”त्यादिना रत्याग एव तेषामुक्तः । अपत्रा दृष्टान्तद्वयमिदम् । तत्र पूर्वो व्याख्यातः । द्वितीयस्तु, देहः किमश्रदातुरां निपेक्षुर्वातुरेव वा । मातुः पितुर्वा बलिनः क्रतुरत्तेः शुनोपि वे”ति देहः साधारणो नात्मीयस्तथा सर्वेषु तत्तददृष्टसम्पादितत्वात्साधारणा इत्येवं तदर्थमनुसन्त्येयमित्यर्थः । भौतिककामिक-कर्मभार्यिकदुःखसहने दृष्टान्तवक्तुः । आध्यात्मिकसाधने दृष्टान्तमाहुर्जडवदिति । यथा जडमते मुक्तिसाधनसत्येपि तेन पूर्वं मृगशरीरमाप्तिनभ्यं ततो धातृजायादिकृतं भद्रकालिबलिदानमपययन्तं, ततो रहृगणशिविकावाहनसामयिकं सोढं, तथा आध्यात्मिककालमादिदुःखं सोढुं, तद्ब्रह्मण्यम् । किञ्चित्देहानन्तरं च साक्षात्सेवोरयोगिदेहे विषयोमादिदुःखेषु तत्सोढुं जडयद्भुना भावनीयमित्यर्थः । रिञ्च, भाव्यमित्यनेन अवश्यं भाव्यत्वमपि शोःयते । तेनाप्रतीकार्यत्वाच्चित्रारणार्थं यत्नो न फलं इत्यपि सूच्यते । आभिदैविकस्वाभाविकादिसहने दृष्टान्तमाहुर्गोपन्नापेवदिति । भार्याणां समूहो भार्यम्, गोपानां भार्यं गोपभार्यं, तेन तुल्यं भाव्यम्, यथान्तर्गृहगतो गोपानां भार्यासमूहो भगवद्विरहेणातिदुःखं सोढुः ततो ध्यानमाप्तमगतरताशिविष्णुसुखमनुभूया-पुण्यपुण्योपरमे निर्गुणदेहेन भगवन्तं प्राप्तस्तथाहमपि प्राप्स्यादिसम्भवमुभयं सोढुः प्राप्स्यामीति दुःखसहनार्थमनुसन्त्येयम् । एवं माते माधिरत्वनिरासाय समूहदृष्टान्त इति सर्वं सुस्पष्टम् ॥ ६ ॥

अतः परं यदृच्छातः प्रतीकारोऽस्त्यितौ यदि सहनाप्रहरनदा विदेहानिराशा-पन्नय, यदि तूष्णीकृतं तदा दुःखनिवृत्त्यासहनाभारेण पर्येहानिराशापन्नश्रेत्युपपन्नः पाशायां रज्जौ समस्यानार्थमाहुः प्रतीकार इत्यादि ।

प्रतीकारो यदृच्छातः सिद्धश्रेणाप्रही भवेत् ।

भार्यादीनां तथान्येषामसतश्चार्कमं सहेत् ॥ ७ ॥

यदृच्छातो भगवदिच्छातः स्वहृदोपायं विदेति यावत् । जाग्रन्तीति निन्दाया-मिति । “भूमिनिन्दाप्रशंसामु नित्ययोगेतिज्ञायते, संगमैरिवरिवापायां भरन्ति मनुष्या-दय”इत्यभिपुक्तोक्तः । तथा च, भगवदिच्छया सिद्धे प्रतीकारे निन्दिताऽऽज्यरसाय मरेत् । परमानामहेऽभिगन्त्यानाभ्यासादैर्यस्य निदिर्भगवदिच्छातुमन्वनादिरेव्य मदाहः करणदात्रगोरपभङ्ग इति सर्वं सामञ्जस्यमिति यावः । पर्यं योग्यम् । जडयद्भोप-



५० विनेरुधैर्वाश्रयः, श्रीश्यामलसुतश्रीव्रजराजचरणविरचिता विवृतिः ।

भार्यवत् प्रतीकारो यदृच्छातः सिद्धश्चेन्नाग्रही भवेदिति । तथा च, यथा जडो भगवदिच्छया स्वरूपेण संबद्धं शिथिकाकाहनार्थं नाग्रहवान् जातः । यथा च रासमण्डलमण्डनार्थितं गोपभार्यं विप्रयोगतापे भगवदिच्छया गुणगानस्मरणरूपदर्शनादिरूपप्रतीकारोपस्थितौ भगवदिच्छानुरूपमेव व्यवहृतवत्, तथा स्वयमपि स्वाधिकारात्सारेणानाग्रही भवेदित्यर्थः । तत्समूहस्याऽनाग्रहोपि श्रीमदाचार्यैर्गत्या ललितयोदारे"त्यस्याभासे "यदा पुनरि"त्यारभ्य "स्वयमाविर्भूत"इत्यन्तेन "त्वयि धृतासव" इत्यत्र "त्वदर्थमेवे"त्यारभ्य "तदैव त्यक्षन्ती"त्यन्तेन, "दुस्त्यजस्तत्कार्य" इत्यत्र च स्फुटीकृतः । चेदित्यनेन तादृक्तापे शीघ्रं स्वाश्रयं दातुं प्रभुरेव प्रतीकारं सम्पादयति । न सम्पादयति चेदिति स्वयं तदर्थं न यतेत । तथा सति मभोरनभिमेतत्त्वेन कोपाद्विपरीत्यापत्तिरित्यपि सूच्यते । अतः परं कायिकं रक्षासाधनमुपदिशन्ति भार्यादीनामित्यादि । भार्यादीनामिति तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः । तेन येत्यन्तस्वनिग्रह्यास्तेषाम् । अन्येषां विभक्ताविभक्तवान्शशादीनामुदासीनानाश्च, असतो दुर्जनस्य, "दुःसहमिषं मन्ये आत्मन्यसदतिक्रममि"ति वाक्याद् दुःसहत्वात्पृथग्निर्देशः । एतेषामाक्रमं तिरस्कारं सहेत । आक्रमपदस्य योगेन पादप्रहारपर्यन्तता बोध्यते । सहेदिति अनुदात्तत्व-लक्षणस्यात्मनेपदस्यानित्यत्वात्परस्मैपदम् । ब्रह्मचारिमभृतीनामन्येषामेकाकिनाश्च भार्याद्यभावाद्ब्रह्मन्ध्रभावाच्च त्रितयनिर्देशः । तेषां सेवापतिशूलत्वं त्यागरूपमेव सहनम् । स्वविवेकमात्रमातिकूल्ये च तदप्रतीकारेण तिरस्कारमर्षणमेव सहनं तदाचरेदित्यर्थः । अत्रोपायो निवन्ध उपदिष्टः । "सर्वे सहेन परस्य सर्वेषां कृष्णभावनादि"ति । "एतदन्तः स्थितः कृष्ण एवास्मानुपदिशती"ति च व्याख्यातम् ॥ ७ ॥

एवमाक्रमसहनोपदेशे शृङ्खलितिरागता । तथा सतीन्द्रियकार्यकरणमर्षाक्षिप्तं, तत्राऽऽसक्तौ च धैर्यस्वरूपस्य सामर्थ्यस्य वा नाश इति तच्चिरपर्यं साधनान्तरं रक्षण-स्वोपदिशन्ति स्वयमित्यादि ।

**स्वयमिन्द्रियकार्याणि कायवाङ्मनसा त्यजेत् ।**

**अश्रूरेणापि कर्तव्यं स्वस्यासामर्थ्यभावनात् ॥ ८ ॥**

स्वयमित्युद्यम्य आग्रहेणेति यावत् । इन्द्रियकार्याणि ज्ञानक्रियामधानात् भोगान् कायवाङ्मनसो कायवाग्भ्यां सहितं मनस्वेन सर्वोत्पन्ना त्यजेत् । श्रीश्यामपि नाद-दीत, तेषामत्यन्तबाधकत्वादित्यर्थः । बाधकत्वञ्च, "विषयान्ध्यापतः पुंस" इत्यादिना गीतायां स्फुटमेव । कायेन त्यागो भोगानुपादानम् । वाचा त्यागः शुभा-

शुभस्वाकीर्तनम् । मनसा त्वागस्तन्निःस्पृहस्वम् । न चैवमुद्यम्य त्वागो आप्रहापातेन  
 विपेकहानिः प्रसज्येतेति शङ्कनीयम् । आग्रहस्योपभोग्यत्वाद्यंश एवोपसयेण विपेकभङ्गाऽ-  
 समर्थत्वात् । ननु “स्वयं त्यजे”दित्यनेन यादृच्छिकस्यात्पागः प्राप्तः, उचितं चैतत् ।  
 अन्यथा शरीरयात्रानिर्वाहाभावेन साधनस्याप्यनुष्ठानाशक्तिमसङ्गात् । अत्यक्ते च याद-  
 र्च्छिके तस्यापि विपयत्वेन बन्धनस्वभावत्वादिन्द्रियाण्यारुर्षणीयानि, तथा सती”न्द्रियै-  
 र्विपयाऽऽहृष्टैरिति प्रनाड्या सर्वनाशमसङ्गः । न च ततो रक्षार्थं स्वभावो विजेतुं  
 शक्यः । आरम्भदशायां तादृक् सामर्थ्याभावान् । “स्वभावविजयः शौर्य”मिति याचयेन  
 तस्य शूकार्यत्वात् । अतः कथं धैर्यरक्षेत्यतस्तत्रोपायमाहुरचूरेणापीत्यादि । स्वभाव-  
 मिन्द्रियाणि च जेतुमसमर्थेनापि स्वस्यासापथ्यं भावयित्वा इन्द्रियकार्यत्पजनं कर्तव्यम् ।  
 किं करोमि, मन्दभागयोहमसमर्थ एतावत्यप्यात्रा मया पात्रयितुं न शक्यते, इत्यादि  
 भावनीयम् । एवं प्रपतमानस्य भ्रान्ताविन्द्रियाणां कौड्ये, विपयैरपि तथा अनाकर्षाद्  
 क्रमेण तत्सिद्धिरित्यर्थः ॥ ८ ॥

अत्राप्यशक्तौ पुनरन्यमुपायमाहुरशक्य इत्यादि ।

अशक्ये हरिरेवास्ति सर्वमाश्रयतो भवेत् ।

एतत्सहनमत्रोक्तमाश्रयोतो निरूप्यते ॥ ९ ॥

एवमप्यशक्ये हरिरेवास्ति शरणमिति शेषः । नन्वेवं शरणोपदेशेन कथं  
 तत्सिद्धिरित्यागङ्गायामाहुः सर्वमाश्रयतो भवेदिति, “सर्वधर्मान्परित्यजे”ति शर-  
 णोपदेशवासये स्वस्थेन पापमोचरत्तरक्तधनेन शोकनिवारणेन च आप्रयादेव सिद्धिबोध-  
 नात्तथेत्यर्थः । एवं धैर्यं सपरिकरं निरूप्योत्सहरन्तोऽग्निमनिरुणस्य गतार्थं चपि शर-  
 यन्ति एतदित्यादि । अत्र शरणमात्रं एतदुक्तसाधनरूपनान्तं धैर्यमुक्तम् । तथा  
 च “अशक्य” इत्यादिना यदाश्रयणमुक्तं तदपि धैर्यासंगशोपराद्भेदान्तःपायेन, नन्वा-  
 श्रयरूपमित्यर्थः । अतः परं क्रममात्रं प्रधानमाश्रयं निरुपयन्ति आश्रयोतो निरूप्यन्  
 इति । मतः तावता चारितान्तर्यामिणादावशयकत्वात् आश्रयो निरूप्यन् इत्यर्थः । प्रा-  
 णस्य आधारे योगरूढः । सेवने योगिभूतः, आममन्वान् अयमं सेवनमाश्रय इति ।  
 तत्र महते किं विवक्षितमित्याहाहायां तस्य स्वरूपमाहुरद्विक इत्यादि ।

ऐहिके पारलोके च सर्वथा शरणं हरिः ।

दुःखहानौ तथा पापे भये कामाक्ष्यपुराणे ॥ १० ॥

“सामर्थ्यं रि स्पृर्त्वा हरिर्मानं प्रमुपसृम्, कर्म मे हरिरेवमुत्पन्नादरिंरं स्पृम्”  
 इति भारते भगवद्गीतास्यैवार्थं पारतन्त्र्यदोर्षां सर्वदेवताया तन्निवारकः “शतनाम्न-

वञ्चि"ति श्रुत्या स्वतः श्यामवर्णः पुरुषोत्तमो हरिः, ऐहिके एतज्जन्मसम्बन्धिकार्ये फल-  
भोगे स्वमनोऽभिलषितसेवादिसाधने तत्सम्पादने च, परलोके एतज्जन्मान्तराभाविनि  
जन्मनि, चकाराचर सुखदुःखफलोभोगे भगवदिच्छानुरूपसर्वादिसाधने तत्सम्पादने  
सर्वथा "शरणं रक्षणे मेहे वध रक्षकयोरपी"ति कोशत् । ततस्ततः प्रमादादिभ्यो रस-  
णात्मा, तत्र तत्र गेहात्मा, तत्तत्प्रतिबन्धनिवृत्त्यात्मा, तत्र तत्र ततस्ततो रसकश्च, स्वयने-  
वास्तीत्यनुसन्धानमाश्रय इत्यर्थः । तेनात्र चित्तस्यैवं भगवत्प्रवणस्वरूपसेवाविशेषात्मा  
स्वीकृतः । अन्यैरपि "मायाश्रित्य यतन्ति ये," मां हि पार्थ व्यपाश्रित्ये"त्यत्र चित्तस-  
माधानत्वेन इतरवैमुख्यपूर्वकशरणगतित्वेन आश्रयतया ग्रहणत्वेन व्याख्यातः । शर-  
णागतश्च रामानुजाचार्यैस्तमेव शरणं गच्छे"त्यत्रानुवर्तित्वेन व्याख्यानात् । शङ्कराभ्ये तु  
"मामेकं शरणं ब्रजे"त्यत्र भगवदनतिरिक्तानुसन्धानत्वेन व्याख्यातः । मधुसूदनीये तु  
"अस्यैवाहं" "ममैवायं" "स एवाहमि"ति त्रिधा, भगवच्छरणत्वं स्यात्साधनाभ्यासप्राप्तम्  
इति भक्तिपूर्वकमेवमनुसन्धानत्वेन । अत्राप्येतदेव स्वीकृतम्, परन्तु, मायावादनिरासाद्  
ग्रहणादेनाऽविहितभक्तेराधिवयेन चेति विशेषः । एवं प्रकारेण सदा येषां भावो मवेच्छदा  
तेषां भगवता आश्रयो दत्त इति ज्ञावण्यम् । कदाचित् कदाचिद्विच्छेदे तु साधनावस्था, कदा-  
चिद्भवनेत्यारम्भज्ञाता, रक्षकत्वप्राप्तयाने त्वाश्रयस्य भावित्वमित्याद्युक्तम् । अपमेवाश्रयो  
भक्त्याधिकारिणां भक्तिं पोषयत्युत्तमः । ता जनयन् भक्तिमार्गीयः जनयिष्यन् भक्ति-  
मार्गीयुक्त्वरूपाः । एवमेव ज्ञानाधिकारिणां ज्ञानपोषणादि कुर्वन् तन्मार्गीयः । कर्मफलस्य  
वैराग्यस्य पोषणादिकं कुर्वन्स्तन्मार्गीय इति ज्ञातव्यम् । एवं स्वरूपं निरूप्याश्रयरक्षणप्रकार-  
माहुः दुःखेत्यादि । एवं चित्ते सदा भाव्यमित्यादिना अभिप्रेणान्यः । तथा  
च दुःखहान्यादी हरिः सर्वथा शरणं भाव्य इत्यर्थादार्थिके कर्मयोगे सिद्धे दुःख-  
हानावित्यादौ क्वचित् क्वचिन्निमित्तात् कर्मयोग इत्यनेन सङ्गपी । तेन दुःखहान्यर्थं  
शरणं गतस्य शरणदानाज्ञानजनितं जीवमुद्धया दुःखं, तद्दान्यर्थं तथेत्यर्थः । एव-  
मप्येपि । साम्प्रदायिकाभिप्रेते विषयसप्तमीपक्षे तु दुःखहानिविषये तथेत्यर्थः । एव-  
मप्येपि । दुःखनिवृत्तौ आश्रयविस्मरणाऽमात्रार्थमुपदेय इति श्रीरघुनाथचरणाः ।  
भक्तिमार्गीयस्य सेवायां मृत्तस्य दुःखवतीकाराङ्गणाद् दुःखहानौ धैर्येण चित्तोद्गादि-  
सम्भवात् तदभावायै शरणभावनेनैव कर्तव्यमित्येवदर्थमिति चान्तरागोपीज्ञाताः ।  
गोकुलोत्सवास्तु नात्र किमपि व्याचख्युः । एवं सर्वत्र तत्तद्ग्रन्थादिष्वेवोपदेशः ।  
तत्रापि भक्तिं पोषयन् सारिष्वर आश्रयो गोपीजीर्विद्वतः । भक्तिजनयन् जनयिष्यै-  
श्वेत्युपपत्तिः प्रकारमेदेन श्रीरघुनाथचरणैर्गोकुलोत्सवैश्च विद्वतः । अत्र त्वापु-  
निहाना श्रीमद्वाचार्थमार्गप्रविष्टानामपि स्वभावमेदेन तत्रचिददर्शनात्तच्चक्षुषिकारानुसारेण  
तत्फलसिद्धयर्थं सर्वप्रकारको दिव्यात्वं मदर्थ्यत इति न कोपि कापि विशेषः । तथा

पाप इति । सेवादिविषयभूतपापे देवाज्जाते वा भगवद्गुरोरेषेः । भये, स्वस्य जीवस्य तुच्छत्वात्कथं ब्रह्मादिदुरापाचरणरेणोः प्राप्तिरिति भये, भयान्तरे च । कामाद्यपूरणे, काम आद्यो येषां, तद्गुणवैकिञ्चनः, अलौकिककाममुख्यमुख्यगुणज्ञानात्मक-भोक्षणां पूरणे पृथगे कामादेरपूरणे वा ॥ १० ॥

भक्तद्रोहे भक्त्यभावे भक्तेश्चातिक्रमे कृते ।

अशक्ये वा सुशक्ये वा सर्वथा शरणं हरिः ॥ ११ ॥

स्वस्य कामादिपूजां तस्या अन्यप्रादर्शने पदाद् अवज्ञायां, प्रकारान्तरेण वा द्रोहे, भक्तद्रोहापराधे मर्यादापामपि न दूरीकर्तुं शक्यते, यथा दुर्वासतोन्मरीचयोः विषये, किं पुनः पुष्टिभागे । अतस्तन्निवृत्त्यर्थमप्युपदेशः । स्वस्य, स्वीयानां चोक्त्यानुक्तभक्त्यनु-त्पत्तौ दुःसद्भादिना तत्राशे च । भक्तेश्चातिक्रमे कृते तत्सहसार्थमप्युपदेशः । ते चिना निमित्तं सर्वथा कमपि नातिक्रामन्ति । अपातिक्रामन्ति कदा तस्मिन्कोपि दोषोस्ति । तवस्तन्निवृत्त्यर्थमपिमिति आचार्योपीशाः । अशक्ये वा सुशक्ये, वा सुचद्रोष्येः । स्वकृत्यसाध्ये स्वकृतिसाध्ये च सर्वथा व्याख्यातकारेण कापकाहनोभिर्वा सर्वदुःख-हर्त्रेण शरणम् । सुशक्ये शरणोपदेशेहङ्काराभावार्य इति आचार्यः । एवं विदोषेणाप्यं सर्वोप्युपदेशो विवेकाभावेपि आश्रयस्यासहायशूरत्वार्थ इति मम प्रतिभाति । पैर्वापावेपि तथात्वार्थेमादुरहङ्कारेत्यादि ।

अहङ्कारकृते चैव पोष्यपोषणशक्ये ।

पोष्यातिक्रमणे चैव तथान्तेवास्यतिक्रमे ॥ १२ ॥

अहङ्कारकृते अपिमानेन कृते, तद्रोपनिवृत्त्यर्थमपिमाननिवृत्त्यर्थंवाप्युपदेशः । पकारः सर्वानुक्तसनातोपसमुच्चयार्थः । प्यकार उपायान्तरानुष्ठानव्युदासार्थः । पोष्यपोषणशक्येण सम्भावनेन तद्रक्षणस्य लौकिकत्वात्तत्करणे स्वस्य सेवादिविषयात्-दुराज्ञे भगवतोप्यानां हेतुदुभयसामञ्जस्यार्थमिदम् । पोषणत्रियाचदितरक्षणत्रियापां वा पोष्यातिक्रमणे । पोष्यैः सह निरेदितैः कृते, स्वयं वा तेषां कृतेऽतिवशये आगुरुं भावं चिना तदभावात्तस्यैष्टननिवृत्त्यर्थं स्वयत्नन्यायार्थं वेदम् । तथान्तेवास्यतिक्रमे, अप्रापि तथा, । तस्मिन्स्वहृत्कारानुसन्तानेन मर्यादनिवृत्त्यर्थमपिपोष्यपोष्येण ॥ १२ ॥

१. संनिगुमात्परायां पोष्ये चैव तद् पोष्यरोपणद, अत्तरात्परीदितोरोपोष्येण तस्य रणे, तत्परि०२० ५ ।

५४ विवेकध्यायः, श्रीश्यामलसुतश्रीत्रनरानचरणविरचिता चिह्नितः ।

अलौकिकमनःसिद्धौ सर्वथा शरणं हरिः ।

एवं चित्ते सदा भाव्यं वाचा च परिकीर्तयेत् ॥ १३ ॥

अलौकिकमनः सिद्धी, निमित्तात्सप्तमी । “मनो हि द्विविधं मोक्ष शुद्ध्या  
शुद्धये च । अशुद्धं कामसङ्कलं शुद्धं कामविवर्जितमि”ति ध्रुतेः । कामसङ्कलरहित  
मनःसिद्धयर्थं सेवाध्यायतुकल्पनसिद्धयर्थवित्यर्थः । सर्वार्थं पुण्यादिपार्श्वीयसङ्कल-  
पुरणार्थार्थम्, अतिदीनभावसिद्धयर्थोयद्युपदेशः । शरणं हरिः व्याख्यातमेतत् । एव  
विषयमुपदिश्य रक्षणप्रकारमाहुरेवमित्यादि । चित्ते भावनेन भगवानाश्रय ददाति ।  
क्षणमात्रमप्यासुराभेदाभावात् सदैव । वाचा परितः कीर्तनेन मार्गः प्रकलति ।  
ततोभयोपदेशः ॥ १३ ॥

कापिसमाहुरन्यस्येत्पादि ।

अन्यस्य भजनं तत्र स्वतो गमनमेव च ।

प्रार्थनाः कार्यमात्रेपि तथान्यत्र विवर्जयेत् ॥ १४ ॥

अन्यस्य भगवदतिरिक्तस्य भजनं वर्जयेत् । अन्यं देवत्वेन कापपुरकत्वादिदुरा-  
शया वा न सीवेत् । तत्र स्वतो गमनमेव च, तदशरणभूत तत्र तत्समीपे स्वत उच्यते  
गमनञ्च वर्जयेद्वेद्य । “पावदन्नाश्रयस्तावद्भगवानपि त ननुम्, विलोकयेत् दयया तानन्य-  
जनवत्सल” इति शक्यादन्याश्रये भगवानाश्रयमपि न दद्यादिति ज्ञानार्थवैकारः । कौतु-  
कार्यप्रयम्बि कालपगमने नन्द्यामस्योक्तत्वाच्च । मध्येमार्गं सामीप्ये जाते तत्रज्ञानं कुर्यात्,  
भगवत्सेवकत्वावगत्वादिर्कं भावयेदित्यपि सूचितम् । प्रार्थनाः कार्यमात्रेपि वर्जयेत् ।  
तेन कार्यस्यामोहे भगवति प्रार्थना कदाचित् सकृच्छ्रुत्यादयोति मूच्यते । श्रीरघुनाथचरणेस्तु  
प्रार्थनापदं प्रथमान्तं शक्येत्यप्याहृत्य व्याख्यातम् । “अपृष्टा यस्तु या काञ्चित्कपा  
नारभते हरिम् । असम्भिन्नाथेदयोदितस्य तुल्यति केशव” इति विष्णुर्मीयशङ्करगीता-  
वाक्येनोपपृच्छ । तथा च प्रार्थनापदं विज्ञापनमात्रपरमिति तेषामाशयः । एवञ्च न  
पूर्वमन्यविरोधोपीति युक्ततरमेव तैर्विपृष्टम् । पावनव्यवहारासाधारणकारणीभूतः  
कायादिव्यापारोयं ददातिव्याभिसन्धिपूर्वको वा सः प्रार्थना । तदकारणजनयिर्महित  
स्वज्ञातवस्तुस्वरूपमात्रजन्यत्वं विज्ञापनमिति तयोः स्वरूपभेदादुचिरं चैतत् । स्वाम्प  
धीनत्वदाहो न विवेकोपपृच्छान् । आत्माया विद्यन्ते पर्येत्याप्युपपृच्छमादाश्रयदाहोर्न  
तस्य शीघ्र स्वकार्यमत्वसिद्धेरिति । तथान्यत्र विवर्जयेत् । यथा भगवति सकृ-  
त्प्रार्थनं सर्वविज्ञापनञ्च, तयोत्रेषु विशेषेण वर्जयेत्, तदुभयमपि सर्वथा न कुर्यादित्यर्थः ।  
मनसाप्यविचारणं वर्जने विशेषः । एवं कायिकमुपदिष्टम् ॥ १४ ॥

अतः परमेतत्सर्वसिद्धयर्थं वापकृत्यागोचर्यं वक्तव्यस्तपाहुरविश्वास इति ।

**अविश्वासो न कर्तव्यः सर्वथा बाधकस्तु सः ।**

**ब्रह्मास्त्रचातको भाव्यो प्राप्तं सेवेत निर्ममः ॥ १५ ॥**

“मनुक्तावि”ति शेषः । “आश्रय” इति वा । सर्वयेति, स्वरूपतः फलवत् । तु पूर्वपक्षनिरासकः । “यस्य स्याद्बद्धा न विचिकित्सास्ती”ति श्रुतिम्, “अद्वयाभ्रदधानश्च संशयास्या विनश्यती”त्यादिस्मृतिश्च प्रमाणत्वेनाक्षिपति । तर्हि तन्निवर्तनायोपायो वक्तव्य इत्यत आहुः ब्रह्मास्त्रेत्यादि । ब्रह्मास्त्रं चातकश्चेत्युभौ अविश्वासस्य बाधकत्वे विश्वासस्य साधकत्वे च यथा यथं भाव्यौ चिन्तनीयौ, तयोर्ब्रुतान्तः स्मृतस्य इत्यर्थः । यथा लङ्कायां राक्षसैर्विहास्येण इनुमान् बद्धस्तनसं बद्धं निधेट्टमालोच्य ते रज्जुभिर्वञ्जुमारब्धस्तदा तेषां विश्वासाज्भावं दृष्ट्वा ब्रह्मास्त्रं ततो निर्गतं, इनुमान्बुक्तबन्धनो रज्जुबन्धनानि वमञ्च । तेन तेषां प्रयोगप्रयासो व्यर्थोऽभूत् । तथात्राविश्वासे भगवानपि त्यजति भक्तिमार्गं शरणमार्गं च प्रवृत्तिरपि वृथा भवतीत्यविश्वासे दृष्टान्तः । चातकः पक्षिविशेषः, स च स्वाविधिन्दुमासाद्यावर्षपर्यन्तं, विश्वासेन तिष्ठति, तेन तस्य क्षेमं निर्वहति, पुनश्च स्वातौ पर्यन्थो वर्षत्येव । तथात्र श्रीमदाचार्योक्तौ विश्वासे, तथा भगवति मार्गे च विश्वासे सर्वं सिद्धयतीति विश्वासे दृष्टान्तः । तथा चाविश्वासं परित्यज्य विश्वासे कृत्वा प्राप्तं सेवेत निर्ममः, लौकिके ममतां परित्यज्य पटञ्जया प्राप्तं सुखं वा दुःखं वा तत्साधनं वाञ्छुमनेव तु तत्राभिनिवेशेतेत्यर्थः ॥ १५ ॥

अनभिनिवेशे लौकिकादिनिर्वाहप्रकारमाहुर्ग्रन्थे कथञ्चिदित्यादि ।

**यथाकथञ्चित्कार्याणि कुर्यादुच्चावचान्पपि ।**

**किं वा प्रोक्तेन बहुना शरणं भावयेद्धरिम् ॥ १६ ॥**

उच्यन्ति सेर्यानि, अयचानि लौकिकार्यानि, उभयान्बुधयविधानि वा यथा कथञ्चित् कुर्यात् नतु प्रणादिना, नापि लौकिकमन्त्रमेतेत्यर्थः । पत्रमपि कथञ्चिद्विधेन्वस्मग्ने तत्राप्युपायमाहुः किं चेत्यादि । पटञ्जल प्रोक्तेन किं, न हि पास्तः प्रकाशः फाल्गुणस्वभावमहद्देनादिनिवन्धना आतन्त्यादित्तुं शक्यते । तस्यादिव्याप्रेणोक्तेषु यः प्रतिविधानोपायः पूर्वमुक्तस्तमेव सर्वथातुमन्द्वादिद्विधानवेनातुवदन्ति शरणं भावयेद्धरिषिति । “सर्वेषां निरिहस्ये”त्यत्र “तन्मात्रमुद्धरे”त्यत्र च भगवता कथं निर्दिष्टान्वाच्याणामेव तेनैव निर्दिष्टस्य प्रत्यक्षेषु तस्य प्रत्यक्षेषु निर्दिष्टान्वाच्याणामेव । पतेनाङ्गाभाषेयाभ्रगम्यामरापगुणा निर्दिष्टा ॥ १६ ॥

एवंमार्गद्वयदिश्वोर्गद्वयैवदिव्यादि ।

एवमाश्रयणं प्रोक्तं सर्वेषां सर्वदा हितम् ।

कलौ भक्त्यादिमार्गा हि दुःसाध्या इति मे मतिः ॥ १७ ॥

एवमुक्तपरारोग आश्रयणं मार्गणं प्रोक्तं, परार्थेण विश्वरूपीयादिभिरनैक-  
त्वेन चोक्तम् । तदिदं सर्वेषां वर्गाभिमपुक्तानां तद्विहितानां च सर्वदाऽस्मिन्नुद्ये युगा-  
न्वरे च सम्प्रदायद्वये च हितम् यथापि शारदुत्तमकृष्णजनकम्, “मां हि पार्थ  
एवमाश्रय,” “किरातदृग्माद्रे”त्यादिवाक्येषु तथैव निर्द्धारितम् । ननु तर्हि मग्नता  
“योगाय” इत्येव ग्रथ एव विधिभूताः । पूजार्थं ह्यत्र उक्त इत्यत्र आहुः कला-  
विन्यादि । तेषां माधनमापेक्षन्वादेरसोदायुक्तः, अथ तस्मिन्पक्षेऽनुकूलरूपयेत्यदो  
भिदाययोक्तः । एवं भोगसदाशयमदं जानापीन्यादुर्वैतिरिति । तथा चैतद्ग्रन्थं यदाज्ञाप्य-  
नुसन्धायाश्रयं कुर्यात् सर्वथा भगवानाश्रयं ददातीत्याशयः ।

रम्यं च तिरस्कृतपयोदर्शयि यमुनातटे रनितरेणुरामम् ।

मजनायसं रचिररासवरं सननं विचारय मदीययनः ॥ १ ॥

विश्वरूपीयांशवाणां चिन्तितस्तु यथापति ।

शुना तेन मसीदन्तु स्वाचार्याः सततं मयि ॥ २ ॥

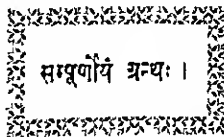
त्वदीयन्तरजाद्धार्याःशुद्धितनं मयात्र तद् ।

भूयात्स्वाचार्यपोदाय बालधौर्त्यं यथा पितुः ॥ ३ ॥

इति श्रीमदाचार्यचरणैरुक्तानश्रीश्यामस्तुतश्रीमन्नारायणचरणविरचिता

विश्वरूपीयांशवचिन्ताः सम्पूर्णाः ।

१ “मग्नताशयम्” इति पाठः दत्तात्रेयः । अन्यत्रुक्तकेदं यथा स्वीदरत्नया लयीपीनो मयि ।



श्रीमद्-वल्लभाचार्य-महाप्रभु-विरचित-षोडश-ग्रन्थान्तर्गत-नवमं

## कृष्णाश्रयस्तोत्रम्

षडभिष्टोकाभिः समलंकृतम्

१. श्रीरघुनाथानां विवरणम्
२. श्रीकल्याणरायाणां प्रकाशः
३. त्रिगुहश्रीगोविन्दराजभट्टानां प्रकाशटिप्पणम्
४. श्रीद्वारिकेश्वराणां विवृतिः
५. श्रीवज्रराजानां विवरणम्
६. केषाञ्चित् विवरणम्

श्रीमद्-वल्लभाचार्य-महाप्रभु-प्रवर्तित-शुद्धाद्वैत-सम्प्रदायस्य-सप्त-  
पीठान्तर्गत-षष्ठ-पीठाधिष्ठित-गोस्वामि श्री १००८ श्री  
श्रीवज्ररत्नलालजी - महाराजश्रीत्येतैः प्रकाशितम्



प्रकाशक :

गोश्वामिथी १००८ श्रीप्रवररत्नमालाजी महाराज (१९४१-१९८८)  
मोट्टु मन्दिर, मागागणप, गुरत, ३९५००३. भारत.

साधारण मस्तरण ३००० प्रति

राज मस्तरण १००० प्रति

श्रीवल्लभान्द ५०३

प्रत्य-परिचय लेखक: गोश्वामी इयाम मनोहर

मुद्रक:

स्टूडियो बहार, २३ ए, सेन्ट्रल चौपाटी बिल्डिंग, चौपाटी,  
मुम्बई-४००००७



गोस्वामिश्रो १००८ श्रीज्ञजरत्नलालजी महाराज

## ग्रन्थ--परिचय

कृष्णाश्रयस्तोत्रका प्रणयन अङ्गुलमे श्रीमहाप्रभुने लाहोरके बूला मिश्रके लिए किया था यह उल्लेख चौरासी वैष्णवतकी ४६वीं वार्ताके भावप्रकाशमे मिलता है इसका रचनाकाल वि स १५७० कहा जाता है १

बूला मिश्रका जन्म सारस्वत ब्राह्मणके घरमे हुआ था बूलाके पिता पुरोहिताईका काम करते थे - परन्तु और किसी तरह पढ़े-लिखे नहीं थे बूला जब दस वर्षके हुए तो पिताने बूला कर कहा—“बेटा ! तुम ब्राह्मणकुलमे जनमे हो. कुछ थोडा-बहुत शास्त्रोका अध्ययन करोग तो सम्मानपूर्ण जीवन जी पाओगे अन्यथा मेरी तरह अनपढ़ ही रह जाओगे”

पिताने जिस पण्डितजीके पास अपने पुत्रको विद्योपाजर्नके लिए भेजा वह पूरा ‘लामपूजापरायण’ पण्डित था चेला पढ़ते देखकर बोला-- “अच्छी तरह पढ़ना हो तो पहले पाच-दस रूपया भेंटके रूपमे लाकर मेरी पूजा-भक्ति करो !” (पाच-दस रूपया आजसे पाच सौ वर्ष पूर्व बहुत महंगा था)

बूला मिश्र पबरा गये. भागकर घर आ गये भोहे तानकर पिताने पूछा— “क्यो लोटकर घर आगये न? अरे, यहा घरमे पड़े रहे तो ओरतोका काम चूल्हा फूकना ही सिर्फ सीख पाओगे क्यो गुरुजीके घरमे रहनेमे नया लज्जा आती है?” बूला बोल— “अरे, यह पण्डितजी तो पढ़ानेसे पहले ही गुरु-दक्षिणा माग रहे है। ओर यहा तो किसीके भी पास जाऊ, गति यही होगी सो मैं तो काशी जाऊगा पढ़ने.” बूलाके पितानेने ताना कसा— ‘घरके बाहर निकलनेकी हिम्मत है नहीं ओर बेटा काशी पढ़ने जायेगा।’

देस लग गयी इस बातसे बूलाके मनपर. बूलाने अपने पितानेके पैर छुए और घरते बाहर निकल गये भोज मागकर पेट भरते हुए किसी तरह काशी पहुचे वहा भी भिक्षावृत्तिके अलावा कोई चारा न था पर एक पण्डितजीने पढ़ानेकी दयालुता बूलाको दिखलाई बूलाके कठोर परिश्रमके बावजूद भी तीन वर्षेकी अवधिमे कोई विशेष विद्याजर्न हो नहीं पाया दोना ही निराश

हो गये, अध्यापक भी और विद्यार्थी भी एक रोज पण्डितजीने साफ-साफ कह ही दिया—“बूला ! तुम्हारे भाग्यमें सरस्वती नहीं है. व्यर्थ परिश्रम क्यों करते हो ?”

बेचारे बूला मिश्र खिन्न हो गये. पण्डितजीकी पाठशालासे निकलकर घहरके बाहर गंगाके तटपर अन्न-जलका त्यागकर बंठ गये ब्राह्मणोचित महत्वाकांक्षाको लिये हुए एक ब्राह्मणबालक काशीमें तीन वर्षतक रहकर भी विद्यार्जन न कर पाये तो दूसरा मार्ग और क्या हो सकता था? बूला सोचा कि या तो इस तपस्यासे सरस्वती प्रसन्न होगी, नहीं तो फिर इसी तरह प्राण-त्याग देना उचित है तीन दिन बाद सरस्वतीकी वाणी सुनायी दी कि सब कुछ भगवदिच्छाके अनुसार होता है भगवदिच्छा होनेपर चाण्डाल भी विद्वान् हो सकता है और भगवदिच्छा न होनेपर ब्राह्मण भी मूर्ख ही रह जाते हैं

‘विवेकस्तु हरि सर्वं निजेच्छात करिष्यति’

‘प्राकृता सकला देवा गणितानन्दक बृहत्,

पूर्णानन्दो हरिस्तस्मात्कृष्ण एव गतिर्मम”

बूला मिश्रके भीतर विवेक तो जागा परन्तु घंघं छूट गया बुलाने सोचा कि यदि सब कुछ भगवदिच्छाके अनुसार ही होता हो तो भगवान्की इच्छाको बदलनेके लिए भगवान्के नामपर ही भूषणहस्ताल करनी चाहिये। एसा विचारकर बूला ‘विष्णु विष्णु विष्णु’ जप करते हुए भूखे प्यासे बंठे रहे अधीर होकर ही सही पर भगवन्नाम लेनेपर बूला मिश्रको भगवत्साक्षात्कार हुआ और श्रीमहाप्रभुके पास अडल जानेकी भगवदाज्ञा भी हुई. बूला मिश्र भगवदाज्ञा पाकर अडेल पहुँचे श्रीमहाप्रभुने इनका स्वागत किया और कहा “बूला ! तुम धन्य हो तुमने भगवद्दर्शन पाये !” बूला मिश्रने सविनय निवेदन किया—“महाराज ! भगवत्साक्षात्कार आपकी कृपाका फल है परन्तु भगवद्दर्शन होनेके बावजूद भगवत्स्वरूपानन्दका अनुभव मुझे नहीं हुआ।” श्रीमहाप्रभुने समझाना चाहा—“एकवार भी भगवत्साक्षात्कार हो जानेपर सासारिक मोहके बन्धनका भय नहीं रह जाता, जोव मुक्त हो जाता है। इसपर बूला मिश्रने विनती की—‘महाराज ! मुझे मुक्ति नहीं चाहिये—भक्ति चाहिये अतः कृपाकर आप अपनी शरणमें मुझे लें।’” श्रीमहाप्रभुने प्रसन्न होकर बूला मिश्रको यमुनाजीमें स्नान करनेकी

आज्ञा दी और पश्चात् अष्टाक्षर तथा ब्रह्मसम्बन्ध का दान दिया. समग्र धारणोके गुह्यतम रहस्यके उपदेश तथा मानसीसेधोपयोगी मनकी सिद्धि के लिए श्रीमहाप्रभुने कृष्णाश्रयस्तोत्रकी रचना की और उसे ब्रह्मा मिश्रको पढ़ाया

‘आश्रय’ शब्दके दो अर्थ होते हैं: १) सहारा देनेवाला २) सहारा लेनेकी क्रिया. अतएव विवेकधर्याश्रय ग्रन्थमें जब—“श्रीहरिके आश्रयसे सारे अदावय कार्य भी सिद्ध हो जाते हैं (अशक्ये हरिरेवास्ति सर्वमाश्रयतो भवेद्)” कहा तो वहा ‘आश्रय’ का अर्थ धारणागति या सहारा लेनेकी क्रिया है. इसी तरह भागवतके द्वितीयस्कन्धके — “जगत्के उत्पत्ति एवम् प्रलय के कर्ता तथा उपादान रूप परब्रह्मको ‘आश्रय’ कहा जाता है (आभासश्च निरोधश्च यत्तच्चाध्यवसीयते स आश्रय पर ब्रह्म परमात्मेति शब्दयते )” इन वचनमें ‘आश्रय’ शब्द आधार या सहारा बननेवालेके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है. ‘आश्रय’ शब्दके इन दोनों अर्थोंको लेकर ही “कृष्ण एव गतिर्मम” में ‘गति’ शब्द प्रयुक्त हुआ है. अर्थात् भगवान् ही साधन हैं और भगवान् ही फल भी—भगवान् ही मार्ग हैं और गन्तव्य भी—भगवान् श्रीकृष्ण सभी अर्थोंमें हमारे आधार—आश्रय—गति हैं. अतएव “कृष्ण एव गतिर्मम” का अर्थ—कृष्ण ही हमारे आश्रय हैं और कृष्णमा ही हमें आश्रय लेना चाहिये—दोनों तरहसे लिया जा सकता है.

इस जगत्में अनेक प्रकारकी जीवात्मायें हैं कुछ जीवात्माओंमें लौकिक फलोंकी प्राप्तिके लिए लौकिक साधनोंके आश्रयकी वृत्ति प्रबल होती है प्रवाही जीवात्माओंका यह प्रमुख स्वभाव होता है. कुछ जीवात्माओंमें वेदादि—शास्त्रीय फलोंकी प्राप्तिके लिए केवल शास्त्रीय साधनोंके ही आश्रयकी वृत्ति प्रबल होती है मर्यादामार्गके अन्तर्गत कर्ममार्गीय जीवोंमें यह स्वभाव बलवान् होता है कुछ वैदिक फलोंकी प्राप्तिके लिए वैदिक साधनोंके साथ-साथ भगवान्की भी आश्रयके रूपमें अपनाते हैं मर्यादामार्गके अन्तर्गत ज्ञानमार्गीय उपासनामार्गीय तथा मर्यादाभक्तिमार्गीय साधकोंमें यह स्वभाव पाया जाता है कुछ जीवात्माओंको भगवान्के अलावा अन्य किसी फलकी कामना होती नहीं है अत वे साधनके रूपमें ही केवल हरिका आश्रय स्वीकारते हैं ऐसे जीवोंको पुष्टिजीव समझना चाहिये (दृष्टव्य भागवतार्थ—निबन्ध ५-६/१२). अतएव “कृष्ण एव गतिर्मम” मनोभाव पुष्टिजीवका परम लक्षण है

भागवतके बारहवें स्कन्धका वर्ण्य-विषय भी आश्रयलीला ही है। भागव-  
तार्थ-निबन्धमें 'आश्रय' शब्दके अनेक अर्थ दिखलाये गये हैं।

यथा-भागवतके द्वितीय स्कन्धसे लेकर ग्यारहवें स्कन्धतक भगवान्की  
जिन सगं विसगं स्थान पोषण ऊति मन्बन्तर ईशानुकथा निरोध और मुक्ति  
रूप लीलाओंका वर्णन किया गया है, उन लीलाओंके वर्ता-आश्रय एकमात्र  
श्रीकृष्ण ही है। ये नवविध लीलायें लक्षण हैं और इनसे लक्षित लक्ष्य-आश्रय  
एकमात्र श्रीकृष्ण ही हैं। इन नवविध लीलाओंका वर्णन भागवतकारने इसी  
हेतुसे किया है कि जिन-जिन विभूतिरूपोंको धारण कर सगंलीलासे लेकर  
ईशानुकथातक की लीलायें भगवान् करते हैं उन सभी रूपोंके साथ भगवान्-  
का कार्य-कारणरूप शुद्धाद्वैतरूप सम्बन्ध है। अर्थात् एक ही ब्रह्मका नाम-रूपमें  
विस्तार यह समग्र ब्रह्माण्ड है (सर्वं खलु इदं ब्रह्म)। कार्यरूप सभी लौकिक  
या अलौकिक विभूतिनामों तथा विभूतिरूपों को धारण करनेवाला कारण-  
रूप परमात्मा एक ही है, ऐसा शुद्धाद्वैत-बुद्धिसे समझना आवश्यक है। हृदयसे  
स्नेह या आश्रय किन्तु विभूतिनाम अथवा विभूतिरूप का नहीं प्रत्युत मूल-  
रूप श्रीकृष्णके ही नाम-रूपका होना चाहिये (ब्रह्मरूपं जगत् ज्ञातव्यं ब्रह्म  
जगतोतिरिच्यते इति न तज्जातवित कर्तव्या)। अतः प्रथमस्कन्धसे लेकर नवम  
स्कन्धतक वर्णित लीलायें अन्याश्रय छुड़ानेके लिए हैं तथा दशम स्कन्धसे  
लेकर द्वादश स्कन्धतक की लीलायें कृष्णाश्रयके दृढीकरणार्थ हैं। हमने कह  
दिया है कि द्वादश स्कन्धका मुख्य वर्ण्य-विषय आश्रयलीला है। भागवतार्थ  
निबन्धके द्वादशस्कन्धार्थ-प्रकरणमें श्रीमहाप्रभु कहते हैं— "कृष्ण एवाश्रयो  
मतः" यही वाक्य इस कृष्णाश्रयस्तोत्रमें "कृष्ण एव गतिर्मम" के रूपमें रखा  
गया है।

एवकार इतरव्यावर्तक माना जाता है श्रीकृष्णके मूलरूपके अलावा अन्य  
सारे विभूतिरूप—लौकिक हो या अलौकिक—जड हो या चेतन—देव दानव  
मानव पशु पक्षी इत्यादि सभी रूपोंको भक्तिमार्गीय एवम् प्रपत्तिमार्गीय  
आश्रयके दृष्टिकोणसे इतर माना जाता है। ज्ञानमार्गीय दृष्टिकोणसे शुद्धाद्वैत-  
वादके अनुसार ये सर्वथा अभिन्न ही हैं परन्तु इस अभेदबुद्धिसे ये विभूतिरूप  
आश्रयणीय नहीं किन्तु केवल ज्ञातव्य हैं अतएव सभी विभूतिरूप एवकार-  
द्वारा ध्वावर्तनीय माने जाते हैं। इस "कृष्ण एव गतिर्मम" के एवकारकी ही

व्याख्या श्रीमहाप्रभुने— “अन्यस्य भजन तत्र स्वतो गमतमेव च, प्रार्थता कार्य-  
मात्रेपि ततोऽन्यत्र विवर्जयेत्.” इस विवेकधैर्याश्रयकी कारिकामें दो हैं

अन्याश्रय-रहित केवल श्रीकृष्णका आश्रय ही उचित है, यह दिखलाने के लिए अन्योके आश्रयकी विफलताका बोध आवश्यक है. तदनुसार इस स्तोत्र-  
के प्रथम तीन श्लोकोंमें लोकाश्रयकी विफलताका निरूपण किया गया है तथा  
द्वितीय तीन श्लोकोंमें धर्माश्रयकी विफलताका तृतीय तीन श्लोकोंमें  
कृष्णाश्रयकी महत्ताका निरूपण क्रमशः कर्ममार्गीय ज्ञानमार्गीय तथा भक्ति-  
मार्गीय दृष्टिकोणसे किया गया है अन्तिम दो श्लोकोंमें पृथक्शरण-मार्ग  
अथवा प्रपत्तिमार्गके उपदेशद्वारा गीताको तरह श्रीमहाप्रभुने भी सम्पूर्ण  
निर्भयताका वरदान दिया है

एक अन्य रीतिसे प्रारम्भके छह श्लोकोंमें काल देश द्रव्य कर्ता मन्त्र तथा  
कर्म जो धर्मके आवश्यक छह अंग हैं, उनको विफलता दिखलाते हुए, द्वादश  
स्कन्धके वर्ण्य-विषय पञ्चविध आश्रय — कृष्णाश्रय जगदाश्रय वेदाश्रय भक्ति-  
आश्रय तथा भागवताश्रय—के अतुल्य पाच श्लोकोंमें भगवदाश्रयकी महत्ताका  
निरूपण किया गया है.

एक तृतीय रीतिसे देखनेपर प्रारम्भके नौ श्लोकोंमें नवविध लीलायं  
गृहीत विभूतिरूपोंका अन्याश्रय छोड़नेके लिए नौ श्लोकोंमें—“कृष्ण एव गति-  
मम” कहकर इतराश्रयका वारण किया है तथा दसवें श्लोकमें कृष्णाश्रयकी  
सुदृढ किया गया है. ग्यारहवें श्लोकमें इस कृष्णाश्रयस्तोत्रकी फलश्रुति  
कही गयी है.

इस एक ही स्तोत्रमें वाक्पति श्रीमहाप्रभुने अनेक विवक्षाओंसे अनेकधा  
कृष्णाश्रयका निरूपण बूला मिश्रको समझाया है.

१) कलियुगके कारण धमनुष्ठानमें भी या तो आंतरिक दुराशयकी  
प्रचुरता ही सर्वत्र दिखलायी देती है, या फिर ईश्वर-भजन-विरोधी उपधर्मों  
अनोश्वरवादी ज्ञान वैराग्य अहिंसा दया लोकौपकार इत्यादि — के पापण्डका  
ही प्रचुर प्रचार दिखलायी देता है इससे भगवत्प्राप्तिके कर्म ज्ञान और  
भक्ति मार्ग अवरुद्ध हो गये हैं. तथापि जिन्हें साधन और फलके रूपमें एक-  
मात्र श्रीकृष्णका ही आश्रय है उन्हें किसी तरहका भय नहीं रह जाता. अतः  
इस कलियुगमें एकमात्र श्रीकृष्ण ही गति हैं.

२) सारा देन तामसी म्लेच्छ शक्तियोंसे आक्रान्त हो गया है लोम-लालच कामुकता-व्यभिचार लूट ससोट हिंसा-त्रत्याचार जैसे पापोंके अनंतिक अड्डे ही सर्वत्र चल निकले हैं स्वधर्म-पालनका जो थोड़ा-बहुत प्रयास करते भी हैं उन्हें अनेकविध पीडा और क्लेशों से सन्तप्त किया जाता है ऐसी स्थितिमें सज्जनोंका व्यग्र हो जाना स्वाभाविक बात है ऐसी स्थितिका सामना करनेके लिए केवल श्रीकृष्ण ही हमारे सम्बल हो सकते हैं

३) सभी पवित्रस्थल मन्दिर आश्रम वनपर्वत सरोवर गंगा आदि तीर्थ, वनलोलुप तथा दुष्कर्म-निरत धर्मध्वजी उपदेशक पण्डा पुजारी पुरोहितों से घिर गये हैं अतः इन पवित्र स्थलोंका जैसा आधिदैविक प्रभाव प्रकट होना चाहिये वह दिखलायी नहीं देता परन्तु जिन भक्तोंने श्रीकृष्णकी लालसा है उनकी कभी दुर्गति नहीं होगी

४) कर्ता धर्मका चतुर्थ अंग माना जाता है. वर्तमान युगमें धर्म-भावनासे धर्मानुष्ठान करनेवाले कर्ता दुर्लभ हो गये हैं. सारे धार्मिक अनुष्ठान पण्डित-म्मन्य लोगोद्वारा राजसी-तामसी प्रकृतिके म्लेच्छोंने अनुसरण और अनुकरण के रूपमें किये जा रहे हैं और तिसपर भी धन और यश की लोलुपता ही इनका मुख्य हेतु होता है फिर भी बुद्धिप्रेरक श्रीकृष्णके चरणारविन्दोंका जिहें आश्रय है उन्हें ऐसी क्षुद्र लालसाओंसे श्रीकृष्ण ही बचावये

५) धर्मके पाचवे आवश्यक अंग मन्त्रोंमें भी अब वह प्रभाव नहीं रह गया है किसी योग्य अधिकारी गुरुके समक्ष प्रणिपात परिप्रदन और परिचर्या की शास्त्रीय विधिके अनुसार तत्सद् मन्त्रोंके विभिन्न ग्यास तात्पर्य और विनियोग के परिज्ञान तथा मन्त्रार्थ अपेक्षित व्रत एवम् शुद्धि के पालनपूर्वक दीक्षाग्रहण करनेसे मन्त्रोंमें प्रभाव उत्पन्न होता है इसके विपरीत आजकल अयोग्य-अनधिकारी व्यक्तियोंसे शास्त्रीय विधियों ग्यासादिके परिज्ञानके बिना तथा मन्त्रार्थ अपेक्षित व्रतादि शुद्धिके बिना ही मन्त्रग्रहणकी रीति चल पड़ी है अतः मन्त्रोंकी आधिदैविक अशक्तित्व तिरोहित होगयी है. प्रकृत सभी मन्त्र प्रभावहीन और निष्फल हो गये हैं परन्तु श्रीकृष्ण तो मन्त्रसाक्षिके अधीन नहीं हैं. प्रत्युत सभी मन्त्रसाक्षियां श्रीकृष्णके अधीन हैं अतः श्रीकृष्णका ही आश्रय लेना चाहिये



✓ ६) धर्मके छोटे आवश्यक अंग कर्मका भी स्वरूप भ्रष्ट हो गया है, वयो कि जगत्में अनेक प्रकारके वाद चल निकले हैं जो कर्म शास्त्रदृष्ट्या आवश्यक होते हैं उन्हें ये वाद निरर्थक मान लेते हैं, जो कर्म शास्त्रीय दृष्टिसे बहुत आवश्यक नहीं होते उन्हें ये वाद अनिवार्य सिद्ध करते हैं, जो वाद शास्त्रोंका प्रामाण्य मानते हैं वे भी अर्धभ्रष्टासे शास्त्रोंके मन कल्पित अर्थ निकाल लेते हैं शास्त्रोंके इस तरहके अन्यथा व्याख्यातके कारण भ्रान्त अनुयायी शास्त्रीय कर्मोंका अनुष्ठान भी अन्यथा रीतिसे करने लग जाते हैं, जैसे अकरणसे कर्मोंका स्वरूपतः नाश होता है वैसे ही अन्यथाकरणसे कर्मोंका फलतः नाश होता है, प्रायः यथाविधि कर्मोंका अनुष्ठान करनेवाले भी केवल दुनियाको दिखानेके लिए कर्मोनुष्ठानका पापण्ड ही करते हैं अतएव कर्मोंका प्रभाव ही क्षीण हो गया है फिर भी अस्थाश्रय-दोषरहित होकर श्रीकृष्णमें आश्रयभाव रखना कभी निष्फल नहीं जाता अतः कृष्ण ही अथ केवल आश्रयणीय रह गये हैं।

इस तरह प्रथम तीन श्लोकोंमें लोकनाश एवम् द्वितीय तीन श्लोकोंमें धर्मनाशके निरूपणके वाद, अब जैसे कि भागवतके वारहवें स्कन्धमें पञ्चविध आश्रयका निरूपण माना गया है, तदनुसार श्रीकृष्णकी आश्रयरूपताका भी पांच ही श्लोकोंमें वर्णन किया गया है सातवें श्लोकमें कर्ममार्गीय दृष्टिकोणसे, आठवें श्लोकमें ज्ञानमार्गीय दृष्टिकोणसे, नौवें श्लोकमें भक्तिमार्गीय दृष्टिकोणसे तथा दसवें-ग्यारहवें श्लोकमें प्रपत्तिमार्गीय दृष्टिकोणमें भी एकमात्र श्रीकृष्ण ही आश्रयणीय है, यह दिखलाया जा रहा है

७) कृष्ण सर्वोद्धारक है अतः सुसाधन निःसाधन एवम् दुष्टसाधन जीवोंका भी उद्धार करनेमें समर्थ है अजामिलका उपास्यमान भागवतके छठे स्कन्धमें उपलब्ध होता है कि कैसे-कैसे निन्दित कर्मोंम निरत होनेपर भी भगवदनुग्रहवशात् उसके सारे कर्मदोष बिना तरकयातनाके ही नष्ट हो गये अतः कर्ममार्गीय दृष्टिसे केवल श्रीकृष्ण ही आश्रयणीय है, अजामिलके प्रसंगमें जैसे भगवान्ने स्वयंके नामका माहात्म्य प्रकट किया इसी तरह श्रीकृष्णके ध्यान अर्चन आदिका भी माहात्म्य वहा दिखलाया गया है मूलतः कृपा ही साधन है, वाकी उद्धारका व्यापार या व्याज तो भगवान् शास्त्रतः विहित अविहित या निषिद्ध कर्मोंकी भी बना सकते हैं श्रीकृष्णका यही तो माहात्म्य है कि वे

काम भय द्वेष सम्बन्ध स्नेह या भक्ति किसी भी भावमूलक कर्मको अपने अनुग्रह-के प्रकट होनेका निमित्त बना सकते हैं. अतः "कृष्ण एव गतिर्मम."

८) ज्ञानमार्गीय दृष्टिकोणसे भी आठ वसु, एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य, इन्द्र एवम् प्रजापति; अथवा अग्निसे लेकर ब्रह्मा-विष्णु-शिव पर्यन्त तैत्तिरीय कीटी देव सभी भगवान्के अंश-कलावतार-रूप है तथा भगवान्की सर्वभवन-सामर्थ्यरूपा माया या प्रकृति के द्वारा लिये गये भगवद्रूप है. अतः वे स्वयम् आविर्भाव-तिरोभावशाली है. अक्षरब्रह्म यद्यपि देवातः कालतः तथा स्वरूपतः अपरिच्छिन्न एवम् पुरुषोत्तमसे अविच्छिन्नतया स्थित होता है तथापि अक्षर ब्रह्म भगवान्का ज्ञेयरूप है भजनीय रूप नहीं. अतः अक्षरब्रह्मका गणिता-नन्दकी तरह अनुभव होता है, पूर्ण पुरुषोत्तम श्रीकृष्णकी तरह अगणिता-नन्दके रूपमें नहीं. अतः उपासनामार्गीय देवोंकी और ज्ञानमार्गीय अक्षरब्रह्मकी तुलनामें भी उपास्यत्वेन ज्ञेयत्वेन या भजनीयत्वेन भी एकमात्र श्रीकृष्ण ही आश्रयणीय है.

९) भक्तिमार्गीय दृष्टिकोणसे भी पूर्ण विवेक धर्म या भक्ति आदिके अभावमें भी — मन कितना भी पापासक्त क्यों न हो परन्तु दैन्यके साथ एकवार जीव शरणागत हो जाता है तो मुद्गराचारीकी भी साधु-पुरुष बना देनेवाली श्रीकृष्णकी भक्तिका लाभ ही होता है.

(१०-११) प्रपत्तिमार्गमें तो स्वयम् प्रभुने — "सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः" कहा है. अतः कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुं समर्थ — सर्वसमर्थ तथा भक्तोंके अखिल मनोरथोंको पूर्ण करनेवाले श्रीकृष्ण यदि शरणागत जीवोंका उद्धार नहीं करेगे तो और कौन करेगा? अतः श्रीमहाप्रभु सभी पुष्टिजोषोंको आश्वस्त करना चाहते हैं कि इस कृष्णाश्रयस्तोत्रका जो श्रीकृष्णकी सन्निधिमें पाठ करेगा उस पाठकर्ताके श्रीकृष्ण आश्रय वनेगे. जैसे अखिल ब्रह्माण्डके नाथ होनेपर भी अपने आश्रित प्रजभवत्तोंके लिए छोटेसे गोकुलके नाथ श्रीकृष्ण बने ही है !

बूला मिश्रको हम देख सकते हैं कि इसी कृष्णाश्रयस्तोत्रके कारण न केवल विद्वद्गुर्लभ वाक्सिद्धिकी प्राप्ति हुई अपितु मानसी-नेवोपयोगी अलौकिक मन भी सिद्ध हो गया (अलौकिकमनःसिद्धी शरणं भावयेद् हरिम्). विवेक-

धैर्याश्रय ग्रन्थमें कहे गये विवेक और धैर्य सिद्ध हों या न हों पर ऐहिक-पार-  
लौकिक सभी विषयोंमें श्रीकृष्णका आश्रय सभीके लिए सर्वदा हितकारी ही  
होता है. इसी कृष्णाश्रयकी दृढ करनेके लिए इस स्तोत्रकी रचना की गयी है.

“कृष्णाश्रयमिदं स्तोत्रं यः पठेत् कृष्णसन्निधौ ।

तस्याश्रयो भवेत्कृष्णः इति श्रीवल्लभोद्भवीत् ॥

प्रस्तुत संस्करण वि. सं. १९८३ में प्रकाशित संस्करणका ऑफसेट  
प्रॉसेस द्वारा पुनर्मुद्रित रूप है. उक्त संस्करण गोस्वामिकुलभूषण श्रीरणछोड-  
लालजी महाराजके 'श्रीजीवनेशाचार्म पुष्टि सिद्धान्त कार्यालय'से प्रकाशित  
हुआ था तथा उसके सम्पादक थे श्रीहरिकृष्णजी शास्त्री. इन दोनों महा-  
नुभावोका हम पुनर्मुद्रणावसरपर कृतज्ञताके साथ स्मरण करते हैं:

प्रास्ताविकम्

साहित्योद्धृतिविषये स्वपितृपादाननुकूर्वन्तीति प्रत्यक्षमेव सर्वेषाम् । एतेषां समाश्रयेणा-  
नेके साम्प्रदायिकाः प्रयत्ना घटितवन्तः । पौडशग्रन्थानां सेवाफलादि ग्रन्थाष्टकं नरमं  
कृष्णाश्रयस्तोत्रं चैतेषामेव प्रयत्नरत्नेन लब्धायतारं श्रीमदाचार्यवामुधापिपासूनां  
मनोरपपुरकं भवतीति महान् प्रमोदावसरः । अपि चैतादृशसत्त्वट्चौ योग्यविधित्तया  
परम्परणया दशवर्षाणि मे सर्वविशसाहाय्य दत्तवद्भ्यो गोस्वामिश्रीगोकुलनाथजि-  
देशिकवरेभ्यः साञ्जलि कार्त्तव्यमानेदयामि ।

अस्मिन् सशोधने दृष्टिदोषतो मुद्राक्षरयोः नकममादतो वा जातानि स्वल्पितानि  
संशोध्य तास्ता अशुद्धीर्नोपचित्वानुसृष्टुं दयान्वो विद्वांसो प्राप्तिं प्रार्थयति—

दृष्णाष्टमी  
सं० १९८१

}

पिठत्रयपरामर्शानि—  
हरिदृष्णाः शास्त्री,  
'शुद्धाद्वैतविशारदः' ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

## कृष्णाश्रयस्तोत्रम् ।

—०१२३४५६७८९०—

सर्वमार्गेषु नष्टेषु कर्त्ता च खलघर्मिणि ।  
पापण्डप्रचुरं लोके कृष्ण एव गतिर्मम ॥ १ ॥  
म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु पापैकनिलयेषु च ।  
सत्पीडान्यग्रलोकेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ २ ॥  
गङ्गादितीर्थवर्षेषु कुष्ठैरेवावृतेष्विह ।  
तिरोहिताधिदैवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ३ ॥  
अहङ्कारविमूढेषु सत्सु पापानुवर्तिषु ।  
लाभपूर्जार्थगत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ४ ॥  
अपरिज्ञाननष्टेषु मन्त्रेष्वन्नतपोगिषु ।  
तिरोहितार्थदैवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ५ ॥  
नानावाद्विनष्टेषु सर्वकर्मव्रतादिषु ।  
पापण्डैकप्रयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ६ ॥  
अजामिलादिदोषाणां नाशकोनुभवे स्थितः ।  
शापिताखिलमाहात्म्यः कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ७ ॥  
प्राकृताः सफला देवा गणितानन्दकं वृहत् ।  
पूर्णानन्दो हरिस्तस्मात् कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ८ ॥  
विवेकवैर्यभक्त्यादिरहितस्य विशेपतः ।  
पापासक्तस्य दीनस्य कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ९ ॥  
सर्वसामर्थ्यसहितः सर्वभैवाखिलार्थकृत् ।  
शरणस्यसमुद्धारं कृष्णं विज्ञापयाम्यहम् ॥ १० ॥  
कृष्णाश्रयमिदं स्तोत्रं यः पठेत् कृष्णसन्निधौ ।  
तस्याश्रयो भवेत् कृष्ण इति श्रीबल्लभोन्नवोत् ॥ ११ ॥  
इति श्रीमद्भक्त्युगाचार्यचरणामृतमवितं कृष्णाश्रयस्तोत्रं सम्पूर्णम् ।

श्रीकृष्णाय नमः ।  
श्रीगोपीजनपङ्कभाय नमः ।  
श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

## कृष्णाश्रयस्तोत्रम् ।

श्रीमद्रघुनाथचरणविरचितविवरणविभूषितम् ।

य आविरासीद्वोरेहिम्न कलौ श्रीवह्नुभाभिधः ।

निजदास्थं स नो देवाद्दद्यादपि दुराश्रयात् ॥ १ ॥

सर्वमार्गेषु नष्टेषु कलौ च खलधर्मिणि ।

पापण्डुप्रचुरे लोके कृष्ण एव गतिर्मम ॥ १ ॥

सर्वमार्गेष्विति । सर्वे कर्मज्ञानोपासनाद्यस्ते मृगयन्ते तत्तत्कलार्थिभिरिति  
मार्गा इष्टमाद्युपायास्तेषु सर्वेषु नष्टेषु तिरोहितेषु सन्तु । अनेन जीवानां सर्वपैवा-  
गतिकत्वं सूचितम् । एवंविधेऽप्यशरयोर्धे मम सर्वस्वनिवेदिनो दासस्य कृष्ण एव  
गतिः शरणं, मासुष्योर्धे औश्रयणं च । अत्रास्तित्वपदं व्याख्यानेऽप्याहार्यम् ।  
एवकारेणान्यनिषेधः सूचितः । किं च, फाल्गुतोपद्रवेणाप्यगतिरत्वं कलौ चेत्यने-  
नाहुः कलाविति । वद्विधैरूपभासोन्तदौपमस्तो धर्मः खलो भवति, तादृशो धर्मो  
यस्मिन्कलौ । खलानां दांभिकरुतुकपापण्डिनमेव धर्मो यस्मिन्निति वा, कचि'खल-  
धर्मिणो'त्यपि पाठः श्रूयते, तथापि खरो सौद्रो धर्मो यस्मेति, अत्रैव व्युत्पत्तिः-  
खरश्चातो धर्मधेतिकर्मधारये कृते पथान्यत्रर्थाप 'इति'प्रत्ययः, नो चेद्रुग्नीहो 'क'-  
प्रत्ययः प्रसज्येत । चकारात्कर्मज्ञानायतिरोधानेषु फलपतिरिक्तकालेषुपि । किञ्च,  
पापण्डो वेदबाहो धर्मः, स प्रचुरः अधिको यस्मिन्, एवंविधे लोके अपवर्ग्यजनतायां  
सत्यां, सर्वमकारेण कृष्णाश्रयणं विना निस्तारो नास्त्येवेति सर्वस्यापि फलिताप्यौ हेतवः ।  
अत एव 'घृह्णारदाये'प्युक्तं, 'हरेर्नामैव नामैव नामैव मम जीवनम् । कर्मो नास्त्येव  
नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथे'ति । अत्र सर्वत्रापि क्वचिद्विचित्रमर्थो, क्वचि 'दर्शनं'  
कर्तव्यं' इत्यनेन सप्तमी ज्ञेया ॥ १ ॥

धर्मोदरत्नौ बागाभ्यन्तरभेदेन पापमुद्गावपन्तो निष्पन्नूहं श्रीकृष्णाश्रयणं विदधति ।

म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु पापैकनिलयेषु च ।

सत्पीडान्यग्रलोकेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ २ ॥

म्लेच्छाक्रान्तेष्विति । धर्मायर्थिभिर्वासयोन्वेषु देशेषु कुरसेयगद्गातादियु  
म्लेच्छैराक्रान्तेषु व्याप्तो सत्यु, अश्रोभयवा म्लेच्छा सेवा जाता कर्मणा च । नन्वेवं-  
विधेष्वपि देशेषु पुण्यात्मानो भविष्यन्त्येव तैः सह धर्मायापरणं कुतो नेत्यत आह -  
पापैकेति । कलिना मारुत्यात्पापस्यैवैकस्य निलयाः स्थानभूता जाताः । पशारादनेकं-  
विधेष्वपि । एतेन धर्मादियु बाधसाधननिवृत्तिरजा । तयोभ्यन्तरसाधनं स्वर्णादि कुतो-  
नेत्यत आहुः—सत्पीडेति । सत्त्वां सत्युरपाणां धार्मिकाणां भगवत्परायणानामपि याद-  
शी पीडा नोचिता वादरथा अपि दर्शनादन्वेषां विश्वाससंधित्येन व्यग्रेषु विसिद्धिरिष्ये  
कर्मव्यपनामृतेषु लोकेषु सत्यु । कृष्ण एव गतिर्मनेति पूर्ववशाप्येयम् ॥ २ ॥

ननु गद्गादिपूर्वोक्तपुण्यदेशानां वस्तुमामर्षेण साधनत्वं कुतो नेपादरूप वस्तु-  
सामर्ष्यतिरोपानाम्न तथात्वमिति सपारहितपूर्वकं कृष्णाधपदाहुः—

गद्गादितीर्थवर्षेषु दुष्टैरेवावृतेष्विह ।

तिरोहिताधिदैवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ३ ॥

गद्गादीति । आधिभौमिकाध्यात्मिकापिदेविकादिभेदेन वैविध्यं तांसांदातार्थेति,  
तत्र 'पुरप्रधाधिदैवत'मितिनचनाजगत्प्रपन्नेन हीयांशो सायधर्मेकपेकार्थेति मन्त्रेण,  
तत्र भगवद्विन्दनेदानां बहुधा तिरोहितं, न तु मर्यादा, अत एवैवेषु गद्गादितीर्थवर्षेषु  
तीर्थद्वारेषु म्लेच्छादिभिः केवलदुष्टैराटोषु मृत्यु, इह अस्मिन् भूलाके कामे वा कृष्ण  
एव गतिर्मनेति पूर्वम् ॥ ३ ॥

अहङ्कारविमूढेषु सत्सु पापानुवर्तिषु ।

लाभपूजार्थयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ४ ॥

अहङ्कारेति । किञ्च, एवं सर्वज्ञाः के कल्पसोषिकेणोपाते पान्दु इव दृष्टव्य  
इत्येवंविधः अहङ्कारेण विज्ञेयतो मृतेषु आपोदागोनाप्रदानशून्येषु, 'ओषेधि' इति पूर्व-  
स्मादध्याहार्यम् । किञ्च, मृत्यु पदापुरणेषु पापे दृष्टान्तराजराज इति यावत्, मृत्युवर्ष-  
पन्नयनुत्तिष्ठति ये ते पापानुवर्तिनः, एवंविधेषु मृत्यु, अपरा आधिकार्यं मृत्यु मृत्युपत्रं  
पापानुवर्तिषु निषिद्धावधारणेषु । किञ्चिद्विष्टं देयं लाभपूजेति । लाभो द्रव्यार्थः पूजा

स्त्रोत्रतिपूर्वकं लोककृतसन्माननं, अर्थः स्वययोजनं, एतन्नितयसिद्धयर्थमेव यत्न उद्यमो  
येषां तेषु सत्सु, कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ४ ॥

अपरिज्ञाननष्टेषु मन्त्रेष्वन्नतयोगिषु ।

तिरोहितार्थदेवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ५ ॥

अपरिज्ञानेति । द्वैतजनगुर्वाग्युपसच्यभावेन विद्योपशमात्पार्यायविनियोगादी-  
नामपरिज्ञानेन मन्त्रेषु नष्टेषु विराहितेषु सत्सु, पुनः किंविशिष्टेषु अव्रतयोगिषु  
अन्नतेषु व्रतभ्रष्टेषु योगः स्थितिरस्ति एवामेतेनैवंविधेष्वतिरोहितानामप्यकिञ्चित्कृतत्त-  
मेव । यद्वा, स्वस्वाश्रयस्या योगिन उच्यन्ते तेष्वप्यन्नतेषु सत्सु । पुनः किंविशिष्टेषु  
तिरोहितार्थदेवेषु । तिरोहितः गुप्तः अर्थो मन्त्रार्थः, देवोऽधिष्ठात्री देवता, एतद्वयं  
येषां मन्त्राणां न ज्ञापते तैः किपानर्थः सेत्स्यतीति भावः ॥ ५ ॥

नानावादविनष्टेषु सर्वकर्मव्रतादिषु ।

पापण्डैकप्रयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ६ ॥

नानावादेति । कृत्वा किं कुर्याद्वाद्यागमोक्ता ये वादा वाग्जालरूपाः 'यावन्जीवे-  
त्सुखं जीवेदि'त्येवंरूपाः, तैः कृत्वा वैदिकागमापुराणसर्वकर्मव्रतादिषु विनष्टेषु विरोपतो  
नष्टेषु नास्तित्वयेन पराङ्मुखतेषु सत्सु । किञ्च, पापण्डेषु षेदादिविरुद्धार्थेनेन एकः  
असाधारणः प्रयत्नः पुनः पुनरुद्यमो येषां, एवंविधेषु लोकेषु सत्सु कृष्ण एवेति  
पूर्ववत् ॥ ६ ॥

विश्वासार्ये सदृष्टान्तमाश्रयणमाहुः—

अजामिलादिदोषाणां नाशकोऽनुभवे स्थितः ।

ज्ञापिताखिलमाहात्म्यः कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ७ ॥

अजामिलादिदोषाणामिति । गृहीमर्तुर्ब्रह्मचरन्धोरनामिन्नान्नो दोषाणां महा-  
पातकानां नाममात्रेण नाशकोऽस्मारुपनुभवे स्थितः, शब्दानुभवे अन्तःसाक्षित्वत्येव वा  
स्थितो विषयोऽनु इति यावत् । 'आदि'षदाङ्गजेन्द्रमहत्तपः, यमनोरुस्थिता नास्तिकि-  
ण्य । इदं तृप्तिहृष्टरागादौ प्रसिद्धम् । ज्ञापितं देवजीवेष्वन्वितं समग्रं निवृत्ताहात्म्यं  
येन, एवंविधः कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥ ७ ॥



प्राकृताः सकला देवा गणितानन्दकं बृहत् ।

पूर्णानन्दो हरिस्तस्मात्कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ८ ॥

प्राकृता इति। सकला ब्रह्मादयो ये देवास्ते प्राकृताः, प्रकृतिर्पाया तन्निवन्ध-  
नोत्पत्तिस्थितिबिज्या, अतस्तेषामाश्रयणं न काळादिमपनिवर्तकं प्रत्युत भयजनरुमेव ।  
अत एवोक्तं दशमे 'मत्स्यो मृत्युव्यालभीतः पलायन्नि'त्यादौ । तर्हि बृहदक्षरं तस्मात्स्थिति  
चेत्तदपि नेत्याह—गणितानन्दकमिति । ब्रह्मापेक्षया शतगुणितानन्दस्तेनापरिमिता-  
नन्दत्वाभावात्पुष्टोत्तमापेक्षयात्वाद्भरः सकलदुःखहारकस्य श्रीकृष्णस्य पूर्णानन्दत्वा-  
दखण्डितानन्दत्वात्सर्वैरूपायैः सर्वात्मना, कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥ ८ ॥

विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितस्य विशेषतः ।

पापासक्तस्य दीनस्य कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ९ ॥

विवेकेति । 'विवेकस्तु हरिः सर्वं निजेच्छातः करिष्यती'त्येवंरूपः, त्रिविध-  
दुःखसहनं धैर्यपदार्थः । भक्तिपदेन क्रमायातमाश्रयणमुच्यते । आदिपदेन तत्साधनान्यु-  
च्यन्ते । एतेषां त्रिविध्य निरूपणं तु 'विवेकधैर्याभय'व्याख्याने कृतमस्ति तत एवान-  
गन्तव्यम् । विवेकादिभगवद्भरहितस्य मम कृष्ण एव गतिः । किञ्च, न केवलमेत-  
द्राहित्यमपि तु विशेषतोऽतिशयेन पापासक्तस्य महापातकाचरणरतस्यापि । पापवर्मे-  
नेऽसमर्थत्वाद्गन्तव्या दीनस्य । भगवताप्येतादृशानां स्वाश्रयेणैव सिद्धिरुक्ता 'मां हि पार्थ  
व्यपाश्रित्य येपि स्युः पापयोनय'इति, 'अपि चेत्सदुराचार' इत्यादौ ॥ ९ ॥

सर्वस्वनिवेदिनां साधनं फलं च स्वभुरेव संपादयिष्यतीति प्रार्थनामपि तथैवाहुः—

सर्वसामर्थ्यसहितः सर्वत्रैवाखिलार्थकृत् ।

शरणस्थसमुद्धारं कृष्ण विज्ञापयाम्यहम् ॥ १० ॥

सर्वसामर्थ्येति । कर्तुमर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थत्वात्सर्वसामर्थ्यसहितस्त्वं मम  
प्रभुः । किंविशिष्टः सर्वत्रैव यत्र काप्यखिलान्तर्धान्वाञ्छितानर्थान्करोतीत्यखिलार्थकृत्  
यतस्त्वमेवंविधः स्वामी अतः कारणात् कृष्ण हे परब्रह्म शरणस्थस्य शरणागतस्य  
सम्पुद्धारं विज्ञापयामि अहं स्वपुरः स्थितः शरणार्थी ॥ १० ॥

एतत्पाठमात्रपरस्याप्येतदुक्तफलमाहुः—

कृष्णाश्रयमिदं स्तोत्रं यः पठेत्कृष्णसन्निधौ ।

तस्याश्रयो भवेत्कृष्ण इति श्रीवल्लभोऽब्रवीत् ॥ ११ ॥

कृष्णाश्रयमिति । कृष्ण आश्रीयते येन स्तोत्रेण तत्कृष्णाश्रयं, कृष्ण आश्रयः प्रतिपाद्यो यस्येति वा । इदं यः कृष्णसन्निधौ समीपे 'सन्निधि'पदात्तदनन्पभक्त-समीपेपि पठनीयं सन्निधेस्तुल्यत्वात् पठेदधीयीत तस्याश्रयानभिज्ञत्वापि स्वयमेव कृष्ण आश्रयो भवेत् । कर्थापिदमतिदुर्लभमेतावन्मात्रेण भवेदिति नाशङ्कनीयं, यतः कारणात् इति श्रीवल्लभोऽब्रवीत् । इति इपर्यं श्रीवल्लभ आचार्यवर्योऽब्रवीदुक्तवानतः किमाश्रयम् । अत्राचार्यवचनानां वस्तुशक्तिरेव त्रयोजिका, यतस्तद्वचनैः प्रेरितो भग-वांस्तदाश्रयो भवति न तु तत्कृतमण्वपि साधनमपेक्षते ॥ ११ ॥

सुखेन श्रीयतां कृष्णः किमापेक्षन्ति वा मुधा ।

आचार्यवानमुधासिक्ता माकृद्दं संशयं जनाः ॥ २ ॥

आचार्यचरणाम्भोजे ददं विशस्य विस्तरात् ।

रघुनाथकारेदं कृष्णाश्रयविचारणम् ॥ १ ॥

इति श्रीमद्वल्लभनन्दनचरणैकशरणश्रीरघुनाथस्य कृतौ

कृष्णाश्रयस्तोत्रविचरणं संपूर्णम् ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेश्वरो नमः ।

## कृष्णांश्रयस्तोत्रम् ।

श्रीमत्कल्याणरायचरणविरचितप्रकाशप्रकाशितम् ।

यद्दीलालसंस्पर्शं रोचन्नेज्यदाशिवः ।

तं राधाहृदयानन्ददायकं कृष्णपाश्र्वे ॥ १ ॥

यत्कृपादृष्टिनो जन्तुर्गोविन्दं विन्दते मुदा ।

भक्त्याहं ताप्रिजाचार्यान्भिकन्देर्ष्यसिद्धये ॥ २ ॥

श्रीकृष्णाश्रयस्य सर्वसाधकत्वान्द्वीपानां तदर्थं वसुदानपित्र कुर्वन्कः धीपदा-  
चार्यचरणाः कृष्णाश्रयस्तोत्रं निरूपयन्ति । तत्रापुना देव्यादिषु दमाभनानाममापकत्वं  
वदन्तो भक्तानां भगवानेव सर्वमाभनस्यश्रुतिर्बभूवुवार्थस्य इति, दत्तनीशानिस्य  
इति, दत्तविश्वकसेव्य इति, माणानाभिसास्य स्तोत्रस्य सर्वमाश्रयमिति च दत्तभिः  
श्लोकैः मार्यनाभ्यावेन तं स्तुवन्ति । तत्र प्रथमं मुरुवाह्वान्द्वान्द्वय वराभाषकत्वं  
वदन्तः कालधर्मनिराकरणपूर्वकमाश्रयं मार्ययन्ते—

सर्वमार्गेषु नष्टेषु कलौ च खलधर्मिणि ।

पापण्डप्रचुरे लोके कृष्ण एव गतिर्मम ॥ १ ॥

सर्वमार्गेष्विति । कलौ खलधर्मिणि खलोऽन्तर्दुष्टो पर्यन्तमिति मतिः । 'वस्य-  
मिणी' तिराठे दुःसहोदृष्टिने कर्णे सतीत्यर्थः । 'वृषिर्भूवाचकं' निराकपनिरूपः सादानन्दः  
पुरुषोत्तम एव मय गम्यत इति गतिराश्रय चेति कालौ किकार्यमाचकोचि इति शेषः ।  
खलधर्मिणाहुः—लोके जने पाण्डः प्रचुरः मन्त्रोपपाधिको यन्धिष्ठात्वे मतिः । मय पर  
सर्वे मूर्खेन इति मार्गाः पुरुषार्थोपायाः कर्मज्ञानाद्यन्तेषु नष्टराशेषे मन्तु, पापण्डमेव  
दा चमुत्सवाचकस्वर्गदस्य लोकध्वजजननाधिकगुदपत्रननाभर्मिणां, मायावादाभि-  
निवेशान्ज्ञानमार्गस्य, निरोधत्वाहोकाराशोगम्य, विभूतिरात्वापुमनापार्गस्य च मृग्य-  
कल्यासाधकत्वेन नष्टमायन्तम् । अकारान्ताहोकादिषु कर्त्तव्यानुगुणेषु मन्तु, एवमा-

रस्य विशेषान्वितत्वेनान्ययोगव्यवच्छेदकत्वाद्दशः कलादिर्वा गतिर्भास्वित्यर्थः । अन्यार्थकत्वादस्य सिद्धत्वेऽपि प्रार्थनं न दोषाय । ननु भक्तिमार्गीयाणामपि कलिकालस्य बाधकत्वाद्गृहाद्यासक्तिमत्त्वाल्लौकिकक्रियापरत्वात्पापसंभवाच्च भक्तिमार्गीस्य कथमुद्धारकत्वं मुख्यफलसाधकत्वं चेति कर्मादितुल्यत्वात्किमाश्रयेणापीति चेत्, मैवं, भक्तिमार्गे त्वदुक्तदुपणानामभावात् । तथाहि—‘कलेर्दोषनिधे’रिति ‘कलौ तद्भरिर्कीर्तनादि’ति ‘कलिं सभाजयन्ती’त्यादिशक्यैर्बाधकत्वाभावादल्पकालेनैव फलसिद्धेः प्रत्युत साधकत्वात् । ‘शृण्वन् शृणन्’ ‘मद्भातायातयामानां न कन्वाय शृदा मताः’ ‘तावद्रागादयः स्तेना’ इत्यादिवाक्यैर्भगवत्परत्वे गृहादेर्वन्वहेतुत्वाभावात् । ‘एवं नृणां क्रियायोगा’ इत्यादिवाक्यैर्लौकिकक्रियाया अप्यलौकिकतुल्यत्वात् । ‘फलकं कुर्वता’मित्यादिवाक्यैर्भगवत्सेवादिना विहिताकरणेषु प्रत्यवायाभावात्, ‘धुनोति सर्वं हृदि संनिविष्टः’ ‘ते मे न दशमर्हन्ती’त्यादिवाक्यैः कदाचित्पातकसंभवेऽपि नरकाद्यभावात्कीर्तनादिनैव पापनाशात् । ‘सर्वधर्मान्परित्यज्य’ ‘अपि चेत्सुदुराचारः’ ‘यः कश्चिद्वैष्णवो लोके, ‘यानास्याये’त्यादिवाक्यैराचाराद्यभावेऽपि फलसिद्धेः । ‘धर्मः सत्यदपोषेतः’ ‘धर्मः स्वनुष्ठितः’ ‘नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं’ ‘यमादिभिर्योगयैः’ ‘श्रेयःश्रुति’मित्यादिवाक्यैर्वैया जलौकसां नित्यं जीवनं सलिलं पतम् । तथा समस्तसिद्धीनां जीवनं भक्तिरिष्यत’ इतिवृत्तान्तरदीपवाक्याच्च भक्तिरहितानां कर्मादीनामसाधकत्वात्, भक्तिसहितानामेव साधकत्वात् । ‘यत्कर्मभिर्यत्तपसा’ ‘चतुर्विधाः’ ‘अक्रामः’ ‘ज्ञाने प्रयासमुदपास्य’ ‘किमलभ्यं’ ‘रूपमारोग्यमया’नित्यादिवाक्यैः केवलभक्तेरपि सर्वसाधकत्वात् । ‘परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्ये’ ‘आत्मारामाश्च’ ‘नैकात्मतां’ ‘महतां मधुद्वि’डित्यादिवाक्यैः स्वतोऽपि फलरूपत्वात् । अधुना कर्मादीनामधिकाराणां गतत्वाद्भक्तिमार्गे महदनुग्रहस्याधिकारत्वेनाधिकारिकृतस्यैव सकलत्वाद्वात्राधिकारभेदेन गौणमुख्यफलसंभवात् । एतदुक्तं ‘तत्तार्थदीपे’—‘अधुना बाधिकारास्तु सर्व एव गताः कलौ । कृष्णश्चेत्सेव्यते भक्त्या कलिस्तस्य फलाय ही’ति भक्तिसाध्यफलस्यान्येनासंभवादन्यसाध्यस्य भक्तेरानुपपत्तिस्त्वान्न कर्मादितुल्यत्वगन्धोऽपि । ननु पूर्णभक्तिमार्गीस्याधिबेपीह साधिकृतस्य तत्तुल्यत्वमिति चेत्, न ‘स्मर्तव्यः’ ‘स्मृतैः’ ‘कृष्ण कृष्णे’ति ‘न वै जनो जातु’ ‘कृष्णैति’ ‘आलोड्ये’त्यादिवाक्यैः साधिकृतस्यापि फलसाधकत्वादन्यस्य तद्भावादल्पमुक्तिभिः ॥ १ ॥

१ एकस्यो हि विप्रकारकः—अन्वयोगव्यवच्छेदकोऽयोगव्यवच्छेदकोऽन्वयान्वयवच्छेदकश्चेति, विशेषान्वितः प्रथमो दशा पार्थ एव धनुर्धरा, विशेषान्वितो द्वितीये यथा शङ्खः पान्दुरो, विगणित-स्वगीनो यथा नीलं शरोत्रं भवत्येवेति । २. वचिनास्ति ।

## भट्टश्रीगोविन्दराजकृताट्टिपणम् ।

मिच्छिन्द्वन्दोपपत्तास्केशं सुपक्तदोषं सुलकारिदेशम् ।

पयोदनीकाशमनोऽज्ञवेशं तं चेङ्केटेशं शरणं मयत्रे ॥

नत्वा श्रीवृद्धभाचार्यचरणे शरणे सताम् ।

कृष्णाश्रयमकाशस्य व्याख्यानं सुनिरूप्यते ॥

संस्पदादिति । सम्पक्त्वं सम्बन्धादित्यर्थः । सम्बन्धे सम्पक्तं चात्रान्यापरि-  
भूतत्वम् । अन्यदाश्रय इति । न च अन्याथ ता आश्रयश्चेति विग्रहे अन्याश्रय इति  
भाष्यमिति वाच्यम्, 'अपष्टपठतीयास्थस्ये'ति दुर्गागमात् । राधाहृदयानन्ददापक-  
मिति । राधाहृदयामानन्दं ददातीति तथा । भगवत्सुखस्वामन्दरूपत्वान्नास्तुपयसिः  
काचित्, इतरथाऽन्याप्यट्टचित्त्वेन सुखकथनस्यैवोचितत्वान् । अत एवोक्तं 'प्रेमाभूत'श्री-  
कायाद् 'आनन्दोन्तःकरणदेहादिसर्वव्यापकः सुखमव्याप्यट्टती'ति । ननु 'आनन्दा-  
द्धयेव खल्विमानि भूतानि' 'सत्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्मे'त्यादिभिः प्रुतिभिरान-  
न्दस्य भगवद्रूपत्वात्स्वदायक इत्यर्थः पर्यवसन्न इति चेत्, इष्टावत्तेः, स्वरूपादानस्यो-  
चितत्वात् । एतेनानयोरभेदः सङ्गच्छते । तदुक्तमायवर्षीयकृष्णोपनिषदि 'पूर्णप्रेमा-  
स्पदी राधा श्रीकृष्णनमसोऽज्ञवा', तस्मात् भिद्येति । यत्कृपादृष्टिन इति । स्त्रीप-  
त्वेन परिग्रहादित्यर्थः । अभिवन्द इति । भक्त्यार्थसिद्धये निनाचार्यान्भिवन्द इति  
सम्बन्धः । तत्र सेवाविषयभेदेणा निर्विग्रहग्रन्थपरिग्रहमात्रित्वात्पर्ये निनाचार्यान्भिवन्द इति  
रूपं मङ्गलं शरोमीत्येवज्ञावयार्थः । सेवा तत्र नमनादिरूपा । न च भेदविशिष्टेऽद्येति  
वक्तुमुचितं, भक्त्यर्थस्यैव प्राधान्यात् । तथा चोक्तमस्मदाचार्यैर्निबन्धे 'प्राप्त्यर्थः सेवा  
प्रत्ययार्थः भेदेनि' । तच्चार्यदीये तु 'भेदसेवान' इति क्लृप्तार्थकथनम्, अन्यथा  
'भक्त्यर्थः प्रधानं महत्त्वर्थं विशेषणमितिन्यायविरोधः स्यात् । वस्तुनस्तु एतस्य  
सामान्यन्यायत्वेन विशेषन्यायस्यैव बलीयस्त्वात् । एतदुक्तं विवरणे 'प्रकृतिज्ञापयपोः  
मत्प्रयार्थस्य प्राधान्यमितिसामान्यन्यायादिच्छाविषयतया द्रव्यबोध्य एव शान्दसाधनता-  
न्वय इति स्वर्गकामादिवाचये क्लृप्तविशेषन्यायस्य बलीयस्त्वात्तदर्थेन जिगमिषति अस्तिवा  
जिघांसतीत्यादिलौचिस्त्वयोगेष्वादिरूपसाधनस्य 'तदन्नेष्टव्यं तद्विजिज्ञासितव्यं मन्त्र-  
व्यमित्यादिवैदिकप्रयोगे तन्प्राप्त्यर्थं भूतविषये 'सन्'प्रत्ययामिदित्येच्छाविषय एव गमना-  
दारन्वयस्य व्युत्पन्नत्वाच्च प्रकृत्यभिहितयां जिघांसां यज्ञार्थानां विनियोग इति । ननु  
'भाने'इत्यधिकारात्प्रत्ययार्थस्य भावत्वमुचितं न तु भेदत्वमिति चेत्, अशोच्यते, भावार्थ-  
कत्वं तु मत्प्रयस्य तावदुभयवादिस्तिद्धमेव, एव भावशब्देन देवादिविषयिणी रतिः प्रकृते

द्विष्णुणम् ।

सर्गः । पुरुषाद्ब्रह्मादीनामुत्पत्तिर्विसर्गः । उत्पत्तानां तत्तन्मर्पादया पालनं स्यान्म । स्थितानामप्यभिष्टुद्धिः पोषणम् । घृष्टानामाचार उत्तिः । तत्रापि सदाचारो यन्वन्तरम् । तत्रापि विष्णुभक्तिरीशानुकम्पा । भक्तानां प्रपञ्चाभावो निरोधः । निष्पत्तानां स्वरूप-  
लाभो मुक्तिः । मुक्तानां ब्रह्मस्वरूपेणावस्थानमाश्रय इति । दशविधभक्तसेव्य इति । साच्चिकसाच्चिकाः, साच्चिकराजसाः, साच्चिकनामसाः । राजसरजसा, राजस-  
साच्चिका, राजसतामसाः । तामसतामसाः, तामसराजसाः, तामससाच्चिकाः । एके  
निर्गुणा इत्येतैर्दशविधैर्भक्तैः सेव्य इत्यर्थः । प्रार्थनाभ्याजेन स्तुवन्तीति । 'किमासनं  
ते गरुडासनाये' इत्यनेन प्रार्थनाभ्याजेनैव स्तुतिनिरूपणस्यैवोचितत्वादिति भावः । गम्यते  
प्राप्यत इत्यर्थः । ननु 'भावे' इत्यधिकारात्कथमत्र कर्मणि प्रत्यय इति चेत्, सत्यम्,  
'कृत्यल्युटो बहुल'मित्यत्र 'बहुल'मितियोगविभागात्तथा । अत एव 'एवं च बहुलग्रहणं  
योगविभागेन कुन्नात्रस्यार्थव्यभिचारार्थं पादाभ्यां द्विष्यते पादहारकः कर्मणि णुल्'  
इति वैयाकरणशिरोमणयः । पापण्ड इति । वेदविरुद्धत्वं पापण्डत्वम् । आत्मसुख-  
वाचकेति । 'यन्न दुःखेन संधिभ्रं न च ग्रस्तमनन्तरम् । अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं  
स्वःपदास्पद'मित्यनेन स्वर्गपदस्यात्मसुखवाचकत्वादित्यर्थः । लोकभ्रमजननादिति ।  
लोकत्वेन भ्रमजननादित्यर्थः । मायावादाभिनिवेशादिति । विवर्ताधिष्ठानत्वेन मायो-  
पहितब्रह्मणः कर्तृत्वकथनादित्यर्थः । विवर्तस्तु अताच्चिकोऽन्यथाभासः । यद्वा, वस्तु-  
नस्तदसमसत्ताको विवर्तः । अथवा कारणविलक्षणोऽन्यथाभासो विवर्तः । कारणभेदं  
विनैव तद्दृष्टतिरैकेण दुर्बलं कार्यं विवर्त इति वा । निरोधवरत्वाद्गीकाराद्योगस्येति ।  
निर्वाजयोगाङ्गीकारादित्यर्थः । योगस्तु चित्तवृत्तिनिरोधः स तु भगवद्दयानार्थमश्रुत्ये-  
नोपयुक्त एकः । ध्यानभावेऽप्यात्मबोधाद्भूतो द्वितीयः । उभात्रपि प्रामाणिकौ । परतु  
स्वतन्त्रतया फलसाधकत्वेन प्रोक्तस्तथासिद्धिदेतुर्ज्ञानात्मा वा तयान्ये देहेन्द्रियादि-  
साधकाम्बेऽपामाणिकाः । सर्वमेतच्च निबन्धे स्पष्टम् । फलिकालानुगुणेऽपि । 'द्वाप-  
रादौ युगे भूत्वा फलमा मानुषादिषु । स्वागमैः फलितैस्त्वं च जनान्मद्विष्टुस्वान् कुम्भ'  
'मां च गोपय येन स्यात्प्रिरेपोत्तरोत्तरे'त्यादिपद्मपुराणाद्युक्तवचनैर्षहादेशादीनां फलि-  
कालानुगुणत्वस्य सिद्धत्वादित्यर्थः । अन्यार्थकत्वादिति । अत्र प्रमाणभूताः 'शुभिके  
शिर आरोह शोभयन्ती सुखं मम । ममाग्रे वचो विहवेऽस्ति'त्यादय आगमा अनुसन्धेया  
इति भावः । 'कलेदोपनिषे'रित्यारभ्याभसोपि फलम्'रित्यन्तानां वचनानां सद्ब्रह्मः-  
'कले-  
दोपनिषे रामन्नसित येको मदान् गुणः । कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तवन्मः परं वनेद्' । 'कृते  
पदपापतो विष्णुं त्रेतायां यततो मरुतैः । द्वारं परिचर्पां कथो तद्दरिरीननात्' 'कलि

भट्टश्रीगोविन्दराजकृतटिप्पणम् ।

मिलिन्दवृन्दोपचारकेशं सुभक्त्योपं सुतकारिदेशम् ।

पयोदनीकाशयनोत्तनेयं तं पेङ्कटेशं शरणं मय्ये ॥

नत्वा श्रीवल्लभाचार्यचरणौ शरणे सताम् ।

कृष्णाश्रयप्रकाशस्य ध्यारूपानं मुनिरूपते ॥

संस्पृशादिति । सम्यक् सम्बन्धादित्यर्थः । सम्बन्धे सम्यक्त्वं चात्रान्यापरि-  
भूतत्वम् । अन्यदाशिप इति । न च अन्यात्र ता आशिपथेति विग्रहे अन्याशिप इति  
भाष्यमिति वाच्यम्, 'अपपुपवृवीयास्यस्ये'ति दुर्गागमात् । राधाहृदयानन्ददायरु-  
मिति । राधाहृदयायानन्दं ददातीति तथा । भगवत्सुखस्वानन्दरूपत्वान्नानुपपत्तिः  
काचित्, इतरथाऽन्यापपुपवृत्तित्वात् सुखकथनस्यैवोचिततरात् । अत्र एकोक्तं 'मेधाभूत'टी-  
कायाम् 'आनन्दोन्तःकरणदेशादिसर्वव्यापकः सुखमन्यापपुटती'ति । ननु 'आनन्दा-  
द्धयेन स्वस्त्विमानि भूतानि' 'सत्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्मे'त्यादिभिः श्रुतिभिरान-  
न्दस्य भगवद्रूपत्वात्स्वदायक इत्यर्थः पर्यवस्यति इति चेत्, इष्टापत्तेः, स्वस्त्वदानस्यो-  
चितत्वात् । एतेनानयोरभेदः सङ्गच्छते । तदुक्तमार्यवर्णीयकृष्णोपनिषदि 'पूर्णमेदा-  
स्पदी राधा श्रीकृष्णमनसोज्ञा', तस्मान्न भिन्नति । यत्कृपादृष्टिन इति । स्वीय-  
त्वेन परिग्रहादित्यर्थः । अभिषन्द इति । भक्त्यर्थसिद्धये निनाचार्यनभिषन्द इति  
सम्बन्धः । तत्र सेवाविषयकमेष्णा निर्विघ्नग्रन्थपरितमाप्तिरिति सिद्धयर्थं निनाचार्यनस्वर-  
रूपं मङ्गलं करोमीत्येनद्राव्यार्थः । सेवा तत्र नमनादिरूपा । न च मेवविशिष्टसेवयेति  
वक्तुमुचितं, प्रत्ययार्थस्यैव प्राधान्यात् । तथा चोक्तमस्मदाचार्यनिबन्धे 'पात्वर्थः सेवा  
प्रत्ययार्थः मेमेति' । तच्चार्यदीपे तु 'मेमरोवात' इति फलितार्थकथनम्, अन्यथा  
'प्रत्ययार्थः प्रधानं मकृत्यर्थे विशेषणमिति'न्यायविरोधः स्यात् । वस्तुनस्त एतस्य  
सामान्यन्यायत्वेन विशेषण्यपस्यैव बलीपस्त्वात् । एतदुक्तं विवरणे 'मकृतिवत्ययोः  
प्रत्ययार्थस्य प्राधान्यमिति सामान्यन्यायादिच्छाविषयतया शब्दबोधे एव शान्दसाधनता-  
न्वय इति स्वर्गकामादिवारणे वल्लभविशेषन्यायस्य बलीयस्त्वाद्धयेन जिगमिपति अस्मिना  
जिघांसतीत्यादिलौकिकमयोगे'षादिरूपसाधनस्य 'तदन्वेष्ये' तद्विजितासितव्यं मन्त-  
व्यमित्यादिवैदिकप्रयोगे त्वयार्थभूतविधेय 'सन्'भ्रत्यपामिहितैच्छाविषय एव मन्ता-  
दावन्वयस्य ध्युत्पन्नत्वाच्च मकृत्यभिहितायां विद्यायां यज्ञादीनां विनियोग इति । ननु  
'मावे'इत्यधिकारात्प्रत्ययार्थस्य भावत्वमुचितं न तु मयत्वमिति चेत्, अत्रोच्यते, भावार्थ-  
कत्वं तु प्रत्ययस्य तावदुपपत्त्यादिसिद्धमेव, तत्र भावशब्देन देवादिविषयिणी रतिः मकृते

विष्णुम् ।

सर्गः । पुरुषाद्ब्रह्मादीनामुत्पत्तिर्विसर्गः । उत्पन्नानां तत्तन्मर्यादया पालनं स्थानम् । स्थितानामभिवृद्धिः पोषणम् । पुष्टानामाचार उत्तिः । तत्रापि सदाचारो मन्वन्तरम् । तत्रापि विष्णुमक्तिरीशानुकथा । भक्तानां प्रपञ्चाभावो निरोधः । निष्पपञ्चानां स्वरूपलाभो मुक्तिः । मुक्तानां ब्रह्मस्वरूपेणावस्थानमाश्रय इति । दशविधभक्तसेव्य इति । सात्त्विकसात्त्विकाः, सात्त्विकराजसाः, सात्त्विकतामसाः । राजसरानसा, राजससात्त्विका, राजसतामसाः । तामसतामसाः, तामसरानसाः, तामससात्त्विकाः । एके निर्गुणा इत्येतैर्दशविधैर्भक्तैः सेव्य इत्यर्थः । प्रार्थनाव्याजेन स्तुयन्तीति । 'किमासनं ते गरुडासनाये'त्यनेन प्रार्थनाव्याजेनैव स्तुतिनिरूपणस्यैवोचितत्वादिति भावः । गम्यते प्राप्यत इत्यर्थः । ननु 'भावे' इत्यधिकारात्कथमत्र कर्मणि प्रत्यय इति चेत्, सत्पम्, 'कृत्यल्युटो बहुल'मित्यत्र 'बहुल'मितियोगविभागात्तथा । अत एव 'एवं च बहुलग्रहणं योगविभागेन कृन्मात्रस्यार्थव्यभिचारार्थं पादाभ्यां द्वियते पादहारकः कर्मणि ष्युल्' इति वैयाकरणशिरोमणयः । पापण्ड इति । वेदविरुद्धत्वं पापण्डत्वम् । आत्मसुखघातकेति । 'यन्न दुःखेन संभिन्नं न च ग्रस्तमन्तरम् । अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वःपदास्पद'मित्यनेन स्वर्गपदस्यात्मसुखाचरुत्वादित्यर्थः । लोकभ्रमजननादिति । लोकत्वेन भ्रमजननादित्यर्थः । मायावादाभिनिवेशादिति । विवर्ताधिष्ठानत्वेन मायोपहितव्रक्षणः कर्तृत्वकथनादित्यर्थः । विवर्तस्तु अतात्त्विकोऽप्ययाभासः । यद्वा, वस्तुनस्तदसमसत्ताको विवर्तः । अयमा कारणविलक्षणोऽप्ययाभावो विवर्तः । कारणभेदं विनैव तद्व्यतिरेकेण दुर्वचं कार्यं विवर्त इति वा । निरीश्वरत्वाद्गीकाराद्योगस्येति । निर्वाजयोगाद्गीकारादित्यर्थः । योगस्तु चित्तचित्तिनिरोधः स तु भगवद्भयानार्थमद्भ्युत्थेनोपयुक्त एकः । ध्यानाभावेऽप्यारवोधाङ्गभूतो द्वितीयः । उभावपि प्रामाणिकौ । यस्तु स्वतन्त्रतया फलसाधकत्वेन प्रोक्तस्यासिद्धिहेतुज्ञानात्मा वा तयान्ये देहेन्द्रियादिसाधकान्तेऽपामाणिकाः । सर्वमेतच्च निवन्धे स्पष्टम् । कलिकालानुगुणेऽपि । 'द्वापरादौ युगे भूत्वा कलया मानुपादिषु । स्वागमैः कल्पितैस्त्वं च जनान्मद्विपुस्तान् कुरु' 'मां च गोपय येन स्यात्क्षिप्रेषोचरोचरे'त्यादिपत्रपुराणाशुक्तवचनैर्माहादेवादीनां कलिकालानुगुणत्वस्य सिद्धत्वादित्यर्थः । अन्यार्थकत्वादिति । अत्र प्रभागभूताः 'शुभिके धिर आरोह शोषयन्तीं सुरं पप । पमाप्रे वचो विद्वेष्वस्ति'त्यादय आगमा अनुसन्धेया इति भावः । 'कलेदोषनिषे'रित्यारभ्या 'भवोपि फल्गु'रित्यन्तानां वचनानां सद्ग्रहः—'कलेदोषनिषे राजप्रसिद्धि रोक्यो मदान् गुणः । कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तवचनः परं व्रजेत्' 'कृते यद्वापनो विष्णुं त्रेतायां यन्नतो मरुतेः । द्वारे परिचर्यायां कथौ तद्दरिणीर्तनात्' 'कलि



दिष्णम् ।

सभाजयन्त्यार्या गुणज्ञाः सारभागिनः । यत्र संकीर्तनादेव सर्वैः स्तार्योपि लभ्यते ।  
 'शृण्वन् शृण्वन् संस्मरंश्च चिन्तयन् नामानि रूपाणि च पद्मलानि तैः । क्रियासु यस्त्व-  
 चरणारविन्दयोरविष्टचित्तो न भवाय फलयते' 'ग्रहेष्वाविशतां वापि पुंसां कुशलकर्मणाम् ।  
 पद्मार्तापातपामानां न बन्धाय गृहा मताः' 'तावद्गागादयः स्तेनास्तावत्काराष्टहं गृहम् ।  
 तावन्मोहोद्धिनिगडो यावत्कृष्ण न ते जनाः' 'एवं नृणां क्रियायोगाः सर्वे संसृतिहेतवः ।  
 त एवारविनाशाय कल्पन्ते कश्चिन्ताः परे' 'मत्कर्म कुर्वतां पुंसां काललोपो भवेद्यदि ।  
 तत्कर्म तस्य कुर्वन्ति तिस्रः कोट्यो मर्हस्यः' 'स्वपादमूलं भजतः पितृस्य त्यक्तान्पभानस्य  
 हरिः परेशः । विकर्म यच्चोत्पतितं कथञ्चिन् धुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्टः' 'एवं विमृश्य  
 सुधियो भगवत्यनन्ते सर्वात्मना विदधते खलु भावयोगम् । ते मे न दण्डमर्हन्त्यथ यद्यवोपां  
 स्यात्पातकं तदपि हन्त्युल्गायवाद्' 'ते देव सिद्धपरिणीतपवित्रगाया ये साधवः समदृशो  
 भगवत्प्रपन्नाः । तान्नोपसीदत हरेर्गदयामिगुणाच्चैषां नयं न च वपः प्रभवाप दण्डे' 'सर्व-  
 धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज । अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः'  
 'अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् । साधुरेव स मन्तव्यः समगन्धर्वहिवो हि सः'  
 'यः कश्चिद्वैष्णवो लोके मिथ्याचारोप्यनाथमी । पुनाति सरुलान् लोकान् सर्वज्ञांशुरि-  
 वोदितः' 'यान्तास्याय नरो राजन्न प्रमायेत कर्हिचित् । धात्रिमीत्य वा नेत्रे न स्वलेत्र  
 पतेदिह' 'धर्मः सत्यद्योपेवः विद्या वा तपसान्विता । मद्भक्त्यायेतयात्मानं न सम्यक्  
 प्रपुनाति हि' 'धर्मः स्वतुष्टितः पुंसां विष्णुरस्तेनकथामु यः । मोत्यादयेद्यदि रतिं थप  
 पव हि केवलम्' 'नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम् । कुतः  
 पुनः शब्दभद्रमीश्वरे न चापितं कर्म यदप्यकारणम्' 'यमादिभिर्योगधैः कापलोभहतो  
 मुहुः । मुकुन्दसेवया यदुत्थात्माद्वा न शम्पति' 'धैःसुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो  
 क्रियन्ति ये केवलबोधलभ्ये । तेषामसौ हेःशल एव शिष्यते नान्यद्यथा सधुत्तुपाव-  
 पातिनाम्' 'यत्कर्ममिर्व्यक्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत् । योगेन दानधर्मेण श्रेपोभिरि-  
 त्तरैरपि' 'सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽज्ञया' 'चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः  
 सुकृतिनोर्जुन । आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ' 'अत्रामः सर्वकापो वा  
 मोक्षकाम उदारधीः । तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्' 'ज्ञाने यथासमुद्रापस्य  
 नमन्त एव जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीयवार्ताम् । रपाने स्थिताः श्रुतिपरां तनुवाच्य-  
 नोभिर्षं प्रापशोभित मितोष्यसि तैस्त्रियोक्त्याम्' 'किंपलभ्यं भगवति प्रसन्नै श्रीनिके-  
 तने । तथापि तत्परा राजन् नहि वाञ्छन्ति किञ्चन' 'रूपमारोग्यधर्मांश्च भोगांश्चैवा-  
 नुपद्वि कान् । ददाति ध्यायतो नित्यमपवर्गभदो हरिः' 'परिनिष्ठितोपि नैर्गुण्ये उत्तमशोक-

टिप्पणम् ।

लीलया । गृहीतचेता राजर्षे आरुधानं यदधीतवान् 'आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था  
अप्युरुक्रमे । कुर्वन्त्यैतुर्का भक्तिमिदंभूतगुणो हरिः' 'नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति  
केचिन्मत्पादसंवाभिरता मदीहाः । येन्योन्यतो भागवताः प्रसज्य सभाजयन्ते मम पौरु-  
पाणि' 'महतां मधुद्विदसेवानुरक्तमनसामभ्रवोपि फल्गु'रिति । भक्तिसाध्यफलस्येति  
भगवत्स्वरूपमाप्तेरित्यर्थः । तदुक्तमस्मत्प्रभुभिर्भक्तिदंसे 'भक्तौ च न स्वरूपातिरिक्त-  
फलकत्व'मिति । 'स्मर्तव्य'इत्यारभ्य 'तदभावा'दित्यन्ते वचनानि तु 'स्मर्तव्यः सततं  
विष्णुर्विस्मर्तव्यो न जातुचित् । सर्वे विधिनिषेधाः स्युरेतस्यैव च किङ्कराः' 'स्मृतेः  
सकलकल्याणभाजनं यत्र जायते । पुरुषं तपजं नित्यं ब्रजामि शरणं हरिम्' 'कृष्ण  
कृष्णेति कृष्णेति यो मां स्मरति निरपशः । जलं भित्त्वा यथा पशं नरकादुद्धराम्यहम्'  
'कृष्णेति मङ्गलं नाम यस्य वाचि प्रवर्तते । भस्मीभवन्ति राजेन्द्र महापातरुकोट्यः'  
'न वै जनो जातु कथंचनात्रजेऽहंकुन्दसेव्यव्यवद्भङ्ग संसृतिम् । स्मरन्मुकुन्दाद्भुयुषगूहनं  
पुनर्विहातुमिच्छेन्न रसग्रहो यतः' 'आलोड्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनः पुनः । इदमेकं  
मुनिष्यन्नं ध्येयो नारायणः सदे'ति । तत्र नवविधा भक्तिर्निदानं, ततः प्रेम, तेन च  
विशिष्टरू।भगवत्प्राप्तिः, सैव फलमिति फलसहितपूर्णभक्तिमार्गस्वरूपम् । अत एव सर्व-  
निर्णये 'स ज्ञानक्रियोभयपुतः स एव फलं, तत्रापि साधनं प्रैव तत्साधनं नवविधा  
भक्ति'रिति श्रीमदाचार्यवर्याः । तथाच साम्प्रित्तुनस्मापि स्मरणपर्यन्तं विहितस्यापि  
कायवाग्निनियोगस्नेहाभावेपि मनोमात्रस्थित्यैव तादृशपुरुषविहितस्य वा फलसाधकत्व-  
मिति स्पष्ट एवेतरेभ्य उत्कर्षः । तथाचोक्तं निबन्धे—'कायवाग्निनियोगाभावेपि स्नेहा-  
भावेपि मनोमात्रस्थितौ फलमेतदि'ति । धर्ममार्गस्य तु न तथा, साद्गादैदिककर्मणः फला-  
वश्यंभावनियमादिति तत्रम् ॥ १ ॥

प्रकाशः ।

ननु पुण्यदेशस्थितिमात्रेणापि पुरुषार्थसिद्धेः किमितीतव्यवच्छेदपूर्वतयाश्रयमा-  
र्यनमित्याशङ्क्य देशानामसाधकत्वं वदन्त आश्रयं प्रार्थयन्ते—

म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु पापैकनिलयेषु च ।

सत्पीडाव्यग्रलोकेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ २ ॥

म्लेच्छाक्रान्तेष्विति । देशेषु रानैताक्रान्तेषु सन्तु । ननु म्लेच्छा अपि न्याप-  
वर्तिनश्चेत्ता को दोषस्तत्राहुः—पापैकनिलयेष्विति । पापरूपा एव ते तदेकनिश्चयेषु,  
पापा ये मृत्पास्तनिलयेषु, पापस्य वा । अथवा पूर्वोक्तेषु पापैकनिलयेषु च अद्भुतद्वान-  
दिषु, यत्र गमनमात्रेण पुनः संस्कारमंभरः । ननु लोका यणिनादयः सनीचीनाश्वेत्यैः

१. अद्भुतद्वान्दिषु लोका यणिनादयः च । तेषु लोकां विना गच्छन् पुरुः संस्कारनर्हति स्मृतेः ।

प्रकाशः ।

किं कार्यमत आहुः—सदिति । साधूनां पीडया व्यथाः स्वयंपाचरणमेवानिष्टहेतुः मत्प-  
सत्त्वान्न कार्यमुत्त माकृतं कर्म वेति व्याकुल्या लोका येषु । सद्धर्मस्य शुभहेतुत्वानिषयेन  
श्रद्धायभावान्नेपि सहाया न भवन्तीत्यर्थः । 'अहो अमीषां किमकारि शोभनं मत्सन्न  
एषां सिवदुत स्वयं हरिः । येनैन्म लब्धं नृपु भारताजिरे मुकुन्दसैवौपयिकं स्पृहा हि  
न' इत्यादिवाक्यैर्देशानां कृष्णाश्रितानुकूलत्वात् । श्रेयं पूर्ववत् ॥ २ ॥

टिप्पणम् ।

पापा ये मुख्या इति । फलितार्थकथनमेतत्, इत्यया विशेषणसमाप्ते 'पूर्वका-  
लैके'त्यनेनैकशब्दस्य पूर्वनिपातः स्यात् । विग्रहस्तु पापेषु ये मुख्या इति । यत्र गम्-  
नमात्रेण पुनः संस्कारसंभव इति । 'अन्नशङ्ककलिद्वेषु सौराष्ट्रमगपेषु च । तीर्थयात्रां  
विना गच्छन् पुनः संस्कारमर्हती'त्यनेन तथेत्यर्थः ॥ २ ॥

प्रकाशः ।

ननु गङ्गादितीर्थैरपि सर्वपुरुषार्थसिद्धेः किं केवलाश्रयेणेत्वात्कृत्य द्रव्याणाम-  
साधकत्वं वदन्तस्तीर्थानामाहुः—

गङ्गादितीर्थवयंषु दुष्टैरेवावृतेष्विह ।

तिरोहिताधिदैवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ३ ॥

गङ्गादीति । गङ्गादीनि यानि तीर्थश्रेष्ठानि तेषु दुष्टैरेवावृतेषु सत्सु, अतो न तैः  
पुरुषार्थसिद्धिः । ननु कथं दुष्टैरेवावृत्तत्वं तत्र ब्राह्मणादीनामपि सत्त्वात्, न, अतिपरि-  
चयादनादरेण तत्र भक्त्यभावेन मतिप्रहायनाधिभिरवस्थानाच्च तेषामपि दुष्टत्वमेव । ननु  
सर्वदोषनिवारकेषु तेषु सत्सु दुष्टत्वसंभवीति चेत्, न, 'सर्वेषु गान्धेन जलेन सम्य-  
ङ्मूलाशतेनाप्यय भावदुष्टः । आनन्भवः स्नानपरोपि नित्ये न शुद्धशरीर्येव वयं  
वदाम' इत्यादित्यपुराणवचनात्, 'मत्स्यकच्छपमण्डकास्तोये मया दियानिधं । वसन्तोपि  
च ते स्नानात्कलं नाहन्ति कर्हिचित्' 'श्रद्धाविधिसमायुक्तं यत्कर्म क्रियते तृभिः । शुधि-  
टिप्पणम् ।

द्रव्याणामसाधकत्वं वदन्तस्तीर्थानामिति । तीर्थस्य तद्देशावच्छिन्नवशात्काल-  
काध्यात्मिकदेवतारूपत्वेन द्रव्यत्वमितिभावः । अत्र एवोक्तपस्यप्रसङ्गमि 'निर्बन्धे' 'द्वितीयस्य  
प्रकाररूपतया तीर्थत्वमिति । यादवकोशेपि—'तीर्थं यन्त्राद्यथाध्यायशास्त्रेभ्यस्तसि वादन'  
इति । उक्तं च दशमस्कन्धीयसुकोपिन्यां देवतारूपत्वं 'कालिन्दीति समासपाते'त्यस्य  
व्याख्याने 'आध्यात्मिकं देवतारूपमिति । 'प्रायश्चित्तानि चीर्णानी'तिवचनत्रयाणि—

प्रकारः ।

शुद्धेन भावेन तदानन्त्याप कल्पते 'विधिहीनं भावदुष्टं कृतमथद्वया च पत् । तद्धर-  
न्त्यसुरास्तस्य समृद्धस्याकृतात्मन' इति योगियाहवद्वयवचोभिः, 'अश्रद्धानः पापात्मा  
नास्तिकोच्छिन्नसंशयः । हेतुनिष्ठश्च पञ्चैते न तीर्थकल्पागिनः' इति वायुपुराणवचनाच्च,  
'प्रायश्चित्तानि चीर्णानी'त्यादिभिश्च तेषां भगवद्वाहिर्मुख्यनास्त्रिक्यादिदोषानिवार-  
कत्वात् । ननु वस्तुशक्त्यां सत्यां कथमेतत्, न ह्यग्निः कदाचिन्न दहतीत्याद्यङ्ग्याधि-  
दैविकदेवतारूपतिरोधानाद्भवतु न एवाभावादित्याहुः—तिरोहिताधिदैवेष्विति । दुष्टा-  
न्मत्याधिदैवतिरोधानात्सतः प्रत्येव प्राकृत्यात्, अत्र एव श्रीभागवतार्थतत्त्वदीपे 'तीर्था-  
दानपी'ति । अत्र एव सतां 'तीर्थाकुर्वन्ति तीर्थानी'त्यनेन तीर्थीकरणमुच्यते । आधिदै-  
विकाभावे जले दृश्यमानदोषाभावात्किं तीर्थीकरणं स्यात् । शेषं प्राग्वत् ॥ ३ ॥

टिप्पणम् ।

'प्रायश्चित्तानि चीर्णानि नारायणपराङ्मुखम् । न निष्पुनन्ति राजेन्द्र सुराकुम्भमिवा-  
पगाः' 'तीर्थादावपि या मुक्तिः कदाचित्कस्यचिद्भवेत् । कृष्णमसाद्युक्तस्य नान्यस्येति  
विनिश्चयः' 'भवद्विधा भागवतास्तीर्थीभूताः स्वयं प्रभो । तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तः-  
स्येन गदाभृते'ति ॥ ३ ॥

प्रकारः ।

ननु कर्तृसमीचीनत्वे सर्वकलसिद्धेः किमाशयेऽन्यन्यवच्छेदेनेत्याशङ्क्य कर्तृणाम-  
सापकलं वदन्त आश्रयं प्रार्थयन्ते—

अहङ्कारविमूढेषु सत्सु पापानुवर्तिषु ।

लाभपूजार्थयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ४ ॥

अहङ्कारविमूढेष्विति । सत्सु पण्डितेषु अहङ्कारेण वयं शास्त्रज्ञा इतिगर्वेणान्यं  
पृच्छन्त्यपि नेति भाषावादाद्यभिनिवेशाद्विशेषेण मूढेषु सत्सु । ज्ञानवत्कृतिरपि तेषां दुष्टे-  
त्याहुः लाभपूजार्थयत्नेष्विति । लाभपूजार्थमेव यत्नो येषां, ते पारमार्थिकमपि कर्म  
लाभपूजाभ्यामेव कुर्वन्ति । पापान् पुंसः, पापं वानुवर्तन्तेऽतः सङ्गान्नदोषाभ्यां दुष्टत्वाच्च तेषां  
स्वतः फलसिद्धिराशये तु भगवत्कृपायां स्वत एव वेदार्थस्वदोषयोः स्फुरणात्कलसिद्धिः,  
भगवान् भगवदीयो वा वेदार्थं जानातीति भक्तानामेव वेदतात्पर्यज्ञानात् । शेषं सुगमम् ॥४॥

पूर्ववेदाशङ्क्य मन्त्राणामसाधकत्वं वदन्त आश्रयं प्रार्थयन्ते—

अपरिज्ञाननष्टेषु मन्त्रेष्वव्रतयोगिषु ।

तिरोहितार्थदेवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ५ ॥

प्रकारा ।

अपरिज्ञाननष्टेऽपि । मन्त्रा वैदिका आगमोक्ताश्च, तेषु अपरिज्ञाननष्टेषु अपरिज्ञानेन तात्पर्यफलदेयतास्वरूपाज्ञानेन नष्टमायेषु सत्सु । वैदिकानां गुरुब्रह्मासन्न चर्यशुद्धासन्निध्यनध्यायराहित्यपूर्वरूपा पठितानां साधकत्वेनाप्रतयोगिनामसाधकत्वात् । आगमोक्तानां तात्पर्याज्ञानेनार्थदेवयोस्तिरोभावादसाधकत्वात् । भगवदाश्रये तु 'यस्य स्मृत्ये'त्यादिवाक्यैः 'सर्वं संपूर्णता याती'ति मन्त्राणामपि साधकत्वात् ॥ ५ ॥

ननु मीमासादिना मन्त्रतात्पर्यनिर्घारात्कर्मभिरेव फलसिद्धेः किमाश्रयेत्याशङ्क्य कर्मणामसाधकत्वं वदन्त आश्रय मार्षयन्ते—

नानावादविनष्टेषु सर्वकर्मव्रतादिषु ।

पापण्डैकप्रयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ६ ॥

नानावादविनष्टेऽपि । कर्माणि सोमयागादीनि, व्रतादीनि च, तेषु सर्वेषु प्रपञ्चः सर्वोपि मिथ्येति वेदानामपि तथात्वात्प्रपञ्चवत्स्वाज्ञानकल्पितत्वेन वेदानां तद्वो धितानां च व्यवहारमात्रेण भ्रामाण्याच्च किञ्चित्कर्तव्यं प्राप्तव्यं वास्तीति केपाञ्चिद्वादः, 'परमेष्ठिनो वा एष यज्ञोऽग्र' इत्यादिवाक्यैर्ब्रह्मादीनामपि यज्ञैरेवोत्कर्षात्पूर्ववासनात् एवोच रोचस्मृत्येः कर्मव्य कर्तव्यं तेनैव फलं न कोऽप्युपास्यः फलदाता प्रवर्तको वा, देवतापि चेतना नास्ति किन्तु मन्त्रमग्येवेति न देवताप्रतीतिव्यापारः फलं वेति केपाञ्चिद्वादः, शास्त्रेण पोडशपदार्थविवेकानन्तर श्रवणमनननिदिध्यासनैः स्वात्मसाक्षात्कारे सति दुःखात्यन्ताभाव एव फलं न भगवान्सेव्यः फलं वेति केपाञ्चिद्वादः, प्रकृतितद्विकारोपधानविलये पुरुषस्य स्वरूपेणावस्थानं फलं, न भगवानिति केपाञ्चिन्मतम्, एवविधैर्नानावादवैरोधेण नष्टेषु सत्सु । विपरीतार्थनिश्चयेन फलाजनकत्वाद्दिनाशः । वस्तुतः 'गुरुव एवेद सर्व' 'देतदात्म्यमिदं सर्वं' 'सर्वस्य वशी सर्वस्येज्ञानं' 'एष उ एव त साधु कर्म कारयति' 'अहं सर्वस्य प्रभवः' 'को नु राजन्निन्द्रियवान्' 'देवोसुरो मनुष्यो वा' 'फलमत्र उपपत्ते' 'त एव वृत्तास्तर्पयन्त्येनमि'ति 'देवा वै सत्रमासत' 'विशते तदनन्तरम्' 'मामेवैष्यति' 'आनन्द ब्रह्मणो रूप' भित्त्यादिश्रुतिस्मृतिपुराणन्यायैः प्रपञ्चस्य ब्रह्मात्मकत्वात्सत्त्वेन कर्तव्यस्य सफलत्वाद्भगवतः सर्वेश्वरत्वेन सेव्यत्वात्प्रवर्तकत्वात्फलदावृत्तात्प्रसिद्धकरणायनुपपत्त्या देवतानामपि चेतनत्वाद्भगवत्साधुज्यस्य मोक्षत्वादानन्दरूपत्वेन भगवत् एव फलरूपत्वात्पूर्वोक्तवादानां प्रलपितकल्पत्वात् । स्वमताप्रहेणैव निषिद्धदशम्यादिविद्वैकाद-

दिष्णम् ।

प्रलपितकल्पत्वादिति । यत्तु 'शास्त्रदीपिकायां नवमाध्याये 'देवता वा प्रयोजयेत् अतिविशद्भोजनस्य तदर्थत्वादि'त्यधिकरणे 'यद्यपि देवता विग्रहवती प्रतिपृष्ट सुव्रता व्रजति प्रसीदति च तथापि यागादेव फलं विग्रहवती चानित्या स्यात्, ततश्च नित्य-

टिप्पणम् ।

येदविषयत्वं न स्यात्, सत्यपि विग्रहे प्रत्तस्य हविषो देवतया भोगः प्रत्यक्षविरुद्धो-  
 शक्योभ्युपगन्तुम्, न चाभुञ्जाना प्रसीदतीति युक्तम्, अत एवामतिपञ्चापूर्वत्यागे  
 देवताप्रसादे वा फलमित्येतदपि निरस्तं, न हि तस्याः प्रसादः संभवतीत्युक्त'मिति  
 पार्थसारथिमिश्राः तत्रोद्दिनादमात्रमेव । तथाहि—'यदुक्तं विग्रहवती चानित्या स्यात्तत्र  
 नित्यवेदविषयत्वं न स्यादिति, तदपेक्षालं, अनित्यानामपि यागादीनां वेदविषय-  
 त्वात्, विग्रहवत्त्वेनैव फलजनकत्वस्वप 'तत्र एवैमिन्द्रः प्रजया पशुभिस्वर्षपती'त्यादि-  
 श्रुत्युक्तत्वाच्च । मुख्यार्थाभावेन न श्रुतेरुपचरितार्थत्वम् । अर्थवादानां स्वतः प्रामाण्यं  
 न तु विधेयकवाक्यतया । एतेनास्मिन्नेवाधिकरणे यच्छास्त्रभाष्ये सिद्धान्तितं तत्स्वमता-  
 ग्रहमात्रमेव । प्रकृतप्रनुसरामः । यदपि 'सत्यपि विग्रहे प्रत्तस्य हविषो देवतया भोगः  
 प्रत्यक्षविरुद्धोऽशक्योभ्युपगन्तुमिति, तदप्यविचाररमणीयम् । विश्वादीनामपि प्रत्यक्ष-  
 भोगाभावत्वेन 'सर्वप्रनुष्या विष्णुनाऽशितमश्नन्ती'तिश्रुतौ 'पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे  
 भक्त्या प्रयच्छति । तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः' इति स्मृतौ 'विष्णोर्निवेदिता-  
 न्नं यष्टव्यं देवतान्तरम् । पितृभ्यश्चापि तद्देह्यं तदानन्त्याय कल्पते' । पितृश्रेणे तु यो  
 दद्यात् इत्ये परमात्मने । रेतोधाः पितरस्तस्य भवन्ति क्लेशपागिनः' इति स्कान्दे 'यः  
 श्राद्धकाले हरिभुक्तश्रेणं ददाति भक्त्या पितृदेवतानाम् । तेनैव पिण्डांस्तुलसीविमिश्रा-  
 नाकरूपकोटिं पितरस्तु तृप्ता' इति ब्राह्मे च प्रतिपादितस्य भोगस्य विरोधापत्तेः । यत्तु  
 निर्णयसिन्धुः—'एतत्सर्वं निबन्धविरोधान्निर्मूल'मिति, तत्र, श्रीधरस्वामिभृत्सिंहपरिचर्या-  
 दिमूलं वदतः स्वस्यैव वदद्वाघातात् । एतेन 'न चाभुञ्जानो'त्यारभ्य 'प्रसादः संभवती-  
 त्युक्त'मित्यन्तं यदुक्तं तदेतेनैव निरस्तम् । वस्तुतस्तु विशिष्ट एव देवतेति न काप्यनुप-  
 पत्तिः । एतेन तदुक्तकर्मपार्श्वस्य प्रलपितकृतत्वं सिद्धमिति निर्गतेः । यत्तु मुक्तावध्या-  
 मात्मनिरूपणे 'सुतरामीश्वरभेद' इत्यारभ्य 'परमं साम्यमुपैतीति श्रुयते' इत्यन्तं पञ्चानन-  
 मष्टाचार्या आहुस्तत्प्राप्तादिः कमेव । तथाहि यदुक्तं 'सुतरामीश्वरभेदोऽन्यथा बन्धमोक्षा-  
 नुपपत्तेरिति, तद्युच्छं, बन्धस्य सांसारिकजीवविषयत्वेन सुतरां भेदाभावात् । यदपि  
 'गोपीश्वरभेद' इत्यारभ्य 'समर्पिता' इत्यन्तं वदन्ति तदपि तथा । तथाहि अभेद-  
 बोधिका किल 'ब्रह्म वेदं ब्रह्मैव भवती'ति श्रुतिः । नहि तदीपत्प्रतिपादन-  
 द्वारा स्तुतिस्तस्याः श्वयोर्धोपि त्रौपचारिकः, न च श्रुतेरुपचरितार्थत्वं संभवति  
 मुख्यार्थाभावात् । अत ए'वांशो नानाव्यपदेशा'दित्यधिकरणे 'अद्वैतश्रुतयस्तु जातिदेश-  
 कान्प्रभेदेन निमिचोपचारादि'त्युक्त्वा 'न च यत्परस्तदौपचारिकं युक्त'मित्युक्तं वाचस्प-  
 तिमिश्रैः । न च 'सर्वे एवात्मानः समर्पिता इति श्रुतिविरोधः, सर्वात्मनां तत्रैवैव भवन-

मिति तदर्थात् । यदपि 'मोक्षदशायामज्ञाननिवृत्तावभेदो जायते इत्यपि न, भेदस्य नित्यत्वे नाशयोगात्' तदप्यसत्, भेदस्य भ्रमरात्रविषयत्वेन वस्तुन एवाभावात् । यदपि 'भेदनाशेपि व्यक्तद्वयं स्थास्यत्येवे'ति तदपि न 'एव संपत्तादः अस्माच्छरीर-  
त्समुत्थाय परं ज्योतिरूपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिय्यते' इत्यादिश्रुतिविरोधात् । एतेन 'न च द्वित्वमपीत्यारभ्य 'सर्वजनसिद्धत्वा'दित्यन्तं यदुक्तं तत्सर्वमनेवैव परास्तम् । यदपि 'योपि तदानीमभेदप्रतिपादक आगमः सोपि निर्दुःखत्वादिना साम्यं प्रतिपादयति संपदाधिक्ये पुरोहितोयं राजा संवृत्त इतिवदि'ति, तदपि न लघ्ववर्णमतीक्ष्यं दत्तोचर-  
त्वात् । 'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैती'ति श्रुतिसत्तु जीवन्मुक्तपरा तस्मात्कार्कश्यमप्यस्यापि मलपितकल्पत्वं सिद्धमिति निष्कर्षः । वचनसङ्गदस्तु—'अहं सर्वस्य भववो पचः सर्वं भवतेने । इति मत्वा भजन्ते मा युवा भावसमन्विताः' 'को नु रामन्निन्द्रियान् मुकुन्दचरणाम्बुजं । न भजेत्सर्वतोभृत्पुरास्यमपरोत्तपैः । देवोसुरो मनुष्यो वा यज्ञो गन्धर्व एव वा । भजन्मुकुन्दचरणं स्वस्तिमान् स्थायया वयम्' 'भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः । ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्' 'मन्मना भव मद्भक्तो मद्यामी मां नमस्कुरु । मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने भियोसि मे' इति ।

आचार्यचरणद्वन्द्वन्दनानन्दितात्मना ।

शिष्येण बालकृष्णानां किञ्चिदत्र विचारितम् ॥

प्रकाशः ।

श्यादिव्रतकरणाच्च । कर्मत्वेपि व्रतादीनां पृथगुपादानं ज्ञानाग्रहत्वबोधनाय । ननु तेपि स्वयं कुर्वन्ति परानपि बोधयन्ति मिथ्यात्वनिःकलत्वात्सकलत्वानन्दाभावज्ञाने कथं कुर्युः कथं वा बोधयेयुस्तेषामपि मतानां शङ्करैर्मिनीगौतपादिप्रवर्तितत्वाच्चेत्यत आहुः—पा-  
पण्डैकप्रयत्नेष्विति । पापण्डनिमित्तमेव मुरूपः प्रयत्नो येषु 'त्वं च रद्'तिसाद्धेन 'त्वाभाराद्ये'तिश्लोकद्वयेन च भगवता महादेवे प्रति तथैवाज्ञानेन तथैव तेषां प्रवृत्तेः, स्वयं कर्मादिकरणेन स्वस्य महत्त्वख्यापनेन मतप्रवर्तनान्, 'यद्यदाचरति श्रेष्ठ' इतिन्या-  
यात् । आधुनिकानां तैरेव मोहितत्वात् । नहि देवादिप्रवर्तितज्ञासत्त्वमायेण सम्बन्धं किन्तु वेदाविरोधित्वे सति वेदानुसारित्वात् । अन्वया वृद्ध्यतिप्रवर्तितवौद्धशस्यस्यापि सम्गतत्वप्रसङ्ग इत्यनेन प्रसक्तानुवसत्तया । शेषं भागवत् ॥ ६ ॥

श्रिंगणम् ।

'त्वं ने'त्यारभ्य 'भक्त्या त्वनन्यये'त्यन्तानां वचनानां सङ्गः—

'त्वं च रद्' महावाहो मोहशास्त्राणि फारय । अनध्यानि वितथ्यानि दर्शयस्व महाभुज । प्रकाशं बुरु चात्मानमप्रकाशं च मां बुरु । त्वाभाराध्य यथा संभो प्ररी-

टिप्पणम् ।

व्यामि वरं सदा । द्वापरादौ युगे भूत्वा कलया मानुपादिषु । स्वामैः कलितैस्त्वं च  
जनान्मद्भिमुखान् कुरु । मां च गोपय येन स्यात् छष्टिरेपोचरोचरा । 'यद्यदाचरति  
श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः । स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनु वर्तते ॥ ६ ॥

प्रकाशः ।

ननु 'धर्मेण पापमनुदति' 'धर्मे सर्वे प्रतिष्ठित'मिति श्रुतेः पूर्वं दोषाभावाय  
धर्मः कार्यस्तेन चित्तशुद्धौ माहात्म्ये स्वरूपे च ज्ञाते तदाश्रयादिकं कार्यं न त्वाशु दोषव-  
तैवान्यथा क्व योगिव्येयो भगवान् क्व द्रष्टो जीव इत्याशङ्क्य 'यमेवैष द्रष्टुते' 'रहुगणैतत्'  
'भक्त्या त्वनन्यये' त्यादीनाङ्गीकृत्या महदनुग्रहेण च भक्त्या दोषवतापि गम्यत इति  
तन्माहात्म्यमपि तथेति महापुरुषद्वारा शरणागतौ सर्वं तत एव भविष्यतीत्यभिमत्य  
भक्तानां भगवानेव चतुर्विधपुरुषार्थरूप इति प्रथमं धर्मरूपत्वं वदन्तस्तं प्रार्थयन्ते—

अजामिलादिदोषाणां नाशकोऽनुभवे स्थितः ।

ज्ञापिताखिलमाहात्म्यः कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ७ ॥

अजामिलादीति । अनुभवविषयीभूतोऽजामिलादीनां ये दोषास्तेषां नाशकः ।  
ज्ञापितं अखिलं माहात्म्यं येन तादृशः, तेन पापनिर्वर्तकत्वमिष्टप्रापकत्वं च धर्मकार्यमुक्त-  
मतो दोषोपस्थितावपि तदाश्रयणमेव कार्यं भगवदीयानां न तु तं विहाय प्रायश्चित्ता-  
दीति सूचितम् । यद्वा, परम्परासंबन्धेनापि पूर्वोक्तः, स्वनामसाम्येनाप्यजामिलोद्धारत्  
अनुभवे स्थितो महदनुग्रहेण । ज्ञापितमखिलं लीलादिरूपं तथेन । शेषं प्रान्तम् ॥ ७ ॥

टिप्पणम् ।

'रहुगणैतत्पसा न याति न वैज्यया निर्वेषणाद्ब्रह्माद्वा । न वन्दनाच्चैव जलाग्नि-  
सूर्यैर्विना महत्यादरजोभिषेकम्' 'भक्त्या त्वनन्यथा शक्य अहमेवंविधोर्जुन । ज्ञातुं द्रष्टुं  
च तच्चेन प्रवेष्टुं च परन्तपे'ति । अनुभवविषयीभूत इति । अजामिलादीनापिति  
शेषः । पश्चान्तरे त्वनामित्तरभक्तविषयीभूतः सन्निति तदर्थः । अजामिलस्य तु पर-  
म्परासम्बन्धेन स्वनाम्नैवोद्धारत् । दोषोपस्थितावित्यारम्य सूचितमित्यन्ते—ननु  
'श्रुतिस्मृती मपैवात्रे यस्ते बल्लुह्य च वर्तते । आशोच्छेदी मम द्रोहो मद्रक्तोपि न मे  
मियः' इत्यनेन भक्तिमार्गीयस्यापि वेदविहितकरणत्वेन दोषोपस्थितावपि प्रायश्चित्तादेः  
प्राप्तत्वादित्यं कथमुच्यते इति चेत्, सत्यं, महादोषोपस्थितौ भगवदिच्छां ज्ञात्वा प्राय-  
श्चित्तादिकरणम् । तदुक्तं सर्वनिर्णये 'प्रायश्चित्तं पातकादीनामि'ति । अल्पदोषोपस्थितौ  
तु तदाश्रयणमेव कार्यं न प्रायश्चित्तादि । एतदुक्तं सर्वनिर्णये—'अनेनात्सवर्हिर्मुखताया-  
मपि भागवतमनुसन्धेयमित्युपायः कथित' इति सर्वं सप्तमसम् ॥ ७ ॥



प्रकाश ।

ननु 'तस्मात्स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' 'यं मे वतुमधीते तेन तेनास्पृष्टं भवत्यग्नेर्वापो-  
रादित्यस्य सायुज्यं गच्छतीत्यादिश्रुतेः कर्ममार्गेषु ब्रह्मयज्ञाध्ययनादिनाम्न्यादिसायु-  
ज्यसिद्धेर्षिं त्वत्सरमित्यादिना ज्ञानेनाप्यत्तरसायुज्यसिद्धेः को विशेषः कृष्णाश्रय  
इति किमिति तस्यैव प्रार्थनमित्याशङ्क्य तारतम्यज्ञानार्थं सर्वैस्वरूपनिरूपणपूर्वकमर्थरूपत्वं  
वदन्तस्तं प्रार्थयन्ते—

प्राकृताः सकला देवा गणितानन्दकं बृहत् ।

पूर्णाणन्दो हरिस्तस्मात् कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ८ ॥

प्राकृता इति । यस्मात्सकला देवाः प्राकृताः सत्त्वाहङ्कारमभवत्वात् । बृहद्दत्तं  
गणितानन्दकं 'सैवानन्दस्य मीमांसा भवती' त्याश्रयं 'ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः स  
एको ब्रह्मण आनन्दः' इत्यन्तेन ब्रह्मानन्दस्य गणितत्वात् कृष्ण एव हरिः सर्वदुःखहर्ता  
दिष्यन्म् ।

ये त्वत्क्षरमित्यादिनेति । 'ये त्वत्क्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पुर्यासते । सर्वत्रगमचिन्धं  
च कूटस्थमवलं ध्रुवम्' 'संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः । ते मासुरन्ति मामेव  
सर्वभूतहिते रताः' 'हेतोधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् । अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं  
देहवद्भिरवाप्यते' इत्येतेन तयैत्यर्थः । सैवानन्दस्येति । 'सैवानन्दस्य मीमांसा  
भवति । युवा स्यात्सायु युवाध्यायकः । आशिष्ठो द्रविष्ठो वन्दिष्ठः । तस्येव पृथिवी रत्ना  
वित्तस्य पूर्णा स्यात् स एको मानुष आनन्दः । ते ये शतं मानुषा आनन्दाः स एको  
मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं मनुष्यगन्धर्वाणामा-  
नन्दाः स एको देशगन्धर्वाणामानन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं देशगन्धर्वाणा-  
मानन्दाः स एकः पितृणां चिरलोकलोकानामानन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते  
ये शतं पितृणां निरलोकलोकानामानन्दाः स एक आत्मानानानां देवानामानन्दः  
श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतमानानानां देवानामानन्दाः स एकः  
कर्मदेवानां देवानामानन्दः, ये कर्मणा देवानपिपन्ति श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ।  
ते ये शतं कर्मदेवानां देवानामानन्दाः स एको देवानामानन्दः श्रोत्रियस्य चाकामह-  
तस्य । ते ये शतं देवानामानन्दाः स एक इन्द्रस्यानन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ।  
ते ये शतमिन्द्रस्यानन्दाः स एको बृहस्पतोरानन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये  
शतं बृहस्पतोरानन्दाः स एकः प्रजापतेरानन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं  
प्रजापतेरानन्दाः स एको ब्रह्मण आनन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्येत्यन्तेन प्रसादकेन

प्रकाशः ।

पूर्णानन्दश्च । पूर्णभासावानन्दश्च, पूर्ण आनन्दो येन यत्र यस्मादिति वा, तस्मात्कृष्ण एव गतिर्मेमास्त्वित्यर्थः । देवादिसाप्तुज्येपि तेषां प्रकृत्युपधानेन तन्मुक्तेः सगुणत्वेन 'आवह-  
सुवनाड्योकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुने'तिभगवद्वाक्यात्पुनः संसारसंभवेनावानन्दत्वेन स्वर्गव-  
दमुक्तिस्त्वात् । ज्ञानमार्गेऽक्षरमुक्तेर्निर्गुणत्वेऽक्षरस्य गणितानन्दत्वेनाल्पत्वात् ध्रुवितस्याल्प-  
न्यभोजनमभोजनमेवेतिवदप्रयोजकत्वात् । अज्ञातार्थदृष्ट्वाथै 'क'प्रत्ययेनात्यक्तत्वं पुरुषो-  
त्तमापेक्षयात्वं च सूचितम् । पूर्णानन्दत्वेन निर्गुणवृत्तिदायकत्वेन कृष्ण एव शरणं भाव-  
नीय इति सिद्धम् । तदुक्तं श्रीमदाचार्यचरणैः 'निर्गुणा मुक्तिरस्माद्भिः सगुणा सान्पसे-  
वये'ति । ननु 'तानिर्मो वै भगवतो हरेरंशाविहागतौ । भारव्ययाप च भुवः कृष्णौ यदुकृ-  
द्दहौ' 'कलाभ्यां नितरां हरेः' इत्यादिनां शतकथनाद्देहस्य च त्रिदिवेशादावपि पाञ्चभौ-  
तिकत्वजन्यत्वनिमित्तेन जन्मभवणात् सुखस्वारमगुणत्वेन भेदाच्च कथं पूर्णत्वं, कथं चानन्द-  
रूपत्वमानन्दवत्त्वं तज्जनकत्वं वा परं वक्तुं शक्यमिति चेत्, मैवम्, 'ताविमावित्वादीना-  
मर्थानवगमत् । तथाहि-भगवान् भक्तानामार्तिनानार्थं सुखदानार्थं च प्रकटः सुवो भार-  
व्ययापेहानयोः कृष्णार्जुनयोस्ताविमौ भगवतो हरेरंशौ चागतौ कृष्णयोर्पदुकृद्दहयोः मवि-  
ष्टत्वाद्यदुकृद्दहौ कृष्णौ च जातौ, यत आगतौ तत्र यदुकृद्दहत्वाभावात् । तत्कार्यकर-  
णार्थं व्यूहेषु भगवतस्तत्तदंशापेक्षणादनयोरपि सङ्घर्षणाशत्वेन भूभारहरणार्थमपेक्षणात् ।  
अंशयोरैवावतारत्वे पूर्णत्वाभावे 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' 'वसुदेवगृहे साक्षाद्भगवान् पुरुषः  
परः' । 'विदितोसि भवान् साक्षात्पुरुषः प्रकृतेः पर' इत्यादिक विरुध्येताश्च चकारश्च व्यर्थः

टिप्पणम् ।

ब्रह्मानन्दस्य गणितत्वादित्यर्थः । पूर्ण आनन्दो येनेति । मर्यादापुष्टिस्यस्येति शेषः ।  
येनेति करणे तृतीया । ननु करणस्य व्यापारवन्नियमात्कथमस्य फलोपधानासाधारण-  
कारणत्वमिति चेत्, अत्रोच्यते, यत्र भगवान् साधनं कारयित्वा फले प्रयच्छति तत्र  
भगवतः करणत्वं, प्रयोष्यप्रत्युपहितप्रयोक्तृधर्मस्य साधनकारयितृत्वस्य तज्जन्पत्वेन  
व्यापारत्वादिति । पूर्ण आनन्दो यस्मादिति । पुष्टिस्यस्येत्यर्थः । हेतोर्निर्व्यापार-  
साधारणत्वात् । ननुययोरपि मुख्यकलमासिक्त्वेन को वा विशेषः पुष्टिस्यस्येति चेत्,  
साधनानपेक्षत्वस्यैव विशेषादित्यलं बहूना । 'ताविमावित्थारभ्य 'प्रकृतेः परः' इत्य-  
न्तानि वचनानि- 'ताविमौ वै भगवतो हरेरंशाविहागतौ । भारव्ययाप च भुवः कृष्णौ  
यदुकृद्दहौ' 'वमौ भूः पङ्कसस्याड्या कलाभ्यां नितरां हरेः' 'अन्ये चांशकलाः पुंसः  
कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' 'वसुदेवगृहे साक्षात् भगवान् पुरुषः परः । जनिष्यते तस्मिन्पार्थ  
संयवन्तु सुरक्षियः' 'विदितोसि भवान् साक्षात् पुरुषः प्रकृतेः परः । केवलानुभवानन्द-  
स्वरूपः सर्वबुद्धिर्हिमिति । चकारश्च व्यर्थः स्यादिति । 'भारव्ययाप च भुवः' इत्यत्र

प्रकाशः ।

स्यात् । तथाचोक्तं श्रीभागवततत्त्वार्थदीपे 'सर्वातिरिक्तरूपेण नरः स्वावेशपारकः । तपोऽतिरिक्तकार्यं तु पूर्णं कृष्णं न चान्यथे'ति । 'सर्वे'ति । व्याख्या तु 'सर्वकार्यकर्तृत्वात्सर्वरूपो नारायणः । पुष्टिकार्यकर्तृत्वादतिरिक्तोवतारः । तत्राधिकारमाशङ्क्य परिहरति 'स्वावेशे'ति । नरस्तु तादृशमंशं विभक्तिं न त्वचनार इत्यर्थः । 'ताविभौ वै भगवत' इति मूलवाक्यं 'कृष्णस्तु स्वयं भगवान्तेन विरुध्यते इति समाधत्ते 'तपोतिरिक्ते'ति । मार्गद्वयस्यापनार्थमवतीर्णोपि पूर्णप्राकट्याभावे कार्यं न सौत्स्यतीति पूर्णं कृष्ण एव प्रविष्टावशाविति मूलार्थ' इति । 'वभाविरेत्यत्र कलाभ्यामंशाभ्यां भूर्वभौ हरेः सम्बन्धिनी भूः यदैरनुभावैर्जीव्याभिश्च नितरां वभावित्यर्थ' इति । अन्यपयोक्ताननविरोधात् । देहस्य पाञ्चभौतिकत्वजन्यत्वनियमस्य प्राकृतविषयतादप्राकृते यथावेदमेवार्थसिद्धेः, अन्यथा ज्ञानेच्छादीनामनित्यत्वनियमान्नित्यं ज्ञानादिकमपि तत्र न सिद्धयेत् । ननु ज्ञानादिभिरेव जगत्कर्तृत्वोपपत्तौ प्रत्यक्षबाधाय किमित्यानन्दमयो नित्यो देहोद्गीकार्य इति चेत्, न, कर्तृत्वनिर्वाहार्थमेव व्याप्तिरलेन नित्यज्ञानवचनप्राप्येद्देहात् । 'नित्यापरिच्छिन्नतनोः प्राकृत्यस्यैव जन्मत्वेन जन्पत्वाभावात् । 'आनन्दाद्ध्येन' 'नित्यं विज्ञानपानन्दं ब्रह्म' 'स यथा सैन्धवपनः' 'आनन्दं ब्रह्मणो रूपम्' 'आनन्दमपोभ्या-  
टिप्पणम् ।

भक्तार्तिनाशसुखदानादिकं चकारेण गृह्यते । तत्र पुष्टिपुरपोषणकार्यमेवेति तदतिरिक्तकल्पनायां चकारो व्यर्थः स्यादित्यर्थः । व्याप्तिरलेनेति । अन्यपव्यतिरेकव्याप्तिरलेनेत्यर्थः । तथाहि यत्र यत्र कर्तृत्वं तत्र तत्र देहवत्त्वं यथा कृष्णाश्रादावित्यत्राप्यव्याप्तिः । यत्र यत्र देहवत्त्वाभावस्तत्र तत्र कर्तृत्वाभावः, यथा मुक्तात्मनीति व्यतिरेकव्याप्तिरिति । न चाप्योजकत्वम्, देहवत् एव कर्तृत्वात्, न सशरीरी कुत्रालः शक्नोति कार्यं कर्तुम् । यस्तुस्तु 'आनन्दमात्ररूपादमुखोदरादिः' 'सर्वतः पाणिशदान्'मित्यादिविरोधः । 'अशरीरं शरीरेधि'त्यादयस्तु पाञ्चभौतिकशरीरनिषेधयाः । न च ग्रीहियवत् विस्मयमंभवः प्रमेयापहारनिश्चयनाभावात् । ननु गीतायां चतुर्दशाध्याये 'नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति' इत्युपादाय 'गुणेभ्यो नान्यं कर्तारमनुपश्यत्यपि तु गुणा एव कर्माणि कुर्वन्तीति' श्रीधरस्वामिव्याख्यानान्देतुनिस्पितव्याप्तावप्यपि पाप्मिरिति चेत्, अत्र वदायः—गुणानामपि देहवत्त्वेनैव तत्रान्यत्वं न तु केवलं यथा । अत्र एवाग्रे 'गुणानतोत्पे' त्यस्य व्याख्यानं 'देहाद्याकारः समुद्भवः परिणामो येषां ते देहाद्युत्पन्नानां तांश्रीनपि गुणानतोत्पत्तिप्रभ्येत्युक्तं श्रीधरस्वामिभिरिति विद्वांस एव विदाद्भवंतु । 'आनन्दमात्रे'त्यारभ्य 'शुद्धितत्त्वम्' इत्यन्तानि धरानानि । 'निर्दोषपूर्णगुणशिरः श्याम-

प्रकाशः ।

सात् 'आह च तन्मात्रम्' 'केवलानुभवानन्दस्वरूपः' 'आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः'  
'बहूनि सन्ति नामानि' 'त्रयया चोपनिषद्भिश्च' 'न चान्तर्न वहिर्यस्ये'त्यादिश्रुति-  
न्यायपुराणवाक्यसहस्रैः प्रमाणप्रकाशनीयलीलाभिश्च पूर्णं एव देवपाणेन्द्रियान्तःकरणा-  
त्मरूप एवानन्दरूपो ज्ञानरूपः पुष्टपोत्तमो न त्वात्ममात्रमिति निर्वाधप्रबोधि । 'नित्यं  
निज्ञान'मिति 'पूर्णमेवावशिष्यते' 'भवानेकः शिष्यते शेषसंज्ञ' इत्यादिना नित्यत्वं,  
'एष होवानन्दयाती'तिश्रुतेरानन्दजनस्त्वम् । 'कृष्णः प्रीतमनाः' 'वीक्ष्यासीदु-  
त्तमा प्रीतिः' 'जातहर्षः' 'मुदितवस्त्र उपयाती'त्यादिना नन्दस्त्वं चेति नानुपपन्नं  
किञ्चित् । तथाप्यानन्दत्वदेहत्वयोर्विरोध इति चेत्, न, स्वस्वाधिकरणे प्रमाणैरेकनो-  
भयोः मिद्वयसिद्धिभ्यां च विरोधाभावात् । क्वाप्यानन्दस्य धर्मरूपत्वे कथं धर्मरूपत्व-  
मिति चेत् 'स यथा सैन्यवचनः' 'यः सर्वज्ञः' इतिश्रुतिभ्या ज्ञानरूपत्वज्ञानाधार-  
त्ववानन्दरूपत्वतदाधारत्वयोरविरोधात् । श्रीमदस्मत्पञ्चरणैः सर्वमेतद्यथा तथा विद्व-  
न्मण्डने प्रपञ्चितमिति नात्र प्रपञ्च्यते ॥ ८ ॥

द्विष्णुगम् ।

तन्त्रो निश्चेतनात्मकरारीगुणैश्च हीनः । आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः सर्वत्र च स्वग-  
तभेदविवर्जितात्मा 'बहूनि सन्ति नामानि रूपाणि च सुतस्य ते । गुणकर्मानुरूपाणि  
तान्पहं वेद् नो जनाः' 'त्रयया चोपनिषद्भिश्च सांख्ययोगैश्च सात्वतैः । उपगीयमा-  
नमाहात्म्यं हर्षं सामन्यतात्मजम्' 'न चान्तर्न वहिर्यस्य न पूर्वं नापि चापरम् । पूर्वोपरं  
वहिश्रान्तर्जगतो यो जगच्च यः' 'नष्टे लोके द्विपराध्विसाने महाभूतेष्व्यादिभूतं गतेषु ।  
व्यक्तेऽव्यक्तं कालवेगेन याते भवानेकः शिष्यते शेषसंज्ञः' 'एवं वृन्दानं श्रीमान् कृष्णः  
प्रीतमनाः पशून् । देवे संचारयज्ज्ञेः सत्सिद्धीमस्तु सातुगः' 'वृन्दानं गोवर्धनं यमुनापु-  
न्द्रिनानि च । वीक्ष्यासीदुत्तमा पीतो रात्रमाधवयोर्धर' 'सहजः स्वगवर्धनविद्यासः सातुपु  
क्षितिमृतो ब्रजदेव्यः । हर्षयन् पहिं येणुरखेण जातहर्ष उपरम्पति विश्वम्' 'मदुपतिर्द्विरद-  
राजविहारो याविनीपतिरिषैव दिनान्ते । मुदितवक्त्र उपपानि दुरन्तं मोचयन्  
ब्रजगवा दिनतापमि'ति ॥ ८ ॥

प्रकाशः ।

ननु विवेकधैर्याभ्यां स्थित्वा भक्तिकरणे भगवानपि यत्र भवतीति किमिति  
दैन्येनाश्रयः शार्लते इत्याशङ्क्य सर्वमनोरथपूररत्नात्सर्वकार्यं काम्यत्वात्काम्यत्वं  
चदन्नस्तं प्रार्थयन्ते विवेकेति ।

विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितस्य विशेषतः ।

पापासक्तस्य दीनस्य कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ९ ॥

पूर्वं प्रभुस्वरूपविचारेणाश्रयमुक्तया जीवस्वरूपविचारेणाजुनोच्यते । भगवान् स्वच्छया सर्वं करिष्यति न मार्यनीय इतिनिश्चयो विरेकः । भक्तिविरोधिदुःखनिवृत्त्युपायाकरणेन त्रिदुःखसहनं धैर्यम् । भक्तिः साधनरूपापि । आदिपदात्पुण्यम् । विशेषत इति । तत्साधनैरपि रहितस्य । यद्वा, यत्किञ्चित्सत्त्वेऽपि विशेषतो नास्तीति न फलसिद्धिः । किञ्च, दीनस्य दरिद्रस्यातः सर्वसाधनरहितस्य । पापे आसक्तस्येति विपरीतसाधनवतो न तु ग्रामादिकपापस्य । कृष्ण एवेति पूर्ववत् । अन्यत्र यत्किञ्चिद्गुण्येऽपि वैकल्यादेवताकोपादनिष्टजननादलवदत्वाच्चेदशस्य विवेकादिकं दत्त्वा स्वतो वा सर्वफलदायकः परमकृपालुः कृष्ण एवेति स एवाश्रयणीय इति हृदयम् । नन्वस्मच्छब्दस्योच्चारणित्वाचकत्वाद्ग्राचार्यचरणानां तथात्वाद्विशेषणान्यत्सङ्गतानीति चेत्, नै, अस्यान्यार्थत्वेनान्याधिकारेण कथनाद्भगवता वेदेषु 'प्रयतपाणिः शरणं प्रपद्ये' 'भूयिष्ठान्ते नम उक्तिं विधेम' 'स्वस्ति मेस्तु वनस्पते' इत्यादौ यजमानाधिकारेण कथन इवादोपत्त्वादिति सर्वमनवद्यम् ॥ ९ ॥

ननु सर्वथा निःसाधनस्य शरणगतत्वपि कथं समीहिनसिद्धिः, भगवन्स्तु तच्छ्रुतिसापेक्षस्तस्मै तस्मै फलं ददाति, प्रत्युत भगवद्देशरणस्य तदेकमनसो देवान्तरानादरेण तत्कृता अपि विघ्नाः स्युः 'श्रेयांसि बहुविघ्नानी'तिवाक्यादित्पाराङ्मुख मोक्षप्राप्तत्वान्मोक्षरूपत्वं विज्ञापनं च वदन्तः समादधते सर्वसामर्थ्यसहित इति ।

सर्वसामर्थ्यसहितः सर्वत्रैवाखिलार्थकृत् ।

शरणस्थसमुद्धारं कृष्णं विज्ञापयाम्यहम् ॥ १० ॥

दिप्यणम् ।

मोक्षप्राप्त्यत्वादिति । स्वरूपलाभप्राप्त्यत्वादित्यर्थः । तथाच श्रुतिः 'ब्रह्मविदाप्नोति परमि'ति । अस्या अर्थः-अक्षरवित् परं पुरुषोत्तमं प्राप्नोतीति । मोक्षरूपत्वमिति । भक्तिप्रागस्याय भगवद्भजनं कुर्वते स्वीयाय सर्वफलदातृत्वं भगवत एव तथाचाक्षरफलदातृत्वमपि स्वस्यैवेति तद्रूपत्वान्मोक्षरूपत्वमित्यर्थः । तथाचोक्तं निबन्धे 'यथा स्यात्स्यी रयी तदन्तःस्थितश्च तथान्तर्याम्यक्षरं कृष्णः । एवं मति पुरुषोत्तमत्वेन सर्वत्र दर्शनं भवति परब्रह्मैव त्रिप्रकारेण वर्तते इति त्रयो भेदा इति' ।

प्रकाशः ।

सर्वं पूर्णं सामर्थ्यं सर्वेषां सर्वेषु वा, तत्सहितं इतीच्छया स्वतोपि सर्वं करोति । यदि मर्यादा रक्षेतदा भगवत्त्वेन ज्ञानैश्वर्यमर्यादीना सिद्धत्वात्तददत्त्वापि तत्फलं दद्यात् । कदाचित्पूर्वस्थितमपि स्वस्मिन्नयेत्, सर्वत्र स्वस्यैव सामर्थ्यात् । 'यद्यद्विभूतिमत्' 'यथा सर्वं प्रवर्तते' इत्यादिवाक्यैः सर्वं सामर्थ्यं येषां गुर्वर्शनादीनां तैः सहितं इति वा, तैर्गपि भक्तानिष्ठनिवारणात्, 'अव्याहृतानि कृष्णस्ये'तिवाक्यात् । ननु सामर्थ्यं सत्यपि कदाचिदाश्रितं न रक्षेत्, मर्यादैव वा यदि फलं दद्यात्तदा किमाश्रयेणेत्यत आहुः-सर्वत्रैव देशेषु वषेषु आश्रमेषु कर्मादिषु काखिलार्थान्करोतीत्यखिलार्थकृत् ताच्छील्य्यादौ किप् 'सकृदेव' 'ये दारगारपुत्राग्ने'त्यादिवाक्यैः सकृदपि शरणागतं भगवान् रक्षति किं पुनर्भजनः । मर्यादापि फलदानेनैवैरपेक्षेण भजतो भगवान्मर्यादानपेक्षः फलं प्रयच्छति, विहितत्वादिना भजतो मर्यादासापेक्षो 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इति तन्मर्यादायां एव तादृशीरज्ञाज्ञा ज्ञतिः । अत एव 'ब्रजस्योवाह वै हर्षम्' 'चिक्रीडे जनयन्मुदम्' 'मनोरथान्तं श्रुतयो यथा ययुः' 'मुकुन्दो मुक्तिं ददातीत्यादि' तथा न ते माधव' 'मत्स्यो मृत्युव्यालभीतः पलायन्' 'वसति मनसि यस्ये'त्यादिवाक्यैः काक्यमाद्योपि चेद्भगवदीयाभिवर्तन्ते कृतस्तदा पुनरन्ये विप्रकर्तार इति न किञ्चिदूषणम् । पूर्वोक्तं शरणे स्थितं सम्यगनाथासेनोद्धरति, सकृदागतं तु यथाकथञ्चित् । ईदृशं श्रीकृष्णमहेश्वर्यं विज्ञापयामि । 'कृष्णे'तिसम्बोधनपाठे शरणस्थसमुदाह विज्ञापयामीत्यन्वयः । अनेनेश्वरे दीनभावः कर्तव्य इति सूचितम्, दीनभावेन कृतस्यैवेश्वरतोपरेतुत्वात् ॥ १० ॥

टिप्पणम् ।

'यद्यदा'रभ्य 'अव्याहृतानी'त्यन्तानि वचनानि 'यद्यद्विभूतिमत् सर्वं श्रीमद्भूति-  
तनेव वा । तत्तदेतन्नगरञ्च स्व मम तेजोशसभयम्' 'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं भव  
तेते । इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः' 'अव्याहृतानि कृष्णस्य चकादी-  
न्यापुधानि तम् । रक्षति सकृलापद्भ्यो येन विष्णुत्वासित' इति । ताच्छील्य्यादौ  
क्रियति । 'आहेस्तच्छीलतद्दर्पतत्साधुकारिष्वितिस्मरणात् । 'सकृदेरे'त्यारभ्य  
'तत्तथा साधयिष्वापी'त्यन्तानां वचनानां सङ्ग्रहः- 'सकृदेव प्रपन्नाय तदास्मीति च  
याचते । अथ सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्गतं मम' 'ये दारगारपुत्रागणान् विनामिमं  
परम् । हित्वा मां शरणं याताः कथं तास्त्यक्तुमुत्सहे' 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तास्तथैव  
भजाम्यहम् । मम कर्त्यानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः' 'दर्शयस्तद्विदा लोके आत्मनो  
भूतवन्द्यताम् । ब्रजस्योवाह वै हर्षं भगवान् बालवेष्टितैः' 'ततस्तु भगवान् कृष्णो

टिप्पणम् ।

वयस्यैर्गजनालकैः । सद्वरामो व्रजस्त्रीणा चिकीडे जनयन्मुदम् ' तदर्शनाद्वादविधृत-  
 हृद्रुजो मनोरथान्तं श्रुतयो यथा ययुः । स्वैरुत्तरीयैः कुचकुट्टुमाङ्गितैरचीकृत्यन्नासनमात्म-  
 वन्धरे ' राजन् पतिर्गुह्यरलं भवतां यदनां देवमियः श्लघतिः कृष किङ्करो वः ।  
 अस्त्येवमद्भ भजतां भगवान् सुवृन्दो शुक्तिं ददाति कर्द्विचित्रं स्म न मक्तियोगम् '   
 ' तथा न ते माधव तावताः क्वचिद् भ्रश्यन्ति मार्गात्तपि वद्धसौहृदाः । त्वयाभिगुह्या  
 विचरन्ति निर्भया मिनायस्तीर्णकपमूर्धसु मभो ' ' यत्सौ मृत्युन्यालभोतः पन्नायन्  
 सर्वान् लोमान् निर्भयाद्वाध्यगच्छन् । तत्त्वादावजं प्राप्य यद्वच्छयाय स्वस्यः  
 शोते मृत्युरस्मादपैति ' ' वसति मनसि यस्य सोऽन्यपात्मा पुरपवहस्य न तस्य दृष्टिगतः ।  
 गतिरथ मम वा तत्रास्ति चक्रप्रतिदृतीर्यमलस्य सोऽन्यलोकः ' ॥ १० ॥

प्रकाशः ।

' दश वै पशोः प्राणा आत्मैरदश ' इतिश्रुतेः प्राणानामिदं सर्वसाधकत्वं ज्ञाप-  
 यितुं दशभिः श्लोकैः स्तोत्रं निरूप्य फलस्यात्यदस्यत्वं ज्ञापयितुमेकादशेनात्मरूपैर्ष-  
 तस्तोत्रपाठफलमाहः—

कृष्णाश्रयमिदं स्तोत्रं यः पठेत्कृष्णसन्निधौ ।

तस्याश्रयो भवेत्कृष्ण इति श्रीवल्लभोऽभवोत् ॥ ११ ॥

कृष्ण आ समन्तात् श्रीयते सेव्यतेनेन, कृष्ण आश्रयो येन यस्मादिति देति  
 कृष्णाश्रयम्, इदमेव कृष्णाश्रयं यथार्थनिरूप्यकत्वान्नान्यत् । कृष्णासन्निधौ तद्विमिचं  
 वा, इदं यः पठेत् तस्य कृष्ण आश्रयो भवेत् । अत्र ' हेतुहेतुमतीर्णम् ' इद-  
 मिति नान्यपाठेनेदं फलं, स्वरूपाज्ञानात् । नन्वल्पासादेतस्तोत्रपाठमात्रेण कथमेत-  
 त्फलं स्यादित्याशङ्क्याहः—श्रीवल्लभ इति । इदमभवोत् अवदत् । स्वस्य भगवत्स्व-  
 रूपाभिज्ञत्वाद्भवता सर्वोद्धारार्थं प्रकृतित्वादुद्धारकस्वरूपत्वाच्च नात्राप्राप्यशङ्का,  
 नहि भगवान् सत्यवाक् स्वैवाचमन्यथाकरोति । यत्र प्रसङ्गाद्भारदकृतं ' तत्तथा सावयि-  
 यिष्यामि यदोतं तन्महात्मने ' इति सदनुग्रहो भगवान् स्वकृतमिव मन्यमानः पुरोचोत्तमः स्वयं  
 तत्र गत्वा नलहृत्वरमणोऽश्रीवोद्धारं कृतवान्, तत्र स्वयं सर्वार्थं प्रकृतितस्य स्वस्वरूपस्य  
 कृतो बवने वा किं किं न करिष्यतीति तत्कृपाया सर्वं भवतीति सर्वभवनवचम् ॥ ११ ॥

टिप्पणम् ।

' देवर्षिर्मे प्रियतपो यदिमौ धनदात्मजौ ।

तत्तथा सावयिष्यामि यदोतं तन्महात्मनेति ' ॥ ११ ॥

प्रकाशः ।

श्रीमद्विद्वानाथपादकमले संवन्ध भक्त्या मुदा  
कृष्णकाग्रधियोथ तातचरणान् तादृक्पितृव्यानपि ।  
श्रीकृष्णाश्रयसंज्ञके स्तुतिवरे कल्याणरायाभिधः  
श्रीगोविन्दसुतः प्रकाशमकरोद्भयान्मुदे सद्भियाम् ॥ १ ॥

इति श्रीविद्वानाथचरणकमलैकतानश्रीकल्याणरायविरचितः  
कृष्णाश्रयस्तोत्रप्रकाशः समाप्तः ।

टिप्पणम् ।

दूरीकरोति विकटं किल सङ्कटानां सङ्घं विसंकटतरं वरसेवकानाम् ।  
यत्पत्नरागमणिवर्षविराजमानं तद्रेङ्कटेषामुकुटं प्रकटं रटापः ॥ १ ॥  
निखिलपण्डितमण्डलमण्डितं हरिगुणान्गसरोरुहभास्करम् ।  
अतुलमङ्गलनामधिराजितं जनपनोहररूपमहं भजे ॥ २ ॥

श्रीमत्कल्याणरायाणां नमस्कृत्य पदद्वयम् ।  
कृष्णाश्रयप्रकाशस्य तत्पणीतस्य टिप्पणम् ॥ ३ ॥  
गुरुश्रीवालकृष्णानामात्पजेन सतां पतम् ।  
कृतं गोविन्द्राजेन नाम्ना तत्त्वनिरूपणम् ॥ ४ ॥

इति श्रीमत्कल्याणरायचरणकोकनदमधुपापमानान्तकरणतिघरो-  
पनामकवालकृष्णभट्टात्मजगोविन्द्राजकृत् तत्त्वनिरूपणाभिधं  
कृष्णाश्रयप्रकाशटिप्पणं समाप्तमगमत् ।



श्रीरूपाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यां नमः ।

## कृष्णाश्रयस्तोत्रम् ।

श्रीमद्द्वारिकेश्वरचरणप्रणीतविवृतियुतम् ।

पशुपतिकृतिभिर्षे भ्रंशिता मुग्धचित्ता-

स्तदनुष्ठानकृतीन् स्वाज्ञानतः पातुमिच्छन् ।

अवददविकृतं यः स्वागमं सर्वभद्रम्

तपहमतिदपालुं बल्लभाख्यं नतोस्मि ॥ १ ॥

विरश्चिकृष्णनारदैर्निरूपितैर्धृशं सदा

चिरन्तनीयसाधनैर्विसम्मतं कलौ विभुः ।

विलोक्य सर्वतोषिक निभ्राममं ततान यः

सदा सुसंमतं सतां विशेषतः कलौ युगे ॥ २ ॥

ननु साक्षात्परम्परया च भगवत्प्राप्तिसाधनानां बहूनां विद्यमानत्वात्तानि विहाय  
किमित्याश्रय एव बोध्यते, किञ्च, क्रमेण नवविधलीलाप्रवेशज्ञानानन्तरं हाश्रयस्त्वज्ञानं  
वा स्वत एव भविष्यतीति किमिति तत्पतिपादकं स्तोत्रमुच्यते तत्राह-सर्वमार्गेष्विति ।

सर्वमार्गेषु नष्टेषु कलौ च खलधर्मिणि ।

पापण्डप्रचुरे लोके कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ३ ॥

तथापि निरोधस्य सर्वपक्षया वरीयस्त्वान्मुक्तेरपि लोके तथात्मात्किमिति तौ विहाया-  
श्रय एव निरूप्यते अत्रोच्यते 'आभासश्च निरोधश्च यतश्चाध्यवसीयते । स आश्रयः परं  
ब्रह्म परमात्मैति शब्ध्यते' 'या या साधनसंपत्तिः पुरुषार्थचतुष्टये । तथा विना तदाप्नोति  
नरो नारायणाश्रयः' 'सर्वभाश्रयतो भवे'दित्यादियात्परैराश्रयस्यैव सर्वसाधकत्वेनोक्तत्वा-  
त्सर्वसाधनफलरूपाभ्यां स एव परिणत इति तमेवाह-कृष्ण एव गतिर्ममेति ।

गतिशब्दः क्रियावाचकः, तेन गतिरित्युपपन्नस्य किन्तु स एव भक्तिमार्गनिर्वाह-  
प्रतिबन्धनिवर्तकतया परमभक्तिपतिपादकसाधनीभूततनुषिचजादिपतिपादकशरीरत्वचि-  
र्षाहकृतिपाख्यो भवत्वित्यध्याहारः । कथञ्चित्पूर्वमाश्रयोन्मुखं ज्ञात्वा पश्चाज्जावैस्वरा-

श्रयः कर्तव्य इति नार्थः, सर्वतः सर्वांशेन कार्वेसिद्धयभावे निश्चित्य स्वस्मिन् तयात्व-  
निश्चये सत्यस्माकं सर्वथा लौकिकालौकिकफलसाधकोऽस्मत्कृतिनिरपेक्षः स भवतु ।  
तथाभवनं तु तदिच्छासाध्यम् । भगवानाश्रयो भवतु ना वा, अस्माभिस्तदाध्यैः सर्वथा  
मान्यमेवेति निश्चिताश्रयः सर्वथा कार्यः । एवंभयान्नापाश्रयः सर्वथा भवत्येव, अन्यथा  
'अनन्या' इति 'न मे भक्तः भगव्यति' इति भगवद्भूतं भज्येत । एवं सति सर्वफलरूपस्त्व-  
याऽऽश्रयणोक्त्या साधनीभूतः क्रियते ततोपिकस्य फलस्याभावात्, मत्पुत्र 'वृश्चिकपिये'-  
तिन्यायेन स्वरूपहानिप्रसङ्गः स्यादत्र ब्रूमः—कृष्ण एव गतिर्ममेति । एवंच परमभक्तिस्तु  
कृष्णैकफलिका तदनुग्रहैकलभ्या च, तथासति तत्रिसिद्धिप्रतिबन्धनिवृत्तिपूर्वकं तत्रिसिद्धौ  
कसाधनादिनिर्वाहकसाधनतामापन्नो न हीनतामापद्यते । यथा—'योगभाषायाद्युपाधित' इत्यत्र  
रसमार्गेऽन्तरङ्गाश्रयणं न दोषाशयकं तन्मार्गस्यैव तथात्वात् । एवं भक्तिमार्गीयसर्वांशसाधने  
भगवतो न साधनरूपत्वमापद्यत इति सिद्धान्तः । यथा 'भर्ता सन् श्रियमाणो विपती'  
त्यत्र भगवतस्तत्सम्बन्धिनां च परस्परमाधाराश्रयभावे पोष्यपोषकभावे च नोभयोर्मध्ये  
कस्यापि हीनत्वं किन्तु तदेकपोषकत्वं तदेकपोष्यत्वं च भगवत उदकर्त्तव्यम्, एवं  
तन्मार्गपक्षपाताद्भक्तिमार्गे सर्वांशेन फलत्वमापन्नस्य स्वस्य साधनतास्वीकारो न हीन-  
त्वसंपादक इत्येवमभिसंधायाचार्यैरुक्तमिति भावः । धर्मादीनां च स्वसाधनसहितानामेव  
फलसाधकत्वं, तत्र देशकालादयो धर्मसाधनं तेषामिदानीपतथात्वं सर्वथा निरूपयन् पूर्वं  
कालस्यातथात्वमाह—सर्वमार्गेषु नष्टेऽपि । कलौ सर्वेषु मार्गेषु नष्टेषु सस्तु देवैः  
कृष्ण एव गतिर्ममेत्येवंरूप आश्रयः कर्तव्य इति भावः । मार्गोक्त्या तेषां साङ्गानां स्वस्वा-  
धिकारानुसारेण फलसाधकत्वं निरूप्यते । नाशस्तु तेषां सर्वथा फलासाधकत्वरूपः । कलौ  
तत्तन्मार्गे किञ्चिदुत्तमानां तद्विध्याचरणेषु तत्फलाभावं दृष्टान्तेषामनुपलब्धिप्रमाणेन  
ततो विश्वासापगमाद्वाद्यतोपि तदाचरणपरम्पराया नाशः स्वादिति भावः । ननु सत्य-  
युगादीनां यथा धर्मसाधकत्वं तथैतस्यापि तथात्वे को दोषः फाल्गवस्याविशेषादित्यत  
आह 'त्वलघमिंशीति । खलाः सर्वथा शाब्दाभ्यन्तरभेदेन धर्मादिकृत्यनुसन्धानरहिताश्च,  
अनुसंधानेषु द्वेषार्थमेव तदनुसन्धानं, न च स्वस्यान्येषां वा चिकीर्षावुद्भिन्नकत्वेन ।  
अत एव 'प्रन्ते गोमिथुनं पदे'ति तस्यासाधारणो धर्मो निरूपितः । ननु सर्वथा धर्मादि-  
त्यक्तारः केचन भविष्यन्ति न तु सर्वे तेन तदुच्यते सर्वे कथं तादृश भविष्यन्तीत्यत  
आह पापण्डप्रचुर इति । येषु लोके सन्यासाचार्यं कुर्वन्ति महान्तोपि तेषु मथान-  
पनुसृत्यैव कुर्वन्ति, अन्यथा तदा लोके पुण्यत्वं न स्यात् । पूर्वमल्पमात्रुषे तत्र श्रद्धा-  
भावेऽप्यन्यातुरोधेनाप्यन्यथाचरणे स्वबुद्धिरपि तथैव जातेति तत्र स्वयं श्रद्धालवो भूत्वा-  
न्येषामपि तथात्वं संपादयन्तः पश्चात्पुनर्हृषो भूत्वा सुखेन तथादुर्वन्तीति भावः ।

एतेनान्यानुरोधेनापि सन्मार्गत्यागः ' योन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते । किं तेन न कृतं पापं चौरैणात्मापहारिणे'तिन्यायेन सर्वथा स्वनाशक इति ज्ञापितं भवति । तेन प्रावाहिकभक्तिमार्गोपि नष्ट इति ज्ञापितम् । चकारः समुच्चयार्थः । तथाहि—मार्गाथ सर्वे नष्टास्तादृग्धर्मा कलिश्चाविर्भूतः, लोके पापण्डथ प्रचुरः । एवं सर्वथा सर्वनाशोपस्थितौ विविधशङ्कास्पदीभूतान्तःपरान् स्वानुपदिशन्ति श्रीकृष्ण एव गतिर्ममेति । अवतारान्तरं तु मर्यादारूपमित्येवं निःसाधनाना धर्मादिप्रतिहृतसाधनवता वा सर्व-  
मतिसन्धनिवृत्तिपूर्वकं 'तथास्मी'त्युक्तिमात्रेण भक्त्यैकल्यः पुष्टिपुरपोत्तम एवोद्धारं कर्तुं शक्त इत्येव कारेणाशकलावनारन्यनच्छेदपूर्वकं कृष्ण एव गतिर्ममेत्युक्तमेवमप्येपि ज्ञेयम् ।

एव कालस्य धर्मादिविरोधित्वमुक्त्वा देशस्यापि तथात्वमाह—म्लेच्छान्ना-  
न्तेष्विति ।

म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु पापैकनिलयेषु च ।

सत्पीडान्यग्रलोकेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ २ ॥

यथा कालत्वस्याविशेषेपि सत्यादिरूप एव कालो धर्मसाधको भवति तथा देशत्वस्याविशेषेपि तीर्थादिरूप एव देशो धर्मादिकरणे साधनीभूतः । तीर्थमपि जल-  
स्यलभेदेन द्विविधं, तत्र पूर्वं पुण्यक्षेत्रादिरूपस्य देशस्य पूर्ववदतथात्वमाह—म्लेच्छा-  
क्रान्तेष्विति । साक्षात्परम्परया च देशाः सर्वे म्लेच्छैः आ-समन्तात् प्रान्ताः । तत्तत्पु-  
ण्यक्षेत्रादिधर्मस्थानेषु सद्दर्मापगमार्थं द्वेषेण विपरीतकृतिपूर्वकं स्थितिरात्मणम् । कुत्र-  
चित्पुण्यादिभूमौ साक्षात्तत्रोत्पन्नविषयभोक्तारो भूत्वा तत्रैव तिष्ठन्ति कुत्रचित्सन्धि-  
हितेषु । एवं तेषां साक्षात्स्थित्या स्वोत्पन्नविषयाणां तदेवभोग्यत्वेन च सर्वदेशानामधर्म-  
साधनत्वं जातम् । सर्वथा म्लेच्छीयत्वात्तेषाम् । म्लेच्छा अनाविष्टाः सन्तः सर्वथा धर्मा-  
दिविरोधिनः कलहप्रियाश्च 'मनसा वचसा कृत्या सद्दर्मपरिपन्थिनः । म्लेच्छदेशेषु  
संजाता भक्ष्याभक्ष्यविचारकाः' । ननु तत्रोत्पन्नाः सर्वे न तथाभूतास्त्वद्विपरीतानां बहूना  
दृश्यमानत्वात्, यथा म्लेच्छसंसर्गात्सर्वोपि देशोऽधर्मजनकता यात एव तद्विपरीतधर्मवता  
तज्जातीयानामपि संसर्गात्संयोगपृथक्त्वान्यायेन देशव्यवच्छेदेन कियदेशेषु धर्मसाधनता  
व्यस्त्विति चेत्तत्राह—पापैकनिलयेष्विति । सर्वे एव देशाः पापैकनिलया जाताः  
पापानामेको निःशयः स्थान तादृशा जाताः । तेन कुत्रापि धर्मज्ञानं न श्रूयते । यद्वा  
पापास्त एव महीभोक्तारस्तदेकनिःशयत्वात्तथा । येपि तद्विपरीतधर्मास्ते तु पूर्वजन्मनि  
वैष्णवा भूत्वा वेदनिन्दा कृतवन्त इति तादृशेषु जन्म प्राप्तवन्तोपि सत्स्वेव प्रविष्टा  
ननु तेषु । तेन सतामिव तेषामपि धर्मादिनियन्तत्वाभावः सूचितः । ननु तदाका

न्तेष्वपि देशेषु चातुर्वर्ष्यस्यापि विद्यमानत्वाद्भोक्त्वप्रतियोगित्वेन त एव सतां धर्मादि-  
प्रवर्तने सदायाः कथं न भवतीति चेत्तत्राह—स्त्वपीडेति । चित्तस्थये हि सर्वेषां स्वध-  
र्मानुसन्धानं भवति । सतां चकराचदनुवर्तिनां च पीडया सर्व एव लोका व्यग्राः । सतां  
प्रसङ्गे पीडासंभवात्तदभावे धर्मादिसिद्धयभावाद्दृश्यता । तथासति किं कर्तव्यमित्या-  
काङ्क्षायामाह—कृष्ण एवेति । सर्वथा साधनाभावाद्दर्माभावेपि भक्तिवत्कल्पतरुस्वभा-  
वत्त्वेन सर्वधर्ममार्गीयफलतोष्यधिकफलपापकत्वेन श्रीकृष्ण एव गतिर्ममेत्येवंरूप  
आश्रय एव सर्वथा कार्य इत्याचार्याणां परमोक्तिरिति भावः ॥ २ ॥

एवं स्थलादिरूपतीर्थानामतथात्वमुक्त्वा जलादिरूपाणामपि तेषामतथात्वमाह—

**गङ्गादितीर्थवर्षेषु दुष्टैरेवावृत्तेष्विह ।**

**तिरोहिताधिदैवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ३ ॥**

गङ्गादितीर्थवर्षेष्विति । ननु 'गङ्गागङ्गेती'त्यादिनोक्तमाहात्म्यवतां गङ्गादीनां  
विद्यमानत्वात् कथं संसर्गदोषा बाधन्ते तत्राह दुष्टैरिति । 'नहि गङ्गासर्पं तीर्थम्' 'पा वै  
लसदि'त्यादिना च सर्वेभ्यस्तीर्थेभ्यो गङ्गाया एव वरीयस्त्वस्योक्तत्वाद्दोषानपि तीर्थी-  
कुर्वन्ती गङ्गैव गच्छति । एवंविधान्यतथाजातानि । किञ्च, अस्ति गङ्गायां त्रिरूपत्वमा-  
धिदैविकादिभेदेन । तत्र तीर्थरूपं तु दुष्टसम्बन्धादेव नष्टं, तथाहि—भगवता 'त्वं च रुद्रे'त्या-  
दिवाचयैर्जगन्मोहनार्थं पशुपतेः प्रवर्तितत्वात्तत्र यथा सर्व जीवन्तो मुमुर्षुवथ मुग्धा  
भवन्ति तदर्थं सर्वथा चित्तशुद्धयभावसाधनीभूततीर्थसम्बन्धाभावात् शिवेन स्वगणा  
गङ्गादिषु स्थापितास्ते तु गणशस्तिष्ठन्ति तत्रत्यानां प्राणापगमे यथा तीर्थसम्बन्धो न  
भवति तथा ते यतन्ते । तत्सम्बन्धाचीर्थरूपमेव नष्टं, तथाचोक्तं तैत्तिरीयके 'ये' तीर्थानि  
प्रचरन्ती'त्यादिना । अत एव तत्र मृतानामपि न तीर्थमरणफलपन एव तत्र मृताःसन्तो  
रुद्रपिशचं ते प्राप्नुवन्ति न दोषादिनिवृत्तिः काश्चादिषु मुमुर्षूणां मनुष्याणा  
मारभ्य तिरश्चामपि । ननु तत्र मृतानामपि ताराकर्मोपदेशं शिवः करोतीति श्रुपते  
तथा सति कथं जलस्थलरूपाणां तेषां न शुद्धिसाधकत्वं, सर्वं, तत्तु पूर्वोक्तधर्म-  
वत्कालाभावे न तु तद्वति । यदा 'त्वं चै'तिभगवद्भुक्तेः पूर्वं शिवस्तथाऽऽजरोत्तदमन्तरं  
तथाकरणे आत्माभङ्ग एव स्यादिति न तथा कृतवान् । तथापि निदर्शनस्येदानीमपि  
दृश्यमानत्वात्कथं न करोतीति तत्र शिवोपि वैष्णवत्वाद्भगवत्सम्मतमेव सर्वं करोति ।  
किञ्च, तयोपदेशं कुर्वन्नपि पूर्वं वैष्णवत्ववैष्णवसत्सङ्गेनापराधाद्वा दैत्यापेशे जाते स्वस्थान-  
माहात्म्यार्थमागन्तुकदोषपरिहारपूर्वकं पूर्वरूपतासंपादकत्वेन भगवद्दर्माभिदत्तान्छिव

एव तारकमण्डोपदेशं करोतीत्यर्थः । अत एव 'प्रापञ्चितानि चीर्षानि नारायणपरा-  
द्भमुखम् । न निष्पुनन्ती'त्यादिना भगवद्बहिर्मुखस्य पञ्चित्रीकरणसामर्थ्यं तीर्थादिष्वपि  
नास्तीति जातेपि तत्सम्बन्धे न कृतार्या भवन्तीत्यर्थः । तथा चोक्तं निबन्धे 'तीर्थाद्वापि  
या मुक्तिः कदाचित्कस्यचिद्भवेत् । कृष्णप्रसादयुक्तस्य नान्यस्येति विनिश्चय' इत्यादि  
सर्वमनवयम् । ननु गङ्गादेवराधिदैविकरूपस्य विप्रमानत्वात् कथं तादृशरावरणं तीर्थ-  
रूपनाशो वा भवेत्तत्राहुः तिरोहितेति । जलस्यलरूपेभ्य आपिदैविकं तिरोहितं  
तस्माद्दृष्टमगो अक्षरात्मकमपि तथैव जातम् । एवं सर्वेषां सर्वसायनागमे आश्रय एव  
साधीयानिति तत्रेवाहुः—कृष्ण एवेति ॥ ३ ॥

तथाप्यन्तरङ्गबहिरङ्गभेदेन सर्वधर्मप्रवर्तकानां सतां विद्यमानत्वात्कथं धर्मादि-  
नाशः स्यात्तत्राह—

अहङ्कारविमूढेषु सत्सु पापानुवर्तिषु ।

लाभपूजार्थयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ४ ॥

अहङ्कारविमूढेष्विति । यदि तेपि तथाभूता भवेयुस्तदा कार्यं सिद्धयेदेव  
तेषां स्वरूपमाह—परीक्षिति यस्मिन् विद्यमाने तच्छरणागतौ क्लेशव्यवसायो जातः स  
एवाहङ्कार इदानीं सत्सु प्रविष्टः । यथैतत्सम्बन्धात्परमधार्मिकस्यापि विष्णुरातस्य कलेः  
स्थानदानेन त्रिदोषोत्पत्तौ मौढ्याद्वाहाङ्गणातिक्रमे मुद्दिजातिवै सतामपि तत्सम्बन्धात्स-  
धर्मपरित्यागे बुद्धिजातेत्यहङ्कारेण सर्व एव मुग्धा जाताः । एतेन कर्तृगामप्यसाधकत्वमुक्तं  
भवति । यदि कर्तार एवाहङ्कारेण विमुग्धा जातास्तदा तत्कृतौ धर्माद्यसाधकत्वं भिषाश्रय-  
मिति कैमुतिकन्याय उक्तो भवति । अल्पमौढ्ये प्रकारान्तरेणापि तदपगमः स्यात्तद-  
भानार्थं विदोषेण मूढत्वम् । तत्र निदर्शनं पापानुवर्तिष्विति । पापा निषिद्धकृतिभि-  
स्तत्फलरूपतां प्राप्तास्तद्विषयभोक्तृत्वेनानुवर्तित्वम् । ननु तेपि स्वोपनीव्यान् परम-  
धर्मादिकं बोधयन्त इव दृश्यन्ते कथं ते तादृशास्तत्राह टाभेति । लाभार्थं या पूजा  
तस्यामेव कृतप्रयत्ना न तु भगवत्कीर्तिनादौ सन्तुष्टाः सन्तः परस्परं पूजयन्ति, तादृशी  
तु नापेक्षिता । यद्वा, स्वलाभार्थं स्वपूजार्थं च यत्नो येषामेतेनैतादृशकर्तृणां मन्त्रादीना-  
मसत्त्वाद्द्वय्याणाप्यसाधकत्वमुक्तम् । अत्र कर्तृणां तदनुवर्तिनामेव द्रव्यादीनामसाधक-  
त्वात्पूर्वं कर्तृगामसाधकत्वमुक्त्वा पश्चाद्द्वय्याणामुक्तं, निमित्तोक्तौ नैमित्तिकोक्तिरपि सद्-  
च्छन्ते । तेन 'स्वयं नष्टः परान्नाशयती'तिन्यायेन सतां परम्पराप्येवंरूपैव जाता । यदि तेन  
स्वस्य परस्य वासुम्भिकं सिद्धयेत्तदा ते सन्त एव भवेयुः । वृत्त्यर्थं तेषां तत्करणत्वाद्  
'भिषाशया च घृह्णन्ति मम नामानि चाशुन । अमुल्क्यास्ते जनाः पार्यं दूरतः परिवर्तयेत्'

इत्यादिवाच्यैस्तेषामपत्यात्वमतिपादनाद्धर्मध्वजिवत्कृत सर्वपकृतमाय भवतीत्येवरूप-  
सर्वनाथ उपस्थिते सर्वेषा सर्वकार्यसाधक आश्रय एवाचार्यैरुपदिष्ट इति तथाह  
कृष्ण एवेति ॥ ४ ॥

ननु गोपालादिताम्रिकवैदिकमन्त्रहरिदिनप्रतादीना विद्यमानत्वात्तेषा च सर्वेषा  
शोधकरत्वात्कथं न तैस्तेषा पूर्वरूपत्वं तत्राह—

**अपरिज्ञाननष्टेषु मन्त्रेष्वन्नतयोगिषु ।**

**तिरोहितार्थदेवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ५ ॥**

अपरिज्ञाननष्टेष्विति । तेषा परितो ज्ञानमद्भान्पुररीकृत्य फलपर्यन्त स्वरूपनि  
धारः । किञ्च, गोपालादिमन्त्राणामपि वाराङ्गनावचीकरणादिक फलत्वेन श्रूयत इत्यन  
र्थोपशर्म सासाङ्गक्तियोगमधोभजे' इतिवचनाद्भगवन्मन्त्राणा विषयादिपुण्ययोगोऽपरि-  
ज्ञानादेव भवति तेनानर्थोपशमस्य भक्तियोगस्य विषयाद्युपयोगे जाते नष्टत्वम् । गुरु  
कुलादासब्रह्मचर्यशुद्धाश्रयणान्ध्यापराहित्यपूर्वकपठिताना वेदमन्त्राणा 'अनिच्छयापि  
सस्पृष्टो दहत्येव हि पात्रक' इतिन्यायेन सभ्यकृत्वात्पर्याज्ञानेभ्यःपयनमात्रेणैव सर्व  
साधकत्वात्कथं नष्टत्वं तत्राह—अन्नतयोगिष्विति । ज्ञतेष्वयोगो येषा, प्रनानामयोगो  
येष्विति वा । 'अधुना ह्यधिकारास्तु सर्व एव गता कला' इतिवचनात्कृतानामपि  
तेषामन्नतयोगित्वम् । ननु किमित्यायासपूर्वरु कर्मत्रतादीनामसाधकत्वं साध्यते, किञ्च,  
'दानव्रततपोहोम' 'जन्मान्तसहस्रेष्वित्यादिवाच्यै कर्मप्रतादीना भक्तावपि साध-  
कत्वं मन्तव्य, तेन 'प्रसालनाद्भि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरमिति-न्यायेन पूर्वमेव तेषाम  
साधकत्वं न क्लृप्तं शक्यमिति चेत्तत्राह—सत्य, ज्ञानि वाक्यानि प्राञ्जलिक्रमक्तिपराणि ।  
नो चे'न्न रोपयति मा योगो न साङ्गद्य धर्म उद्भव । न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्त  
न दक्षिणाः' 'मा हि पार्थ उपपाश्रित्य येपि स्यु पापयोनय । स्त्रियो वैश्यास्तथा  
शूद्रास्तेपि यान्ति परा गतिम्' 'नायमात्मा पवचनेन लभ्यो न मेरया न बहुना  
श्रुतेनेत्यादिश्रुतिस्यूतयश्च न सङ्गच्छेयु । भक्तौ भगवदिच्छैकसा यत्वं धर्माद्यसाध्यत्वं  
श्रोमत्स्वामिचरणैर्भक्तिहेतुनिर्णये प्रपञ्चितपत्नीति नात्रोच्यते । तेन पुष्टिभक्तौ तु 'न  
रोधयति मा योगो न साङ्गद्य धर्म एव च । न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो गया भक्तिर्ममोर्जिता'  
'न दानं न तपो नेज्या न शौचं न प्रतानि च' 'श्रीयतेमलय भक्त्या हरिरन्यद्विदम्भवत्म्'  
'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' 'नाह वेदैर्न तपसैत्यादिवाक्यसहस्रैर्भगवद्वि  
कृतानामेव तत्प्राप्ति । तस्माद्भगवदाश्रये कर्मादीन्पयोजकानि । ननु 'तावत्कर्माणि कुर्वान  
न निर्विद्येत यावतेत्यादिवचनैर्भगवदीयानामपि नित्यनैमित्तिकप्रतादिकरणमावश्यकं

तत्र वेदसाधकत्वं वदति भगवान् तदा भगवदीयानामपि नित्यनैमिचित्ककर्मादिकरण-  
मेकादशीमन्याष्टमीत्रतादिकरणं च व्यर्थमिति चेत्, न । तत्र पूर्वं भगवदीयानां कर्मत्र-  
तादीनां स्वरूपं वक्तव्यं तदेवाहुः—‘यस्ये विभूतीर्षत्रतस्वत्संपादय नः प्रमो’ ‘यत्करोषि  
यदभ्रासि यज्जुहोषि ददासि यत्’ इति । तेन भगवदीयकृतकर्माणां ‘यस्य स्मृत्ये-  
त्यादिवाक्यैः पूर्णत्वमन्येषामपूर्णत्वादसाधकत्वम् । तेन स्वमार्गायाणां तेषां तेभ्यो भेदः  
सूचितः । वस्तुतस्तु यत्र विवेकैर्यमकथादिरहितानामपि तस्मात्स्वत्राकामतयापि  
कृतानां कर्मत्रतादीनामसाधकत्वं क्रियाथर्यम् । एतेन सर्वसाधनरहितानामेव भगवदाश्रये  
मुख्योधिकार इति ज्ञेयम् । तेन तेषां सपरिकराणां ज्ञानाभावे त एव नष्टा जाता इत्याह  
नष्टेष्विति । ननु तदधिष्ठातृदेवतानां तद्रूपसाधनैकलभ्यप्रसादानां विद्यमानत्वात्कथमप-  
रिज्ञानं नाशो वा भवेत्तत्राह—तिरोहितेति । अर्थरूपा देवास्तेभ्यस्तिरोहिता जातास्तेन  
गतसाराः सन्तस्तेपि तथैव जाता इति भावः ॥ ५ ॥

ननु तान्त्रिकमन्त्राद्यभावेऽप्यग्निहोत्रचान्द्रायणकृच्छ्रादीनां विद्यमानत्वात्कथं न  
कार्यसिद्धिरत्राह—

नानावाद्विनष्टेषु सर्वकर्मत्रतादिषु ।

पापण्डैकप्रयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ६ ॥

नानावाद्विनष्टेष्विति । जैमिनिकणादगौतमादयो हि ऋषयस्तामसास्तैः  
श्रुतिमृत्यर्यविचारे क्रियमाणे कालसम्बन्धादुद्विक्तस्वभावाः सन्तः कर्मत्रतादिप्रतिपादने  
निरन्तरसन्तन्वमानपरस्परमतिकूल्यसत्तर्हैरज्जितव्यवसाया जाताः । एवं वस्तुनिर्घा-  
मावे तदन्तेरासिपरम्पराया अपि पूर्वापेक्षयाप्यधिकदोषयुक्तत्वेन विविधकृतकौपेत्तैः पर-  
स्परविरुद्धैर्नानावादरूपैस्तद्वाक्यैः सर्वाण्येव कर्मत्रतादीनि विशेषेण नष्टानि । फलस्वरू-  
पाभ्यां वस्तुनिर्घाराभावे तद्रूपेण कृतमकृतमायं भवतीति तथा । अत एव भगवतापि  
तथैवोक्तं ‘ज्ञात्वाज्ञात्वा च कर्माणि जनोयमधिधिष्ठति । त्रिदुषः कर्मसिद्धिः स्यात्तया  
नाविदुषो भवेत्’ इति । तन्मार्गस्यैव तथात्वात् । ननु साङ्गाग्निहोत्रप्रतिपादकानां  
श्रुतिस्मृतीनां विद्यमानत्वेन तदनुसारेण तरुकारोपि दृश्यन्ते कथं तस्मात् इति  
चेत्तत्राह—पापण्डैकेति । परम्पराणामर्थं धर्मवत्कृत्वा प्रदर्शनं पापण्डः, प्राकृतनित्यवैकृत-  
काम्यस्वरूपसाधनफलादिपरिज्ञानाभावे चित्तादिशुद्धयसाधकत्वात् ‘अग्निहोत्रं गवालम्भं  
संन्यासं परपैतृकम् । देवरात्रि सुतोत्सर्गि कलो पञ्च विवर्जये’दित्यादिवाक्याच्चेपादिदानीं  
निषिद्धत्वात्कृता अप्याभासवमेव प्राप्नुवन्तीति तत्कृतेरपि पापण्डार्थमेवैको यः प्रकल्पेण

पत्नस्तद्रूपत्वमेव स्यात् । एवमखिलकर्षत्रतानां पापण्डैकप्रयत्नरूपत्वे जाते ब्रह्मसत्राणा-  
मप्याश्रय एव साधोयानित्याह—कृष्ण इति ॥ ६ ॥

नन्वेवं सर्वथा सदोषाणां तृतीयैकमार्गप्रवेशयोग्यानां 'गतिर्ममे'त्येवंरूपोक्ति-  
मात्रेण कथं भगवान् सर्वनिरपेक्ष आश्रयो भवेत्तत्राह—

**अजामिलादिदोषाणां नाशकोऽनुभवे स्थितः ।**

**ज्ञापिताखिलमाहात्म्यः कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ७ ॥**

अजामिलादिदोषाणां नाशक इति । ब्रह्मवादे भगवतः सर्वाश्रयत्वेषु सर्वाथै  
भक्तिमार्गीयाश्रयस्य जीवानां सर्वथा कर्तव्यत्वादाश्रयभवेने महानुत्साहो भवति । यथा  
स्वनाममाहात्म्यख्यापनार्थं नामोक्तिमात्रेणैवानजामिलादीनां सर्वदोषनाशको जातः स्वपरि-  
पक्षपातादेवं भक्तिमार्गे पक्षपातात्तन्मार्गीयाश्रयमाहात्म्यख्यापनार्थं तादृशुक्तिमात्रेणैव  
भगवैस्तथाविधो भवतीति भावः । तथापि क जीवाः क्षुद्रतयाः क वा ब्रह्मादिदुर्लभकथो  
भगवानित्याश्रयभवननिश्चयाभावे कथं वा तद्गुदिश्य तयोक्तौ प्रवृत्तिरपि भवेत्तत्राह—  
अनुभवे इति । अत्रास्पच्छब्दोऽध्याहर्तव्यः । एवमाश्रयभवनोन्मुखो भगवान् मदनुभवे  
स्थित इति निर्णोताथोहं वदामीत्यज्ञानान्यथाज्ञानमतिकूलतर्कैर्नान्यथा बहूनीपमिति  
भावः । चित्तस्पातयात्वेपि निरन्तरं तदनुसन्धानपूर्वकमेतदुक्तौ सत्यां मदनुभूतो भग-  
वानप्यनुभवच्छब्दो भवतीति मदीपैरेतदेवं सर्वथा कार्यमित्यलं विस्तरेण । ननु यथा क्लृप्तौ  
श्रुत्यादिभिर्ज्ञातमाहात्म्या अपि धर्माद्यो नष्टाः तथा 'कलौ दशसहस्राणि विष्णुस्यक्षयति  
येदिनीम् । तदर्द्धं जाह्नवीतोषं तदर्द्धं ग्राम्यदेवता' इत्यादिना बाह्यतो भगवत्साविध्या-  
भावे तन्माहात्म्यमपि तिरोभूतं भविष्यतीति कथमज्ञातमाहात्म्यास्तदाश्रयोक्तौ प्रवृत्ता  
भविष्यतीति चेत्तत्राह ज्ञापितेति । ज्ञापितमखिलमखिलेभ्यो भक्तेभ्यो वा श्रुतिपुराणश्रो-  
भागवतादिना साक्षात्परस्परया वा माहात्म्यं यस्य येनेति वा । तथाहि 'तस्माद्वा एतस्मा-  
दात्मनः' इत्यादिनाऽखिलेभ्यः सृष्टिकर्तृत्वबोधिकया श्रुत्या माहात्म्यख्यापनम् ।  
प्रवृत्तिपराणां कर्ममाहात्म्यरूपमेव भगवन्माहात्म्यज्ञापनं तत्रैव पर्यवसितमपित्वात्तोपा-  
मेवं ज्ञानिनामुपासकानां च । भक्तानां तु साक्षादेव यथा 'जन्मभो ददृशे इदम्' यथाच  
'गरिमाणं त्रिशोर्बहुं न सेहे गिरिकूलवत्' एवमूलमूर्तुषा सर्वत्र ॥ ७ ॥

ननु 'आकाशात्प्रति तेषां यथे'स्यादिनोक्तप्रकारेण देवतान्तरं भगवतापि सर्व-  
शुक्तौ भगवत्सम्बन्धो भविष्यतीति किमित्येवं निर्वन्धेनाश्रय परोच्यते तत्राह—

**प्राकृताः सकला देवा गणितानन्दकं बृहत् ।**

**पूर्णानन्दो हरिस्तस्मात् कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ८ ॥**



प्राकृता इति । ब्रह्माणमारभ्य सर्वे एव देवाः प्राकृता आधिभौतिकान्तःपा-  
तित्वात् । बृहदक्षरं गणितानन्दकं स्वार्थं 'कः' प्रत्ययः । तेन जीवेषु निरानन्दहेतुनाम-  
गणितानां विद्यमानत्वाद्यत्र गणितानन्देऽपि न तेषामानन्दपूर्णता मत्र प्राकृतैः कः पुरुषार्थः  
सिद्धयेत् । तथापि त्रिसाडक्षरयोरपि तदात्मकत्वाविशेषेण कार्यसिद्धयभावे कथं मूलाश्रय-  
णेन सर्वेषां तद्भवत्वैस्त्वैवं निश्चीयते तदाहुः—पूर्णेति । नहि पूर्वोक्तैः कैरप्यानन्दः पृथगेति ।  
तत्र दुःखापगमाभावे पूरितोऽप्यपूरित एव स्यात्त्राड—हरिरिति । यत्र 'प्यस्यैवानन्दस्या-  
न्यानि भूतानि मात्रासुषुजीवन्तीत्यादिना देवेष्वपि तद्वच्चमस्ति तथापि न तथा तेषा-  
मन्यपूरकत्वं तदव्योयस्त्वात् । निरवधिदारिद्र्यस्य सावधिधनेनापगमस्यासवयत्वादेवम-  
पूर्णानपि प्रतिरन्वनिटचिपूर्वकं कृष्ण एव पूर्णान् करोति । 'तं सत्यमानन्दनिधिं  
भजेते'तिन्यायेन स एव तथाकर्तव्य इति दिक् ॥ ८ ॥

ननु भवद्भिरेव भक्तपुत्रचर्यं तदाह्वयं वा विवेकधैर्याश्रयाग्न निरूपितत्वात्कथमि-  
तरनिरपेक्षः स एवोच्यते, किञ्च, आश्रयरसायाश्च तदुभयरसानन्तरं च भवद्भिरेवोक्त-  
त्वात्कथं श्रीमतामेव वाक्यं विसंवादि भवतीति चेत्तत्राह—

**विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितस्य विशेषतः ।**

**पापासक्तस्य दीनस्य कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ९ ॥**

विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितेति । विवेकं स्वममार्थनेपि निजेच्छात् करिष्य-  
तोत्प्रेषंनिश्चयरूपः । मित्रशुषुषापाकारणेन सर्वथा दुःखसहनं धैर्यम् । भक्तिः प्रेमल-  
क्षणा तत्साधनरूपा वा । आदिशब्देन मर्यादाभक्तिराश्रयानां ग्रहणम् । यत्र भक्तिराभ्यं  
नान्येन सिद्धयत्यन्वयसाध्यं तु भक्तेरातुपङ्क्तिं फलमेवंरूपभक्तिव्यतिरेकेणापि यत्रा-  
श्रयात्सर्वसिद्धिस्तत्र विवेकादिनिरपेक्षः स तथाभवतीति किं वाच्यम् ? । अत एव तत्रा-  
प्यन्ते 'कलौ भक्त्यादिमार्गं हि दुःसाध्या'इत्युक्तम् । किञ्च, विवेकादिस्वितो तदव-  
लम्बेनाश्रयाभावेऽपि स्थितिर्भवति तथासत्याश्रयस्वरूपं साङ्गं न सिद्धयेत्, धर्मतद्विप-  
रीतादिसापत्ताभावे तुमयथाऽप्यनुद्धार्य एव रथात्तेन धर्मपक्षमवलम्ब्य धर्मादिविरतीवता-  
धनवतामेव सर्वतः कार्यसिद्धयभावनिश्चये दैन्यानिर्भावतामेव शरणागतताविनाश्रये  
मुष्णोपिकार इति तथैवोक्तं पापासक्तस्य दीनस्येति । आसक्तिः कारयेन मनसा  
वाचा तदकरणे रथात्प्रशक्तिः । अयमेव विशेष आश्रयविशेषः । एवं सति धर्मादिप्रतियो-  
गित्वं कलौ मुलभमित्याश्रयाधिकारस्य बहुधा विद्यमानत्वात् सर्वैरेव स एव सर्वथा कार्ये  
इत्याह कृष्ण एवेति । नन्येवं सति तु पापकल्पास्यैवाश्रये कारणत्वसादातीति चेत्तत्राह  
'कृष्ण एवे'ति । अत्रैवं प्रतिभाति—एवकारेण यत्र विवेकधैर्यभक्त्यादीनां भगवद्दया-

णामप्यकारणं तत्र तत्करणे तदाश्रयस्य विद्यमानत्वादन्याश्रये जाते भगवदाश्रयानु-  
त्पत्तिः स्यादतो यथा धर्मादित्यागस्तयाऽधर्मस्यापीति भावः । तर्हि पूर्ववाक्यमनुपपन्न-  
मिति चेत्, न, अनवबोधात् । तथाहि 'एवं सति धर्मादितियोगित्वं कलौ सुलभ-  
मित्याश्रयाधिकारस्य बहुधा विद्यमानत्वादेतस्यायमर्थः—विवेकधर्मभक्त्यादिसहितास्तु  
कलौ दुर्लभाः पापकर्तारस्तु सुलभा इति तदधिकारस्य बहुधा विद्यमानत्वम् । ननु  
धर्मकर्तारस्तु सर्वथा तत्रानधिकारिणः परमधर्माकर्तार एवाधिकारिण इत्यायातमिति  
चेत् ? तत्रोच्यते । धर्मादिमतां विवेकधर्मभक्तिमतां चैतत्तत्वागपूर्वकं केवलाश्रयकरणं  
सहसा न भवति तेषु समीचीनत्वशुद्धेः । यथा मशुणा सर्वधर्मत्याग उपदिष्टे पार्थस्य  
त्वरूपेण शोकोदरचौ पुनः प्रभुणैव 'पापेभ्यो मोक्षयिष्यामीत्युक्तं, नोचेच्छरणधर्मे तद-  
संभवात्तनोचनरूपनमनुपपन्नं भवति तथैवैतेषामपि शोकसंभवः । परं तद्विपरीतवतां तु  
तेष्वसद्बुद्ध्या निस्साधनेष्वेव श्रीगोकुलेशास्त्रीकारप्राचुर्यात्तद्वलाच्च तत्यागः सुलभ इति  
सुप्रसूक्तं 'धर्मादितियोगित्व'मित्यनेनेति सर्वधर्मव्ययम् ॥ ९ ॥

ननु 'श्रेयांसि बहुविधानी'तिन्यायेन पतिबन्धकानां दृष्टादृष्टयेदाभ्यामुक्त्वा  
विद्यमानत्वात्कण्यमुक्तिपात्रेण चाहिष्टकर्मा भगवानाश्रयो भवेत्तत्राह—

सर्वसामर्थ्यसहितः सर्वत्रैवाखिलार्थकृत् ।

शरणस्थसमुद्धारं कृष्णं विज्ञापयाम्यहम् ॥ १० ॥

सर्वसामर्थ्यसहित इति । कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुमाभ्यादिरूपैः सहितः ।  
ननु तत्र दृष्टान्तनिर्देशनस्यादृश्यमानत्वात्कथं ज्ञायते तत्राह सर्वत्रैति । सर्वत्र योग्या-  
योगमविचारेणाखिलानामखिलान् वार्यान् करोति करिष्यत्यकार्पादित्यादिधर्मस्याविना-  
शित्वेन भगवति सर्वदाः विद्यमानत्वादाश्रयकरणे कोनव्यवसाय इत्यर्थः । तथापि भगवतः  
सर्वसमत्वात्सर्वमुक्तयनवसरेऽप्राथितः फलमुद्धरिष्यतीत्यत आह शरणारथेति । ये च  
शरणं गत्वा तस्मिन्नेव धर्मे स्थितास्तेषामुद्धारणे अप्राथितोपि भूक्तप्रयत्नः सर्वदेव वर्तते  
किं पुनर्मत्प्रार्थितः । यथा भूयुद्धारचिकीर्षायापि ब्रह्मणा भूयसा दुःखनिवेदनरूप-  
प्रार्थनानन्तरमेव समर्थो तद्द्विरः श्रवणानन्तरमेव साक्षाद्भगवानवतीर्षामानुद्धरिष्यतीत्येव-  
निश्चयो जात एवं मत्प्रार्थितो मदीयानामाश्रयो भवत्येवैति निश्चित्य मदीयैः सर्वथा सर्व  
परित्यज्याश्रय एव कर्तव्यः । एतदेवापिसंघायाचार्यैरुक्तं कृष्णं विज्ञापयाम्यहमिति ।  
यदा, मदीयैरेवं स्तुतिरेव कार्या, मत्प्रार्थितः स्वयमेवाश्रयो भविष्यति नात्र पुष्पन्कृतिमपेक्षते ।

नवभिय स्तुतिः पूर्वं कर्तव्याश्रयणेषुभिः ।

दशमे स्वस्य धर्मस्य साधकं ज्ञापयेद्दुषः ॥ १० ॥

प्राकृता इति । ब्रह्माण्णपरम्य सर्व एव देवाः प्राकृता आपिभौतिकान्तःपा-  
 तित्वात् । बृहदक्षरं गणितानन्दकं स्वार्थं 'कः' प्रत्ययः । तेन जीवेषु निरानन्दहेतूनाम-  
 गणितानां विद्यमानत्वाद्यत्र गणितानन्देपि न तेषामानन्दपूर्णता तत्र प्राकृतैः कः पुरुषार्थः  
 सिद्धचेत् । तथापि विशदक्षरयोरपि तदात्मकत्वाविशेषेण कार्यसिद्धयभावे कथं मूलाश्रय-  
 णेन सर्वथा तद्भरयैवेत्येवं निधीयते तत्राहुः—पूर्णेति । नहि पूर्वोक्तैः कैरप्यानन्दः पूर्णतः ।  
 तत्र दुःखापगमाभावे पूरितोप्यपूरित एव स्यात्तत्राह—हरिरिति । यन्'प्यस्यैवानन्दस्या-  
 न्यानि भूतानि मात्रानुपजीवन्तीत्यादिना देवेष्वपि तद्वत्त्वमस्ति तथापि न तथा तेषा-  
 मन्यपूरकत्वं तदल्योपस्त्वात् । निरवधिदारिद्र्यस्य सावधिधनेनापगमस्यासक्यत्वादेवम-  
 पूर्णानपि प्रतिबन्धनिवृत्तिपूर्वकं कृष्ण एव पूर्णान् करोति । 'तं सत्यमानन्दनिधिं  
 भजेते'तिन्यायेन स एव तथाकर्तव्य इति दिक् ॥ ८ ॥

ननु भवद्भिरेव भक्त्युत्पत्त्यर्थं तदात्मार्थं वा विवेकधैर्याश्रयाणां निरूपितत्वात्कथमि-  
 त्तनिरपेक्षः स एवोच्यते, किञ्च, आश्रयपरज्ञायाश्च तदुपपरत्तानन्तरं च भवद्भिरेवोक्त-  
 त्वात्कथं श्रीमतामेव वाक्यं विसंवादि भवतीति चेत्तत्राह—

विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितस्य विशेषतः ।

पापासक्तस्य दीनस्य कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ९ ॥

विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितेति । विवेकं न्यैवपार्थनेपि निजेच्छातः करिष्य-  
 तीत्येवंनिश्चयरूपः । निवृत्त्युपायाकारणेन सर्वथा दुःखसहनं धैर्यम् । भक्तिः प्रेम्ण-  
 क्षणा तत्साधनरूपा वा । आदिशब्देन मयादिभक्तिसाधनानां ग्रहणम् । यत्र भक्तिमाध्यं  
 नान्येन सिद्धयत्यन्यसाध्यं तु भक्तेरानुपङ्गिकं फलमेवंरूपभक्तिव्यतिरेकेणापि यदा-  
 श्रयात्सर्वसिद्धिस्तत्र विवेकादिनिरपेक्षः स तथाभवतीति किं वाच्यम् ? । अत एव तत्रा-  
 प्यन्ते 'फलैः भक्त्यादिमार्गा हि दुःसाध्या'इत्युक्तम् । किञ्च, विवेकादिरिपतो तदव-  
 लम्बेनाश्रयाभावेपि स्थितिर्भवति तथासत्याश्रयस्वरूपं साङ्गं न सिद्धचेत्, धर्मेतद्विप-  
 रीतादिसाधनाभावे तूभयथाप्यनुदाय एव स्यात्तेन धर्मपक्षपतलम्ब्य धर्मादिविपरिणता-  
 धनवतामेव सर्वतः कार्यसिद्धयभावनिश्चये दैन्याविभावित्रतामेव क्षरणागताधित्वाश्रये  
 सुखयोश्चित् इति तथैवोक्तं पापासक्तस्य दीनस्येति । आगतिकः कायेन पतता  
 वाचा तदकरणे स्यात्तुमशक्तिः । अयमेव विशेष आश्रयविधौ । एवं सति धर्मादिप्रतियो-  
 गित्वं कलौ सुलभमित्याश्रयाधिकारस्य बहुधा विद्यमानत्वात् सर्वैरेव स एव सर्वथा कार्यं  
 स्यात् कृष्ण एवेति । नन्येवं मति तु पापकरणस्यैवाश्रये कारणत्वमायातीति चेत्तत्राह  
 'कृष्ण एवेति । अत्रैवं प्रतिभाति—एवकारेण यत्र विवेकधैर्यभक्त्यादीनां भगवद्गमा-

पापप्यकारणं तत्र तत्करणे तदाश्रयस्य विद्यमानत्वादन्याश्रये जाते भगवदाश्रयानु-  
त्पत्तिः स्यादतो यथा धर्मादित्यागस्तथाऽधर्मस्यापीति भावः । तर्हि पूर्ववाक्यमनुपपन्न-  
मिति चेत्, न, अनवबोधोपात् । तथाहि ' एवं सति धर्मादिप्रतियोगित्वं कलौ सुलभ-  
मित्याश्रयाधिकारस्य बहुधा विद्यमानत्वाद्देतस्यायमर्थः—विवेकधर्मभक्त्यादिसहितास्तु  
कलौ दुर्लभाः पापकर्तारस्तु सुलभा इति तदधिकारस्य बहुधा विद्यमानत्वम् । ननु  
धर्मकर्तारस्तु सर्वथा तत्रानधिकारिणः परमधर्माकर्तार एवाधिकारिण इत्यायातमिति  
चेत् ? तत्रोच्यते । धर्मादिप्रतियोगित्वं विवेकधर्मभक्तियुक्तं चेत्त्यागपूर्वकं केवलाश्रयकरणं  
सहसा न भवति तेषु समीचीनत्वमुद्वेः । यथा प्रभुणा सर्वधर्मस्याग उपदिष्टे पार्थस्य  
वशकरणे शोकरोराचौ पुनः प्रभुणैव 'पापेभ्यो मोक्षयिष्यामी'त्युक्तं, नोचेच्छरणधर्मं तद-  
संयत्तान्योपनयनमनुपपन्नं भवति तथैवैषामपि शोकसंभवः । परं तद्विरतीतवतां तु  
तेष्वसद्बुद्ध्या निस्साधनेष्वेव श्रीगोकुलेशाङ्गीकारमात्रायात्तद्वलाच्च तस्यागः सुलभ इति  
सुप्रुक्तं 'धर्मादिप्रतियोगित्व'मित्यनेनेति सर्वमनवयम् ॥ ९ ॥

ननु 'श्रेयांसि बहुविधानी'तिन्यायेन प्रतिबन्धकतां दृष्टादृष्टमेदाभ्यामुक्त्या  
विद्यमानत्वात्कथमुक्तिमात्रेण चाङ्घ्रिदुर्मा भगवानाश्रयो भवेत्तत्राह—

**सर्वसामर्थ्यसहितः सर्वत्रैवाखिलार्थकृत ।**

**शरणस्थसमुद्धारं कृष्णं विज्ञापयाम्यहम् ॥ १० ॥**

सर्वसामर्थ्यसहित इति । कर्तुमकर्तुमन्ययाकर्तुमपमर्थ्यादिरूपैः सहितः ।  
ननु तत्र दृष्टान्तनिर्देशनस्यादृश्यमानत्वात्कथं ज्ञायते तत्राह सर्वत्रैति । सर्वत्र योग्या-  
योग्यविचारेणाखिलानामखिलान् धार्यान् करोति करिष्यत्यकार्पादित्यादिधर्मस्याविना-  
शित्वेन भगवति सर्वदा विद्यमानत्वादाश्रयकरणे कोनध्यवसाय इत्यर्थः । तथापि भगवतः  
सर्वसमत्वारसर्वमुक्तपन्नसरेऽपार्थितः कथमुद्धरिष्यतीत्यत आह शरणस्थेति । ये न  
शरणं गत्वा तस्मिन्नेव धर्मे स्थितास्तेषामुद्धरणे अपार्थितोपि भूकृतप्रपन्नः सर्वदेव वर्तते  
किं पुनर्वैतार्थितः । यथा भूमुद्धारचिकीर्षामामपि ब्रह्मणा भूम्या दुःखनिवेदनरूप-  
प्रार्थनानन्तरमेव समाधौ तद्गिरः श्रवणानन्तरमेव साक्षाद्भगवानवतीर्षामानुद्धरिष्यतीत्येवं-  
निश्चयो जात एवं मत्प्रार्थितो मदीयानामाश्रयो भवत्येवेति निश्चित्य मदीयैः सर्वेषां सर्व  
परित्यज्याश्रय एव कर्तव्यः । एतदेवाभिसंघायाचार्यैर्दत्तं कृष्णं विज्ञापयाम्यहमिति ।  
यद्वा, मदीयैरेवं स्तुतिरेव कार्या, मत्प्रार्थितः स्वयमेवाश्रयो भविष्यति नात्र युष्मत्कविमपेक्षते ।

नवभिश्च स्तुतिः पूर्वं कर्तव्याश्रयणेषुभिः ।

दशमे स्वस्य धर्मस्य सापकं ज्ञापयेद्बुधः ॥ १० ॥

पाठफलमाह—

कृष्णाश्रयमिदं स्तोत्रं यः पठेत्कृष्णसन्निधौ ।

तस्याश्रयो भवेत्कृष्ण इति श्रीवल्लभोऽब्रवीत् ॥ ११ ॥

कृष्णाश्रयमिदं स्तोत्रमिति । कृष्ण आश्रयो भवत्यस्मादिति कृष्णाश्रय इति स्तोत्रस्य नाम । फलाधिकारिणां पाठविधिं चाह—सन्निधौ सेव्यस्य गुरोर्वा । उभयोरभारे स्मरणीयस्य वा । धर्मादिषु सर्वेषु असाधनतानिधयः कृतार्थताविषयिण्युक्तटेज्जा च पूर्वा-  
वधिः। अल्पे बहु च साध्ये भगवान् स्वतः सर्वसाधको भवतीत्येवंरूप आश्रयसिद्धिरुत्तरावधिः।  
तावदिदं पठनीयमिति सिद्धम् । यः पठेत् कृष्णसन्निधौ । य एव पठेत्तददर्माविष्टान्तः-  
करणः अतयाभूतो वा । ततः किं स्यादत आह तस्याश्रयो भवेत् । क इत्याकाङ्क्षाया  
कृष्ण इति । कृष्णः सदानन्दः । तेन तदाश्रितानां व्रजस्यानामिव सर्वेषा दुःखात्यन्ताभावः  
परमानन्दसम्बन्धशक्तौ भवतः । नन्वत्र किं प्रयाणमेतत्स्तोत्रपाठमात्रेणैव स तथा भवेद्  
श्रीवल्लभ इति । यथा श्रिया वल्लभो भगवोस्तयापमपीति भगवद्वाग्यमिवास्यापि वाच्यं  
वेदात्मकमिति मूर्ध्नि धृत्वा तथैव कर्तव्यमित्यर्थः । किञ्च, भगवद्दर्माणं स्वरूपं तद्दर्शनिरता  
एव जानन्तीति तदुक्तौ न विपत्तिपक्षैः कैरपि भाव्यमिति दिद् ॥ ११ ॥

व्रजपतिरतिमित्यं यः प्रदातुं कृपातः

सकलनिगमसारं तत्त्वतः संजगाद् ।

स्वजनपरिवृद्धो धुरु संततेः संशयानाम्

स भवतु मम सर्वे विद्वलेशः सुखेशः ॥ १ ॥

रुचिरचरणपुग्मं हृत्पवेशेतिविग्मम्

निजमनसि विहारं ध्वस्तगादान्यकारम् ।

प्रजिनवनवृद्धारं मातृलोकोपहारम्

सकलनिगमसारं भावयेद्विद्वलेशम् ॥ २ ॥

आश्रयस्तोत्रविष्टतिं द्वारिकेश्वरशुद्धीः ।

आश्रितानां चरारेणामाश्रयद्रापनेच्छया ॥ ३ ॥

इति श्रीमद्गोपीजनवद्भक्तभारणीकानानन्दारिकेश्वरेण पिरभिता

कृष्णाश्रयविष्टतिः सम्पूर्णा ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

## कृष्णाश्रयस्तोत्रम् ।

श्रीमद्भजराजचरणविरचितचिचरणविभूषितम् ।

यद्वाक्यमात्रकथनात् स्वीयत्वं मनुते हरिः ।

ते कृष्णवल्लभाचार्याः प्रसीदन्तु सदा मयि ॥ १ ॥

तदनुग्रहतः कृष्णाश्रयस्य विवृतिर्भवा ।

विधीयते यतः कृष्णाश्रयः फलति सर्वथा ॥ २ ॥

अथ श्रीमदाचार्यचरणा भगवदाज्ञानुसारेण जनानुद्भूतं निबन्धादौ सपरिकरं भक्त्यादिमार्गानुपदिश्य मत्पदं कलेराधिक्येन तेषां दुःसाध्यत्वमाकलय्य विवेकधैर्याश्रय-ग्रन्थे विवेकधैर्याभ्यां सहितमाश्रयपुपदिष्टवन्तः, तत्स्वरूपं च तत्र सर्वथा सर्वदा भगव-च्छरणगमनात्मकं सिद्धं, तथाच तत् कायिकादिभेदेन त्रिधा भवति, तत्र प्रथमं मानसं शरणं भावनात्मकं भवति, पश्चात् कायिकं तद्वैयंण्यं सिद्धयति, वाचनिकं तु 'प्रपन्नं पाहि मां प्रभो' इत्यादिमार्थनारूपम् । एतादृशस्य भवनेपि कारणं भगवदनुग्रह एवेति 'सोहं तवाङ्घ्री'त्यङ्घ्रस्तुतौ 'असतां दुराणं तच्चाप्यहं भवदनुग्रहमीश मन्य' इति स्वानुभवेन मतिपादिबम् । शरणागतिलक्षणं च तत्रैवोक्तं 'यदि सङ्घातमनुगुणं कुर्यात् त्याजयेद्वा तदा शरणागतिः सिद्धेति ज्ञातव्य'मित्यारभ्य 'सत्सेवाहविर्भगवत्स्वरूपज्ञानेच्छा भगव-च्छासपरत्वं चान्तिमजन्मज्ञापक'मित्यन्तेन । 'अनुगुणपक्षस्तु सुगम' इति च । एवं सत्ये-त्तादृशी शरणागतिर्विवेकधैर्याश्रयोक्तरीत्यापि साम्प्रतं कठिनेति भक्त्यादिमार्गाणां दुःसा-ध्यत्वे हेतुरपि तत्र नोक्त इति निबन्धादायुक्तोपि दुर्ज्ञेय इति तदुक्तिपूर्वकं साङ्गां वाच-निकीं तां सांप्रतं साधनत्वेन विवक्षन्तः कृष्णाश्रयस्तोत्ररूपेणाहुः—सर्वैत्यादि ।

अथ टीकारम्भे श्रीरघुनाथचरणौर्ग्रन्थावतरणिका कापि नोक्ता परन्तु 'य आविशासीदोरेस्मिन् फलौ श्रीवल्लभाभिधः । निजदास्यं स नो देयादव्यादपि दुराश्रया-दि'तिमद्भक्तवाक्ये फलिस्वरूपस्य श्रीमदाचार्येण प्रार्थनस्य च कथनेन सूचितेति न विरोधः । एवं कल्याणरायैरपि कृष्णाश्रयस्य सर्वसाधकत्वं सर्वसाधनानामसाधकत्वं चोक्तमिति तेषामप्यपमेवाश्रयः । श्लोकसङ्ख्यातात्पर्ये तैरेवमुक्तं 'भक्तानां भगवानेव

पाठफलमाह—

कृष्णाश्रयमिदं स्तोत्रं यः पठेत्कृष्णसन्निधौ ।

तस्याश्रयो भवेत्कृष्ण इति श्रीवल्लभोऽब्रवीत् ॥ ११ ॥

कृष्णाश्रयमिदं स्तोत्रमिति । कृष्ण आश्रयो भवत्यस्मादिति कृष्णाश्रय इति स्तोत्रस्य नाम । फलाधिकारिणां पाठविधिं चाह—सन्निधौ सेव्यस्य गुरोरा । उभयोरभारे स्मरणीयस्य वा । धर्मादिषु सर्वेषु असाधनतानिश्चयः कृतार्थताविषयिण्युत्कटेच्छा च पूर्वावधिः । अल्पे बहु च साध्ये भगवान् स्वतः सर्वसाधको भवतीत्येवंरूप आश्रयसिद्धिरुत्तरावधिः । तावदिदं पठनीयमिति सिद्धम् । यः पठेत् कृष्णसन्निधौ । य एव पठेत्तददर्पाविष्टान्तःकरणः अतयाभूतो वा । ततः किं स्यादत आह तस्याश्रयो भवेत् । क इत्यासाहायां कृष्ण इति । कृष्णः सदानन्दः । तेन तदाश्रितानां ब्रह्मस्यानामिव सर्वथा दुःखात्यन्ताभावः परमानन्दसम्बन्धोक्तौ भवतः । नन्वत्र किं ममाणमेतत्स्तोत्रपाठमात्रेणैव स तथा भवेत् श्रीवल्लभ इति । यथा श्रिया वल्लभो भगवोस्तयायमपीति भगवद्गणपतिवास्यापि वार्षं वेदात्मकमिति मूर्ध्नि धृत्वा तथैव कर्तव्यमित्यर्थः । किञ्च, भगवद्दर्पणां स्वरूपं तदर्पनिरता एव जानन्तीति तदुक्तौ न विप्रतिपद्यैः कैरपि भाव्यमिति दिक् ॥ ११ ॥

प्रजपतिरतिमित्यं यः मदातुं कृपातः

सकलनिगमसारं तत्त्वतः संगमात् ।

स्वजनपरिवृद्धो ध्रुक् संततेः संशयानाम्

स भवतु मम सर्वे विद्वलेभ्यः सुकेशः ॥ १ ॥

रुचिरचरणयुग्मं हृत्प्रवेशेतिमित्यम्

निजमनसि विहारं ध्वस्तगादान्यकारम् ।

ब्रजिनवनकुठारं प्राप्त्योकोपहारम्

सकलनिगमसारं भावपेद्दिहलेभम् ॥ २ ॥

आश्रयस्तोत्रविद्यति द्वारिकेश्वरशुद्धधीः ।

आश्रितानां चकारेमायाभयज्ञानेच्छया ॥ ३ ॥

इति श्रीमद्गोपीजनपद्मभारणीकानन्दारिकेश्वरंण चिरञ्जिवा

कृष्णाश्रयसिद्धिः सम्पूर्णा ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

## कृष्णाश्रयस्तोत्रम् ।

श्रीमद्भजराजचरणविरचितविवरणविभूषितम् ।

यद्वाक्यमात्रकथनात् स्वीयत्वं मनुते हरिः ।

ते कृष्णवल्लभाचार्याः प्रसीदन्तु सदा मयि ॥ १ ॥

तदनुग्रहतः कृष्णाश्रयस्य विवृतिर्भया ।

विधीयते यतः कृष्णाश्रयः फलति सर्वथा ॥ २ ॥

अथ श्रीमदाचार्यचरणा भगवदाज्ञानुसारेण जनानुद्धर्तुं निबन्धादौ सपरिकरं भक्त्यादिमार्गानुपदिश्य प्रत्यहं कलेराधिक्येन तेषां दुःसाध्यत्वमाकलय्य विवेकधैर्याश्रय-ग्रन्थे विवेकधैर्याभ्यां सहितमाश्रयगुणदिष्टवन्तः, तत्स्वरूपं च तत्र सर्वथा सर्वदा भगव-च्छरणगमनात्मकं सिद्धं, तथाच तत् कायिकादिभेदेन त्रिधा भवति, तत्र प्रथमं मानसं शरणं भावनात्मकं भवति, पश्चात् कायिकं तद्वैयर्थ्येण सिद्धयति, वाचनिकं तु 'प्रपन्नं पाहि मां प्रभो' इत्यादिमार्थनारूपम् । एतादृशस्य भवतेऽपि कारणं भगवदनुग्रह एवेति 'सोहं तवाद्घो'त्यकूरस्तुतौ 'असतां दुराणं तचाप्यहं भवदनुग्रहमीश मन्य' इति स्वानुभवेन मतिपादिवम् । शरणागतिलक्षणं च तत्रैवोक्तं 'यदि सङ्घातमनुगुणं कुर्यात् त्याजयेद्वा तदा शरणागतिः सिद्धेति ज्ञातव्य'मित्यारभ्य 'सत्सेवार्चिर्भगवत्स्वरूपज्ञानेच्छा भगव-च्छासपरत्वं चान्तिपज्जन्मज्ञापक'मित्यन्तेन । 'अनुगुणपक्षस्तु सुगम' इति च । एवं सत्ये-वाद्यौ शरणागतिविवेकधैर्याश्रयोक्तरीत्यापि साम्प्रतं कठिनेति भक्त्यादिमार्गाणां दुःसा-ध्यत्वे हेतुरपि तत्र नोक्त इति निबन्धादायुक्तवोपि दुर्ज्ञेय इति तदुक्तिपूर्वकं साङ्गां वाच-निकीं तां साम्प्रतं साधनत्वेन विवक्षन्तः कृष्णाश्रयस्तोत्ररूपेणाहुः—सर्वेत्यादि ।

अथ टीकारम्भे श्रीरघुनाथचरणैर्निबन्धावतरणिका कापि नोक्ता परन्तु 'य आनिरासीद्वोरेस्मिन् कलौ श्रीवल्लभाभिषः । निनदास्यं स नो देयादज्यादपि दुराथया-दि'तिपद्मन्त्रवाक्ये कलिस्वरूपस्य श्रीमदाचार्येषु प्रार्थनस्य च कथनेन सूचितेति न विरोधः । एवं कल्याणारायैरपि कृष्णाश्रयस्य सर्वसाधकत्वं सर्वसाधनानामसाधकत्वं चोक्तमिति तेषामप्यपमैवाश्रयः । श्लोकसङ्ख्यातात्पर्ये तैरेवमुक्तं 'भक्तानां भगवानेव



देशादिपूसाधनरूपश्रुतिविधुमर्यरूपथेति, दशलीलानिरूप्य इति, दशविधभक्तसंज्ञे इति, स्तोत्रार्थरूपे भगवति दशविधाः 'दश वै पशुषु प्राणा' इति श्रुतेः प्राणाना दशस्त, ते यथा सायनास्तथा स्तोत्रमपीति शब्देऽपि दशविधाः । अतोऽर्थपशुकूलयन् शब्द एवाय साधक इति बोधनाय प्रार्थनाव्याजेन स्तुवन्तीति । द्वारिकेश्वरैस्तु 'आमासथ निरोधधे'ति वाक्यलिखनेन 'नच लक्षणलक्षितया यजमानपञ्चमा इदा भक्तयन्ती'ति वदन् दशसहस्रा-  
 पूरकसर्वफलरूपोत्र विवक्षित इत्याशय उद्घाटित । तथा च 'या या साधनसपत्तिः पुरुषा यंचतुष्टये । तथा त्रिना तदाप्नोति नरो नारायणाश्रय' इति वाक्यलिखनेनाश्रयशब्दः कृष्णाश्रय इति स्तोत्रनामेति तेषामाशयः । मम त्वन्यदपि प्रतिभाति-यथाङ्कुरेण प्रसन्न प्रत्यक्षो भगवान् स्वाधिकारात्सारेण शरणतया प्रार्थितस्तथाऽऽचार्यैरपि स्वप्रकृतिभक्ति-  
 मार्गफलदानानुभूतः प्रसन्नः स्वोक्तिपठनमात्रेणाश्रयदान कर्तुं सपयविशेषे प्रार्थितस्त्वदौ कृतवानिति तज्जापकमिदं प्रार्थनायदित स्तोत्रमिति । अत्र च भगवान् गतित्वेन प्रार्थ्यते अस्त्विति क्रियाध्याहारेण । तत्र गतिशब्दः फले रुढः, 'सा काष्ठा सा परा गति।' 'अन्ते या मतिः सा गति।' 'नान्या भवेद्गतिरिन्दमे'ति श्रुतिपुराणादौ तथाप्रसिद्धे । समाप्तौ तु 'तस्याश्रयो भवेत्कृष्ण' इत्याश्रयत्व पाठफलत्वेनोक्तम् । आश्रयशब्दश्च सहाये रुढः, 'सिद्धाखिलायां पशुमूदनाथयाः' 'भवद्भिरमृत प्राप्त नारायणशुजाश्रयै' रित्यादौ तथाप्रसिद्धेः । कृष्णशब्दश्च परब्रह्मवाचकः 'कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृत्तिवाचकः । तयोरेव पर ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते' इति तापनीयश्रुतेः, 'पापकर्मणो ह वै'ति च । ब्रह्मवै-  
 वर्ते श्रीकृष्णजन्मखण्डे श्रीरविमण्युद्गाहोत्तर श्रीयज्ञोदा प्रति भगवद्वाक्येऽपि 'कृषिस्तृष्टव-  
 चनो णश्च सद्भक्तिवाचकः । अथापि दातृवचनस्तेन कृष्णं विदुर्बुधा' 'कृषिश्च परमानन्दे णश्च तदास्यकर्मणि । तयोर्दाता च यो देवस्तेन कृष्णः प्रकीर्तित' 'कोटिजन्मार्जिते पापे कृषिः क्लेशे च वर्तते । भक्ताना णश्च निर्वाणे तेन कृष्णः प्रकीर्तितः' इति त्रिधा निरुक्तः । तत्र तृतीयेन 'पापकर्मण' इति तापनीयश्रुतिरपवृद्धिता । गौतमीयनन्द्रे अष्टादशार्णव्या-  
 ख्याया च 'कृषिशब्दश्च सत्तार्थो णश्चानन्दस्वरूपकः । सुखरूपो भवेदात्मा भावानन्दमप-  
 ल्वत' इति । बृहद्गीतमीयेऽपि 'कृषशब्दो हि सत्तार्थो णश्चानन्दस्वरूपकः । सत्तास्त्रानन्द-  
 योर्योगाच्चित्पर ब्रह्म चोच्यते' इत्येताभ्यां पूर्वश्रुतिरुपवृद्धिता । अत्र प्रथमे सर्वशब्दप्रवृत्ति-  
 निमित्तभूता सत्ता भावपदेनात्मपदेन च व्याख्याता 'रूप यत्तत्राहुरन्यक्तमाद्य ब्रह्म ज्योति-  
 निर्गुणं निर्विकारम् । सत्ताप्राप्तमिति दशमस्कन्धवाक्येन भगवत्स्वरूप तेन सम्बन्धिदाना-  
 त्सत्तैव भिद्यमाना गवादिषु जातिरित्युच्यते तस्या सर्वे शब्दा व्यवस्थिताः, ता 'प्रातिप-  
 दिकार्थं च धालर्थं च प्रचक्षते सा जातिः सा महानात्मा तामाहृत्स्वलादय' इति वाक्य-  
 पदीयोक्तरीत्या मूलसद्रूपाभिन्नानन्दरूपत्वेन कृष्णत्व विवृत, द्वितीये च प्रत्याहारन्यायेन

सदानन्दयोस्तत्रित्तं निवेद्य सविदानन्दतया परब्रह्मत्वेन कृष्णत्वं विवृतमितिभेदाः ।  
अन्या अपि निरुक्तयो ब्रह्मवैवर्ते नामकरणसङ्गे गर्गोक्ताः पञ्च सन्ति तास्ततो ज्ञातव्याः ।  
आनन्दे च निरवधित्वमेव परमफलतावच्छेदकमित्यानन्दमयाधिकारणे स्थितम् । 'यो नै  
भूमा तत्सुखं नान्ये सुखमस्ति भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य' इति छन्दोगश्रुते-  
'यतो वाचो निर्वर्तन्ते' इतितैत्तिरीयश्रुतेश्च । फलं द्विविधं, साध्यमधिष्यद्गन्धं च । तत्रार्थं  
यथा परश्चोच्छिदा । द्वितीयं यथा योगादात्मसुखम् । तत्र परे ब्रह्मण्यारूपत्वस्याभावा-  
द्वितीयरूपतैव वाच्या । तत्र हेत्वपेक्षायां 'यमेवैष वृष्णे तेन लभ्य' इतिश्रुत्या स्वीयत्वेन  
वरणे यत्साक्षादर्शनं तदेव हेतुः । तथा सति 'नायमान्या प्रवचनेने'त्यादिपूर्वाद्धे उपलक्ष-  
णविधया साधनान्तरनिषेधश्रावणेन वरणद्वारकं स्वस्यैव साधनत्वमुक्तं भवति । तदेव च  
ब्रह्मवैवर्तेषुहृणेष्वपि सिद्धम् । तदेव सर्वं हृदि कृत्वा मूढानां सन्देहनिवारणापाहृ-  
शास्त्रेऽनुरूद्धयमार्गाणां कालादीनां सन्निपत्याराञ्चोपकारकाणामसाधकत्वं दोषांश्च वदन्त  
उत्तरीत्या स्वस्मिन् फलरूपत्वमतिरोभावयित्वा तत्र साधनरूपोऽस्त्विति प्रार्थयन्ति—

सर्वमार्गेषु नष्टेषु कलौ च खलधर्मणि ।

पापण्डप्रचुरे लोके कृष्ण एव गतिर्मम ॥ १ ॥

सर्वे च ते मार्गाश्च । 'मृजूषु शुद्धौ' मृज्यन्ते सोध्यन्त इति । 'मृग अन्वेपणे'  
मृगयन्ते तत्तत्फलार्थिधिरन्विष्यन्त इति मृगाः, स्वार्थेषु च एव मार्गाः 'योगात्मयो मया  
प्रोक्ता वृणां श्रेयोविधित्वाया । ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कश्चने'त्येकादशे  
भगवतोक्ताः स्वयात्पुत्रायाः तेषु नष्टेषु अनुशास्त्रदौर्लभ्यादिना तिरोहितेषु कृष्णो  
व्याख्यासरीतिको भगवानेव मम गतिःसाधनफलरूपोऽस्त्विति सम्बन्धः । अत्र 'यस्य च  
भावेन भावलक्षणमित्यनेन भावलक्षणा सप्तमी । अनुशास्त्रदौर्लभ्यादौ हेतुः—खलध-  
र्मणि कलौ लोके पापण्डप्रचुरे सतीति । चोवकारणे । खलोन्मर्दुषो धर्मो यस्मिन्नसौ  
खलधर्मा 'धर्मादिति' केवलादि'त्यनेनामिच् । खलधर्मरे हेतुलोकानां पापण्डप्रचुर्यम् ।  
पापण्ड उपधर्मो जैनदयादिसदृशस्तस्य प्राचुर्यं बाहुव्यम् । कलावित्त्वधिकरणे सप्तमी ।  
आधारत्वं चात्राभिव्यापकतया कालिवसत्त्वेन गौणोपश्लेषिकतया वा । तथाचैतादशे  
फलादीदशे लोके सर्वमार्गेषु नष्टेषु सत्सु तथैत्यर्थः । 'वष्टी चानादरे' इत्यनेनानादरे वा  
कलाविति सप्तमी । हेतुहेतुमद्भावस्तु समभिव्याहारादेव लभ्यः । तथाचैतादशे लोके एव-  
मार्गेषु सत्सु कलिवनादस्य तद्रूपं तयस्ता तथैत्यर्थः । 'कलेदोषनिषेधे राजन्' 'कलि  
संधानपन्त्यायां' इत्यादिवाक्येषु कलिस्तुतेस्तत्र साधनत्वप्रमथारणाय कीर्तनस्यापि  
यथाकथञ्चित्कृतस्य न फलसाधकत्वमितिवोधनाय चात्र कलिनोकयोर्दोषरूपयन्म् ।

'कृष्ण'पदार्त्तं'पदाद्य नैतदाद्यविरोध इति बोध्यम् । तत्रात्र जलभेदोक्तरीत्या कीर्तयित्-  
 त्त्रिधित्य भगवानाश्रयणीय इति यावः । पदा, तादृशे लोके मार्गेषु नष्टेषु 'बादवादांस्त्य-  
 जेचक्रान् पशं कंच न संशयेद्दि'तिसप्तपस्कन्धीयनारद्रवारयानुसन्धानेन विरसित-  
 मार्गस्यैव दृढप्रणाम् कलौ तत्तन्मार्गाणां साधकत्वनरतमभावादिकल्ले नष्टे । चक्रा-  
 रोत्र तन्नासामुवाचकः । तथा सति तथेत्यर्थः । एवमपि बोध्यम्, प्रथमव्याख्यायान्तीतौ  
 कलौ सर्वमार्गेषु नष्टेष्वितिपदानां, कलावित्त्यस्यैव वाग्रिमश्लोकपञ्चकेननुपपन्नो बोधः ।  
 एतद्रीत्या व्याकृन्तः प्राञ्चः सर्वेपि विशेषान्वितरपैवकारस्यान्ययोग्यपञ्चउद्कतपां-  
 शकलावतारव्यवच्छेदं तेनाहुः, तदस्मारूप्यभिप्रेतम् । श्रीरघुनाथास्तु 'स्वरपर्मिणी'ति  
 पाठान्तरमप्युपन्यस्य स्वरश्राप्तौ धर्मधेति कर्मधारयान्तरधीयन्त्यपं बहुव्रीहिविग्रहे  
 'कर्मधयपापतिथिवाहुः, चकारं च कलिपतिरिक्तकालसमुपायकपाहुः, पापानरणे  
 मपत्यतिरिक्तसाधनाभावस्य सर्वकालेषु तौल्यादिति तेषामाश्रयः । मार्यनर तु सर्वमने-  
 प्यन्यार्या ॥ १ ॥

एवं कालदोषेण सङ्गदोषं मार्गनाशं चोपपाद्य कान्यस्य साधारणत्वेन वैशानाव-  
 साधारणत्वेन तदपेक्षयान्तरदृत्वाच्च च 'काश्यादिपुरां यदि सन्ति लोके तासां तु पत्रे  
 मपुरैव धन्या । या जन्मवीजोत्रनमृत्युदाहेर्दृगां चतुर्धा विदधाति मुक्तिमि'रसादिभिर्द-  
 शस्तावकवारयैः साहायसाधकत्वस्य देशान् पुण्यानाथयेन मन्त्रकैः साधुभिः धिक्कानि-  
 त्यादिभिर्वाचपैर्माणांनुकृन्तायाथ मतीतेः मत्तं तपात्तत्रमं वारयितुं कालेन देवदोषा-  
 दिकं वदन्त आहुः—म्लेच्छेत्सादि ।

म्लेच्छाकान्तेषु देशेषु पापैकनिलयेषु च ।

सत्पीडान्यग्रलोकेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ २ ॥

अत्रापि भावज्ञाना समर्था । साधारणे । कलावित्त्यनुपपन्ने । देशेषु म्लेच्छा-  
 र्थनेः अप्यज्ञानमेव अतितामगीरिति यावत्, तैराकान्तेषु व्याप्तेषु । व्याप्तिरथ तदा-  
 ज्ञानरूपस्थितिकत्वम् । तदाज्ञानुत्तरस्थितौ को दोष इत्यत्र भाहुः पापेत्यादि । 'पुके  
 मुग्धान्पक्वेतथाः' कल्पुष्मार्थः कर्मधारयः । पापानां व्यभिचारगोप्येदीर्गवार्दानामेक-  
 निलयेषु मुग्धस्यानेषु । ते हि लुब्धाः कामिनो रिमाद्य, तन्मन्त्र व्यभिचारादिकं  
 कुर्वन्ति चोपादिकं वारयन्ति च । नदन्तोक्तयोश्च अपि पैशुन्यव्यभिचारिणा तथा  
 विदधतीत्येव दोष इत्यर्थः । ननु न सर्वे तादृशा इति नैव दोष इत्यनो दोषान्तरमाहुः—  
 सत्पीडेत्यादि । मत्तां स्वधर्मवर्तिनां पीडया विप्याभिधारदृष्टादिमन्त्रेणेन एवमा  
 चक्षिन्ना लोकाः सम्पद्यो नना वेधिति । एवं च कलिदृशदोषे चन्तारो दोषा उक्ताः ।

गामसप्रभुकरवम्, पापवाहुत्वम्, सत्पोडा, सद्गुदेश्येत्येतैरुपद्रवेण सम्यक्स्तुयशजया, सर्व-  
पापेषु जष्टेषु सत्सु कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥ २ ॥

एवं कालेन देशदोषादिकमुपपाद्य तेषां घातत्वेन नलस्य चान्तःप्रवेशवहिः-  
सम्बन्धाभ्यां शोभकतया देशापेक्षयाप्यन्तररङ्गत्वात्तत्र च 'सद्यः पुनरिति गात्रेयं दर्शनादेव  
नार्मदम्' 'कावेरी च महापुण्या प्रतीची च यद्दानदी । ये पितृन्ति जलं तासां मनुजा  
प्रजुजे'वर' 'प्रायो भक्ता भगवति वासुदेवेमलाशयाः' इत्यादिश्रावयैः साधकत्वमागा-  
नुकूलत्वप्रतीतेस्तेषु तथात्परमं वारयितुं कालेन वत्रापि दोषं नदन्व आहुः गङ्गादि-  
तीर्थवर्षेण्विति ।

गङ्गादितीर्थवर्षेषु दुष्टैरेवावृतेष्विह ।

तिरोहिताधिदैवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ३ ॥

इह भारतवर्षे गङ्गादीनि यानि तीर्थश्रेष्ठानि तेषु दुष्टैः कर्मणा भावमेवेन च ये  
दूषितास्तैरेव वेष्टितेषु । अत्रापि भावलक्षणैव सप्तमी । तथाच 'किंचाहं न सुवं यास्ये  
नरा मय्यामृजन्सपयम् । मृजामि तदपं कुत्र राजंस्तत्र विचिन्त्यतामि'तिनवमस्कन्धे भगी-  
रथं प्रति गङ्गावाक्यादुप्रावरणेन तेष्वपि शक्तिकौण्ड्यदोष इत्यर्थः । ननु 'सायबो  
न्यासिनः शान्ता ब्रह्मिष्ठा लोकराजनाः । हरन्त्यथं तद्गङ्गात्तेष्व्रास्ते ह्यधिद्विरि'ति  
तत्रैव गङ्गां प्रति भगीरथवाक्यात्तादृशां सङ्गादिना तन्निवृत्तेस्तस्य प्रायिकत्वान्नायं दोष  
इत्यत आहुः तिरोहिताधिदैवेष्विति । देवानां समूहोदैवम्, दैवे इत्यधिदैवं, देव-  
समूहे विद्यमानं गङ्गादेदैवतात्पम्, तिरोहितं अधिदैवं यस्मिंस्तत्तिरोहिताधिदैवम् ।  
तथाच देवसंसदि विद्यमानं यद्गङ्गादेराधिदैविकं रूपं तच्चिरोधानाच्छक्तिकौण्ड्यता-  
दवस्थमित्यर्थः । यद्वा, तिरोहित आधिर्षस्य तच्चिरोहिताधि, तादृशं दैवं देवसमूहो  
येष्विति । 'तत्रेषां न प्रियं यन्मनुष्या विद्युरि'ति 'विप्रस्य वै संन्यसतो देवा दारादिरू-  
पिणः' । विप्रं कुर्वन्त्ययं दारपानाक्रम्य समिपात्परभि'ति श्रुतिस्मृत्युक्तदिशा मनुष्य-  
क्तिस्तेषां न प्रियेति तन्निवृत्त्यर्थं वाराहपादादौ मुक्त्यभावाद्य भगवत्प्राधान्यादत्र तीर्थादीं  
दुष्टेष्वविश्य प्रतिबन्धन्तस्तिरोहिताधयो भवन्त्यतः शक्तिसद्भावेपि दोषतादवस्थमवतः  
कृष्ण एवेति पूर्ववदित्यर्थः । एतेन 'तीर्थादावपि या मुक्तिः वदाचित्कस्यचिद् मरेत् ।  
कृष्णपसादसुक्तस्य नान्यस्येति विनिधय' इतिनिबन्धोक्तौ मुक्तिरपि प्रत्यसादि-  
रूपा दर्शिता ॥ ३ ॥

अतः परं 'न ह्यम्ययानि तीर्थानि न देवा गृच्छिन्नामयाः । ते पुनन्त्युह्यत्वेन  
दर्शनादेव साधव' इतिश्रावयावद्रोक्षयान्तररङ्गत्वेन तेषां च सत्त्वस्य 'प्रसङ्गभगवं पाशमापयनः

भवयो विदुः । स एव साधुषु कृतो मोक्षद्वारमपावृतम् 'सतां प्रसङ्गात्' 'सन्त एतस्य छिन्दन्ति' 'सत्सङ्गेन हि दैतेया' इत्यादिवाक्यैः साधकत्वपार्यानुकूलत्वप्रतीतिस्तत्र तया-  
त्वभ्रमं वारयितुं कालकृतं सत्सु दोषं वदन्त आहुः अहङ्कारेत्यादि ।

अहङ्कारविमूढेषु सत्सु पापानुवर्तिषु ।

लाभपूजार्थयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ४ ॥

अत्रा'र्हाणां कर्तृत्व'इत्यनेन तद्वैपरीत्ये सप्तमी । कलौ सत्सु मार्गमचारकेषु पुरु-  
षेष्वहङ्कारेण स्वपापिडत्याभिमानेन विशेषतो मूढेषु सत्सु । तयात्वे गमकूपमाहुः  
पापैःत्यादि । पापाः पापकवारी राजसास्तामसाथ म्लेच्छादयस्तदनुवर्तिषु तदुपजीवि-  
केषु । अकूरादेः कंसाग्रनुवृत्तिवदनुवर्तित्वेऽप्यदोष इति तत्रावृत्त्यर्थं विशेषणान्तरं लाभे-  
त्यादि । लाभो द्रव्यादेः, पूजा उन्नतिः, अर्थशब्दो इन्द्रान्ते ध्रुतः मत्येकं सम्बन्धते,  
तेन तदर्थं यत्नो वाद्याभ्यन्तर उद्यमो येषामिति । एतद्व्यं विमूढत्वज्ञापकम् । तपाच  
मार्गमचारकेष्वेतादृशेषु जातेषु सतामभावात्सङ्को दुरापास्त इति सर्वमार्गेषु नष्टेषु कृष्ण  
पथेति पूर्ववत् ॥ ४ ॥

अतः परं सतां दुर्भिलतया तदपेक्षया मन्त्रमाधनजपादेः स्वमात्रसाध्यतयान्तर-  
ङ्गत्वाच्च च 'परिहान्यापि वेदांस्त्रीन् कर्माणि विहितानि च । गायत्रीपात्रपाश्रित्य द्विनो  
भवति निर्भयः' 'गायत्रीहीनवेदास्तु साङ्गा अपि च निष्कलाः' 'सर्वेषु वर्णेषु तथाश्रमेषु  
नारीषु नानाद्वयनममेषु । दाता फजानामभिवान्छिताना द्रागेच गोपालरुमन्त्र एष'  
इत्यादिवाक्यैस्तच्चमन्त्राणां तयात्वप्रतीतिस्तेषु तयात्वभ्रमं वारयितुं तत्रापि कालेन दोषं  
वदन्त आहुः—अपरीत्यादि ।

अपरिज्ञाननष्टेषु मन्त्रेष्वव्रतयोगिषु ।

तिरोहितार्थदेवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ५ ॥

अपरिज्ञाननष्टेष्विति । अत्रापि पूर्ववदनुपद्भो भावलक्षणा सप्तमी च । 'मन्त्रस्य च  
परिज्ञानमित्येकादशे भगवद्वाक्यात्परिज्ञानेन मन्त्रशुद्धिः । परिज्ञानं नाम गुरुपसत्त्वादिना  
विधानन्यासपाठार्थतात्पर्यविनियोगादीनां निर्धारस्तदभावोऽपरिज्ञानं, तेन नष्टेषु । स्वरू-  
पस्य श्रावणत्वेपि शुद्ध्यभावेन 'उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमि'तिवददृश्यमानेषु । क्वचि-  
त्कस्यचित्परिज्ञानदर्शनादोषान्तरमाहुः—अव्रतयोगिष्विति । 'अव्रता वचनोऽशौचा'  
इतिद्वादशस्कन्धे कलिधर्मपूक्तेर्मन्त्रोपाकरणदशापामेव गुरुबुलावासब्रह्मचर्याध्ययनधर्म-  
परिपालनाभावादव्रतेषु योगः सम्बन्धो येषा तादृशेषु । तेन दोषान्तरमप्याहुः तिरो-

हितार्थदेवेभ्यः । तिरोहितावमतीवपानौ अर्थः प्रयोजनं तात्पर्यं च देवोधिष्ठानी  
देवता तौ येषाम् । 'य एवं शुष्के स्याणौ निपिञ्चेजावेरश्रुतास्तः प्ररोहेयुः पलाशा-  
नी'त्यादिभ्रुतिमभृत्युक्तनिदर्शनक्यभिचारेण तद्भ्रुमयतिरोभावस्य स्फुटत्वान्न तेषामिदानी  
साधकत्वं न वा मार्गानुकूलत्वमतः कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥ ५ ॥

अतः परं यन्त्रापेक्षयापि स्वयमर्थां व्रतानामाचारस्य च पूर्वोक्तदोषाभावेन  
शुकरत्वेन चान्तरङ्गत्वात्त्र च 'स्वधर्मस्थो यजन्यज्ञैरनासीः काम उद्भव । न याति स्वर्गनरकौ  
यद्यन्यन्न समाचरेत्' 'इह लोके वर्तमानः स्वधर्मस्थोनघः शुचिः । ज्ञान विशुद्धमाप्नोति मज्जन्ति  
च यदृच्छये'त्येकादशस्कन्धीयैः 'केदारे उदकं पीत्वा पुनर्जन्म न विप्रते' 'तया चैकादशी  
दोका गर्भवासस्यङ्करी । एकादशीसर्प पुण्यं न भूते न भविष्यती'त्यादिभिः पुराणान्तरी-  
यैर्भगवद्वाक्यैः 'राचारप्रभवो धर्मो धर्मस्य प्रभुरच्युत' इत्यादिभिर्भारतीयैश्च वार्यैर्धर्मव्रता-  
दीनां साधकत्वादिप्रतीतेस्तेषु तथात्वन्नम वारयितुं तेष्वपि कालेन दोषं वदन्त आहुः  
नानेत्यादि ।

नानावादविनष्टेषु सर्वकर्मव्रतादिषु ।

पापण्डैकप्रयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ६ ॥

नानाप्रकारका ये वादाः स्वरूपफलादिविषयकास्तैर्विशेषेण स्वरूपेण फला-  
दिना च नष्टेषु तिरोहितेषु । तत्र स्वरूपतो नाशो घेदवाद्याना चादात् । 'यावज्जीवि-  
त्सुखं जीवेत्' 'अग्निहोत्रं त्रयीतन्त्रं त्रिदण्डं भस्मपुण्ड्रकम् । प्रज्ञासौख्यनिःस्वानां  
जीवो ब्रह्मति जीविका' इत्यादिरूपात् । फलतो नाशस्तु यथैकादशीव्रतादौ 'शुक्रेण  
मोहिता विमा दैत्यानां कारणे भुवि । तुष्टयथे दशमीविद्धं कुर्वन्ति मम वासरमि'ति  
शास्त्रे 'पुरा देवैर्कर्मिण्यैः स्वपद्च्युतिशङ्कया । सप्तमीरेधनालेन गोपिनं चाष्टमीव्रत'मिति  
स्कान्देज्यय च निषेधनिन्दार्द्रैर्धर्मस्वरूपनिर्णयस्य च विप्रगानसैषि तदनाहत्य  
स्वस्वब्रहेण वाक्याभासाहयापभासाथ समुदाहृत्य निर्णयन्ति, तादृशस्थले बोध्यः । एवं  
स्वधर्माचारयोरपि विपक्षितवत्या फलतो नाशो बोध्यः । वादे प्रयोजनरूपाहुः पापण्डेति ।  
पापण्डेन दम्भेन एकोन्यःप्रयत्न उद्यपो येषामिति । स च 'देशयत्नेमसु सीधुगन्त्रि-  
लनावचरासवामोदितैर्वीत्वा निर्भरमन्योत्तरसैरुचिद्रचन्द्रक्षयाः । सर्वज्ञा इति दीक्षिता  
इति चिरात्प्राप्तगिहोरा इति ब्रह्मज्ञा इति तापसा इति द्विरा धूर्तजगद्रञ्चते'  
इतिवद्बोध्यः । अत एव भूयोदर्शनत्स्वधर्मव्रतादीनामपि न स्वतः साधकत्वं न वा  
मार्गानुकूलत्वमतः कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥ ६ ॥

एवं पङ्क्तिर्भक्त्यादिभार्याणां दुःसाध्यताज्ञापनाय कालकृतसर्वसन्मार्गानात्तुभोयन-  
मुत्वेनाश्रयणस्योपायत्वं साधितम्, तदिदं तदा दृष्टीभवति यदा भगवानाश्रिते समा-  
हात्म्यमनुभावयति तदर्थमाहुः अजामिलादीति ।

अजामिलादिदोषाणां नाशकोऽनुभवे स्थितः ।

ज्ञापिताखिलमाहात्म्यः कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ७ ॥

अजामिलादीति । अजामिलः पृष्ठस्कन्धे प्रसिद्धो दासीपतिर्ब्रह्मन्तुः । आदि-  
पदेन गजेन्द्राहल्याया, वृसिंहपुराणे नवमाध्याये मार्कण्डेयवृत्त्युपसङ्गे उक्ता नारकिणध,  
तेषां ये दोषा इहजन्मनि पूर्वजन्मनि च कृतानि पापानि तेषां नाशकः । एतेन तादृश-  
माहात्म्ये तदनुभावने च शब्दः प्रमाणमुक्तम् । प्रत्यङ्गमाहुः अनुभव इत्यादि । अनु-  
भवेऽस्माकं स्थितो विपयीभूतो ज्ञापितसमग्रमाहात्म्यः, एतेन प्रपन्नस्य प्रायातरणे सति  
प्रतिबन्धकाभावात्स्वयमेवमे माहात्म्यं गोचरीभवतीति ज्ञापितम् । ततश्च पूर्वपरं शब्दे  
भीमदाचार्यचरणोक्तौ बोधयत्र वा विश्वस्य भगवदाश्रयणे भगवानेव साधनान्तरापेक्षां  
विना सर्वं ज्ञापयंस्तद्गोचरो भवतीति सूचितम् । कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥ ७ ॥

एवमत्र शब्दप्रत्यङ्गाभ्यां पूर्वोक्तश्रुतिवशवैवादिरीत्या भगवानेव पुष्टिभार्या-  
याणां साधनमिति साधितमतः परं पूर्वोक्तश्रुतिगीतपीयतन्त्रोक्तरीतिकं भगवतः फलत्वं  
साधयन्ति प्राकृता इत्यादि ।

प्राकृताः सकला देवा गणितानन्दकं बृहत् ।

पूर्णानन्दो हरिस्तस्मात् कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ८ ॥

देवा-अष्टौ वसव, एकादश रुद्रा, द्वादशादिदेवा, इन्द्रः, मनापतिथेति त्रयसिद्धत्-  
वा, 'भस्मिन्वमो देवानां विष्णुः परमस्तदन्तरेणान्या देवता इत्यभ्यादयो विष्णवन्ताः । अत्र  
विष्णुः कालः, 'स विष्णवाख्योधिपशोसौ कालः फलयतां वर' इतिवाक्यात्तदन्ता वा ।  
अकारं ब्रह्मणां नाभातुकारं विष्णुं हृदये मकारं रुद्रं भूमध्य इति मणवपात्राधिष्ठातारो  
विश्वाद्यो वा प्रजापत्यन्ताः, शतानन्दिनो वा । ते सकलाः कला अंशस्तत्तदिताः, सर्वे  
प्राकृताः, प्रकृतिर्माया 'मायां तु प्रकृतिं विशादि'तिभूतेस्तदधीनाः । कालस्य शोष-  
कतया गुणानुरोधित्वेन गुणाधिष्ठातृणापभिमानित्वेन च प्राकृतत्वम् । बृहद्गतरं गणितान-  
न्दकं, गणितः 'स एको मनुष आनन्द' इत्यारभ्य शतानन्दिनां गणने 'स एको  
ब्रह्मण आनन्द' इत्युत्तरावधौ ब्रह्म गणितम्, अत एवमहृथात आनन्दो यत्र, स्वार्थे  
कस्तादृशम् । तेन तुरीयमोटिनिकिष्ठा ओंकारं सर्वेश्वरं द्वादशान्त इत्याद्युक्ता गुणावगारा  
अपि तत्रैव मविनन्तीति बोधितम् । हरिः पुरुषोत्तमोऽक्षरात्परः परः स उच्यते पुरुषः ।

‘अतोऽस्मि लोके वेदे च मयितः पुरुषोत्तम’ इत्यादिश्रुतिस्मृतिप्रतिपाद्यः । पूर्णानन्दः  
 शतानन्दसङ्घयाने ब्रह्मानन्दस्य सर्वपरत्वेन गणनया मनोवाग्मोचरतामेव प्रतिपाद्य  
 तदुच्यते। ‘यतो वाचो निवर्तन्तेऽप्याप्य मनसा सह । आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् विभेति  
 कुवथने’तीतिश्रुतावानन्दस्य मनोवाग्मोचरत्वकथनेन तदपेक्षयापिबभूवपश्चानवधित्वस्य  
 च बोधनात्तया । तस्मादानन्दे निवधित्वस्यैव परमफलतावच्छेदकत्वेन तस्य चात्रैव  
 विश्रान्तेः कृष्णः पूर्वोक्तरीतिकः मम परमफलरूपोस्त्विति पूर्ववत् ॥ ८ ॥

एवमष्टभिर्भगवत्संस्कृतविचारेणाश्रय एव सर्वया साधको न त्वन्यः कोपि मार्गः  
 सायक इति साधितम् । अतः परमाश्रयस्यापि साङ्गस्यैव साधकता विवेकधैर्याश्रये  
 सिद्धेति तदङ्गाभावेऽपि यथा स फलं साधयति तदुपायं चदन्त आहुः विवेकैवादि ।

**विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितस्य विशेषतः ।**

**पापासक्तस्य दीनस्य कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ९ ॥**

सर्वदुःखहर्ता भगवान् स्पेच्छातः सर्वं करिष्यतीत्येतद्विचारपूर्वकमनुसन्धानं विवेकः ।  
 सात्त्विकादीनां कायिकादीनां भौतिकादीनां त्रिविधदुःखानां प्रतीकारानाचरणेनोपेक्षणं  
 धैर्यम् । माहात्म्यज्ञानपूर्वकः सुदृढः स्नेहो भक्तिर्नवविधा च । आदिपदेन तदङ्गानि ।  
 साङ्गे ज्ञानकर्मणो च । ते रहितस्यैवेन यावत्साधनराहित्यं सूचिनम् । बाधकस्यामाहुः  
 विशेषतः पापासक्तस्येति । आसक्तिः सङ्गातिशयोपरिहार्यः मज्ज इति यावत् । एता-  
 वता नराणां स्त्रीणोपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायत इतिरावयस्मारणाद्भक्त्युत्पत्तौ प्रति-  
 बन्धकमपि सूचितम् । एवं बाधकद्वयसङ्घातेऽपि येनाङ्गेनाश्रयस्य सिद्धिस्तदाहुः दीन-  
 स्येति । एवं साधकाभावत्रायकसङ्घातार्थं जातया भ्रान्त्या दीनस्य । दौर्गत्यादेरनो-  
 जस्त्वं दैन्यम् । अनोजस एतादृशस्य कृष्ण एवेति पूर्ववत् । एवंपकारिकाया रत्नाने-  
 सतां दुरासत्त्वात् सतां मार्यादिकानां रत्नानां साधनान्तरेषु मृष्टेषु तु तादृशान्ति-  
 मपत्तिभ्यां तदुभयविलक्षणतया ‘सोऽहं तत्राङ्गी’त्यत्रोक्तानुग्रहस्य स्वस्तिनकारणत्वेन सत्ता  
 ज्ञाप्यते । एतादृशस्यापि फलसिद्धिर्गतायां ‘मां हि पार्ये न्यपाश्रित्य’ ‘अपि चेत्सुदारा-  
 च्यार’इत्यत्र ‘अप्यवराहस्य’ । अन्य पूर्ववत्पदे पश्येत्तीनां गतिरुक्ता न तु पापकर्मणाम्,  
 द्वितीये चानन्यमजनेन पापकर्मणां साधुत्वमुक्तं, न त्वाश्रयेणेति नैतद्भवमाश्रयेण सिद्धेर्ग-  
 फमिति शङ्क्यं, ‘सकृदेव मपन्नो यस्तवास्मीति च यो वदेत् । अययं सर्वभूतेभ्यो ददा-  
 त्वेतद्भक्तं हरेरितिगारुडात्, ‘सकृदेव मपन्नो यस्तवास्मीति च यो वदेत् । अययं सर्व-  
 भूतेभ्यो ददाम्येतद्भक्तं ममे’तिपुराणान्तरीपभगवद्वाच भागवत्सादृशे व्रते निधिते  
 ततो भगवदनुग्रहेणैव तत्र मृष्टावपि माहात्म्यज्ञानपूर्वकतेरस्यैव दारत्वनिश्चयादनन्य-



मातृसिद्ध्या, द्वितीयस्या'निरपमगुत्वं लोकमिमं प्राप्य भवस्व माश्रिति यजनशेषतया  
निरूपितत्वेन प्रथमस्य चाञ्जस्यात् । अतो नात्र कोऽपि चोचानसरः ॥ ९ ॥

एवं नवभिर्निवैकैर्याश्रयग्रन्थोक्ताङ्गाभावेऽप्येतदुक्तरीतिरुदैः न्येताप्याश्रयसिद्धिरिति  
बोधितम् । अतः परमेतस्याप्यहस्याभावे द्वाभ्यां साधनान्तरयाहुः सर्वसामर्थ्यवैत्यादि ।

सर्वसामर्थ्यसहितः सर्वत्रैवाखिलार्थकृत् ।

शरणस्थसमुद्धारं कृष्णं विज्ञापयाम्यहम् ॥ १० ॥

'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयत' इत्यादिश्रुतिभिः कर्तृमकर्तृमन्ययार्तुं च यावन्ति  
सामर्थ्यानि तत्सहितस्तदुपपादित'भजामिलादी'तिपद्येन । 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि  
भूतानि मात्राश्रुपनीवन्ति' 'एष होवानन्दयाती'त्यादिश्रुतिभिः सर्वत्र देशेषु नोवेषु  
चाखिलार्थानां कृत् 'आकेस्तच्छीलतद्धर्मसत्ताद्युकारि'त्यनेन ताच्छील्ये किप् कर्ता ।  
एवाहं कृष्णमहं जगदुद्धारार्थमाहूतो वैश्वानर आचार्यवर्यः शरणस्थानां शरणमार्ग-  
वर्तिनां समुद्धारं सम्पन्न आहूतमर्गमाप्पपरमफलपर्यंतमुद्धारं विज्ञापयामि । सामानाधि-  
करण्यादध्याहारानामात्राच प्रथमान्तद्वयपर्यंतस्यैव विशेषणं वा । तथाच तादृशैः स्या-  
भावेपि मयि विश्वासेनैतच्छरणमार्गारिधितौ श्रीमदाचार्यचरणकृपयैवास्माकमुद्धार इति  
निश्चयदाढ्येपि तत्कृतं साधनान्तरमनपेक्ष्य मद्रिज्ञापनादेवोदरिष्यतीत्यर्थः ॥ १० ॥

अतः परमेतन्निश्चयदाढ्यगमकं वदन्तो विज्ञापनप्रकारं स्वरूपं चाहुः कृष्णा-  
श्रयमित्यादि ।

कृष्णाश्रयमिदं स्तोत्रं यः पठेत् कृष्णसन्निधौ ।

तस्याश्रयो भवेत् कृष्ण इति श्रीवल्लभोऽब्रवीत् ॥ ११ ॥

कृष्ण आश्रीयतेनेनेति, कृष्ण आश्रयो विषयो यस्वेति वा कृष्णाश्रयम् ।  
आश्रयपदस्य विषयवाचकत्वं प्रह्लादचरित्रे 'पञ्चत गुरुणा मोक्तं श्रुत्वेतुपपाठ च । न  
साधु मनसा मेने स्वपरासत्तृदाश्रयमिति'सप्तमेऽप्यत्र च प्रतिद्वम् । एतदन्वर्णनामक-  
मिदं कृतं स्तोत्रं यः कृष्णसन्निधौ भगवचिक्रुते पठेत् तस्य कृष्ण आश्रयः सहायो  
भवेत् । इतीत्यर्थं श्रीवल्लभोऽब्रवीदुक्तवानिति । तथाच परमेतत्पाठ एव पूर्वोक्तनिश्चय-  
दाढ्यगमक इत्यर्थः । एवं च विवेकैर्याश्रयोक्तरीतिकविवेकादेरभावे दैन्यपूर्वमेवैतत्सो-  
त्रार्थानुसन्धानपूर्वकं भगवत्सन्निधौ पठेत्स्तोत्रपाठः । तथाप्यनधिकारे धीपदाचार्यचरण-  
विश्वासपूर्वकं भगवत्सन्निधौ पाठ इति साधनद्वयं मानसनाचनिक-वेत्तवाचनिक-शरणा-  
गतिरूपं निर्दिष्टम् ॥ ११ ॥

इदं भावां रीतिमनुसृत्य व्याख्यातं, यम त्वन्योप्यर्थः स्तोत्रस्य प्रतिभाति ।  
तथाहि—अयं मार्गोऽविहितभक्तिरूपः, अत्र भगवान् रसात्मकः प्रतिपद्यते । एवं सति  
तदधिकारिव्येव मन्दमध्यमविचारेणात्र साधनोपदेशो वक्तव्यः । अत एव विवेक-  
धैर्याश्रयसमाप्तौ 'भक्त्यादिमार्गो' इत्युक्तम् । अन्यैकादेशे 'योगास्त्रयो मये' त्यत्र 'ज्ञानं  
कर्म च भक्तिश्चे'ति त्रितयान्ते निवेशिताया भक्तेरादित्वकथनं विरुद्धं स्यात् । अतोऽत्र  
भक्तिपदेन तत्परामर्शः किं 'त्वयैतपरमं गुह्यमि' त्यत्रोक्तायाः । तथासति सा भक्तिरादिर्येषां  
सादृशा ये मार्गा अविहितभक्तेरेव प्रकारभेदा बालादिभावेन भजनरूपास्ते यतो  
दुःसाध्या इत्यर्थो भवति । एवं सति तत्र सन्नानधिकारे विवेकधैर्याश्रयोक्तरीतिक आश्रयः,  
अत एव 'स्वाम्यभिप्रायसंशयात्' 'गोपभार्यवत्' इति स्वामिपदं तदृष्टान्तश्च सङ्गतौ भवतः ।  
अतः परं तथाप्यनधिकार इदं स्तोत्रपठनमपि तस्यैवानुकल्परूपम् । एतन्मार्गपविष्टाना-  
मतिग्रथन्यतमाधिकारिणामेतन्मार्गफलसम्बन्धो यथा प्रणाख्या भवति तापनुसंधायास्पो-  
क्तत्वात् । तदर्थं स्वस्वरूपं भगवत्स्वरूपं च वक्तव्यम् । तत्र भगवत्स्वरूपं तूक्तमेव ।  
किञ्चाभेदवादानुरोधेन रसस्वरूपविचारे रसालम्बनद्रयाभिन्नरसात्मा स्वयं भवति ।  
उपबृंहितं चेदं ब्रह्मवैवर्तीयश्रीकृष्णजन्मखण्डे गर्गवाक्येषु—'वर्धते सा ब्रजे राधा शुक्ले  
चन्द्रकला यथा । श्रीकृष्णतेजसोधेन सा च मूर्तिमती सती' 'एका मूर्तिर्द्विधा भूता भेदो  
वेदे निरूपितः । इयं स्त्री स पुमान् किं वा सा वा कान्ता पुमानपमि'ति । 'पिताहमस्य  
जगतो माते'ति गीतायां च । तथासत्याचार्याणामपि 'वैश्वानराद्वाचपतेः' 'वस्तुतः  
कृष्ण एवे'ति च वायव्यद्वयविचारे पूर्वोक्तरीत्योभयसुखारविन्दात्मकत्वमुभयात्मकत्वं च  
सिद्धयति । किञ्च, सप्तश्लोकाणां सर्वोत्तमे च 'श्रीभागवतप्रतिपदे'त्यादि 'तत्सारभूत-  
रासस्त्रीभाषपुरितविग्रह' इति चोक्तम् । एवं स्वरूपे निश्चिते यदा यद्भावेन यान् प्रति यथा  
वदन्ति तदा तदधिकारिणः प्रति तानि साधनानीति पुंस्तोत्रमप्येवं न्यारूपापते तदापि  
न दोषः । तथासत्यस्वार्थस्य गुप्ततया भगवतः परोक्षवादाद्बालसणा-  
प्यदुष्टैव । ततश्चायमर्थः । तथाहि सर्वमार्गेषु सख्यादिप्रोक्तेषु भगवत्प्राप्त्युपायेषु नष्टेषु  
तदप्रापकतया स्वान्तःकरणेऽनुपापतया भातेषु । स्वलोन्तर्दुष्ट ईर्ष्यारूपो घमो यस्मिंस्तादृशो  
कलौ कलहे स्वसमनेषु स्वस्मिन् कृपातिशयरूपातिविषयके नष्टे हृदयादपपाते । चका-  
रेण कलहादेरपि नष्टत्वं ज्ञाप्यते । पापण्डः कलहजननकारणरूपो धर्मः प्रजुरो यस्मिंस्ता-  
दृशो श्लोके सख्यादौ चादृश्यमाने । विरहेण तेषु दोषारोपस्तस्याधमस्यान्तिकमि'त्यादि-  
वत्, अतो न दोषः । एवं सति दुःखितस्य सम कृष्णाः सदानन्दस्तादृशतापे हृदि विभा-  
व्यमान एव गतिर्बहिःप्राप्तौ साधनरूपो भवत्वित्यप्याहता प्रार्थना । अत्रैवं सर्वसाधन-

भाक्तवसिद्धया, द्वितीयस्या'नित्यममुलं लोकपिमं प्राप्य भजस्व माशिति भजनशेषतया  
निरूपितत्वेन प्रथमस्य चाञ्जस्यात् । अतो नात्र कोऽपि चोद्यावसरः ॥ ९ ॥

एवं नवभिर्निवेकैर्पाश्र्वयग्रन्थोक्ताङ्गाभावेप्येतदुक्तरीतिरुदैन्येनाप्याश्रयसिद्धिरिति  
योचितम् । अतःपरमेतस्याप्यङ्गस्याभावे द्वाभ्यां साधनान्तरमाहुः सर्वैस्वाम्यैरप्यादि ।

सर्वसामर्थ्यसहितः सर्वत्रैवाखिलार्थकृत् ।

शरणस्थसमुद्धारं कृष्णं विज्ञापयाम्यहम् ॥ १० ॥

'परास्य शक्तिर्विविधैर्न भ्रूयन्' इत्यादिश्रुतिभिः कर्तुमर्हन्नुपन्याकर्तुं च यावन्ति  
सामर्थ्यानि तत्सहितस्तदुपादित'मनामिकादी'तिपत्रेन । 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि  
भूतानि माद्यानुपजीवन्ति' 'एष हेवानन्दयाती'त्यादिश्रुतिभिः सर्वत्र देशेषु जीवेषु  
चाखिलार्थानां कृत् 'आकेस्तच्छीलतद्धर्मवत्साधुकारिष्वित्यनेन ताच्छील्ये किं कर्ता ।  
एतादृशं कृष्णमहं जगद्गुदारार्थमाङ्गो वैश्वानर आचार्यवर्षः शरणस्थानां शरणमार्ग-  
तिनां समुद्धारं सम्यक् आज्ञप्तमार्गप्राप्यपरमफलपर्यंतमुद्धारं विज्ञापयामि । सामानाधि-  
करण्याद्धपाहारानाकमाद्य पयमान्तद्वयपदस्यैव विशेषणं वा । तथाच तादृशदैन्या-  
भावेपि मयि विश्वासेनैतच्छरणमार्गस्थितौ श्रीपदाचार्यचरणकृपयैवास्माकमुद्धार इति  
निश्चयदाढ्येपि तत्कृतं साधनान्तरमन्येषु मद्भिज्ञापनादेशोद्धरिष्यतीत्यर्थः ॥ १० ॥

अतः परमेतन्निश्चयदाढ्यगमकं वदन्तो विशयनमकारं स्वरूपं चाहुः कृष्णा-  
श्रयमित्यादि ।

कृष्णाश्रयमिदं स्तोत्रं यः पठेत् कृष्णसन्निधौ ।

तस्याश्रयो भवेत् कृष्ण इति श्रीवल्लभोन्ववीत् ॥ ११ ॥

कृष्ण आश्रीयतेनेनेति, कृष्ण आश्रयो विषयो यस्येति वा कृष्णाश्रयम् ।  
आश्रयपदस्य विषयनाचकत्वं मल्हादचरित्रे 'यत्तत्र गुरुणा प्रोक्तं श्रुत्वेतुपपाठ च । न  
साधु मनसा येने स्वरपासदृहाश्रयमिति सप्तमेऽन्यत्र च प्रसिद्धम् । एतदन्वर्पनामक-  
निवृष्टकं स्तोत्रं यः कृष्णसन्निधौ भगवन्निकटे पठेत् तस्य कृष्ण आश्रयः सहायो  
भवेत् । इतीममर्थं श्रीवल्लभोऽत्रवीदुक्तवानिति । तथाचपमेतरात् एव पूर्वोक्तनिश्चय-  
दाढ्यगमक इत्यर्थः । एवं च विवेकैर्पाश्र्वयोक्तरीतिकविवेकादेरभावे दैन्यपूर्वकमेवैतरतो-  
यार्थानुसन्धानपूर्वकं भगवत्सन्निभावेतरस्तोत्रपाठः । तत्राप्यनधिकारे धीपदाचार्यचरण-  
विश्वासपूर्वकं भगवत्सन्निधौ पाठ इति साधनद्वयं मानसशयनिक-केवलवाचनिक-शरणा-  
गतित्वं निर्दिष्टम् ॥ ११ ॥

पिक्रविलापस्यभ्रूकोकं, तेन नष्टेष्वसायकतया वैज्ञतेषु । अत एव अत्रतयोगिषु ज्ञान-  
गोचरत्वेपि कथादिनियमायोगिषु । तत्रापि हेतुः-तिरोहितार्थदेवेषु तिरोहितः  
अविषयः अर्थोभिधेयो देवोधिष्ठाता च येषां तादृशेषु मन्त्रेषु व्रतचर्यामासङ्गिरू-मुख्य-  
महिषीमासङ्गिरू-समर्पणादिमासङ्गिकेषु सत्सु । कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥ ५ ॥

अतः परं ततोप्यतितासाधिवयेन स्वस्याशक्तिं द्योतयन्तः कर्मादिनाशमाहुः-  
नानेत्यादि । मानाप्रकारका वादा नानावादाः । भगवान् मयुरायामेवं पुरवनितादीनां  
कामं वर्धयति, जरासुतादिभिर्युज्यति, द्वारकायामुज्यन्त्यां मान्द्योतिषपुरे इन्द्रस्या-  
दावेचमेवं करोतीत्यादिलोकोक्तिरूपाः, श्रीमदुद्धवानीतसन्देशदिनसंवादादिरूपा वा,  
तैर्विनष्टेषु अक्रियमाणेषु सर्वेषु शुद्धादिकर्मभगवद्भक्तादिषु । किञ्च, पापण्डः कापट्यं,  
तेनैको मुख्यः प्रयत्नो बहिर्दृश्यो येषां यत्सम्बन्धी । तथाच तादृशेष्वेतद्रोपनाय  
लोकिकवैदिकविहितमार्गादिककर्मभगवद्भक्तादीनामुद्यम एव न तु मनस्तस्तत्कृतिरपीति  
तादृशेषु तेषु सत्सु, 'धारयन्पतिकृच्छ्रेण पापः प्राणान् कथञ्चनेत्येतादृशवस्यायां कृष्ण  
एवेति पूर्ववत् ॥ ६ ॥

एवमतिशयिततापे भगवानन्तःशार्दुरमूषतस्तयावस्थयाहुः-अजामिलादीति ।  
जामि आलस्यं 'जामि वैतद्यज्ञस्य क्रियते यदन्वञ्चौ पुरोडाशविरिषादिश्रुतौ तथा-  
सिद्धत्वात् 'आत्मा यावत्प्रपन्नोभूदित्यत्रेवात्र परोक्षवादे वैदिकमयोगस्यादोषाच्च । न  
जामि अजामि अनालस्यं तेन लान्ति गृह्यत इत्यजामिलाः, आदिपदेन जामिञ्च ।  
तद्गुणसंविज्ञानः । शैश्वेण विलम्बेन च भगवद्विषयोनका इति यावत् । तथाच तादृश ये  
दोषा मानादय आज्ञापकरणादयश्च तेषां नाशकः । अनुभवे मानसे साक्षिप्रत्यक्षे च  
स्थितो गोचरीभवन् । ज्ञापिताखिलमाहात्म्यः ज्ञापितमखिलं समीक्षामावादि  
मयुराद्वारकास्थित्यादि तच्छ्रीलादितात्पर्यविषयकं सर्वं माहात्म्यमुत्कर्षः परोक्षमजना-  
विस्मरणातिमियत्वरूपो येन तादृशः । कृष्ण एवेति पूर्ववत् । एतेन योग्यतमानामप्ये-  
तादृशताप एव प्रादुर्भाव ईदृशो न त्वन्यथेति । अन्यथा त्वन्यथेत्यपि सूचितम् ॥ ७ ॥

माहात्म्यं यज्ज्ञापितं तन्मध्ये यदशेषयुज्यते तत्प्रकटीकुर्वन्त आहुः-प्राकृत्या  
इत्यादि । प्रकृतौ रसमार्गे भवा विद्यमानाः प्राकृताः । सकलाः, फला भगवदनुसन्धन-  
चातुर्यं तथा सह वर्तमानाः । देवा भगवता सह क्रीडापराः । किञ्च, बृहदक्षरं गुहायां  
परमे श्योपन्याविर्भूतं ब्रह्म गणितानन्दकं, गणितः श्रुतौ सह्ययात आनन्दो येषां  
मनापत्यन्तानां यतीनां वा, तेषामेव कं मुखं यस्मादिति वादशं, न तु स्वस्मिन् स्थिति-  
मात्रेण सकलदेवानां सुखदम् । तथा पूर्णानन्दः कर्षणरमेण बहुवीदिना च हरिः

वैफल्यबोधनेन स्वस्याविलेदः । एवकारेण तादृशसमये 'हस्तदुः सुखरं राजत्रित्वं फलमकरण इव भगवतः प्राक्कथावश्यकत्वं च द्योत्यते । एवमग्रेषु बोध्यम् ॥ १ ॥

अतः परं भगवन्मिच्छन्स्यानभूतानां देशानापप्यनुपायस्वमाहुः—स्लेच्छाक्रान्ते-  
त्यादि । स्थाना रसमार्गविरोधिनीच्छा येषां ते स्लेच्छा एतद्रसानभिज्ञास्तेदेशेषु वृन्दा-  
नादिप्राक्रान्तेषु । किञ्च, पापैकनिलयेषु । पातीति पः स्याद्यिमावः सः अयः असरको  
यमासौ पापो विरहः सन्तापातिशयजनकत्वात्, तदेकनलियेषु 'सोयं बसन्तसमयो  
विपिनं तदेतत् सोयं निकुञ्जविट्पी निखिलं तदास्ते । हा इन्त इन्त नवनीरदकोपलाज्ञो  
नालोकि पुष्पधनुषः मयमावतार' इतिवचदुद्बोधकत्वेन तदेकस्थानेषु । चोत्रशापे । तेन  
पूर्वमवध्यात्मनभिज्ञसम्बन्धेन तथात्वमिति ज्ञाप्यते । किञ्च, सतः शरीरस्य या पीटा  
तया व्यग्रा लोकाः स्वयैकान्तमक्ता येषु । एतादृशेऽसरे कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥ २ ॥

अतः परं तादृशां तीर्थानामप्यसाधकत्वमाहुः—गङ्गेत्यादि । इह वृन्दावनादिदेशे  
गङ्गा 'सित्तासिते सरिते यत्र सद्भव' इति श्रुतौ तस्याः पूर्वं पठितत्वात्सादिरस्याः सा  
गङ्गादिः, यमुनातत्पशुतीनि तीर्थवर्षाणि घट्टविशेषाथन्द्रसरोवरश्रीवृण्डाद्या, 'नयस्तदे'  
त्यत्रोक्ता नद्यश्च, तेषु दुष्टैरेतद्भ्राज्राहित्येन दुष्टैरेवावृतेषु व्यासेषु । किञ्च, तिरोहि-  
ताधिदेशेषु । तिरोहितमगोचरमधि उपरि देवं 'देवं दिष्टं भागपेयं भाग्यमिति  
कोशादस्मद्भायं, 'त्रैलोक्यलक्ष्म्येऽयं वपुर्दध' इत्यत्र । यदुपरि भगवानिदानीं न इत्यते  
चिह्नानि सन्तीति 'श्रीनिकेतैस्तत्पदकैर्विस्मृतं नैव शक्तुम' इतिवदधिकतापजनके-  
ष्विति भावः । तथाचैतादृशावस्थायां कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥ ३ ॥

अतः परं सस्तङ्गस्याप्यसाधकत्वमाहुः—अहङ्कारेत्यादि । निन्दाया सर्वत्र  
वापाधिवयमेव बीजं ननु तेषु दोषो बीजम् । अहङ्कारेणास्मदस्यो भगवानस्मद्वार्यत  
एवान्यत्र फलिष्पतीत्येवंरूपेण विमूढेषु स्वल्पेषु । किञ्च, पापानुवर्तिषु पापः पूर्वोत्-  
रोतिको विरहस्तमनु लक्ष्यकृत्य वर्तन्व इति तथा । तथाच पूर्वं यद्यद् इदानीं तैरपि सह  
न मिलतीति । तद्भक्तं लाभपूजार्थयत्नेषु । लाभो भगवत्साक्षिस्तदर्था पूजा लाभपूजा  
वदर्थं घटन उद्यमो येषाम् । पूर्वं भगवत्प्राप्तये काल्यापन्यर्चिता पुनरिदानीमपि यत्क-  
र्षन्ति तेन ज्ञाप्यते न मिलतीति । लीलाना निरयत्ताचापेनासक्तभ्रमवचदाविर्भावाचे-  
ष्वप्यमिलननिश्चयः । सत्सु एतन्मार्गगुरुष्वेतादृशेषु सत्सु किं तत्सङ्गैरेति कृष्ण  
एवेति पूर्ववत् ॥ ४ ॥

अतः परं ततोप्यतितापेन गुरुणां हर्षं विचारयन्तो मन्त्राणामसाधकत्वमाहुः—  
अपरीति । अः भगवान् तस्य परिज्ञानं स्वभावज्ञानं 'न नन्दयन्तु'रितिप्रस्थानसाम-

पिकविलापस्य श्लोकोक्तं, तेन नष्टेष्वसाधकतया तैर्ज्ञतेषु । अत एव अत्रतयोगिषु ज्ञान-  
गोचरत्वेऽपि ज्ञपादिनियमायोगिषु । तत्रापि हेतुः—तिरोहितार्थदेवेषु तिरोहितः  
अविषयः अर्थोभिषेयो देवोधिष्ठाता च येषां तादृशेषु मन्त्रेषु व्रतचर्याप्रासङ्गिक-मुख्य-  
माहिषीप्रासङ्गिक-समर्पणादिप्रासङ्गिकेषु सत्सु । कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥ ५ ॥

अतः परं ततोप्यतिवापाधिक्येन स्वस्याशक्तिं द्योतयन्तः कर्मादिनाशमाहुः—  
नानेत्यादि । मानापकारका वादा नानावादाः । भगवान् मथुरायामेवं पुरस्वनितादीनां  
कामं वर्धयति, जरासुतादिभिर्भुञ्जति, द्वारकायामुज्जयिन्यां माग्ज्योतिषपुरे इन्द्रप्रस्था-  
दावेवमेवं करोतीत्यादिलोकोक्तिरूपाः, श्रीमदुद्धवानीतसन्देशादितत्संवादादिरूपा वा,  
तैर्विनष्टेषु अक्रियमाणेषु सर्वेषु गृहादिकर्मभगवद्गतादिषु । किञ्च, पापण्डः कापण्ड्यं,  
तैर्नैको मुख्यः प्रयत्नो बहिर्ह्यमो येषां यत्सम्बन्धी । तथाच तादृशेष्वेवद्रोपनाय  
लोकिकवैदिकविहितमार्यादिककर्मभगवद्गतादीनामुद्यम एव न तु मनस्तस्तत्कृतिरपीति  
तादृशेषु तेषु सत्सु, 'धारयन्त्यतिकृच्छ्रेण प्रायः प्राणान् कथञ्चने'त्येतादृशावस्थायां कृष्ण  
एवेति पूर्ववत् ॥ ६ ॥

एवमतिशयिततापे भगवानन्तःप्रादुरभूततस्तथावस्थयाहुः—अजामिलादीति ।  
जामि आलस्यं 'जामि वैतद्यज्ञस्य क्रियते यदन्वञ्चौ पुरोडाशाविर'त्यादिश्रुतौ तथा-  
सिद्धत्वात् 'आत्मा यावत्प्रज्ञोभूदि'त्यत्रेवात्र परोक्षवादे वैदिकप्रयोगस्यादोषाच्च । न  
जामि अजामि अनालस्यं तेन लान्ति गृह्यत इत्यजामिलाः, आदिपदेन जामिलाश्च ।  
तद्गुणसंविज्ञानः । शिष्येण विलम्बेन च भगवद्विप्रयोजका इति यावत् । तथाच तादृशा ये  
दोषा मानादय आज्ञायकरणादयश्च तेषां नाशकः । अनुभवे मानसे साक्षिप्रत्यक्षे च  
स्थितो गोचरीभवन् । ज्ञापिताखिलमाहात्म्यः ज्ञापितमखिलं समीक्षाभावादि  
मपुराद्धारकास्तित्यादि तच्छ्रीलादितत्पर्यविषयकं सर्वं माहात्म्यमुत्कर्षः परोक्षमजना-  
विस्मरणातिभियत्वरूपो येन तादृशः । कृष्ण एवेति पूर्ववत् । एतेन योग्यतमानामप्ये-  
तादृशाताप एव प्रादुर्भाव ईदृशो न त्वन्यथेति । अन्यथा त्वन्यथेत्यपि सूचितम् ॥ ७ ॥

माहात्म्यं यज्ज्ञापितं तन्मध्ये यदत्रोपयुज्यते तत्प्रकटीकुर्वन्त आहुः—प्राकृता  
इत्यादि । मरुते रसमार्गे भवा विद्यमानाः प्राकृताः । सकलाः, कला भगवदनुसन्धन-  
चातुर्यं तथा सह वर्तमानाः । देवा भगवता सह क्रीडापराः । किञ्च, बृहदत्तरं गुहायां  
परमे ष्योमन्याविर्भूतं ब्रह्म गणितानन्दकं, गणितः श्रुतौ सहृद्यत आनन्दो येषां  
प्रज्ञापश्यन्तानां यतीनां वा, तेषामेव कं सुखं यस्मादिति तादृशं, न तु स्वस्मिन् स्थिति-  
मात्रेण सकलदेवानां सुखदम् । तथा पूर्णानन्दः कर्मशारेण बहुवीहिणा च हरिः

देवानन्दतिरोभावहर्ता कृष्ण एव तस्मान्मम तयोत्थः । तथाचैतन्मार्गीयं फलं केवल-  
परमानुग्रहैकलभ्यमेवेति सपरिकारभगवन्माहात्म्यं यद्भगवद्भाषितं तत्सूचितम् ॥ ८ ॥

एवमनुग्रहस्य तत्फलस्य स्वकृतसाधनासाध्यत्वेनुसंहिते यावत्या तथाहुः-विवेके-  
त्यादि । विवेकः साधनतारतम्यानुसन्धानं, धैर्यं दुःखसहनसामर्थ्यं, भक्तिः स्वशरीर-  
सेवा । आदिपदेन तत्तत्साधनानि, तै रक्षित्वस्य । विशेषतोऽन्तं यायेन पूर्वोक्तविरता-  
त्मकेन असक्तस्य मुक्तसमस्तसङ्गस्य, अत्र एव दीनस्य तत एवान्तोत्तमः कृष्ण  
एवेति पूर्ववत् ॥ ९ ॥

एवमतितापेन परमदैन्ये भगवान् बहिःप्रादुर्भूतस्तदातिसन्तुष्टा जीवेषु मन्दमध्य-  
भेष्येवं विलम्बाभावाप विज्ञापयन्ति सर्वेत्यादि । अयोग्येष्वपि योग्यतासम्पादनं  
कर्तुमशक्तुमन्यथाकर्तुं समर्थस्यैव शक्यमिति तादृशः सन् । तादृशत्वस्य गमकमौदार्यमिति  
सर्वत्रैवाङ्गीकृतमात्रे अतिलक्षणां पुष्टिपुष्टिपोसरूपाणां मृतम् । करणशील ! कृष्ण !  
पूर्वोक्तश्रुतिपुराणव्याख्यातरूप ! । श्रीरघुनाथचरणैः कृष्णपदं सम्बुद्धयन्तत्वेन व्याख्या-  
तमित्यस्याभिरपि तयोक्तम् । द्वितीयान्तपक्षेपि किञ्चन्तमेव । चारणस्थानामेतन्मार्गी-  
रीत्या शरणागतानां फलवर्धनसुन्दरं अहं भवदनुभावमकटनार्याङ्गपारवीर्षिः विज्ञाप-  
यामि । एतेन स्वस्य विज्ञापने भगवतश्च तयोद्धार आवरणता सूचिता ॥ १० ॥

विज्ञापनां वदन्ति-कृष्णाश्रयमित्यादि । कृष्णाश्रयं स्तोत्रं श्रीरूपः स्वाधि-  
नीभावपूरितत्वात् घल्लभो भगवतः मिय आचार्यवर्षाङ्गवीदिति, यः पठेत् एवमनुसन्-  
धानो योऽस्मद्विषयोभाक्स्यां ज्ञापयन् कृष्णासन्निधौ व्यक्तं वयसेत्तरस्य कृष्ण आश्रयो  
भवेदिदं विज्ञापनमित्यर्थः । स्तोत्रस्य मन्थनत्वेनेदमा विनाप्यर्थसिद्धेरिति, शब्दान्तरान-  
धाहाराद्य, अत्र दुरान्ययोपद्रुष्ट एव । 'विमुञ्चालवतुं योरमित्युक्तो विससर्गः ।'  
'विससर्गं तनुं तां न ज्योत्स्नां कान्तिवर्ति मिया'मित्यादौ भाव एव तनुत्वेन व्यवहाराच्च  
श्रीरूपत्वोक्तावपि न दोष इति न कोपि शङ्कालेश इति । यथाधिकारं सर्वा एव दीहा  
वपयुज्यन्त इति न कापि शङ्कालेश इति । दिक् ॥ ११ ॥

इति श्रीबहुभार्यमङ्गीकृतमद्भुतम् ।

स्तोत्रं कृष्णाश्रयं चित्रं तत्रसादतः ॥ १ ॥

इति श्रीमद्बहुभार्यमङ्गीकृतमङ्गीकृतश्रीदयामन्त्रात्मजश्रीब्रह्म-  
राजचिरचितं कृष्णाश्रयस्तोत्रवियरणं समाप्तम् ।

धीरूपणाय नमः ।  
धीर्गोपीजनवल्लभाय नमः ।  
धीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः

## कृष्णाश्रयस्तोत्रम् ।

विवरणसमेतम् ।

यत्कृपादृष्टिदृष्ट्येकविन्दुस्पर्शे रसाद्रिता ।  
कृष्णलीलाब्जिजा जन्तोर्न कदापि निवर्तते ॥ १ ॥  
तानेव श्रीमदानार्यचरणानाश्रये गृह्णा ।  
तैर्नेव मम तद्वाक्यबोधो बोध्यो हि जायते ॥ २ ॥  
पुष्टिमार्गादिखीलाभिः स्वानन्दं पूरयन्निजम् ।  
स्वाश्रयं कुर्वते यश्च तपहं कृष्णनाश्रये ॥ ३ ॥

अथात्राश्रयो द्वेषा निरूप्यते मर्यादापुष्टिमेदेन । तत्र मर्यादया य आश्रयः स तु स्फुट एव सर्वत्र व्याख्यातः । पुष्टिमार्गीयस्तु गृहः, स च परोक्षवादेन साधनफलस्वरूप-निरूपणपूर्वकं निरूप्यते । तत्रापि कालादिपदसाधनानां फलासाधकत्वं वदन्त आश्रयं संभावयन्ति । एवं सति यादृशः पुष्टिमार्गीयाणाभाश्रयस्तादृशोश्च निरूप्यते प्रकारसहित इत्यवगम्यते । तथाहि प्रथमं परमकृपालः साक्षात् भगवान् स्वयं निरूपयित्कृष्णावस्था-सुष्टिफलदानेच्छया यं वृणुते तस्य तदारभ्य स्वत एवोद्भूतसहजानुरागतो भगवत्सेवादौ महिषिर्भवति न तु तद्व्यतिरिक्तधर्मेषु । ततस्तादृशानुरागपूर्वकसेवादिकरणोल्लसित-मेमासक्तिजनितपुष्टिमार्गीयभावाद्भक्तुराणां 'भगवता सह संलाप' इत्याद्युक्तप्रकारकमा-वनाया अवदप्रसंभवाच्च तद्वर्षमाकृत्ये विजातीयसहानुरोधादन्तःस्वरूपानुभवप्रतिबन्ध-सति तदपेक्षाजनितात्मा भगवद्व्यतिरिक्तस्य तन्निष्ठैवैश्वर्यत्वाच्छरणगतिसत्प्रयत्न इति श्रीमदानार्यचरणान्तरस्वरूपनिरूपणपूर्वकं श्रीकृष्णाश्रयस्तोत्रं निरूपयन्ति सर्वैति ।

सर्वमार्गेषु नष्टेषु कलौ च खलधर्मिणि ।

पापण्डप्रचुरे लोके कृष्ण एव गतिर्मम ॥ १ ॥

तादृशपुष्टिमार्गीयस्य सर्वे मार्गाः प्रमाणरूपाः कर्मादयो नष्टाः, परु एव प्रमेयमार्ग-स्तिष्ठति, यतस्तेषु फललासाधकत्वबुद्ध्याऽप्यपिरेवेति तस्यागकर्णान्नष्टा एवेत्यर्थः । अपवा 'गन् अदर्शने' इति धात्वर्थविचारेण नष्टा अज्ञाता वा । तेषां दर्शनज्ञानयोरभ्येतनमार्गं



प्रतिबन्धकत्वादिभिः । ननु भक्तानां कलिहाराः साधको भवतीति वक्षिणमार्गाणां कथं तथात्वमिति पुष्टिमार्गीयाणां तस्य बाधकत्वमाहुः स्वलघमिणीति । कालस्तु प्रमाणभूतः, प्रमाणं साक्षात्स्वरूपं न कथयतीति तद्व्यतिरिक्तस्य सर्वस्य सदोपत्वमेवेति तन्नष्टत्वात् स्वलो दुष्टो धर्मो धर्मकर्तापि यत्रेति । यद्यपि 'कलेदौघनिधे राजन्' 'कलि सभाजयन्ती'त्यादिवचनैः फलेभ्यश्चन्द्रजनानुकूलत्वमुक्तं, तथाप्यधुनानन्तरसामधिकत्वेनाधिदैविकरूपत्वाभावात् पुष्टिमार्गीयान् मृत्यानुकूल्यस्य नष्टत्वमेवेति तयोक्तम् । भौतिककाण्डस्य प्रमाणरूपत्वेन मर्यादोक्तविधिना तेषां भजनं न पुष्टिरीत्या । फलमपि मुक्तिरेव न ततोऽग्रिमकक्षापन्ना । अत एव पापण्डप्रचुरे लोके इत्युक्तम् । धर्मव्यतिरेकेण केवलधर्मस्य सोपाधिकत्वाच्चयोक्तमितिभावः । तानेव धर्ममार्गानुचर-श्लोकेष्वसाधकत्वेन वक्ष्यन्ति । एवं सति तत्काले तत्तद्दर्मानाचरणे तेषां दोषानुद्धिरेवोत्पद्यत इति तत्समर्पं तत्काले प्रमाणातिरिक्तं न कर्तुं शक्यत इति कालस्य भावोद्घोषे प्रतिबन्धकत्वादसाधकत्वं निरूपितम् । चकारादूहेषि तथा । 'शृद्धे स्थित्वा स्वयमेत' इतिवचनात्तत्रापि सेवाकरणे क्रमेण स्नेहासक्तिजनितभावनाया ज्ञातत्वाच्चत्रत्यानां तदभावात्तत्तद्भोस्य बाधको विजातीयभाववत्त्वादित्यर्थः । अथवा, एवं पुष्टिमार्गीयस्य कालतदुक्तमार्गाणां प्रतिबन्धकत्वं निरूप्य तस्य स्वधर्माचरणमकारमाहुः—पापण्डेति । श्लोके पुष्टिमार्गीये पापण्डमचुरे सति तत्संसर्गेण भावापेक्षया दोषबाहुल्ये सतीत्यर्थः । यद्वा, पापण्डो नाम स्वान्तर्निष्ठधर्मगोपनेन बहिरन्यधर्मकरणं तदेव मनुषो यस्मिन्नादरो सति । यथा न कोपि जानाति तथा कर्तव्यमापन्नमितिभावः । एवं सत्येतावत्प्रतिबन्धके विद्यमाने तत्संसर्गेण पूर्वोक्तभावानामनुच्छलितत्वाभावात्कलाभाव इति तादृशस्य प्रतिबन्धनिवर्तकः साक्षाद्भवानेव नान्य इति कृष्ण एव गतिर्ममेतिशरणप्रपदिष्टम् । शरणं गते कृपया स एव सर्वं करिष्यतीतिभावः ॥ १ ॥

ननु तर्हि भगवल्लीलाप्रदेशेषु गत्वा स्वधर्मनिर्वाहः कर्तव्य इति चेत्त्रापि प्रतिबन्धकत्वाद्बुल्येन देशानामसाधकत्वेन शरणमेव निरूपयति न्तेच्छेति ।

स्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु पापैकनिलयेषु च ।

सत्पीडाव्यग्रलोकेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ २ ॥

मलिनपदार्थमेवेच्छन्तीति न्तेच्छा विषयिणो, मन्त्राद्युपासकाः, कर्ममार्गीयाश्च । यद्यपि तेऽनिपिदं विद्विषमेव कुर्वन्ति तथापि स्वार्थपराः 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विद्वन्ती'त्याद्युक्त्या कर्मफलं मलिनमेवेति तत्पराणां तथात्वेन निर्देशः कृतः । तादृशस्त्रीरानन्ताः सर्वे प्रवेशा, अत एव तच्छ्रीलादीनां विरोधात्तत्वे साधका इतिभावः । स्वयद्दं तु भगवदीयत्वाद्बुद्धमेव किन्तु भावे वैजात्यमात्रेण तस्य बाधकत्वम् । तत्रापि

यत्र प्रतिबन्धकत्वं तत्र केवलविषयाविष्टसम्बन्धिदेशसंसर्गेण भावनाशे किमु वक्तव्य-  
मिति क्लृप्तिकल्पनापि देशस्यासाधकत्वं निरूपितम् । किञ्च, न केवलमाक्रान्तिमात्रं  
किन्तु तद्रूप एव जाता इत्याहुः पापैकनिलयेष्विति । कर्मणां हिंसाप्रचुरत्याचयोक्तम् ।  
एतेन तत्र गमनमात्रेण तत्सम्बन्धात्स्वधर्मनाशो भवतीतिभावः । एवं सति भगवतो  
मन्त्रोपासनाधरप्रवृत्तेनास्मिन्च्छश्लोके मन्त्रोपासनवैदिकतान्त्रिकद्वीसार्धनानां सङ्गहेणा-  
साधकत्वं निरूपितम् । आदिपदेन विहितभवयादीनामपि तथेत्यर्थः । ननु तत्रापि केचन  
निवृत्तिपरा भविष्यन्तीति चेत्त्राहुः सत्पीडेति । निवृत्तिपरत्वेन सद्रूपाणि तत्रस्थानां  
देहेन्द्रियादीनि तेषां पीडा सत्पीडा, तद्देशसम्बन्धे तानि विषयाविष्टान्येव भवन्तीति  
तन्निग्रहाशयत्वात्निवृत्तिपराणां खेदो जायत इति तद्रूपैव स्वधर्मनाशजनिता पीडा, तथा  
व्यग्राः कथमस्माकं परलोकः सेत्स्यतीति व्यग्रा लोकाश्च धर्मशीला येषु । यत्र स्थूलदृष्टी-  
नामपि न धर्मनिर्वाहरतत्रातिसूक्ष्मेक्षिकाणां तादृशानां भावशैथिल्ये किमु चाप्यम् ।  
तादृशानामप्येपि स्वातुमशक्तोरितिभावः । तथाचोक्तं 'अस्माकं तत्प्रभृति नान्यसमस्तमि-  
त्युत्र विवरणे 'यथा व्याघ्रान्ने देहाभिमानो'ति फलमकरणे । अतस्त्वज्जात्वयोपपत्तेरिति-  
बन्धनित्यव्यर्थं शरणमेव भावनीयमिति कृष्ण एव गतिर्ममेत्युक्तम् । अत एवाद्यौकि-  
रुमनःसिद्धाविति विवेकवैयर्थ्यायेत्युक्तम् ॥ २ ॥

एवं दुःसंसर्गेण देशानामसाधकत्वं निरूप्य तत्र भगवद्भक्ता अपि सन्ति ते  
समीचीनास्तै सह सङ्गो न बाधक इत्याशङ्क्य द्रव्याणामशुद्ध्या पुष्ट्या तेषामपि सङ्गो  
बाधक इतीतरमार्गीयाणामसाधकत्वपाहुः गङ्गादीति ।

**गङ्गादितीर्थवर्षेषु दुष्टैरेवावृतेष्विह ।**

**तिरोहिताधिदैवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ३ ॥**

गङ्गादितीर्थवर्षा भक्ताः । अयं भावः—'अस्ति गङ्गायां त्रिरूपमिति सिद्धान्त-  
मुक्तावत्यां स्फुटीकृतं, तद्विबिधत्वमत्रापि ज्ञेयम् । तेन जलरूपाधिभौतिकादिभेदेन  
प्रवाहभक्तिमार्गीयज्ञानमार्गीयमर्यादाभक्तिमार्गीया भक्ता निरूपितास्तत्र प्रथमं प्रवाह-  
भक्तिमार्गीयाणामसाधकत्वं निरूपयन्ति । यद्यपि गङ्गापदस्यादौ निरूपणाद्गङ्गाया मर्यादा  
भक्तिमार्गीयमक्तत्वात्तन्मार्गीयभक्तानामेवादौ निरूपणं संभवति तथाप्याधिभौतिकादि-  
क्रमेण परिदृश्यमानप्रवाहजलस्यैव प्रथमनिरूपणादत्राप्यादौ प्रवाहभक्तिमार्गीया एव  
ज्ञेयाः । अग्निमागामुत्तरश्लोकेषु निरूपणम् । तथाच पदसम्बन्धः, गङ्गा देवी आदित्यैषां  
तानि गङ्गादीनि, तस्या एवाधिदैविकादिरूपाणि, तस्या एव 'तीर्थभूता' आदिसाधकत्वच-  
नाद्भक्ताः, परन्तु दृश्यमानजलादिरूपाक्रमेण प्रवाहमार्गीया एव । कर्ममार्गीयायेत्युक्तमस्त-

ज्ञापनाय 'वर्य'पदम् । तादृशेष्वपि दुष्टैरेव स्वरूपापेक्षया तदोपैरित्यर्थः । तादृशैर्धर्मव्रते-  
 प्वाच्छादितेषु सत्सु, धर्मा एव तेषां धर्मिस्वरूपज्ञाने आवरका जाताः । ननु भगवद्-  
 र्धनिष्ठेषु कथं तद्धर्माणाभावरकत्वं तत्राहुः—तिरोहिताधिदैवेष्विति । तिरोहितमधिदै-  
 वस्वरूपं येषु । यथा जलप्रवाहे मूर्तिमत्या गङ्गायास्तिरोधानं तथा प्रवाहमार्गेषु साक्षा-  
 त्यरूपोत्तमस्वरूपतिरोधानम् । विभूतिरूपस्यैव तेषां भजन तद्रूपमेव फलं, न तत्राधिदैवि-  
 कभजनं फलं चेति द्रव्याशुद्ध्या पुष्टिमार्गीयाणां तत्सङ्गो न साधक इति शरणगतिये-  
 वोपदिशन्ति कृष्ण एवेति । अत एवा'द्यफलाभाये भगवतो दातृत्वं नास्ति सा  
 सेवानाधिदैविकी'त्युक्तं सेत्राफले । प्रकृते तु आधिदैविकस्वरूपस्यैव सर्वस्य साधक-  
 त्वादाधिदैविकरसात्मकसदानन्दस्वरूपज्ञापककृष्णपदमेवोक्तं सर्वत्र शरणागतौ । एतेन  
 तद्व्यतिरिक्तस्वरूपस्य शरणमपि न साधकमित्यपि सूच्यत इति सुष्टूक्तम् ॥ ३ ॥

ननु ज्ञानिनो निर्दोषाः समबुद्धय एकान्तस्थितयः तत्सङ्गः साधको भविष्य-  
 तीति तेषामपि मायामोहितत्वात्साक्षात्यरूपोत्तमसम्बन्धाभावेनासाधकत्वं निरूपयन्तः  
 कर्तृणां तन्निरूपयन्ति—अहङ्कारविमूढेष्विति ।

**अहङ्कारविमूढेषु सत्सु पापानुवर्तिषु ।**

**लाभपूजार्थयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ४ ॥**

ते तु 'अहं ब्रह्मास्मी'त्यहङ्कारेण विशेषेण मूढा, नहि तत्र साक्षात्पुरुषोत्तमस-  
 म्बन्धः, किन्त्वक्षरमात्रसम्बन्धेन तन्मात्रस्यैव परमफलत्वं मन्यन्त इति सेव्यसेवकभाव-  
 स्यापि गतत्वाद्विशेषेण मूढास्तादृशेषु सत्सु । ननु अविद्यानिवृत्तौ अनुभवरूपे विज्ञाने  
 सम्पन्ने ब्रह्मणि लयो भवतीति कथं तेषां मोहः संभवतीति तत्राहुः पापानुवर्ति-  
 ष्विति । 'स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिन' इतिवाक्यार्तुष्टिमार्गीयाणां फले प्रति-  
 बन्धकत्वात्साक्षात्पुरुषोत्तमज्ञानाभावरूपस्य तादृशज्ञानस्य पापत्वात्तदनुवर्तिनां पापा-  
 नुवर्तित्वमेवेति तथोक्तम् । किञ्च, तादृशस्य पुनरक्षरलयानन्तरं पुष्टिफलसंभावनैव  
 नैत्यपिज्ञापनाय पापरूपत्वं विशेषेण मूढत्वं चोक्तम् । ननु तथाप्यानन्दानुभवो भविष्य-  
 तीति तत्राहुः—लाभपूजार्थयत्नेष्विति । तन्मार्गे न साधनदशायां न च फलदशायां  
 तदनुभवः, यतो लाभः आत्मलाभः पूजा तत्साधनार्थं मनस्येव कल्पितमूर्तेरुपासनारूपा,  
 तदर्थमेव यत्नो येषां तादृशेषु । नगत्मन ऐक्ये सर्वेन्द्रियाणां सार्थकता, नाप्यानन्दानु-  
 भवज्ञानं च, यथा जले निमग्नस्य जलपानम् । बहिरेव पाने तदनुभव इति न तेषामानन्दानु-  
 भवोपि । प्रकृते तु पुष्टभावापन्नस्य 'भगवता सहे'त्यादिरूपभावनायामपि सर्वेन्द्रियाणां  
 साक्षात्स्वरूपानुभवो, बहिःप्राकट्ये तदनुभवे किं वाच्यमिति भावः । तदुक्तं निरोधवर्णने

‘सङ्कल्पादपि तत्र हि’ ‘दर्शनं स्पर्शनं स्पृष्टमि’त्यादिना । एवं सति पुष्टिमार्गीयस्य न तत्सङ्गः साधक इति शरणमेव निर्दिशन्ति कृष्ण एव गतिः ॥ ४ ॥

ननु ज्ञानिष्वपि केचन भक्ता भवन्ति, तत्रापि भेदयुक्ताः, ते पुनर्द्विविधाः केचन नामनिष्ठाः केचन सर्वैकनिष्ठास्तेषां सङ्गः साधको भविष्यति, तथाचोक्तं ‘सङ्गस्तेष्वय ते प्रार्थ्यः’ ‘सतां प्रसङ्गा’दित्यादिनेत्याशङ्क्य तपोरपि साधकत्वाभावात्प्रथमं नामनिष्ठा-नामसाधकत्वं वदन्तो मन्त्राणां तन्निरूपयन्ति अपरिज्ञानेति ।

**अपरिज्ञाननष्टेषु मन्त्रेष्वव्रतयोगिषु ।**

**तिरोहितार्थदेवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ५ ॥**

यद्यपि ‘एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीत’मित्यत्र ‘मन्त्रोप्येकस्वस्य नामानि यामी’-त्युक्त्या भक्तानां नामैव परो मन्त्रः तत्कीर्तनपराः समीचीना एव तेषां तत्कीर्तने तदानन्दानुभवजनिताश्रुपुलकादयोपि भवन्ति तथापि तेषां पर्यादामार्गीयत्वात्स्वरूपतोऽपरिज्ञानमेवेति तेषु मन्त्रेषु नामरूपेष्वपरिज्ञानेन नष्टेषु अलक्षितेषु सन्तु । यादृशः कृष्णपदस्य रसात्मकभावरूपीर्यस्तदपरिज्ञानादलक्षितत्वमुक्तम् । ननु कथं सोर्यो न लक्षितस्तत्राहुः—अव्रतयोगिष्विति । व्रतं अनन्यत्वं पतिव्रतावत्यतिविषयकपरमानुरागजनितरसात्मकभावेन तदेकनिष्ठारूपं, तदभावतोऽव्रताः पूर्वोक्ताः, तादृशेषु योगः संयोगो येषामिति तथात्वमुक्तम् । ननु तेष्वपि नामधर्माणां दृश्यमानत्वात्कथमेवमुच्यते तत्राहुः—तिरोहितेति । तिरोहितः अर्थो रसात्मकस्वरूपेण यः प्रकटः स यत्र तादृशेषु सन्तु । अत एव मुकुन्द ! नारायण ! यज्ञेश्वर ! ज्ञाननिधे ! वासुदेवैत्यादीनि मोक्षेच्छुभिरुच्यन्ते, नहि पुष्टिमार्गीयैरिव ‘व्रजजनातिहृन् वीरयोपिताम्’ ‘सुरतनाथे’त्यादीनि रसात्मकानि तानि । तेषां पर्यादामार्गानुसारेणैव तदनुभवो भवति न पुष्ट्यनुसारेणेति न तत्सङ्गस्वस्य साधक इति शरणमेवोपदिशन्ति कृष्ण एवेति ॥ ५ ॥

ननु ये सेवापरास्ते तत्सर्वविनियोगेनानन्यव्रतेन सेवां कुर्वन्तीति न तेषामव्रतत्वमिति साधका भविष्यन्तीत्याशङ्क्य तेषामसाधकत्वं वदन्तः कर्मणां वदाहुः—नानायादेति ।

**नानायादविनष्टेषु सर्वकर्मव्रतादिषु ।**

**पापण्डैकप्रयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ६ ॥**

यद्यपि ते पूर्वोक्तापेक्षया सर्वोत्तमास्तथापि तेषां पर्यादाभिश्चत्वात्सर्वकर्मव्रतादिषु सर्वे पुष्टिमार्गीयं यावत्प्रमेयं कर्म तन्मार्गीया सेवा ‘भगवता सेहे’त्यादिरूपा व्रतं

लोकपेदनैरपेक्ष्येण केवलस्वरूपमात्रैकनिष्ठत्वं, आदिपदेन तन्मार्गीयश्रवणकीर्तनादीनि ज्ञेयानि, तेषु नानावाद्घिनष्टेषु सत्सु । नानावादा अनेकविधप्रमाणवचनानि मर्यादा-  
मार्गीयाणि आवरणरूपाणि, तैः कृत्वा विज्ञेयैः नष्टा अलक्षितास्तददोषेषु सत्सु । तेषां  
मर्यादाभिश्चत्वेन विहितैरदृष्टित्वात्, न तज्ज्ञानमितिभावः । अत एव 'मर्यादाया गुणज्ञास्ते'  
इति निरूपितं पुष्टिप्रवाहमर्यादायाम् । ननु तेषां भक्तिमार्गनिष्ठया सेवादिकं कुर्वन्तीति कथं  
तदज्ञानं तत्राहुः—पापण्डैकप्रयत्नेष्विति । पापण्डो नामोपाधितद्रूप एवैकः प्रयत्न-  
स्तदनुकूलसाधनरूपो येषां तादृशेषु । तेषामपि मिश्रत्वेन पुरुषोत्तमसायुज्यैकफलत्वा-  
त्प्रयत्नादीनां पुष्टापेक्षयोपाधिरूपत्वमेवेति तथा निरूपितम् । अत एव मध्यमफलत्वं  
सायुज्यस्य निरूपितं सेवाफले 'सेवायां फलत्रयमित्यनेन । किञ्च, सायुज्यस्य मर्यादाम-  
क्तिमार्गीकफलत्वं तत्त्वार्थदीपे निरूपितं 'सर्वत्यागेनन्यभावे' इत्यनेन । पुष्टिफलं तु केवलं  
तादृशानुग्रहभरणे सर्वात्मना निरूपयिमाधिकसाध्यमिति तादृशस्यापि सद्गो न साधक इति  
शरणमेव निरूपयन्ति कृष्ण एव गतिर्ममेति ॥ ६ ॥

नन्वेवं सकलमार्गीयसाधनफलानां बाधकत्वेन पुरुषार्थरूपत्वाभावात्पुष्टिमार्गीयस्य  
के पुरुषार्थाः ? कीदृशया वा कथं वा सिद्धा भविष्यन्तीति प्रश्ने तादृशस्य भगवानेवं  
चतुर्विधपुरुषार्थरूपः, तत्सिद्धौ शरणमेव साधनं नान्यदिति भगवत्तद्रूपनिरूपणपूर्वकं  
चतुर्भिः श्लोकैः शरणं निरूपयन्ति । तत्र प्रथमं धर्मरूपत्वेन निरूपयन्ति—अजामिला-  
दिदोषाणामिति ।

अजामिलादिदोषाणां नाशकोनुभवे स्थितः ।

ज्ञापिताखिलमाहात्म्यः कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ७ ॥

'पुष्टिमार्गे हरेर्दास्यं धर्मोयौ हरिरेव हि । कामो हरेर्ददत्तैव मोक्षः कृष्णस्य  
चेद्भुवमित्यत्रोक्ताः पुरुषार्था मर्यादाभार्गीयेभ्यो भिन्ना उपाधिरहिता इति । तत्र हरेर्दास्यं  
धर्म उक्तः । तच्च 'पुरुषभूषण देहि दास्यमित्यत्र स्वरूपास्वरूपत्वेन निरूपितमिति भग-  
वतो धर्मरूपत्वं सिद्धम् । एवं सति धर्मेण यथा दोषनिवृत्तिर्निर्दोषतासिद्धिश्च भवति  
तथा भगवान् स्वरूपेणैव दोषनिवर्तक इष्टप्राप्तोपि भवतीति धर्मनिरूपणपूर्वकं शरणं  
निरूपयन्ति । तथाहि—अजामिलादयः प्रबलदोषदुष्टास्तद्रूपा अत्र सकलेन्द्रियसङ्घा-  
तास्तेषां दोषाणां नाशकः स्वरूपेणैव न साधनैः । अयं भावः, पुष्टिमार्गीयस्य स्नेहोत्पत्त्य-  
नन्तरं स्वव्यसनतः स्वतन्त्रपुरुषार्थत्वेन क्रियमाणायां 'भगवता सह संलाप' इत्याद्युक्त-  
प्रकाररूपावनापामन्तर्लीलासहितसाक्षात्स्वरूपमास्त्ये सति या सेवोत्तमपुष्टिरूपा तत्रेन्द्रि-  
याणां प्राकृतपदार्थसंसर्गदर्शनस्मरणादिना यः प्रतिबन्धः सोऽत्र दोषस्तन्नाशकः ।  
यथाऽजामिलस्य नाममात्रेण दोषा दूरीकृतास्तथा प्रकृते तादृशस्य विधो गुणगान-

लक्षणनापात्मकलीलया तत्तदिन्द्रियाणां दोषं नाशयतीति तथोक्तम् । अनेन दोषनिवृत्तिर्भर्माकार्यशुक्तम् । इष्टभासिं निरूपयन्ति अनुभवे स्थित इति । दोषं दूरीकृत्य तत्तदिन्द्रियादिषु स्वयं स्थितो भूत्वा स्वरूपानन्दगनुभावयतीति भावः । अनेनेष्टभासिरूपं भर्माकार्यशुक्तम् । एतत्सर्वं निरोधवर्जने 'संसारवेदशुष्टानामि'त्यारभ्य 'हरिवत्सुखमि'त्यन्तेन स्फुटीकृतम् । ततोपि विशेषमाहुः—ज्ञापिताखिलमाहात्म्य इति । ज्ञापितमखिलं पुष्टिलीलारूपं माहात्म्यं येन । अत एव व्रजस्थितानामपि च लीलानुभवः । पुष्टिवाहमर्यादायामपि 'पुष्ट्या विमिश्राः सर्वज्ञा' इत्युक्तम् । यगवति साक्षादन्तःप्रकटे तल्लीलाधर्माणामप्याविर्भावात्तज्ज्ञानमप्याविर्भवतीति न किञ्चिद्रनुपपन्नम् । एवं सति तादृशस्य तादृग्भावपोषणादौ ईदृग्भर्मरूपो भगवानेव शरणमिति कृष्ण एव गतिर्ममेत्युक्तम् ॥७॥

ननु तेषामिन्द्रियादीनां प्राकृतत्वात्तदधिष्ठातृणां च तथात्वात्कथं दोषनिवृत्तिरित्याशङ्क्य तेषां सर्वसद्भावस्वरूपः कृष्ण एव भवतीति तस्यैवार्थस्वरूपत्वं निरूपयन्तः शरणगतिमाहुः—प्राकृता इति ।

**प्राकृताः सकला देवा गणितानन्दकं बृहत् ।**

**पूर्णानन्दो हरिस्तस्मात्कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ८ ॥**

प्रपञ्चनिरूपणप्रस्ताये 'जडे सर्वशः प्रकट इतरावाच्छन्नौ, जीवे आद्यौ प्रकटौ आनन्दांसस्तिरोहित' इतिनिरूपितम् । पुष्टिभागीयस्य तु साधनदशायां सेवागुणगानादिपरस्य स्वत एवानन्दांशः प्रकटो भवति । तथाचोक्तं सिद्धान्तशुक्तावल्यां 'ततः संसारदुःखस्ये'ति । तत्रैव पुनः विवरणे 'यद्यप्यनभिलषिते ते तथापि यस्तु स्वभावाद्भवत' इत्युक्तम् । सिद्धान्तरहस्येपि 'सर्वेषां ब्रह्मता तव' इत्युक्तम् । 'सच्चिदानन्दता स्वत' इति निरोधविवरणेषुक्तम् । एवं सति ये पूर्वं प्राकृता देवा इन्द्रियाधिष्ठातरस्ते सच्चिदानन्दरूपाह्यात्मरूपे सम्पन्ने पुरुषोत्तमाविर्भावात्सकला जाताः । कला रसात्मकप्रत्ययविद्यारूपा नत्सहिता जाताः । गणितानन्दरूपमक्षरं ब्रह्म, 'क'प्रत्ययेन ततोपि हसवोस्तिनुच्छो जीवः स बृहज्जातस्तदपेक्षयापि महान् जातः । उपपन्न हेतुः पूर्णानन्दो हरिरिति । यतः सर्वेषां सच्चिदानन्दत्वे सम्पन्ने पुरुषोत्तमाविर्भावात्सम्बन्धिरसात्मका भावा उत्पद्यन्त इति तज्ज्ञानितप्रचुरार्तिशान्त्यर्थमन्तस्तत्तदिन्द्रियादिषु तत्तत्स्वरूपः स्वयमेव भूत्वा सर्वेषु तेषु पूर्णस्वरूपानन्ददग्नेन दुःखं हरतीति तथोक्तम् । एवं सत्यक्षरात्मत्वेनाप्राकृतत्वे किं वाच्यम् । किन्तु तस्य समस्तसद्भावः साक्षात्सात्मकलीलारूपपूर्णानन्दभगवद्रूप एव भवतीति कुतस्तत्र दोषावकाश इति भावः । तदेव 'श्रीमन्नो-

कुलजीवात्मा श्रीमद्गोकुलमानसमित्याद्युक्तम् । यत एवं भगवत परार्थरूपत्वं तस्मात्तस्य तथात्वसिद्धये शरणमेव साधनमिति तन्निरूपयन्ति कृष्ण एवेति ॥ ८ ॥

एवमर्थरूपं निरूप्यैतादृशस्य प्रचुरार्तिशान्त्यर्थं बहिःप्रकटस्य कोटिकन्दर्पलाङ्घ्यसाक्षाद्भगवतः सद्गत्स्यैवापेक्षितत्वात्कामरूपत्वं निरूपयन्तः शरणं गार्थयन्ति विवेकेति ।

विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितस्य विशेषतः ।

पापासक्तस्य दीनस्य कृष्ण एव गतिर्भम ॥ ९ ॥

अत्रेदमाकृतम् । पुष्टिभार्यायभावाविर्भावानन्तरं विरहानुभवार्थं त्यागस्यावश्यकत्वात्त्यागानन्तरं पुनः क्रमेण मिथो गुणानुवादजनितप्रचुरभावानामुच्छ्रितत्वात्तादृशस्य देशमापेन्द्रियान्तःकरणादीनि स्वरूपात्मकानि भवन्तीति पूर्वश्लोकद्वयेन निरूपितम् । एतावत्पर्यन्तं विरहानुभवे बधूरगादिनसानाशान्ताः सप्तावस्थाः संपन्नाः । जस्मिञ्छब्देके अन्यादृशवस्थात्रयं निरूपयते । तथाहि—धैर्यं, भक्त्यादयस्तै रहितस्य । विवेकरहित्ये विकृतत्वं भवति यतो वैकल्ये विवेको न तिष्ठति । तद्योन्मादावस्थायां भवतीति सा निरूपिता । धैर्यादित्येनादर्निशं साक्षात्सद्भावावजप्रचुरार्तिजनितमस्वास्थ्यं तिष्ठति । ननु पूर्वं गुणगानेऽन्तः साक्षादनुभवस्योक्तत्वात्कथं धैर्याभावेनास्वास्थ्यं तत्राहुः—भक्त्यादिरहितस्येति । गुणगानदशायां पूर्वपन्तःप्रकट्ये साक्षाद्भक्तिरूपमुत्वारविन्दुधास्वादात् । आदिपदेन साक्षाद्भोगः । साक्षाद्भोगस्याप्यनुभवात्स्वास्थ्यं स्थितमिदानीं प्रलापावस्थाया फलप्रतिबन्धकत्वेन साक्षात्सुधादानतदुपयोगिवाक्पात्रकरणादस्वास्थ्यमेव तिष्ठतीति तद्वहितस्येत्युक्तम् । तत्रापि पत्किञ्चित्स्वास्थ्येपि फलप्रतिबन्धकत्वेन विशेषतो रहितस्येत्युक्तम् । तथाचोक्तं संन्यासनिर्णये ‘मगवान् फलरूपत्वात्’ ‘सास्यव्याकरणं न कर्तव्यमित्यादि । एवमस्वास्थ्येपि स्वास्थ्यव्याकरणे प्रचुरार्त्यां मूर्च्छामप्रापति सा दशा निरूपिता । ततः पुनर्गाम्ब्रवस्थाया स्वरूपस्थितौ सद्भावावेन स्यात्प्रसक्तं गुणावलम्बितचित्तं पुनर्भवति तेन च पत्किञ्चित्स्वास्थ्ये तदेव फले प्रतिबन्धकं भवतीति तस्य पापरूपत्वमिति तत्रासक्तस्येत्युक्तम् । अत एवोक्तं ‘शानं गुणाश्च तस्यैव वर्तमानस्य वापका’ इति संन्यासनिर्णये । ततः पुनः क्षणानन्तरं स्थितिरेव न भवतीति दशम्यवस्था निरूपिता । एतत्सर्वं फलप्रकरणीयतृतीयाध्यायान्ते स्फुटीकृतम् । तत्र गुणगानानन्तरमनाविर्भावे मूर्च्छान्तावस्थानिरूपणपूर्वकं लीलाप्रवेशप्रलापः स्वरूपस्थितौ गुणगानमिति निरूपितम् । अत्रे पुनरतिदैन्ये जाते ‘रुद्रुः सुस्वरं’ ‘तन्वः प्राणपिपागत’मित्यादिनामिमा सा सूचितेति सर्वगुणप्रज्ञम् । एतादृशस्य पुनः शीघ्रमाविर्भावार्थं शरणमेव भावनीयमिति कृष्ण एव गतिर्भमेत्युक्तम् । एतदनन्तरं सर्वयाऽऽविर्भूय परमा-

नन्दं ददातीति ज्ञापनाय कृष्णपदं, शरणं निरूपितम् । तथाचोक्तं 'ब्रह्मा विष्णु रुद्रश्च भूत्वा पुनः कृष्ण एव जात' इति 'तासामाविरभूत्कृष्ण' इत्यस्याभासे ॥ ९ ॥

एवं दशवस्पाभिः पूर्णविपयोगानुभवे जाते प्रतिबन्धकदेहनिवृत्तौ तस्या-  
लौकिकं रसात्मकं लीलोपयोगिदेहादिकं संपाद्य स्वयं साक्षात्प्रकटीभूय वहिः स्वरू-  
पानन्दं ददातीति मोक्षरूपत्वं निरूपयन्ति सर्वसामर्थ्यसहितः सर्वत्रैवा-  
खिलार्थकृदिति ।

सर्वसामर्थ्यसहितः सर्वत्रैवाखिलार्थकृत् ।

शरणस्थसमुद्धारं कृष्णं विज्ञापयाम्यहम् ॥ १० ॥

कृष्णाश्रयमिदं स्तोत्रं यः पठेत् कृष्णसन्निधौ ।

तस्याश्रयो भवेत् कृष्ण इति श्रीवल्लभोन्नवीत् ॥ ११ ॥

सर्वं यावदलौकिकैश्वर्यवीर्यादिगुणानां कर्तृमकर्तृमन्ययाकर्तुं यत्सामर्थ्यं तत्स-  
हितः सन् तं प्रति स्वरूपानन्दं दातुं स्थितो भवतीत्यर्थः । एतदेवोक्तं 'भगवानपि ता रात्री'-  
रित्यत्र 'भगवत्पदेन स्वतन्त्रलिखने । ननु ममोः सर्वं संभवति परं तादृशेन प्रशुणा सह  
साम्येन स्वरूपानुभवः कथं सुवचो जीवस्य तत्राहुः सर्वत्रैवाखिलार्थकृदिति । 'पुष्टिं काये-  
ने'तिवाक्यात्तादृशं तं भक्तं साक्षात्सात्मकस्वचरणारविन्दमकरन्दरजसाऽलौकिकदेहादि-  
सम्पत्तिपूर्वकं लीलासमाजे प्रकटीकृत्य सर्वत्रैव देहमाणेन्द्रियादिष्वखिलार्थान् रसात्म-  
कालौकिकवयोगुणादिरूपानलौकिकैश्वर्यगुणादिसामर्थ्यरूपान करोतीति तथोक्तमत  
एवालौकिकसामर्थ्यं पुष्टिफलं निरूपितं सेवाफले । एतत्सर्वं यथार्थकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रम'  
इत्यस्य विवरणे स्फुटीकृतं 'स्वसामर्थ्यादियोजने'त्यादि । एवं स्वरूपात्मकतां संपाद्य स्वरू-  
पानन्दं ददातीति मोक्षरूपत्वं निरूपितम् । अत एव 'मोक्षः कृष्णस्य चेद्भुव'मित्युक्तम् ।  
ननु मोक्षे आनन्दमग्नता तिष्ठति प्रकृतेः तथैव चेत्स्यात्तदा कथं लीलानुभव इत्याहुः शर-  
णस्थसमुद्धारमिति । अत्र शरणपदं सर्वात्ममानपरम् । अलौकिकसृष्टिः सर्वैतादृग्भाव-  
वत्येवेति शरणस्थस्य सर्वात्मभावस्यस्य पूर्वोक्तभक्ततत्तलीलानन्दसमुद्रप्रश्रय-तत उद्धारं  
करोतीति शेषः । अन्यथैकस्यां लीलायां मग्नस्य द्वितीया साननुभूतैव तिष्ठेत् । एतत्सर्वं 'यत्  
एतद्दिगुच्यत' इत्यत्र स्फुटीकृतम् । यद्वा, लीलानुभवदशापामपि तत्प्रभावादेव दैन्यमात्र  
उत्पद्यत इत्यपि ज्ञापनाय शरणस्थेतिपदम् । अथवा, अतःपरं सर्वोदेन शरणस्या जाता  
इति वा ज्ञापनार्थं शरणे स्थित्यर्थ उक्तः । तथासति शरणसमाप्तिर्ज्ञापिता । किञ्च, एवं पूर्ण-  
स्वरूपानन्दानुभवानन्तरं श्रीमद्ब्रह्मवोपदिष्टज्ञानेन यादृशो निरोधः सिद्धस्तादृशो निरू-  
पित इति ज्ञापनायोद्दारे सम्भवत्वमुक्तम् । एवं सति सदा फलरूपपूर्णनिरोधस्थित्यनन्दं



तस्य स्वस्मिन् साक्षात्पुरुषोत्तमाभिन्नत्वज्ञानं भवतीति मुक्तिलीला निरूपिता । तत्  
 आश्रयलीलां निरूपयन्ति कृष्णमिति । तं पुनः केवलशुद्धभावात्मकत्वेन सद्भावस्य  
 स्वरूपत्वाद्यारत्वेन स्वस्वरूपात्मकं वेदलानुभवान(?)बालरुभावरूपं कृष्णं करोतीत्याश्रय-  
 लीला निरूपिता । कृष्णमित्यत्रापि करोतीतिक्रिया योज्या । अत एव 'ततो  
 विप्रोचनं स्वाश्रयभाषणं प्रत्यापत्तिरित्युक्तं 'वर्हापीडे'तिश्लोकेऽकविवरणे । एवं सति निरो-  
 धलीलानन्तरं 'मुक्तिर्हितान्ययारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः' । 'मुक्तानामाश्रयः कृष्णः'  
 इति स्फुटद्वयार्थरूपं मुक्त्याश्रयलीलाद्वयं निरूपितं पदद्वयेन । एतावदेवैप्सिततममितिपद-  
 द्वयस्य कर्मत्वेन निरूपणम् । पूर्वं सर्वसमर्थत्वेन स्वतन्त्रकर्ता प्रचुरिति प्रथमान्तपदं दत्तम् ।  
 अग्रे स्वेष्टितत्वेन पदद्वयं द्वितीयान्तमुक्तं, तेन तादृशः प्रचुरेव स्वेष्टितं करोतीतिक्रिया-  
 ध्याहारेण कर्तृकर्मक्रियान्वयसम्बन्धोऽत्र ज्ञेयः । एवं ग्रन्थार्थोऽपि सम्यग्योजितो भवतीति  
 सर्वमवदातम् । अतःपरं दशविधलीलानां पूर्णत्वादाश्रयाय सदा कृत इति कृष्ण एवे-  
 त्यग्रेणोक्तम् । अत्र कृष्णावतारलीलानां नित्यफलत्वधित्वमुद्देशेन लक्षितमिति स्वरूपा-  
 त्मकत्वेऽपि लीलानां नित्यत्वज्ञापनाय न कण्ठोक्त उपसंहारः कृत इतिभावः ।  
 एवं साधनफलस्वरूपधिवेकेनाश्रयं निरूप्य तस्य लोभनिष्ठसुषैरुफलत्वेन तस्याश्च  
 भगवन्नोन्मैकभोग्यत्वाददेयतमत्वेन प्रभोर्निवेदनीयमिति तदग्रे कृत्वा निवेदयन्त आहुः  
 विज्ञापयाम्यहमिति । किञ्चिदितिशेषः । किं तदित्याकाङ्क्षायामाहुः इदमिति ।  
 यदग्रे कृतं तद्विनये मे प्रत्यक्षतोऽह्युक्त्या निर्दिष्टम् । किं ते तदपीति तत्राहुः स्तोत्र-  
 मिति । तर्हि सपीचीनं कृतं प्रीतोहं किमियद्विज्ञाप्यत इति चेत्त्राह कृष्णाश्रयमिति ।  
 कृष्ण आश्रयो यस्मिन्निति तत्स्वरूपनिवेदनं कृतम् । एतेनाश्रये कृते आश्रितपक्षपातस्य  
 त्यक्तुमशक्यत्वाच्चिन्निर्वन्धेनादेयतमपि पराकाष्टापन्नं वस्तु तस्मै देयं भवतीति स्वकीया-  
 नामार्तिघ्नं भवति अतिविनयेन विज्ञापनमेवोचितमिति श्रीमदाचार्याणां हृदयमिति  
 ज्ञापितम् । अत एव एवं विज्ञाप्य तत्पाठफलं निरूपयन्ति य इति । कृष्णस्य भावात्म-  
 कस्य सन्निधौ सति पुष्टिपार्गीयस्योद्भूतभावाद्भुरस्य भावरूपत्वेनान्तस्तत्साञ्चिध्यं भव-  
 तीति तयोक्तम् । तत्साञ्चिध्यार्थं वा पठेत्तस्यैवाश्रयो भवेदिति । य इति मदतिरिक्तोऽन्योऽपि  
 स्वीकृत इत्यर्थः । इदं त्वतिकारुण्यमत्यौदार्यं चरित आचार्याणाम् । नन्वेवं विज्ञापनेऽपि  
 भगवता तन्नोरीकृतं चेत्तदा कथं फलसिद्धिस्तत्राहुः श्रीवल्लभोऽब्रवीदिति । इतीति  
 पूर्वोक्तं विज्ञापनं श्रीवल्लभः साक्षात्प्रीतोऽब्रवीत् अङ्गीकृत्यात्प्रवानित्यर्थः । अथवा  
 श्रीवल्लभः स्वयमेव श्रीरूपाणां स्वामिनीनां वल्लभः परमवात्सल्यास्पदीभूतः । अत एव

ताः स्वरहस्यं सर्वं कथयन्तीति तासां गुरुत्वं निरूपितं संन्यासनिर्णये । अतिश्रियाय  
गुरुः स्वरहस्यं कथयतीत्युक्तत्वात् । एवं सति तद्ब्रह्मत्वेन प्रभोरपि परम्येमास्पदीभूत  
इति तदुक्तं सर्वमङ्गीकृतं भगवदेति ज्ञापितम् । अत एव यतोङ्गीकृतमिति हेतोरन्नवी-  
दित्याह, फलमित्यर्थः । किञ्च तद्ब्रह्मत्वेन भगवदुक्ताङ्गीकारः स्वतः सिद्ध एवेति न  
पुनस्तदुक्तिः कथोक्ता । अनेन फले सर्वथापि निःसन्दिग्धत्वं निरूपितमिति सर्वमव-  
दातम् ॥ १०-११ ॥

अतिमलिनतराशये मदीये किमयमपूर्वतरोदयो विलासः ।  
निरुपथिकरुणैकविभ्रमोपि वितरणशीलविभोरतोद्भूतं नः ॥ १ ॥  
व्रतवतो महती किल ते कृपा मद्पराधमणा अपि तादृशाः ।  
उभयतौल्यविचारणया विमो विज्ञपते तत्र सैव गरीयसी ॥ २ ॥  
अदेयदानैकपरान् महौदार्यगुणैः स्वके ।  
धीमदाचार्यन्तरणान् आश्रये करुणानिभीन् ॥ ३ ॥  
मणतालोकसंजातकरुणादृष्टिभिः क्षणात् ।  
संतापं हरति श्रीमद्विद्वलेशं तमाश्रये ॥ ४ ॥

इति श्रीकृष्णाश्रमस्तोत्रविचरणं समाप्तम् ।



समाप्तश्चायं ग्रन्थः ।

श्रीमद्-वल्लभाचार्य-महाप्रभु-विरचित-षोडश-ग्रन्थान्तर्गता-वशमी

## चतुःश्लोकी

सप्तभिष्टीकाभिः समलंकृता

- |                      |                          |
|----------------------|--------------------------|
| १. श्रीवज्रराजानाम्  | ५. श्रीकृष्णरायभट्टानाम् |
| २. श्रीवल्लभानाम्    | ६. श्रीनाथभट्टानाम्      |
| ३. केषाञ्चित्        | ७. श्रीद्वारकेशानाम्     |
| ४. श्रीमधुरानाथानाम् |                          |

परिशिष्टम्

श्रीमद्-वल्लभाचार्य-महाप्रभु-श्रीमद्-विठ्ठलेश-प्रभुचरण-विरचिता

## श्रीचित्रासुरचतुःश्लोकी विवृतिः

छपाख्यत्रय-समलंकृता

१. श्रीहरिरायण! टिप्पणी
२. श्रीवल्लभाना टिप्पणी
३. श्रीपुरुषोत्तमानां प्रकाश.

श्रीमद्—वल्लभाचार्य—महाप्रभु—वशावतस—नित्यलोला—

स्थित—गोस्वामि—श्री १००८ श्रीगोकुलनाथ—महाराज—

श्रीत्येतेषा—स्मृती—प्रकाशिता

प्रकाशक -

श्रीगोकुलनाथजी महाराजस्थापित मोटा मन्दिर ट्रस्ट,  
बडा मन्दिर, श्रीजीवनजी महाराज लेन,  
भुलेश्वर, बम्बई, ४००००२. भारत.

साधारणसंस्करण २,००० प्रति

राजसंस्करण १,००० प्रति

श्रीवल्लभाब्द ५०३

ग्रन्थ-परिचय लेखक : गोस्वामी इशाम मनोहर

मुद्रक :

स्टूडियो बहार, २३-ए, सेण्ट्रल चौपाटी बिल्डिंग, चौपाटी,  
बम्बई-४०० ००७.



गोस्वामी १००८ श्रीगोकुलनाथजी महाराज

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाद्यार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

## ग्रन्थ-परिचय

चतु रत्नोक्तीका प्रणयन श्रीमहाप्रभुने वि. सं. १५८० या ८२ में कभी किया या ऐसी किंवदन्ती मिलती है । यह ग्रन्थ किस भाग्यवान् भगवदीयके लिए लिखा गया यह तो पता नहीं चलता, किन्तु श्रीरासी वेणवोंकी वार्ताके अनुसार राणा व्यास और भागवानदास सानोरा ने श्रीमहाप्रभुके मुखारविन्दसे इस ग्रन्थका अध्ययन किया था।

प्रत्येक मनुष्यके जीवनमें धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष रूप पुरुषार्थोंका कोई न कोई विशिष्ट स्वरूप एवम् स्थान होता ही है यह भिन्न बात है कि तत्तन्मार्गीय बोजभाव, रुचि, संघ या देशकालादिकी स्थिति के अनुरूप नत-मार्गीय जीवोंने पुरुषार्थ-सम्बन्धी धारणायें भिन्न-भिन्न पायी जाती है. पुष्टिमार्गीय जीवोकी धर्मार्थकाममोक्ष-सम्बन्धी धारणाओंके आदर्श स्वरूपका विचार इस चतु रत्नोक्तीमें किया गया है.

स्वमार्गीय धर्मार्थकाममोक्षसे भिन्न प्रकारके पुरुषार्थोंके फेरमें जब कोई पद जाता है तो विकलता, निराशा, कुण्ठा, शोक एवम् आत्मघाती भावनाओं की ओर ही वह अपसर हो जाता है इस जगत्में सभी तरहके जीव हैं और सभीको सभी तरहके सग भी मिल जाते हैं. इन आकस्मिक सर्गोंके कारण कभी-कभी हमारे भीतर एक ऐसी अस्वभाविक अहंज्ञा-ममता पनप जाती है जो अस्वमार्गीय धर्मार्थकाममोक्षके प्रकारोंकी ओर हमें आकृष्ट करती है

गोधराके राणा व्यासकी भी प्रारम्भमें एक वैरागी बाबाकी सगति मिली थी. उस वैरागी बाबाकी तीर्थयात्राकी बातोंको सुनकर राणा व्यासकी लगा कि जीवनका वास्तविक सुख तीर्थोंकी यात्रा करते रहनेमें ही होगा चाहिये अतः अपने माता-पिताकी कुछ कहे-सुने बिना एक रात ये घरसे निकल गये. इनका मन परन्तु किसी भी तीर्थके दर्शनसे प्रसन्न न हो पाया. प्रारम्भसे ही इन्हें विद्याभिमान और जितेन्द्रिय होनेका अभिमान तो था ही सो माता-पिताके देहान्तके बाद इन्हें पांच दस हजार रुपये और उत्तरा-विकारामें मिले फलत इन्हें धनाभिमान भी हो गया ! कुल मिला कर ये अपने-आपको पहुँचा हुआ सिद्ध और उच्च कोटीका विद्वान् मानने लग गये शर्त-शर्त अपने गावके लोग तो इन्हें गदारू ही लगने लगे सो काशीके विद्वानोंसे टक्कर लेनेकी खालसा इनके दिलमें जगो ओर एक दिन ये काशी पहुँच गये वहाँ जानेके बाद किन्तु सब कुछ उलटा हो हुआ, जिन-जिन पण्डितोंसे ये टकराये उन सभीसे इन्हें शास्त्रार्थमें पराजित होता पड़ा !

इससे य अत्यधिक लज्जित होकर गगामे कूदकर प्राणत्याग करना चाहते थे यह आत्मघात भी दिनके उजालेमें करनेमें इन्हे सकोचका अनुभव हो रहा था सो गगानटपर बैठ रात्रीवे एकांत और अन्धकार की प्रतीक्षा कर रहे थे। तभी श्रीमहा-प्रभुका भी वहां पधारना हुआ सयागवश किमी वैष्णवने श्रीमहाप्रभुसे प्रश्न किया कि गगाम डूबकर मरनेवाली क्या गति होती है इसपर श्रीमहाप्रभुने उत्तर दिया कि अहंकारवश लड नगडकर डूबनेवालेको सर्पयोनि मिलती है और आत्मघातका पाप भी लगता है दोनभावसे किन्तु मर्याम लेकर और अपने मनको भगवान्में एकाग्र बनाकर जो गगाम प्राणत्याग करत हैं उनकी दुर्गति नहीं होती

ये बात सीधो जाकर राना व्यासको लग गयी और वे दौडकर श्रीमहाप्रभुके चरणो म आकर गिर पड़ अपनी जात्मगाथा सुनाकर श्रीमहाप्रभुकी शरणयाचना करने लगे श्रीमहाप्रभुने गगान्तान करनेका आदेश दिया और बादमें ब्रह्मसम्बन्धकी दीक्षा दी सुरत ही श्रीमहाप्रभुने इन्ह चतु श्लोकीका उपदेश भी दिया था ये सम्प्रदायके अच्छ विद्वान् हुए श्रीमहाप्रभुकिरचित अन्य भी अणुनाप्य सुबोधिनी आदि ग्रन्थोकी इनके द्वारा हस्त-लिखित प्रतिया अद्यापि उपलब्ध होती हैं

इम चतु श्लोकीवें अध्ययनमें राना व्यासको अपने वास्तविक धर्म अर्थ काम एवम् मोक्ष रूप पुरुषार्थोका ज्ञान हुआ और वे मिथ्या वैराग्य धन तथा विद्वताके अहंकारसे मुक्त हुए साथ ही साथ इस अहंकारकी विफलतासे पैदा हुई कुण्ठा एवम् आत्मघात की भा क्षुद्र भावनाओपर नाबू गा सक य एक आदर्श भगवदीयका सा भगवत्सेवा तथा भगवत्समर्पण परगयण पुष्टिमार्गीय जीवन जीनेके लिए सक्षम हो पाये

पुष्टिमार्गीय भक्ति निष्काम-निष्पाधिक होती है स्वयम् भगवदनुग्रह ही पुष्टि-जीवक हृदयम भक्तिका रूप धारण कर लता है भगवदनुग्रह जीवकृत साधनोपर निर्भर नहीं होता वह तो निहेंगुक ही प्रकट होता है जिस जीवमें वह बीजभावके रूपमें विद्यमान होता है उस जीवमें वह प्रम आसक्ति व्यसन और अलौकिकसामर्थ्य के रूपम अकुरित पल्लविन पुष्पिन और फलित होनेकी विभिन्न अवस्थाआमे 'पुष्टिभक्ति' शब्दसे पुकारा जाता है भगवदनुग्रहको ही अन दिशाम्रदसे 'पुष्टि' और 'पुष्टिभक्ति' कहा जाता है अनुग्रह जब भगवान्म भक्तकी दिशामे अग्रसर होता है तो उसे हम 'पुष्टि' कहते हैं और जब जीवक हृदयस परावृत्त होकर पुन भगवान्की दिशामे अग्र-सर होता है तो उसे हम 'पुष्टिभक्ति' कहते हैं निष्कारण ही भगवान् जब किसी जीवपर अपनी कृपा या पुष्टि की वर्षा करते हैं और वह कृपावृष्टि हृदयके छोटेसे प्रदेशम समा नहीं सकती तब उच्छलित होकर पुष्टिभक्तिही सरिताक रूपमें बहने लग जानी है। उसी कृपासागर परमात्माकी ओर जहामे उठकर कृपाक मेष जीवपर बरसे थे।।

अत जैसे अनुग्रहके पूर्व न कोई कारण है और न अनुग्रहके परचात् कोई प्रयो-जन हो, वैसे ही न पुष्टिभक्तिगे पूर्व कोई कारण है और न पुष्टिभक्तिके परचात् कोई

प्रयोजन ही केवल अनुग्रह ही भक्तके हृदयसे परावृत्त होनेपर पुष्टिभक्ति बन जाता है  
(अतः स्नेह—पदार्यान्तरम् स भगवन्निष्ठ एव भगवद्विषयको ज्ञानवदैश्वर्यवद्वा  
भगवत्सम्बन्धात्तत्रैकैक्यादन्यत्रापि भासते उष्णस्पर्शवत् यथा यथा भगवत्तैकैक्य तथा  
तथा स्नेहातिशय सुबो १—१९—१६)

स्वभावतः प्रवाहमार्गीय ऐहिक पुरुषार्थं अर्थं कामकी सिद्धिकी कामना अथवा मर्या-  
दामार्गीय धर्माधिकाममोक्षरूप पुरुषार्थकी सिद्धिकी कामना पुष्टिमार्गीय जीवके हृदयमें  
चिरस्थायी नहीं हो सकती ऐसे पुष्टिभक्तके पुरुषार्थं धर्म अर्थं काम या मोक्ष का स्वरूप  
अन्वमार्गीय पुरुषार्थसे विलक्षण होना स्वाभाविक ही है श्रीमहाप्रभुने इस चतु-  
श्लोकीमें पुष्टिगन्तिमार्गीय पुरुषार्थका विलक्षण रूप हमें समझाया है चतुश्लोकी  
शब्दके य चारो श्लोक भगवत्तको वृत्तासुरचतुश्लोकीके साथ पनिष्ठ साम्य रखते हैं  
वृत्तासुरचतुश्लोकीके भी चार श्लोकोमें इन्ही पुष्टिमार्गीय चार पुरुषार्थका स्वरूप  
अभिव्यक्त हुआ है प्रारम्भके तीन श्लोकोपर श्रीप्रभुचरणकी विवृति उपलब्ध होती  
है तथा अन्तिम श्लोकपर श्रीमहाप्रभुविरचित विवृति उपलब्ध होती है इस अन्तिम  
श्लोककी विवृतिके प्रारम्भमें श्रीमहाप्रभुने एक सप्रहलोक दिया है—

पुष्टिमार्गं हरेर्दास्य धर्मोद्यो हरिरेव हि ।

कामो हरिर्दृष्टैव मोक्षो कृष्णस्य चेद् ध्रुवम् ॥

अर्थ श्रीहरिका दास होता ही पुष्टिमार्गीय धर्म है पुष्टिभक्तके अर्थ स्वयमेव  
श्रीहरि हैं श्रीहरिके दर्शनकी कामना ही पुष्टिमार्गीय काम है तथा सर्वात्मना श्रीकृष्णका  
बन जाना ही पुष्टिभक्तका मोक्ष है

इसी सूत्रका भाष्य वृत्तासुरचतुश्लोकीमें तथा इस श्रीमहाप्रभुविरचित चतुश्लोकीमें  
भी हम पाते हैं

पुष्टिमार्गं भगवान्के साथ जीवका सम्बन्ध रसात्मक हाता है रसमीमासा  
रति-स्नेहके सयोग एवम् वियोग दो पक्ष माने गये हैं अतः भक्तिमागम भगवान्की  
अनुभूति जब सयोग अथवा वियोग में से किसी एकतरकी होती है तो वह अपूर्ण अनु-  
भूति मानी जाती है अतएव इसे भक्तकी साधनावस्था भी मानते हैं रस द्विदलात्मक  
है अतः सयोग और वियोग दोनोंमें जब भगवान्की अनुभूति होने लग जाय तो फला-  
वस्था मानी जाती है तदनुसार धर्म और काम की सिद्धि साधनावस्थाका परिपाक  
है, और अर्थ तथा मोक्ष की सिद्धि फलावस्था है क्योंकि धर्ममें—ब्रजाधिपके भजनमें  
केवल सयोगका अनुभव होता है तथा काममें—हरिदर्शनकामनामें केवल वियोगका  
अनुभव होता है जबकि अर्थ—भगवान्का रसात्मक स्वरूप तो द्विदलात्मक ही है अतः  
मोक्ष—भगवद्भजनमें सयोगानुभूति और भगवत्स्मरणमें वियोगानुभूति जब निरन्तर  
या क्रमशः होने लग जायें तो भगवान्की रसात्मिका अनुभूति अपनी पूणतापर पहुँच  
जाती है पुष्टिभक्तको उसका मोक्ष मिल जाता है



इसमें य अत्यधिक लज्जित होकर गगामे कूदकर प्राणत्याग करना चाहते थे यह आत्मघात भी दिनके उजालेमें करनेमें इन्हें सकोचका अनुभव हो रहा था सो गगानुपर बैठ रात्रीवे एकान्त और अन्धकार की प्रतीक्षा कर रहे थे। तभी श्रीमहा-प्रभुका भी वहा पधारना हुआ सयोगवश किसी वंशवने श्रीमहाप्रभुसे प्रश्न किया कि गगामे डूबकर मरनेवालेकी क्या गति होनी है इसपर श्रीमहाप्रभुने उत्तर दिया कि अहंकारवश लड झगडकर डूबनेवालेको सर्पयोनि मिलती है और आत्मघातका पाप भी लगता है दोनभादमें किन्तु सन्यास लेकर और अपने मनको भगवान्में एकाग्र बनाकर जो गगामे प्राणत्याग करते हैं उनकी दुर्गति नही होती

य बात मीघो जाकर राना व्यासको लग गयी और वे दौडकर श्रीमहाप्रभुके चरणों म आकर गिर पड़े अपनी आत्मगाथा सुनाकर श्रीमहाप्रभुकी शरणयाचना करने लगे श्रीमहाप्रभुने गगाम्नान करनेका आदेश दिया और बादमें ब्रह्मसम्बन्धकी दीक्षा दी तुरत ही श्रीमहाप्रभुने इन्हें चतु श्लोकीका उपदेश भी दिया था ये सम्प्रदायके अच्छे विद्वान् हुए श्रीमहाप्रभुविरचित अग्य भी अणुभाष्य सुबोधिनी आदि ग्रन्थोकी इनके द्वारा हस्त-लिखित प्रतिया अद्यापि उपलब्ध होती हैं

इस चतु श्लोकीये अध्ययनसे राना व्यासको अपने वास्तविक धर्म अर्थ काम एवम् मोक्ष रूप पुरूषार्थोका ज्ञान हुआ और वे मिथ्या वैराग्य धन तथा विद्वत्ताके अहंकारसे मुक्त हुए साथ ही साथ इस अहंकारकी विकलतामें पंदा हुई कुण्ठा एवम् आत्मघात की भा क्षुद्र भावनाओपर वाबू पा सक य एक आदर्श भगवदीयका सा भगवत्सेवा तथा भगवत्स्मरण परायण पुष्टिमार्गीय जीवन जीनेके लिए सक्षम हो पाये

पुष्टिमार्गीय भक्ति निष्काम-निष्वाञ्छिक होती है स्वयम् भगवदनुग्रह ही पुष्टि-जीवन हृदयमें भक्तिरूप धारण कर लेना है भगवदनुग्रह जीवकृत साधनोपर निर्भर नही होता वह तो निहंतुक ही प्रकट होता है जिस जीवमें वह बीजभावके रूपम विद्यमान होता है उस जीवमें वह प्रम आसक्ति व्यसन और अलौकिकसामर्थ्य के रूपम अकुरित पल्लवित पुष्पित और फलित होनेकी विभिन्न अवस्थाओंमें 'पुष्टिभक्ति' शब्दमें पुकारा जाता है भगवदनुग्रहको ही अत दिशाभदमें 'पुष्टि' और 'पुष्टिभक्ति' कहा जाता है अनुग्रह जब भगवान्से भक्तकी दिशामे अपसर होता है तो उसे हम 'पुष्टि' कहते हैं और जब जीवकृत हृदयसे परावृत्त होकर पुन भगवान्की दिशामे अपसर होता है तो उसे हम 'पुष्टिभक्ति' कहते हैं निष्कारण ही भगवान् जब किसी जीवपर अपनी कृपा या पुष्टि की वर्षा करते हैं और वह कृपावृष्टि हृदयके छोटसे प्रदे-शमें समा नही सकती तब उच्छलित होकर पुष्टिभक्ति की सरिताके रूपमें बहने लग जाती है। उसी कृपासागर परमात्माकी ओर जहामे उठकर कृपाके मेघ जीवपर बरसे थे।।

अन जैसे अनुग्रहके पूर्व न कोई कारण है और न अनुग्रहके पश्चात् कोई प्रयो-जन ही, वैसे ही न पुष्टिभक्तिमें पूर्व कोई कारण है और न पुष्टिभक्तिके पश्चात् कोई

प्रयोजन ही केवल अनुग्रह ही भक्तके हृदयसे परावृत्त होनेपर पुष्टिभक्ति वत जाता है  
 [अत स्नेह पदार्थान्तरम् स भगवन्निष्ठ एव भगवद्बिषयको ज्ञानवद्वेषयं वदा  
 भगवत्सम्बन्धात्तत्रैककटादन्वयाय भासते उष्णस्पर्शवत् यथा यथा भगवद्भेदकथ तथा  
 तथा स्नेहातिशय. सुबो १-१९-१६)

स्वभावतः प्रवाहमार्गीय ऐहिक पुरुषार्थ अर्थ-कामकी सिद्धिकी कामना अथवा मर्या-  
 दामार्गीय धर्मार्थकाममोक्षरूप पुरुषार्थोंकी सिद्धिकी कामना पुष्टिमार्गीय जीवके हृदयमें  
 चिरस्थायी नहीं हो सकती ऐसे पुष्टिभक्तोंके पुरुषार्थ धर्म अर्थ काम या मोक्ष का स्वरूप  
 अन्यमार्गीय पुरुषार्थोंसे विलक्षण होना स्वाभाविक ही है श्रीमहाप्रभुने इस चतु-  
 श्लोकीमें पुष्टिभक्तिमार्गीय पुरुषार्थोंका विलक्षण रूप हमें समझाया है चतु श्लोकी  
 ग्रन्थके ये चारो श्लोक भगवत्की वृत्तासुरचतु श्लोकीके साथ घनिष्ठ साम्य रखते हैं  
 वृत्तासुरचतु श्लोकीके भी वार श्लोकीमें इन्ही पुष्टिमार्गीय चार पुरुषार्थोंका स्वरूप  
 अभिव्यक्त हुआ है प्रारम्भके तीन श्लोकोपर श्रीप्रभुचरणकी विवृति उपलब्ध होती  
 है तथा अन्तिम श्लोकपर श्रीमहाप्रभुविरचित विवृति उपलब्ध होती है इस अन्तिम  
 श्लोककी विवृतिने प्रारम्भमें श्रीमहाप्रभुने एक सप्रहश्लोक दिया है—

पुष्टिमार्गं हरेदास्य धर्मोर्था हरिरेव हि ।

कामो हरिदिदृशैव मोक्षो कृष्णस्य चेद् ध्रुवम् ॥

अर्थ श्रीहरिका दास होना ही पुष्टिमार्गीय धर्म है पुष्टिभक्तोंके अर्थ स्वयमेव  
 श्रीहरि हैं श्रीहरिके दर्शनकी कामना ही पुष्टिमार्गीय काम है तथा सर्वोत्तमा श्रीकृष्णका  
 वत जाना ही पुष्टिभक्तका मोक्ष है

इसी सूत्रका भाष्य वृत्तासुरचतु श्लोकीमें तथा इस श्रीमहाप्रभुविरचित चतु श्लोकीम  
 भी हम पाते हैं

पुष्टिमार्गमें भगवान्के साथ जीवका सम्बन्ध रसात्मक होता है रसमीमासाय  
 रति-स्नेहके सयोग एवम् वियोग दो पक्ष माने गये हैं अत भक्तिमार्गमें भगवान्की  
 अनुभूति जब सयोग अथवा वियोग में से किसी एकतरकी हाती है तो वह अपूर्ण अनु-  
 भूति मानी जाती है अतएव इसे भक्तकी साधनावस्था भी मानते हैं रस द्विदयात्मक  
 है अत सयोग और वियोग दोनोंमें जब भगवान्की अनुभूति होने लग जाये तो फल-  
 वस्था मानी जाती है तदनुसार धर्म और काम की सिद्धि साधनावस्थाका परिणाम  
 है, और अर्थ तथा मोक्ष की सिद्धि फलवस्था है क्योंकि धर्म—यथाधिष्ठं भवन्त  
 केवल सयोगका अनुभव होता है तथा काम—हरिदशनकामनां केवल वियोगका  
 अनुभव होता है जबकि अर्थ—भगवान्का रसात्मक स्वरूप ता द्विदयात्मक ही है, अत  
 मोक्ष—भगवद्भक्तमें सयोगानुभूति और भगवत्स्मरणमें वियोगानुभूति तत्र निरन्तर  
 या क्रमश होने लग जाये तो भगवत्की रसात्मिका अनुभूति अर्थात् पुष्टिमार्गीय  
 जाती है पुष्टिभक्तको उसका मोक्ष मिल जाता है

## पुष्टिभक्तका धर्म

पुष्टिमार्गमें ब्रजाधिप ही भजनीय है क्योंकि गीता तथा भागवत के अनुसार श्रीकृष्ण ही पूर्ण पुरुषोत्तम परब्रह्म परमानन्द रूप हैं अव्यय अप्रमेय निर्गुण गुणात्मा परब्रह्म परमात्मा व्यापिवंकुष्ठनाथक भगवान् जब अपनी पूर्णताकी लिये हुए ब्रजमें अपनी निह्यलीला प्रकट करते हैं तो उन्हें 'श्रीकृष्ण' कहा जाता है जीव चाहे मुसाधन हों या नि साधन अथवा दुष्टसाधन, सभी जीवोंके नि श्रेयस्के लिए श्रीकृष्ण प्रकट होते हैं यही उनके प्राकट्यका परम प्रयोजन है जीवोंके साधनबलकी परवाह किये बिना अपन स्वरूप अथवा स्वरूपानन्द क बलपर जीवोंके उद्धारक होनेसे श्रीकृष्णको 'सर्वोद्धारप्रयत्नात्मा' कहा जाता है

श्रीकृष्ण सभी जीवात्माओंके असी होनेके कारण सहज स्वामी हैं। शुद्धद्वैत-ब्रह्मवादके दृष्टिकोणमें आध्यात्मिक रूपमें सभी जीवात्माय अश होनेके कारण श्रीकृष्णकी सहज दास हैं परन्तु लीलायें किन्हीं जीवोंपर श्रीकृष्ण अपनी सहज कृपा प्रकट करते हैं, तब आधिभौतिक रूपमें इस भूतलपर और आधिदैविक रूपमें व्यापिवंकुष्ठम भी ऐसे जीवोंको अपनी स्वरूपसेवाका अवसर प्रदान करते हैं ऐसे जीवोंको पुष्टिजीव समझना चाहिये यह सेवाका अवसर जीवात्मा और परमात्मा के बीच किन्हीं भी भावोंके रसात्मक सम्बन्धों द्वारा स्थापित हो सकता है यथा सेवक, पुत्र, माता पिता, सखा, या प्रियतमा आदि रूपमें जीवात्मा और परमात्मा के बीच जब कोई सम्बन्ध स्थापित हो जाये, आधिभौतिक जगतमें या आधिदैविक नित्य लीलामें, तो भगवान्का वह स्वरूप और वह लीला पुष्टिस्वरूप और पुष्टिलीला कहलाती है अखिल ब्रह्माण्डके नाथका गोकुलनाथ बनना पुष्टिलीला है ।

श्रीकृष्ण कभी इस तरह प्रकट होते हैं कि सभी जीव उनका दर्शन कर पायें और कभी इस तरह प्रकट होते हैं कि कोई भक्तविशेष ही उनके दर्शन कर पाता है। अपने बोना प्रकारके प्रकटरूपमें भक्तके अधिकार या मनोरथों के अनुरूप श्रीकृष्ण व्यापिवंकुष्ठ अथवा ब्रज की लीलाओंको प्रकट कर सकते हैं अतएव भक्तोंके भावोंके अनुरूप स्वयम्को डाल पानेकी कमौटीपर ब्रजलीलाविहारी ब्रजाधिप श्रीकृष्ण भक्तोंके लिए पूर्णतम परमानन्द-स्वरूप सिद्ध होने हैं मथुराके या द्वारकाके श्रीकृष्णके पूर्णतर या पूर्ण परमानन्द-स्वरूप होनेपर भी अतएव धनभवतोंके लिए एवम् ब्रजभवतोंकी भावनाके अनुसार भक्ति करनेवाले भक्तोंके लिए ब्रजाधिप श्रीकृष्ण ही समग्र पुष्टि-फलाके दाता तथा पुष्टिफलरूप भी हैं — 'अनन्यगोकुलस्वामी फलदाता फलात्मक'

ब्रजाधिपका यह भजन कैसे और किस भावमें करना चाहिये ? श्रीमहाप्रभु उत्तर देते हैं—'सर्वभावमे' "त्वमेव सर्वं मम देवदेव ।" — मेरे माता पिता बन्धु मित्र पुत्र घन विद्या सभी कुछ भगवान् ही हैं, ऐसे भावके साथ भजन करना चाहिये केवल मधुरभावसे भी भजन किया जा सकता है.

श्रीकृष्ण जब परमात्मा, स्वामी, पुत्र, सखा या प्रियतम जैसे रूप धारण कर हमारे भावोंके आलम्बन (विभाव) बनते हैं तो तदनुरूप श्रीकृष्णके प्रति पनपे हमारे स्थायी भाव भी भगवदात्मक ही होते हैं। श्रीकृष्णके जिस रूपसे हम स्नेह करते हैं वह बाह्य रूप और हमारे हृदयके भीतर रहा स्नेह दोनों ही आधिदैविक अलौकिक परमानन्द रूप होते हैं। लौकिक आधिभौतिक या मायिक नहीं। भक्तोंके भाव और भावोंके आलम्बन दोनों ही श्रीकृष्ण होते हैं। भावके आलम्बनके रूपमें भगवान् भक्तभोक्ता है तथा रसभावके रूपमें भगवान्को भोग्य भी माना जाता है। कभी-कभी भक्तपरवेश होकर भगवान् आलम्बनके रूपमें भी भोग्यभाव प्रकट करते हैं। इसे 'गूढ़ भोक्ता' कहा जाता है। भोक्तृभाव 'पुम्भाव' कहलाना है और भोग्यभाव 'स्त्रीभाव'। भोक्तामें जब रसावेशमें भोग्यभाव प्रकट हो जाये तो उसे 'गूढ़ स्त्रीभाव' कहते हैं और भोग्यमें भोक्तृभाव प्रकट हो जाये तो उसे 'गूढ़ पुम्भाव' कहते हैं। उदाहरणतया प्रत्येक गुरुमें छिपा हुआ एक विद्यार्थी होता है और इसी तरह विद्यार्थीमें एक छिपा हुआ गुरु भी होता है। अध्ययन-अध्यापनकी दुर्लभ तन्मयतामें गुरुका गूढ़ विद्याधिभाव कभी प्रकट होता है इसी तरह विद्यार्थीका गूढ़ गुरुभाव भी! इन गूढ़ भावोंका प्रावट्य पुष्टिकी पराकाष्ठा है, सभी प्रकारके—स्वामि-भेषक, पुत्र-माता-पिता, सखा-सखा या प्रिया-प्रियतम—सम्बन्धोंमें भक्त और भगवान् में इन गूढ़ भावोंको प्रकट करनेके मनोरूपसे भी भगवान् भजनीय हैं।

जिन भक्तोंमें ऐसा गूढ़भाव प्रकट हुआ अथवा जिन भक्तोंके लिए भगवान्ने स्वयम्में ऐसे गूढ़भाव प्रकट किये ऐसे भक्तोंके प्रति देवभाव रखने हुए भजन करना चाहिये— "अहं हरेस्तव पादकमूलदासानुदातो भवितामि" हमारे हृदयमें जबतक कोई एक निश्चिन्त भाव स्थिर नहीं हो जाता तबतक विविध भावोंकी भावना करने के अलावा अन्य कोई उपाय नहीं है। प्रारम्भमें अथवा भगवत्सेवा ब्रजभक्तोंकी भावनाके अनुसरणपर — ब्रजभक्तोंकी अपना गुरु मानकर करनी चाहिये। माननावस्थामें हमारी भक्तिको भावनाके माध्यममें ब्रजभक्तोंके भावोंके पहुँचानी पड़ेगी। किन्ती निश्चिन्त दिगामें बहती एक नदीके समान भावना होनी है, जो भावके रूपमें गागर बन जाती है। गागर बहता नहीं केवल लहराना है! अतः ब्रजभक्तोंके भावोंकी भावना, माहात्म्यज्ञान जनित्र देव्य और आत्मा-ब्रज तथा परमात्मा-अशी के गूढ़ निरुपाधि स्नेह के माय प्रारम्भमें कृष्णवेश कर्तनी चाहिये। वेवाके इन प्रकारकी ही भावदीक्षा ब्रह्मसम्बन्धके समय दी जाती है। जन्मनिवेदनके समय अहन्ता और समता में जुटे सभी पदार्थों और सम्बन्धोंकी स्नेहानुदाहरी समर्पित करना होता है। इन सर्वसम्पत्के भावमें भी भगवद्-भजनमें द्रव्य होना चाहिये। यो 'सर्वभावेन' में सभी भाव विरहित है।

किन्ती बालविशयमें एक बड़ेकागरी तरह भजनका अनुष्ठान होने लगे।  
 १. एक ब्रजभक्तोंके रूपमें सर्वदा-निरन्तर प्रतीति बालके स्निग्ध वि-

भगवत्सेवामें तत्पर रहना चाहिये भगवद्-भक्तको सभी क्रियायें— सोने-जपने कमाने-खाने या स्नेह-उपेक्षा आदिकी—उसके द्वारा की जाती भगवत्सेवाकी अंग ही बन जाती हैं

“पुष्टिभक्तके लिए ब्रजाधिप श्रीकृष्ण ही भजनीय है” यह कथन भजन करनेकी आज्ञा या विधि नहीं है, क्योंकि किसी, आदेशको अवहेलनाने कारण जो दण्ड मिल सकता है उस दण्डका भय न हो तो फिर आदेश-पालन आवश्यक नहीं रह जाता। श्रीमहाप्रभु अतएव आदेश नहीं दे रहे हैं किन्तु भगवान्के भजनकी आवश्यकता हमें समझा रहे हैं पुष्टिप्रभुकी सेवा न करनेवाला पुष्टिजीव अपनी सहज आवश्यकताओंसे वञ्चित रह जाता है जैसे कोई दिग्गु अपनी माके दूधके बिना दुर्बल हो जाये, या जैसे कोई प्राणी प्राणवायुके न मिलनेपर बचन हो जाये, या जैसे कोई बीमार औषधीके बिना स्वस्थ न होने पाये, अथवा जैसे कोई खडी फसल बरसात न पड़नेके कारण सूख जाये। ऐसे ही जिस पुष्टिजीवमें जिस समय या जिस जन्ममें कृष्णसेवा नहीं निभानी वह समय और जीवन उसका व्यर्थ चला जाता है, उसके स्वरूपका कोई प्रयोजन या अस्तित्वका कोई अर्थ ही नहीं रह जाता है। पुष्टिजीवसे ब्रजाधिपकी सेवा न निभाना नैतिक अपराध नहीं किन्तु अस्तित्वकी निरर्थकता है, इस अर्थमें ब्रजाधिपका भजन पुष्टिजीवोका प्रथम एवम् चरम सनातन धर्म है—उसके अस्तित्वका निगूढ तात्पर्य।

अतएव श्रीमहाप्रभु कहते हैं कि सभी देश-कालमें पुष्टिजीवका तो यही कर्तव्य है—यही धर्म है किसी भी देशकालमें इसके अलावा अन्य कोई धर्म पुष्टिजीवका हो नहीं सकता

कृष्णसेवाके सिवा अन्य सारे धर्म पुष्टिजीवके सहज-स्वाभाविक धर्म नहीं होने, किन्तु औपाधिक-आकास्मिक धर्म ही होते हैं अविद्याके यन्त्रके कारण आरोपित अहन्ता-ममत्ताके कारण अन्य धर्म हमारे लिए कर्तव्य बन जाते हैं उदाहरणतया स्त्री पुरुष ब्राह्मण शूद्र या गृहस्थ-मन्यामी आदिके धर्म तत्तद् देह, वर्ण या आश्रम के अभिमानोंके कारण हमारे लिए अनिवार्य धर्म बन जाते हैं मैं स्त्री हूँ या पुरुष हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ या मैं शूद्र हूँ, मैं गृहस्थ हूँ या मैं मन्यामी हूँ इत्यादि रूपोंमें हमारी आरोपित अहन्ताके कारण तत्तद् देहाचित्त वर्णाचित्त या आश्रमोचित्त कर्तव्य हमारे लिए धर्म बन जाते हैं इसी तरह माता पिता और मन्त्रि, भाई-बहन, गुरु शिष्य, मालिक-नौकर, समाज-व्यक्ति, राष्ट्र-नागरिक अथवा प्राणि-मनुष्य के ममताजन्य सम्बन्धोंके कारण उनके प्रति तत्तद् कर्तव्योंका निर्वाह हमारा नैतिक उत्तरदायित्व बन जाता है

हम देख सकते हैं कि अहन्ता-ममत्ताके द्वारा आरोपित सारे कर्तव्य देहाभिमान-मूलक हैं जबकि भगवत्सेवाका कर्तव्य होना आत्माके वास्तविक स्वरूप-बोधपर अवलम्बित है अतएव अन्य सारे कर्तव्य देह काल-द्रव्य मन्त्र कर्म-कर्ताकी शुद्धिकी अपेक्षा

रखते हैं, जबकि भगवत्सेवा तो केवल भावसापेक्ष है पुष्टिमार्गीय जीवोंके लिए धर्मरूप स्वयम् भगवान् या भगवत्सेवा ही है भावात्मक प्रमेयरूप भगवान्को जाननेका उपाय या प्रमाण भावात्मिका सेवा ही है अतएव भक्तरत्न बृशामुर कहता है—

हरि! मुझे मोक्ष नहीं चाहिये किन्तु अपना दास मुझे बनाओ मोक्षमे तो ज्ञानसे त्रिविध दुःख दूर हो जाते हैं परन्तु मेरे तो दुःख स्वयम् आप हर्ते हो तो ही दूर होने चाहिये, लौकिक अहम्के बंधनोंसे मुक्त होनेवाले ज्ञानियोका 'सोहम्'वाला अहम् मुझे नहीं गुहाता है, मेरे भीतर 'दासोहम्' का भक्तिमय अहम् कभी मिटे नहीं ऐसा कुछ कर दो यदि मैं आपके दास बननेका अधिकारी न होऊ तो मुझे आपने दासोका दास बनाओ, मेरा मन, मेरे प्राणनाथ! तुम्हारे गुणोंको गुनता रहे—मेरी वाणी तेरे गुणोंको गाती रहे—मेरी वाचा सर्वदा तेरी सेवा करती रहे ऐसी आशिष मुझे दो.

पुष्टिभक्तका अर्थ

पुष्टिभक्तके अर्थ पुरुषार्थरूप स्वयम् भगवान् ही हैं श्रीमहाप्रभु आज्ञा करते हैं कि पुष्टिजीवोंके लिए यह आवश्यक हैकि वह स्वयम् भगवत्सेवाको सदा निभाये चला जाये (एय नदा स्म वतंव्यम्) इस वृष्णमेवाके लिए न तो किसी ऐहिक अर्थोपार्जनके आधिभौतिक व्यापारमे उलझनेकी आवश्यकता है और न किसी पारलौकिक अर्थोपार्जनके लिए अन्यायप्रवाली आधिदैविक भूतकवृत्तिमे ही उलझनेकी आवश्यकता है भगवान् तो अन्यायप्रय अथवा प्राधेना की अपेक्षा रखे बिना भक्तिके हितमे अपेक्षित ऐहिक-पारलौकिक योगक्षमका और स्वयम् अपने स्वरूपानन्दका दान भी स्वयमेव करेगे. एतदर्थं उन्हें किंगी लौकिक-पारलौकिक साधनोंकी या अर्थोकी अपेक्षा नहीं है भगवान् भावात्मक है अत छोला और छपनभोग, जो भी भावसे निवेदित क्रिया जाये, समान रूचिसे स्वयमेव अंगीकार करेंगे अत लौकिक अर्थ धन-सम्पत्तिपर यह भगवत्सेवा निर्भर नहीं है

भुक्तिमे कहा गया है— "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेघया न बहुना श्रुतेन यमेवैष वृणुते तेन लभ्य तस्यैष आत्मा विपुणुते तनु स्वाम्" अर्थ : यह परमात्मा प्रवचन मेघा या बहुश्रुततासे प्राप्त नहीं होता किन्तु अपनी प्राप्तिके लिए यह जिस जीवात्माकी चून लेता है उसे ही मिलता है— उनके ही समक्ष यह परमात्मा अपना स्वरूप प्रकट करता है अत इस परमात्मस्वरूप अर्थवा उपार्जन हमारे माधन या व्यापार मे क्षय नहीं है त्रिम जीवात्माका वरण वह सर्वममयं परमात्मा करता है उस जीवात्माके माधनोंकी वह परवाह नहीं करता भगवत्सेवाके अधिवाते वे ही जीव होते हैं, जिनका भगवान् अपनी मेघाने लिए चुनाव करते हैं जिन्हें भगवान् अपनी मेघाने लिए चुनते हैं उनके समक्ष अपने भोग्य स्वरूप— गूढ़ ग्योभावको प्रकट करने हैं त्रिम जीवोंके लिए भगवान् अपने-आपको समर्पित करनेकी दान देने हैं वे ही जीव भगवान्के लिए अपने-आपको समर्पित करवाने हैं! इस परम्परके मनवेगरे बाद ज्ञात्मा और परमात्मा

के बीच कोई परदा रह नहीं जाता अतः पुष्टिप्रभुका गूढ स्त्रीभाव एवम् पुष्टि-जीवका गूढ पुंभाव प्रकट हो जाता है.

व्रतचर्याके प्रकरणमें ऋषिरूपा कुमारिकाओंको भगवान्ने वरदान दिया था वे भगवान्को अपना पति-भोक्ता बनाना चाहती थीं. भगवान्ने उनके चौर नर लिये ! यह चौरहरण भगवान्में प्रकट हुए गूढ स्त्रीभावका ही विवरण था और पुनः जो चौर कुमारिकाओंको लोटाये गये वह तो गूढ पुंभावका वितरण था. कुमारिकाय श्रीकृष्ण के लिए आत्मार्पणका व्रत कर रही थी, क्योंकि श्रीकृष्णने आत्मार्पणके हेतु उन्हें व्रत कर लिया था—चुन लिया था चौरहरण तो केवल प्रकट पुंभाव और स्त्रीभावों का विनिमय मात्र था ! इसके बाद जो कुमारिकाओंमें भोक्तृभाव प्रकट हुआ वह उनके कात्यायनीव्रतका प्रभाव नहीं था, और न छ वरसकी कुमारिकाओंके देह, जिनमें न तो तात्पर्य और न किसी वंसे लावण्य की ही सम्भावना हो सकती थी, वा कोई प्रभाव स्वीकारा जा सकता है ऋषि-मुनियोंके तप एवम् व्रत वा भगता कामदेव कर सकते हैं, परन्तु इन छह वरसकी कुमारिकाओंमें श्रीकृष्णके प्रति जो मधुरभाव जगे, उसे जगानेका सामर्थ्य कामदेवका नहीं किन्तु स्वयम् सर्वसमर्थ श्रीकृष्णके कामार्पणकमनीय रूपका ही था प्रेमय प्रकरणमें श्रुतिरूपा गोपिकाओंके श्रीकृष्णके प्रति निरुपाधि स्नेहके शृंगारोपाधिक गूढ पुंभावके रूपमें इसी शृंगाररसमूर्ति श्रीकृष्णने ही रूपान्तरित कर दिया था निरुपाधिक निराकार स्नेहको शृंगाररसके स्यापिभावके आवारम वेणुकूजनकी छनीमें गटा था ! अतएव श्रीमहाप्रभु रहते हैं—“वेवञ्ज शृंगारापंभेव कूजनम्” (सुबोधिनी-वेणुगीत).

श्रीकृष्णके बारेमें किसी भी प्रकारका स्नेह—दास्यभाव, वात्सल्य, सख्य या माधुर्य-भावात्मक—स्वयम् श्रीकृष्णके सभी तरहके आलम्बनविभावोंके रूपोंको धारण करनेके सर्वसामर्थ्यमें ही सम्भव होता है

पहले श्रीकृष्ण स्वामीका रूप धारण करते हैं तब जीवमें दास्यभाव जगता है श्रीकृष्णके बालरूप धारण करनेपर हमारे हृदयमें वात्सल्य उभरता है श्रीकृष्णके विकराल कालरूप धारण करनेपर बचारा रस भयभीत हो जाता है श्रीकृष्णकी श्रीशक्ति इच्छामें किसी सखाको आज्ञेपर हमारे भीतर सख्यभाव पनपता है श्रीकृष्णकी प्रियतम बननेकी कामना ही हमारे हृदयमें श्रीकृष्णके प्रति मधुर प्रेमको अकुरित करती है वह जब भोग्य बनना चाहता है तब हमारे भीतर भोक्तृभाव अगड़ाई लेने लगता है उम आत्मारामके भक्तव्राम बननेपर भक्तव्राम अलौकिक भगवत्ताम प्रकट होता है वह अखिल ब्रह्माण्डका आधार होनेपर भी या यशोदाकी गोदमें गुपचुप आकर बैठ सकता है, इतना समर्थ है. हा, वह सर्वसमर्थ है अतएव पुष्टि-भक्तकी सेवाके बिना रह न सक इतना असमर्थ भी बन जाता है ! वह बाल-वर्म-स्वभाव प्रकृति-मुरप किसीके भी अधीन नहीं है—मवन्त्रस्वतन्त्र है हम परतन्त्र है

परन्तु वह स्वतन्त्र-मरतन्त्र है अतएव कहता है—“अहं भवनपराधीन ह्यस्वतन्त्र इव”, अर्थात् हम ‘अस्वतन्त्र एव’ हैं पर अज्ञानवश अपने-आपको ‘स्वतन्त्र इव’ मान लेते हैं वह ‘स्वतन्त्र एव’ है अतएव कृपावश ‘अस्वतन्त्र इव’ बन जाता है !

वह सर्वसमर्थ सर्वभोजता होनेपर भी भक्तभोग्य बननेमें समर्थ है—सम्यक् अर्थ है अर्थ, किन्तु, भावात्मक होनेसे अपने हृदयकी तिजोरीमें गुप्ततया रखा रहा तो सुरक्षित रहेगा अन्यथा भावात्मक अर्थके भोंडे प्रदर्शनकी वृत्ति रखनेपर वह भावाभास बन जाता है—चुर जाता है अत ‘अर्थ’ कहनेके बजाय श्रीमहाप्रभुने ‘सर्वसमर्थ’ कहकर अपने अर्थको छिपा लिया है ! पुष्टिभावसे भावित प्रभु छिपा हुआ रहा तो निश्चित रहना चाहिये अन्यथा बुद्धि या हृदय के द्वार बाहरकी ओर खुले कि अन्दरका यह अर्थ चुर जाता है

चतुःश्लोकीके द्वितीय श्लोकका यह अर्थ-प्रमेय आलम्बन विभावके रूपमें अपने रसभोक्ताके पदको छोड़कर हमारे हृदयके म्यायी भाव बननेको अर्थात् भोग्य रस बननेको उच्यत है, अत लोकाधिताके भावोंका हृदयमेंसे इस सिद्धान्तस्मरणकी सोहनी से घुहारना पड़ेगा, अन्यथा हृदयके बाहर इस द्वितीय श्लोकके अर्थको प्रतीक्षा करनी पड़ेगी, हृदयके स्वच्छ होनेकी ! इन प्रतीक्षाकी घड़ियामें बाहर खड़े पुष्टिप्रभुके बारेमें हमारे मनोरथ जो गावमें प्रकट हो गये तब तो सब कुछ रमाभास हो जायेगा ! क्योंकि पुष्टिमार्गीय मनोरथकी तो एव ही दिशा है—‘प्रभु सर्वसमर्थो हि ततो निश्चिन्तता व्रजेत’ ब्रज तो अमुर होनेपर भी इस पुष्टिमार्गीय अर्थका अन्य किसी ऐहिक या पारलौकिक अर्थके साथ विनिगम करनेका मनोरथ नहीं करता—

न ता मुने लौकिक सात्त्विक अर्थ स्वयंका इन्द्रासन चाहिये, न वैदिक राजस अर्थ ब्रह्माकी पदवी, न मुने लौकिक राजस अर्थ मारी पृथ्वीके धनका स्वामी हो बनना है और न लौकिक तामस अर्थ पाताल आदि लारीका आधिपत्य ही न मुक्त वैदिक तामस अर्थ विभिन्न योगतिथियाकी ही वाई कामना है और न वैदिक सात्त्विक अर्थ ज्ञानलभ्य अपुनर्भव-धोषकी ही कामना है मेर सर्वापह रूप केवल हरि है—उनके अज्ञान और मुक्त हुए भी नहीं चाहिये ! (प्रभु सर्वसमर्थो हि ततो निश्चिन्तता व्रजेत).

पुष्टिभक्तका काम



इमीमें निहित है कि भूमा-परमानन्दरूप श्रीकृष्णके साथ उन्हें जोड़ दिया जाये दर्शन-स्पर्शन-श्रवण-कितन-ध्यान-आदि क्रियाओंमें आन्तर-जाह्य सभी इन्द्रियोंको भगवदभिमुख बनाना चाहिये। जिस इन्द्रियका भगवत्कार्यमें विनियोग शक्य न हो उसके विनिग्रहका यत्न करना चाहिये

श्रुतिमें जीवको—“काममय एवाय पुरुष ” कहा गया है यह काम कौनसा है ? सभी जीव चाह आस्तिक हों या नास्तिक, पुष्टिमार्गीय हों, मर्यादामार्गीय हों, या प्रवाहमार्गीय, सभीको सभी इन्द्रियोंमें परमानन्दकी कामना है ‘न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रिय भवति आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रिय भवति’ नेत्रोत्ते, जिह्वासे, नासिकासे, त्वचासे या कर्णोंमें हम श्वांस रहे हैं परमानन्द-रूप श्रीकृष्णको ही - रूप, रस, गन्ध, स्पर्श या शब्दों को नहीं

इस परमानन्दकी खोजयात्राम शीघ्रतया उस प्राप्त करनेके लिए जीवात्मा शरीरके रथपर सवार हो जाती है अपनी बुद्धिको अपना मारपी बना लेती है और मनकी लगामसे बंध हुए इन्द्रियोंके घोड़ोंको सरपट दौड़ाती है ये इन्द्रियोंके घोड़े लेकिन बड़ ही उदत्त है - दौड़ने-दौड़ने ये मन और बुद्धि के नियन्त्रणके बाहर हो जाते हैं, और बेचार जीवको लौकिक विषयाकी वासनाके गर्तमें गिरा देते हैं ! शरीरका यह रथ भी कालजर्जरित होनेसे गिरा कि टूट जाता है - नष्ट हो जाता है !

प्रवाहमार्गपर तो यह दुर्घटना प्रतिदिनका सल है मर्यादामार्ग या पुष्टिमार्ग के मार्गपर जो जीव अपने रथकी दिना बदल नहीं पाते उनका तो विषय-वासनाके गर्तमें विनिपात निश्चित ही होता है एस जीवोको ‘प्रवाहजीव’ कहा जाता है मर्यादामार्ग की ओर इस परमानन्दकी खोजमें रथोको मोड़नेवाले मूर्खान्तिक जीवोपर इन दुर्घटनाओंका बड़ा ही विषम प्रभाव पड़ जाता है वे मनोनिग्रह—मनकी लगाम खींच—वरके रथका कथञ्चिन् रोक देना चाहते हैं कभी रथमें उतर कर पैदल ही यात्रा करनेकी वासना करने लग जाते हैं कभी स्वर्गादि लोक या आत्ममुख के पडावोपर ही अपनी यात्रा समाप्त कर देते हैं। कभी अयोग एवम् दिशाहीन अव्यक्तोपासनाकी बहु—जन्म जन्मान्तामक पूरी न होनेवाली अधिप विलुप्त यात्रापर निकल पड़ते हैं कुल मिलाकर इन दुर्दान्त घाटाने बेगके साथ वे अपने मन और बुद्धि का साम-जस्य बिठा नहीं पाते, परतहिम्मत होंपर पैदल चलना अधिक पसन्द करते हैं ( प्रह्लादप्रन्दे प्रविष्टानामात्मनैव मुखप्रमा, सघातस्य त्रिलीनत्वात्, भक्तानां तु विशपत सर्वेन्द्रियस्तथा-चान्त करणंगगनापि त्रि ब्रह्मभावात्...विशिष्यते ) अतएव श्रीमहाप्रभु कहते हैं— “वैराग्य च भगवतो ज्ञान वा सर्वतापनिवर्तकम् यस्तस्कारथाग्य तज्ज्ञानेन नश्यति यदथाग्य तत्परित्यागन अतएव स्मार्तं मस्काराशक्तं परित्याग एव बोध्यते ’ (मुञ्जो ) अर्ध ज्ञान और वैराग्य में सारे ताप दूर हो जाते हैं, यदि हम परमानन्दरूप श्रीकृष्णकी भलीभाति जान पायें तो सारे लौकिक विषयोंको ( यद्दसम्बन्ध ) सम्कारमें शुद्ध कर

प्रायेण अन्यथा जिन विषयोंको भगवत्समर्पणके संस्कारमें शुद्ध न किया जा सकता हो उनका तो परित्याग ही करना चाहिये. यही कारण है कि स्मार्त लोग सम्कार द्वारा शुद्ध करनेमें असमर्थ होनेके कारण सभी वस्तुओंके परित्यागका ही उपदेश देते रहते हैं व्यर्थ त्यागके अपेक्षा वस्तुको भगवान्को समर्पित कर देना उत्तम कल्प है.

किसी वस्तु या व्यक्ति को सुधारना हो तो उसे भलीभांति जानना आवश्यक होता है पर हम स्वयम् जब किसीको समझ ही नहीं पाते तो सुधारनेका प्रयत्न नहीं उठेगा, ऐसी स्थितिमें परित्याग ही एक उपाय बच जाता है

एक परमात्माकी आत्मकीर्णकी ही अनेक नामरूपोंमें अभिव्यक्ति यह समझ जगत है हम भी ब्रह्मके चैतन्यकी आंशिक अभिव्यक्तिमा है मूल अशोके व्यापक प्रयोजनके विपरीत जब हम अपनी अज्ञानजन्य अहन्ता-भ्रमताके बशीभूत हो कर कोई शुद्ध प्रयोजन घड लेते हैं, तभीमें मारो मुसोयते खडी होने लगती हैं इन्द्रियोंके तेज डौड़नेवाले घोंडोंके रथमें तेजीसे भागने हुए हम दिशा भूल जाते हैं अतएव शरणागति हमारो अहन्ताका शुद्धिसंस्कार है और ब्रह्मसम्बन्ध हमारो ममताका शुद्धिसंस्कार बनता है अहन्ता-भ्रमताके शुद्ध होते ही हमें दिशाकी पहचान होने लग जाती है ऊबड़खाबड़ विषयबातनाके प्रदेशमें रथ डौड़ानेके वजाय हम पृथिके ऋजुसागर पर पुनः बाह्य हो जाते हैं विषयोंके मेघतम परमानन्द नहीं मिल सकता परन्तु परमानन्दके सेवनमें तो सब कुछ मिल जाता है। श्रीमहाप्रभु कहते हैं कि चित्तमें भगवत्समर्पण सम्पादित होना चाहिये— प्रेमसम्बलित चित्त सर्वत्र विद्यमान् परमात्माको स्वयमेव खोज लेगा अतएव उपनिषद्में परमात्माका— “नत्वेकमा सर्वज्ञात् सर्वगतं सर्वरस सर्वमिदम्” कता गया है.

श्रीगोकुलापीशको सर्वात्मना हृदयमें धारण करना सभी इन्द्रियोंमें उन्ह चाहनेको पहली शर्त है यदि एकबार हृदयमें धारण कर पायें तो उन्ह आशामें भी देवा जा सकता है, कानासे मुक्त जा सकता, हाथोंमें पकड़ा जा सकता है और चरणोंमें दौड़कर परमात्माके निकट पहुँचा भी जा सकता है. आश्चर्यकता है सर्वप्रथम परमात्माको हृदयमें धारण करने की।

अतएव श्रीमहाप्रभु कहते हैं -

भगवता सह सलापी र्धानं मिलितन्द च ।

आश्लेष सेवन चापि स्पर्शोभापि तपाविध ॥

अधरामृतपात्र च भोगो रोमोद्गमस्तथा ।

तत्पूजिताना धवणमाघ्राणं चापि सर्वतः ॥

तदल्लिकगतिनित्यमेव तद्भावनं सदा ।

इदमेवेन्द्रियवता पञ्च माशोपि नाप्यथा ॥

यपान्धकारे नियता स्थितिरादिषो पक्त भवेत् ।

एव मोक्षोपेन्द्रियादियुक्ताना सर्वथा नहि ॥ (ईशुर्मातृसुको )

‘गिरधर देव ही सुख होय । नयनवन्तको यहो परमफल यहो विधि माय त्रिलोय । अतएव थामहाप्रभ श्रीगोकुलाधीशक वियोगक तीव्रतापम हृदयम मनम प्रकट होती भगवानको स्वरूपानुभूति तथा श्रीलानुभूति का परमफल कहते हैं क्योंकि एकवार हृदयम भगवान विराज जाते हैं तो देर सबेर सभी इन्द्रियामे भगवानकी रसात्मिका अनभूतिकी कामना भी जग ही जाती है इस कामनाक जगत ही अथ लौकिक-वैदिक विषयोकी कामनाओका आकषण निरूप हो जायगा भगवान स्वयम कहते हैं— न मयावेगितविद्या काम कामाय कल्पत भजिता कवयिता धाना भूयो बीजाय नेगते (भाग ) अथ जिनकी बुद्धि भगवानम लग गयी हो उनका काम कामाय नहीं रह जाता जैसे भजे या उवाचे हुए धान बीज नहीं बन सकते

सभी इन्द्रियोस होनेवाली इस भगवन्नुभूतिकी वेणगीत और भ्रमरगीत की सबी धिनीम सर्वाभिभाव यमनाष्टकम तगुनवत्व और सेवाफलम अलौकिकसामध्य कहा गया है यही निरोधकी फलावस्था है जिस यहा चतु श्लोकाम मोक्ष कहा जायेगा परंतु इस राक्षिन्द्रयो द्वारा भगवदनुभूतिरा जीव गम्पन हो उमस पहले सर्वान्द्रियोमे भग वदनुभूतिकी कामना— पुष्टिमार्गीय कामका जगना आवश्यक है यह कामना जगी कि पुष्टिमार्गीय काम पर्याप्त गिद्ध हो गया रामश लेना चाहिये अतएव वत्र कहता है—

हे अरवि-बाक्ष ! मेरा हृदय तुम्हारे दशन चाहता है जब मेरा मन तुम्हारे दशन चाहता ह तो सभी इन्द्रियाके द्वारामे वह तुम्ह अंदर पघराना चाहता ह जमे पक्षीके पक्ष बिनाके बन्वे अपनी माताकी प्रती रा चगेके लिए करते हैं— जमे गायका बछडा गायके धनसे दूधकी कामना करना है सम्भवत चगा या दूध और कहीसे मिल जाये तो व सन्तुष्ट हो सकते ह पर मरा मन तो परदेग गये प्रियतमकी विरहिणी प्रमिकाकी तरह निरन्तर तुम्हारे ही ध्यानम—मनारथोम जुडा हुआ केवल तुम्ह ही देखना चाहता है ।

### पुष्टिभक्तका मोक्ष

सर्वाभना श्रीकृष्णका बन जाना पुष्टिभक्तका मोक्ष है सर्वाभना श्रीकृष्णके बन नैका मनलब है प्रपञ्चकी विस्मृति और कृष्णमे दृढ आमक्ति भक्तको कृष्णानुभूतिकी व्यसन हो जाना निरन्तर कृष्णानुभूतिकी कामना इतनी तीव्र हो जाये कि या तो मयोगम बाह्यालम्बनमे सभी इन्द्रियोम कृष्णका अनुभव हो अथवा वियोगम आमक्ति भ्रम-सायसे पूवानुभूत श्रीकृष्णके स्वरूप एवम लीलाका रोम ध-जगाली इतनी तीव्र तर हा जाय कि अन्त स्थित रति ही सभी रूप (आलम्बन उद्घापन तथा सञ्चारी भावके रूप) लेने लग जाय ।

मयोगम भजन धम और वियोगम स्मरण-स्मर काम निर तर चलता रहे तो भक्तको मुक्त हो गया समश लेना चाहिये यह अनुभूति यदि इस भूतलपर हाने लग जाये तो उसे जीव-मभित समझना चाहिये इस ही तनमव-व या अलौकिक सामध्यम

भी कहा गया है नित्यलोला-व्यापिवंकुष्ठम यदि यह अनुभूति होनेवाली हो तो उसे विदेहमुक्ति समझनी चाहिये इसे ही 'नवतनुत्व' या 'सेवोपयोगिदेहो वंकुष्ठादिपु' कहा गया है. सक्षेपमें प्रथम एवम् तृतीय पुरुषार्थ धर्म एवम् काम के निरन्तर चक्ररूपमें चल पटना पुष्टिभक्तका पुष्टिभक्तिम मोक्ष माना जाता है क्योंकि पुष्टिभक्तिका अर्थ—प्रजाधिप श्रीकृष्ण स्वयम् नटवरवपु होनेसे प्रेम तथा प्रियतम उभय रूप हैं— स्थायिभाव तथा आलम्बनविभाव रूप वही है अत वियोग और सयोग दोनोंमें यह अनुभूत हो सकता है यही श्रीगोकुलाघोशका स्मरण और भजन है

श्रीमहाप्रभु कहते हैं— "ज्ञान तु गुणगान हि परोक्षे तत्प्रतिष्ठितम्, प्रत्यक्षे भजन श्रष्टमेव चेद् रोधन स्थिर, पुरुषाणा तथा स्त्रीणा रात्रौ च दिवसे तथा ज्ञान भक्तिश्च सतत चक्रवत् परिवर्तते" (भाग निवन्ध) अर्थ भगवान्के वियोगम भगवान्के गुणोका गान ज्ञानरूप है, और सयोगम—प्रत्यक्षमें भजन श्रेष्ठ है यह होनेपर जोव भगवान्में निरुद्ध हो जाता है ब्रजकी स्त्रियो और पुरुषो को रातम और दिनमें इन्ही ज्ञान और भक्ति वा निरन्तर अनुभव चक्रकी तरह चलता ही रहता था उन्हें परमानन्दरूप श्रीकृष्णका पूर्ण अनुभव मिल गया था।

पुष्टिभक्ति अपने आपम मार्ग भी है और गन्तव्य भी— साधन भी है और फल भी— अतएव सयोग वियोगम भजन स्मरणके चक्रव-उतारोमे निरन्तर चलते रहना यहा मुक्ति है पुष्टिभक्तिके मार्गपर चलकर अन्यत्र बही पहुचना नहीं है— केवल निरन्तर इसी मुहावने मार्गपर टहलते रहना है— चरंवेति । चरंवेति । चरंवेति ।।।

अतएव पुष्टिपथका पथिक वृत्रासुर भी इस मार्गकी यात्रामें अपने सह्यात्रियोका साथ मागता है कि कभी वह अकेल चलते हुए अन्य मार्गपर भटक न जाये—

हे नाथ । मुझे सबंदा तुम्हारे भक्तोका ही साथ साथ तुम्हारे भक्तिमार्गपर चलते हुए मिलता रहे वभी ससारासक्त ब्यक्तियोका सस्य मुझमें न पनपने पाये । यदि यह देह-पुत्र-स्त्री-गृहादि विषयमें मेरी भासक्ति भी हो तो तेरी सेवामें उनकी उपयोगिता भर के लिए ही और किसी हेतुमें नहीं। मैं समग्रतामे तेरा ही जाऊँ और तू समग्रतासे मेरा

वि स १९७९ में श्रीमहाप्रभुविरचित वनुश्लोकीका प्रकाशन हुआ था. वृत्रासुरवशुश्लोकीका प्रकाशन वि. स. १९७८ में हुआ था प्रस्तुत सस्मरण उन्हीका ऑफ सेट प्रतिगमे पुनर्मुद्रित रूप है ये दोनों ही ग्रन्थ गोस्वामी श्रीरणछोडनालजी महा-राजक 'श्रीजीवनेशापार्थ पुष्टि सिद्धान्त कार्यालय' मे प्रकाशित हुए थे इनके सपुस्त-सम्पादन के श्रीजीवने ह साधना तथा धोहरिदृष्ण वीरजी साधनी इन सभी महा-नुमाविका हम इस पुन-प्रकाशनके अवसरपर हार्दिक इत्यन्तोंके साथ स्मरण करते हैं

## વિનતિ.

અમોએ આ અનુશ્રેણીના સંશોધનમા પ્રયુક્ત યાવદ્ભૂદિપસૌક્ય આપાસ કપો છે. તથાપિ અશુદ્ધિ દષ્ટિગોચર થાય તો તે જીવકૃતિ માની સુધારી લેશો.

### ઉપકાર દર્શન.

અમને આ સ્થાપના જે પુસ્તક પ્રદાન કરે છે એમનો ઉપકાર ચબ્દોમા માનવે અશક્ય છે. સમ્રદાયમા વિદ્યાનુરાગની વૃદ્ધિ થયાનું એ સુચન છે. 'જે સમ્રદાયમા સાહિત્યનો પ્રાણુ રક્ષાયો નથી તે સમ્રદાય દરેકના પ્રાણુમાં સચ્ચાર કરે છે, એ ન્યાય દ્વે આપણા સામ્રદાયિકો સમજવા લાગ્યા છે.

અમોને શ્રીજીવનેશાસ્ત્રીય પુસ્તકાક્ષય ઉપરાત શ્રીગોકુળનાથજી મહારાજ, શ્રીનજરતલાલજી મહારાજ, તથા શ્રીદ્વારકેશનાથજી મહારાજ, તથા કેદારથ શ્રીજોટામયુરેશજી તથા શ્રીનાથદ્વાર વિદ્યાવિભાગ પદ્મિત બલભદ્રશર્મા તથા પદ્મિત રમાનાથ શાસ્ત્રીજી તથા શાસ્ત્રીજી મગનલાલભાઈ તથા રા તેલીવાલા મૂલચન્દ્રભાઈ, યુજ્જરાતી પ્રેક્ષના માલિક મણિલાલભાઈ તથા પરિપદ્ સાહિત્ય માંથી રા. વાડિલાલભાઈ તેમ જ જુનાગઢ વિગેરે સ્થયેથી જે જે પુસ્તકો વારવાર આપવામા આવે છે તેમનો ઉપકાર અનુપમ છે. પ્રભુ આ પ્રણાલી સદા રાખે, જેમા ઉલ્લયને રૂક્ષ છે

ચીમનરાસ્ટ્રી

'સાહિત્યભૂષણ' 'દુહાદૈવરતન'

હરિકૃષ્ણ રાસ્ટ્રી

'શુદ્ધાદિતવિદ્યારદ'

श्रीकृष्णाय नमः ।

## चतुःश्लोकी ।



श्रीमदाचार्यप्रकटिता ।

सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो ब्रजाधिपः ।  
स्वस्यायमेव धर्मो हि नान्यः क्वापि कदाचन ॥ १ ॥  
एवं सेदा स्मं कर्तव्यं स्वयमेव करिष्यति ।  
प्रभुः सर्वसमर्थो हि तेतो निश्चिन्ततां व्रजेत् ॥ २ ॥  
यदि श्रीगोकुलाधीशो घृतः सर्वात्मना हृदि ।  
ततः किमेपरं हृदि लौकिकैर्वेदिकैरपि ॥ ३ ॥  
अंतः सर्वात्मना शश्वद्गोकुलेश्वरपादयोः ।  
स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यमिति मे मतिः ॥ ४ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीताविरचिता चतुःश्लोकी सम्पूर्णा ।

१ स्वयमेव भजनीयः च वाच । २ स्वयमेव कर्तव्यं वाच । ३ तेनेति वाच ।  
४ भवति वाच । १ ११ १२ वाच ।

श्रीकृष्णाय नमः ।  
 श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।  
 श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

## चतुःश्लोकी ।

श्रीमद्रजराजचरणविरचितविवृतियुता ।

श्रीमद्रासरसामृताब्धिविलसद्गोपीशपादाम्बुज-  
 द्वन्द्वस्नेहविलासदानकरणे श्रीपारिजातोपमः ॥  
 स्फूर्जद्गोपकृदम्बिनीविलसितमेमा रूपवर्त्मकरो  
 भूयान्मे हृदि सन्ततं दुरितहृच्छ्रीविट्टलो बाल्यभिः ॥१॥

भगवदीयानां धर्मादिचतुष्टयं भगवानेवेति स्वीयेषु कृपया श्रीमदाचार्यचरणाध-  
 त्तुर्भिः श्लोकैस्तदेव तज्ज्ञापनार्थं विवृण्वन्ति सर्वदा सर्वभावेनेति ।

सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो ब्रजाधिपः ।

स्वस्यायमेव धर्मो हि नान्यः क्वापि कदाचन ॥ १ ॥

सर्वभावेन सर्वात्मभावेन सर्वदा ब्रजाधिपो भजनीय इति सम्बन्धः ।  
 सर्वैरिति शेषः । स्वस्यायमेव धर्मोऽन्यो न । क्वापि कुत्रचित् । कदाचन कस्मिन्नपि  
 काले इत्यर्थः । हीति युक्तश्चायमर्थः । सहजदासत्वेन जीवस्य यतोयमेवार्थः श्रुत्या प्रतिपा-  
 द्यते । अत एवास्मत्प्रभुचरणैर्निजनिजसर्गप्रभुश्रीगोकुलनाथचरणकमलदास्यमेव स्वधर्म इति  
 निरूपयामि । सर्वदेतितदेन नात्र कालादिनियम इति ज्ञापितम् । धर्मशास्त्रादिषु धर्मकरणे  
 कालादिनियम उक्तस्तेन तत्र धर्मजनितफलस्यापि कालाधीनत्वेन क्षयिष्णुत्वमेव । अत्र  
 तदभावाय सर्वदेत्युक्तं भवति । किञ्च, सर्वदेतितदेन क्षणमात्रमप्यन्यधर्मकरणेऽनन्यत्व-  
 भङ्गमसङ्ग इति ज्ञापितं भवति, भगवतो जीवानां पतित्वनिरूपणात् । यया पतिव्रताप्राः  
 क्षणमप्यन्यत्र मनश्चालनेन व्रतभङ्गस्तथाप्रापीति ज्ञापनाय सर्वदेत्युक्तमितिभावः । सर्व-

१ विद्वक्कण्डने—तथा वाचपरिमाणस्यैव नीतरम पूर्वोक्तन्यायेन ब्रह्मणः सत्काराप्रिगतस्य ब्रह्मणा  
 स्वतेजस्यैव निजैधर्मस्य निर्विचयस्वपतिशाराय च तथा प्रकटीकृतस्यान एव महजइरिदासस्य तद्गत्वेन धर्म-  
 रूपस्य च निजनिजसर्गप्रभुश्रीगोकुलनाथचरणकमलदास्यमेव स्वधर्मः । तेन चातिरिक्तः स्वयं प्रकटीकृत्य विज-  
 गुणास्तस्मै इत्या स्वस्मिन्प्रवेशयति स्वरूपान्तरात्प्रमावार्थमित्यादि निरूपितम् ।

भावेनेति । सर्वो भगवति यो भावस्तेन तथा । पतिपुत्रादिभावेनापि तथेत्यर्थः । एतदे-  
 वोक्तमाचार्यैरेव ' तादृशीं भावनां कुर्यादित्यादि । यद्वा, सर्वभावपदेन स्त्रीभाव उच्यते ।  
 सर्वपदस्यैकस्मिन्धर्मं तत्रैव शक्तः । अत एव ब्रजमण्डनाभिरुक्तं, ' सन्त्यज्य सर्वविषयां-  
 स्तत्र पादमूल'मिति । तत्रैकस्मिन्सर्वपदाशक्तेरिति भावः । यद्वा, सर्वो भगवति यो भावः  
 स्त्रीभाव इति यावत् । भगवति स एव भावः प्रयोजक इति श्रीमत्स्वामिनीकृतस्व-  
 शृङ्गारादिप्रकारपुक्ते भगवति यो भावः स तथा । अत एवास्मत्प्रभुचरणैरुक्तं  
 ' यद्यपि युवतिवैप' इत्यारभ्य 'पुंसामपि युवतीभाव उद्वेल' इत्यन्तं पद्यद्वयेन । अत  
 एवास्मत्प्रभुचरणैः श्रीमदाचार्यैश्चोक्तं ' एतस्य दर्शने तु स्यात्प्रमदाभाव एव हीति,  
 ' स्त्रीभावो गृह' इत्यादि च । ननु सर्वेषां तद्भावायोग्यत्वादेतद्बोधनमतुपपन्नमाभा-  
 तीति चेत्? सर्वेषां तद्योग्यत्वं ब्रह्मणा गृह्णामने 'स्त्रियो ना पुरुषा वापि  
 भर्तृभावेन केशव'मित्यादिनोक्तम् । यद्वा, सर्वशब्देन प्रभुरेवात्रोच्यते, यतः सर्वशब्दस्य  
 तत्रैव शक्तिः तदात्मरूपा स्वामिनी, तत्र भावेन दासीभावेन प्रभुषु तत्सन्देशादिकथन-  
 पूर्वकसर्वसामग्रीसम्पादनेनेतिभावहृदयम् । ब्रजाधिपपदेन पूर्णग्रहोत्तमत्वं ज्ञाप्यते ।  
 यथा कृपया तेषु स्त्रीयत्वं प्रकटीकृत्य स्वस्मिन्श्च तदाधिपत्वं प्रकटीकृत्य रमते, तथैव  
 सर्वात्मभावेन भजने सर्वेषामेव करिष्यतीति ब्रजाधिपनाम्ना द्योत्यते । तेषु स्वाधिपत्वं  
 तु श्रीगोकुलजनरसदानेच्छाजनितवामरुशिश्वरिवरधारणमोत्रदुस्ताहोल्लसितहृदयेन श्री-  
 गोकुलनाथेनैवोक्तं ' मन्त्रार्थं मत्परिग्रह'मित्यादिना । एवं भगवतः स्वस्याधिपत्वं हृदि  
 कृत्वा भजनीय इति भावः । स्वस्य तदंशत्वेनाद्यमेव धर्मो नान्य इत्यर्थः । अत एव  
 स्मर्यते 'यो यदंशः स तं भजे'दित्यादि । अस्य स्वधर्मत्वोक्त्यान्यधर्मरूपेण वाधरुन्व-  
 मेव स्यादित्यर्थः । अत एव श्रीदेवकीभाग्योदयाचलभूषणेन श्रीगीतास्वपि उक्तं 'स्वधर्मं  
 निधनं श्रेयः परधर्मो भयावह' इति । अस्य स्वधर्मत्वोक्त्याऽन्यत्र तदभावः स्वतः सिद्ध एव,  
 तथापि नान्य इति यदुक्तं तद्धर्मशास्त्रादिष्वन्यत्र स्वधर्मपदकथनेन तद्दर्शनेनापि चित्ते-  
 ऽन्यथा न विचारणीयमिति भावः । यतस्ते बहिर्मुखा देहधर्ममेव स्वधर्मत्वेन वदन्ति, न  
 तु भगवद्भर्ममिति । धर्मशास्त्रस्य तद्देशेनैव प्रवृत्तेस्तैदन्निरूपणं युक्तमेव । अत एव युधिष्ठि-  
 रेण 'को धर्मः सर्वधर्माणां भवनः परमो मत' इति पृष्ठो भीष्मः प्रभुसहस्रनामस्तवनं भक्त्या  
 तत्सेवने च परमधर्मत्वेनोक्तवान् । नैवयं कर्तव्य एव तत्कथं सर्वथा निषिध्यते । उच्यते ।  
 सत्यमस्य देहसम्बन्धित्वेन करणीयत्वमायाति, परमन्यसृष्टिवद्यदि भक्तानां देहो भौतिको  
 भवेत्, भगवद्भक्तानां तु भगवत्पादपद्मरेणुसम्पादितदेहत्वात्तद्भजनकरणमेव स्वधर्मो नान्य  
 इति सर्वमवदातम् । अत एव श्रीवराहैरुक्तं, 'अन्यैव काचित्सा सृष्टिर्विधातुर्व्यतिरेकिणी'





तत्करणेऽधिकारोऽपि स्यात्परं तदभावे तत्र धर्मपदप्रयोगो गौण एवेति भावः । हीति युक्तश्चायमर्थः, सर्वान्प्रकृत्य भावत एव सेवनमात्मधर्म इति । यद्वा, हीति युक्तश्चायमर्थः, यदन्यसम्बन्धरहितस्यैव भगवद्भजनस्यैव धर्मत्वम् । यतो भगवताप्युक्तं ' भक्त्या त्वन्नन्यया प्राद्यः ' ' अनन्याश्चिन्तयन्तो मामित्यादिनेति भक्तानां भगवद्भजनमेव स्वधर्म इति स्वधर्मत्वेन भगवानेव सेव्यो नन्वन्यधर्मेषु मनो निवेशनीयमिति भावः ॥ १ ॥

एवं धर्मरूपमुक्त्वा अर्थस्वरूपमाहुः एवमिति ।

एवं सदा स्म कर्तव्यं स्वयमेव करिष्यति ।

प्रभुः सर्वसमर्थो हि ततो निश्चिन्ततां व्रजेत् ॥ २ ॥

सदा एवं कर्तव्यं यथाग्रे निरूप्यते । तदेवाहुः प्रभुरिति । प्रभुः स्वामी भक्तानाम् । सर्वरूपश्रासौ सम्यगर्थरूपश्च यतः, तस्मात्स्वयमेव करिष्यति ततः कारणाश्चिन्ततां निश्चिन्तस्य भावं व्रजेदित्यर्थः । एवमेव कर्तव्यमिति । स्मेति प्रसिद्धिरुक्ता । अर्थः सर्वदा गोप्यो भवति, तद्रूपमेव गोपायति । प्रभुः सर्वसमर्थस्ततः स्वयं कर्तव्यं रक्षाणादिकं प्रभुरेव करिष्यति । एवं सदा निश्चिन्ततां व्रजेदित्यर्थः । यथार्थस्य रक्षार्थं स्वयं यतः क्रियते तस्य जडत्वाद्न प्रभुरेव तदुक्त्या यो गोप्योऽस्तं प्रभुरेव भावादिरूप गोप्यं करिष्यतीति स्वयं निश्चिन्तो भवेदिति भावः । अत एवाचार्यैर्नवरत्ने उक्तं, ' चिन्ता कापी'त्यादि । यथार्थस्य सम्पन्गोपने कृत् एव निश्चिन्तता भवेत्तथात्र तं भावमर्थरूपं बहिर्मुख्यादिचौरिभ्यो भगवान् स्वयमेव गोपायतीति सिद्धवत्कारेण निश्चिन्ततां व्रजेदित्युक्तम् । यथार्थस्य गोपन सर्वेभ्यः क्रियते तथास्यापि भावस्यातिगोप्यत्वात्सोक्तं, परं निश्चिन्ततोक्त्या गुप्तत्वेनोक्तमिति भावः ।

यद्वा, प्रभुः सर्वसमर्थस्ततः स्वयमेव कर्तव्यं करिष्यति, सदैवं ज्ञात्वा निश्चिन्ततां व्रजेदित्यर्थः । यथार्थेनैव सर्वसाम्प्रदायिकं भवति तथात्र प्रभुः स्वभोगयोगश्रेहयोचनादिमाम्नीसम्पादनं कर्तव्यत्वेनोच्यते तत्स्वयमेव करिष्यति । यतः सर्वपदेन भक्तानां सर्वेषां सम्यगर्थः स एवेति सदैवं तथा भवेदिति भावः । अयमेवाधो रसावधिमुधाकरश्रीमन्प्रभुचरणै रससर्वस्वे निर्णीतः । ' विनैव समयक्रमं सखि तदा यदासौदतिस्फुटं नवशयौवनं त्रिदशमोहिनीमोहनम् । तद्भ्रगगुणो न तद्भ्रतकृतोऽन्यदी-  
योपि वा विचित्ररसभावितमियवतासगोयं परम् ' ' य एव यदीदृशं तदीय विष्णु वाच्यं सखि विमहाद्युपम् । रसरूपमितीन्द्रिरादुरापं रसमापुर्पुदुरारतो रसाव्ये'रित्यादिना । तेनार्थस्यार्थिदेवरूपायास्तैस्या यदुरापं तदर्थसाध्यं तु भवत्येव, भगवता च स्वीयेषु तन्संपाद्यते । तस्माद्भगवानेवास्मान्मर्थरूपोऽस्ति, स एव सर्वं करिष्यतीति ज्ञात्वा,

एवं पूर्वोक्तसर्वात्मभावेन सदा भजनं कर्तव्यम् । ततः प्रभुरपि सर्वसमर्थस्तथैव करिष्य-  
तीति भावः । ननु तथाकरणं प्रजवरकुमारिकास्यैव सभयति, तासा योग्यत्वादन्येपा-  
मयोग्यत्वात्कथमेव बोधनमिति चेत् ? सत्यं, तदयोग्यत्व जीवानां, तथापि सर्वात्मभावेन  
तथा चेद्भजेत्तदा भगवदनुग्रहेण तथा भवेत्तदा भगवानपि कुर्यादेषेति भावः । अत  
एव पुष्टिसरसिजमार्तण्डायितचरणाचारयेव भ्रमरगीतविवरणे प्रकटीकृत 'तदुरापत्वेपि  
तदाशया तद्भजनमेव कार्य'मित्युक्तम् । तदप्राप्तिथेः स्यात्तदा 'तदाशये'ति नोक्तं स्यात् ।  
तथा च श्रीगोपीजनमेघकुमुदयन्पुत्रीविह्वलनाथैरपि विद्वन्मण्डने रससर्वस्ये चालेखि,  
'सर्वात्मभावेन चेत्तथा भजनं करोति तदा भगवानप्यङ्गीकरोत्येवे'ति । 'यद्भानज्ञे'त्यस्मि-  
न्पद्येपि 'यस्मिन्महानुग्रहस्तस्मिन्धोपनितस्मिन्नीत्वमचिरात्कृता मियः प्रायत' इति ।  
तस्मात्तदनुग्रहेण तथाभवतीति भावः । अत एव यदुकुलरत्नाकरेन्दुना 'ये यथा मा प्रपन्न-  
न्ते' इत्युक्तम् । यद्वा, स्वयं कर्तव्यं भजनादिकं व्रजसुन्दरीषु समर्थो हि प्रभुः करिष्य-  
त्येवास्मदर्शनार्थम् । सदा एव निश्चिन्तता व्रजेत् तत्प्रकारकभगवत्कलादर्शनार्थं चिन्ता न  
कार्या । प्रभुः स्वत एव करिष्यतीति भावः । स्मेति प्रसिद्धिः । यतः प्रभुर्नैवोक्त 'अहं  
भक्तपराधीन' इति । तदधीनत्वेन तन्मनोभिलषितभरणं स्वत एव सिद्धम् । हीति निश्च-  
येन युक्तश्चायमर्थः । यतो भगवदर्थं 'सन्त्यज्य सर्वप्रियया'नित्यादिवये त्यजन्ति तेषा  
मनोरथपूरणं च भगवता कर्तव्यमेव । अत एव भगवतैवोक्त 'ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थं  
तांविभर्ष्येहम्' इत्यनेन । भरणकरणोक्त्या यथा तेषा स्वकीलादर्शनं भवति तथैव कृत्वा  
स्वकीलायामेव स्वरूपात्प्रियाया स्वस्मिन्नेव स्थापयामीति भावः । अर्थेनैव स्वमनोरथाभि-  
लापो भवति, अन्यथा तु जलतरङ्गवदुद्भूतदीनमनोरथापूर्तिरेव सदा, तथापि श्रीमत्प्रभुचर-  
णत्वेनैवैव भक्तमनोरथपूर्तिरिति भक्तानामर्थरूपोपि भगवानेव सेव्य इति भावः । यथार्थं  
विना लौकिकरमणादिकं भोगश्च न सिध्यति तथाप्रार्थान्निदैविकलक्ष्मीप्रवेशं विना भगवद्रम-  
णभोगौ च न सम्भवतः । सा सम्पत्तिरपि स्वस्मिन् स्वत एव सेवनसन्तुष्टः करिष्यत्येव प्र-  
भुस्तदा श्रीमदनुग्रहेण तत्प्राप्तिस्तेन च तौ सभवेताम् । भगवदाज्ञैव भगवदेकशरणायास्त-  
स्याः प्राप्तिरिति भगवानेवार्थरूप । अत एव श्रीगोकुलनाथवागधिपतिश्रीमत्प्राणेश्वरैः फल-  
प्रकरणे 'सर्वत्र तामु सा भगवदाज्ञया निविष्टे'ति । अस्यार्थस्यात्यन्तं योग्यत्वात्सर्वसमर्थ-  
इतिपदेन परोक्षेणैव गुप्ततया प्रभुचरणैः प्रकटीकृतमित्यल लेखनेन । तच्चरणाञ्जमकरन्दपा-  
नमत्तानां हृदि प्रभुमुत्प्रेन्दूदयेन स्वत एव भावाधिधीचिप्रचारो भविष्यतीति भावः ॥२॥

एवमर्थस्वरूपसुत्त्वा कामस्वरूप निरूपयन्ति यदि श्रीगोकुलाधीशोति ।

यदि श्रीगोकुलाधीशो धृतः सर्वात्मना हृदि ।

ततः किमपरं ब्रूहि लौकिकैर्नैतिकैरपि ॥ ३ ॥

श्रीगोकुलाधीशः सर्वात्मना यदि हृदि धृतस्ततो लौकिकैः लोक-  
सम्बन्धिसुखैः वैदिकैरपि वेदोक्तरुर्भजन्यैः स्वर्गादिसुखैरपि किमपरमस्ति ? न किम-  
पीत्यर्थः । त्वं ब्रूहि । स्वं मानसमेव साक्षीकृत्योच्यते । यदीतिपदेन कस्यचिदेव  
परमभागवतः कृतपुण्यपुञ्जस्याग्रिकुमारीणामिव भावो भवतीति दुर्लभत्वं ज्ञाप्यते ।  
गोकुलाधीशनाम्ना भगवतस्तदधीनत्वं ज्ञाप्यते । अत एव स्वःस्वामित्वाभिमानिभि-  
रपीन्द्रादिभिर्भगवान् तत्पतित्वेनाभिपिक्तो, भगवन्मनोनुवृत्तिज्ञानेन । एतदेवोक्तं 'इति  
गोगोकुलपतिं गोविन्दमभिषिच्य स' इति । गोगोकुलोक्त्या गोप्यो, गोपा, गावश्चोच्यन्त इति  
भावः । तेन तासांमधीशोतिरसिक्तः भेदरसज्ञश्च । अन्यथा पूर्णपुरुषोत्तमः कथं गोपीनां  
पशुतुल्यानां स्वयं प्रभुन्वमङ्गीकुर्वान् । तासां केवलं भेष्णैवाङ्गीकारात्स चेद्धृदि तयोग्य-  
स्वरूपभावेन धृतस्तदा तथैवाङ्गीकुर्यादित्येति गोकुलाधीशनाम्ना द्योत्यते । सर्वात्मना  
सर्वथा सर्वभावेन कामभावेनेति यावत् । अत्र सर्वात्मपदं कामपरमेव । यथा ब्रजभाग्य-  
रूपाणां सर्वात्मभावः कामभावान्मरु एव, अत एवोक्तं 'गोप्यः कामा'दिति । तथा-  
स्मिन्नाचार्यप्रकृतितृप्त्यागै तादृक्याग्निरेवोच्यते । स एव भाव उपदिश्यते । ता एव च  
गुरव इत्याचार्यैरेवोक्तं संन्यासपरकरणे 'गोपिकाः शोक्ता गुरवः साधनं च तदि'ति ।  
तेन सर्वात्मना कामभावेनेति भावः । अस्यात्यन्तं गोप्यत्वात्स्पष्टतया नोक्तम् । एवं  
प्रकारेण चेद्धृदि स्वयं धृतः । स्वधारणोक्त्या बलात्कारेणैव 'मैवं विभोऽर्हती'त्यादिरीत्येति  
भावः । तथा चेद्धृतस्तदा लौकिकैः पतिभिः वैदिकैः स्वर्गादिभिः, पुत्रादिभिर्जाप्यं  
किं ? न किमपीत्यर्थः । अत एव लौकिकैर्वैदिकत्यागपूर्वकं कामभावेन भजनं श्रीब्रज-  
नाथमाणवल्लभाभिरैवोक्तं 'सन्त्यज्य सर्वविषयांस्तवे'ति, 'पतिसुतादिभिरार्तिदः किम्'  
इत्यादिभिस्त्यागमुक्त्वा पश्चाद्भजनार्थमुक्तं 'तद्यो निषेही'त्यारभ्य 'तप्तस्तनेषु च शिरस्सु  
च किङ्करीणा'मित्यादिना । भगवतापि तथैवाङ्गीकाराज्ज्ञायते चास्यैव भावस्य प्रावस्यम् ।  
तस्मादपरं न किमपीति भावः । त्वया चेज्ज्ञायते वा किमप्यपरं तदा ब्रूहि । यद्वा,  
गोपदमिन्द्रियत्राचक्रे, तेनेन्द्रियदुलस्य प्रभुः सर्वात्मना पूर्वोक्तकामभावेन हृदि मनसि  
सर्वेन्द्रियाधिष्ठातरि यदि धृतस्ततो लौकिकैः पतिभिः किं ? न किमपीत्यर्थः । अप्राप्यं  
भावः । यदि भगवान् धृतस्तदा सर्वाणान्द्रियाणि भगवत्पराणि भवन्ति, तदैव च जन्मे-  
न्द्रियसाफल्यम् । तदेवोक्तं ब्रजवररणीयाभि'रसप्तनां फल'मितिये । श्रीमद्ब्रह्मवैश्व 'किं  
ब्रह्मजन्मभिरिति तासां भावदर्शनेनान्यजन्मवैफल्यमुक्तम् । तस्मादेवं यदि प्रभुर्धृतस्त-  
दापरं लौकिकैः पतिभिः किं भविष्यति न किमपीति भावः । वैदिकैरिति पति-  
विशेषणम् । वैदिकैरपि लौकिकैः किमिति । अपमर्थः । वेदे पतिभजनेन मोक्षः  
स्वादित्युक्तं, तद्यु संसाप्तदेहेन्द्रियाणामसम्बद्धतरम् । अत एवोक्तमाचार्यैः 'इदमेपेन्द्रिय-  
वनां फलं मोक्षोपि नान्यथा । यथान्धकारे नियता स्थितिर्नाक्षिणोः फलं भवेत् । एवं

मोक्षोपीन्द्रियादियुक्तानां सर्वथा न हि' । तस्माच्चैः किं ब्रूहि ? पूर्वपक्षिणं प्रत्युच्यते-  
अपरमपि किं तैरिति जानासि चेत्तदा ब्रूहि । ननु भगवद्भासिसमये लौकिकेभ्येव  
संबन्धात्कामस्य च बलिष्ठत्वात्कदाचित्तेषु मनश्चलति तदा तत्कृतमप्यकृतं भवति  
ततो वेदानुसारेणैव करणमुचिततरमिति चेत् । न । भगवन्निवेशितमनसां सर्वथान्यत्र  
कामो न संभवत्येवेति श्रीव्रजकुमारिकाकामपूरणपारिजातवरणेन श्रीनन्दकुमारेणोक्तं  
'न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते' इति । यद्वा, लौकिकैरपि दृश्यादिगुणैरपि,  
सर्वात्मना कामभावेन वा वैदिकैर्व्रजेन्द्रदिङ्मुखालङ्करणमुखचन्द्राभिरुक्तधर्मैः 'चूतप्र-  
वालबर्हस्तवकोत्पलाब्जे'त्यादिभिर्यदि श्रीगोकुलाधीशो घृतस्ततोऽपरं किं, न किम-  
पीति भावः । एवं सर्वकारैरपि कामभावेन प्रभुरेव सेव्य इति भावः ॥ ३ ॥

कामस्वरूपमुक्त्वा मोक्षस्वरूपमाहुः ततः सर्वात्मनेति ।

ततः सर्वात्मना शश्वद् गोकुलेश्वरपादयोः ।

स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यमिति मे मतिः ॥ ४ ॥

ततः कामभावात्मरुभक्त्यनन्तरम्, पुनः सर्वात्मना सर्वात्मभावेन, शश्वत्  
निरन्तरं, गोकुलेश्वरपादयोः स्मरणं तथैव भजनमपि न त्याज्यमिति मे मम  
मदीया मतिरित्यर्थः । अत्रायमाशयः । कामभावेन भगवत्सम्बन्धानन्तरं तत्संबन्धस्व-  
भावरम्यादाजनिततुल्यत्वप्रमदात्मभेदान्यान्यथाभावे सति मानादिना दोषभावेन तद्वा-  
ह्युतिः स्यात् । ततः सर्वात्मभावेन भजनमेव कार्यमिति भावः । शश्वदितिपदेन क्षण-  
मप्यन्यथाकरणे सर्वथाऽस्मुरप्रवेशः स्यादिति ज्ञाप्यते । गोकुलेश्वरनाम्ना यथा तेषां सर्व-  
भावप्रपत्त्या सन्तुष्टधातुर्गादिरहितेष्वपि स्वामित्वमङ्गीकृतवान्, तथात्रापि तत्रापि करिष्य-  
तीति ध्वन्यते । पादेषु द्रन्द्ररुथनेन श्रीस्वामिनीपादसाहित्यं ज्ञाप्यते । स्मरणपदेन स्मरणं  
चेतसो धर्म इति चित्ते भगवद्विषययोगसमये स्मरणमिति भावः । अन्यथा तद्विषययोगस्या-  
तितीक्ष्णत्वेन जीवनमेव न स्यादिति भावः । भजनं सेवा, सापि निरन्तरं तथैवेति  
भावः । चकारेण भजनं चित्तपूर्वकमेव वर्तव्यमिति भावः । अपिशब्देन भगवान् भजतु  
वा मा भजतु, स्वस्य भजनीय एवेति भावः । अत एव श्रीगोकुलाधीशरतिमार्गाञ्जमार्त-  
ण्डायितपादप्रदेशैः श्रीवेष्टलन आदि, 'मारणे वरणे गपि दासीनां नामधुर्गतिरिति ।  
अयमेवार्थः स्वयं न त्याज्यमिति स्मरणकालत्यागोक्तया ज्ञाप्यते इति भावः । मे मति-  
रिति स्वमतिकथनेन स्वानुभवः प्रदर्शितः । भक्तिपार्श्वे भक्तिरेव परमपूर्यार्थः । मोक्षाद्-  
प्यभित्तं भक्तेः सिद्धमेव । तस्मात्सुष्टिमार्गे मोक्षरूपत्वं च भजनस्यैनेति भजनमेव निह-  
पितम् । भक्तेर्पौशाभित्तं तु श्रीभागवते चतुर्थोक्तम् । तथा हि 'सान्त्वयसाष्टिसा-

मीप्यसारूप्ये'त्यारभ्य 'विना मत्सेवनं जना' इत्यन्तः; 'स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थ-  
दर्शिन' इति च । 'वीक्ष्यालकावृते'त्यारभ्य 'भवाम दास्य' इत्यन्तेन पत्रेन च । तेन  
भजनं सेवा मोक्षाधिका सैव कर्त्तव्येति भावः । मोक्षनिरूपणे भजनस्य स्वरूपका-  
त्यागोक्त्या पूर्वोक्तधर्मादित्रयरूपेण भगवान् स्ववशे भवतीति ज्ञाप्यत इति भावः । एवं  
मोक्षस्वरूपनिरूपणे स्वमतित्वरूपनेन स्वीयानामेव कर्त्तव्यमिति भावो ज्ञापितः ॥ ४ ॥

इति श्रीगोमूलाधीशवागधीशसुखच्युतम् ।

स्वमार्गधर्मार्थकाममोक्षाणां रूपमद्भुतम् ॥ १ ॥

तत्पादपद्मकृपया विवृतं हि यथामति ।

तेनाचार्या मयि ज्ञात्वा स्वीयता कृपयन्तु वै ॥ २ ॥

यत्पदाब्जमरन्दालिभावस्तुच्छीकरोति वै ।

मुक्तिं तच्चरणाम्भोजरेणुर्मशं प्रसीदतु ॥ ३ ॥

श्रीविट्ठलपदाब्जमोक्षरेणुसङ्काङ्क्षिणा मया ।

स्वाचार्योक्ता चतुःश्लोकी निर्णीतेयं यथामति ॥ ४ ॥

इति श्रीव्रजवधूमाणेनपादपद्माभ्ररूपुष्टिमार्गचकोरनेत्रानन्दधीवह्नि

भाचार्योक्तचतुःश्लोकीविवृतिभाचरसदीपिका

श्रीश्यामलतनुजव्रजराजकृता

सम्पूर्णतामगात् ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।  
श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।  
श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

## चतुःश्लोकी ।

श्रीवल्लभप्रकटितप्रकाशसमेता ।

श्रीमद्वल्लभनाथचरणसरोवरहरेणुभ्यो नमो नमः ।

श्रीकृष्णाऽऽस्याचार्यवर्याङ्घ्रिपद्मरेणुनत्वा भक्तितो यद्भवोऽर्थाः ।  
दुर्विज्ञेया यत्प्रसादं विनातस्तद्वाक्यार्थं तत्प्रसादाद्विवेके ॥१॥

लोके पदार्थाश्चत्वारो धर्मार्थस्मरमुक्तयः ।

स्मृत्युक्तसाधनैर्लभ्याः पूजामार्गानुसारतः ॥ २ ॥

तत्र प्रतिज्ञा नो मुक्तिर्विना ब्राह्मणदेहतः ।

भूतशुद्ध्या विनिर्वाहः साङ्गोपाङ्गः स्वमन्त्रतः ॥ ३ ॥

चेत्तदाप्यक्षरप्राप्तिरूप्या मुक्तिर्भवेत् क्वचित् ।

अतो निःसाधनानां यद्दृष्ट्या जन्म तदा भवेत् ॥ ४ ॥

तदर्थं श्रीहरिः साक्षात्स्वास्यवर्हि स्ववावपतिम् ।

चकार प्रकटं लोके श्रीवल्लभभिलातले ॥ ५ ॥

तैरेव श्रीमदाचार्यैः पुष्टिमार्गानुगामिनाम् ।

स्वसिद्धान्तावबोधार्थां चतुःश्लोकी निरूपिता ॥ ६ ॥

यस्याः पूर्वपदार्थेभ्यः पृथग्धर्मादितुर्भेदम् ।

सत्त्वं बुध्यते तस्या विवृतिः क्रियते मया ॥ ७ ॥

श्रीमदाचार्यचरणाः स्वीयानां स्वमार्गीयपुरुषार्थचतुष्टयप्रापनार्थं स्वसिद्धान्तचतुः-  
श्लोकीं निरूपयितुकामास्तत्र प्रथमं सधर्माचरणरूपं प्रथमं पुरुषार्थमनुष्ठन्दसाहुः  
सर्वदा सर्वभावेनेत्यादि ।

सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो ब्रजाधिपः ।

स्वस्यायमेव धर्मो हि नान्यः कदापि कदाचन ॥ १ ॥

ब्रजाधिपः पूर्णपुरुषोत्तमः सविदानन्दो भजनीयः सर्वनाथ इत्यर्थः । पुष्टि-  
मार्गीयैरित्यध्याहार्यम् । तदेवोक्तं श्रीमदाचार्यचरणैः श्रीभागवतदशमस्कन्धे जन्मदक-

रणविवरणे 'निःसाधनफलात्मायं प्रादुर्भूतोस्ति गोकुले । अतो वयं मुनिश्चिन्ता जाताः सर्वत्र एव ही'त्युक्तेर्निःसाधनानां कृते भगवतः पुरुषोत्तमस्य प्रादुर्भावः सिद्धः । स एव निःसाधनैर्जीवैर्देवसृष्टयुतयैः सेव्य इतिभावः । अयं स तैः कथं सेवनीय इत्याहुः सर्वभावेनेति । सर्वदेहेन्द्रियमाणान्तःकरणादिभिः कृतो यो भावः सर्वात्मभावस्तेन सेव्यः । एतदुक्तं भवति । देहेन्द्रियमाणान्तःकरणस्त्रीपुत्रपुत्रगृहादिकं सर्वं भगवत् एव न ममेत्येवंभूतो यो भावः स संसारनिवर्तकः, तस्मिन् सति जीवे निश्चिन्तता भवति । एवं सति मुक्त एव भगवन्मयो भवति । तदुक्तं भक्तिवर्द्धिन्यां ' गृहस्थानां वाधकत्वमनात्मत्वं च भासते । यदा स्याद्भयसं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तर्देव हि' । तेन सर्वात्मभावोयमेव देवजीवस्य मुख्यो धर्मः कर्तव्य इत्यर्थः । तदुक्तं श्रीभागवते एकादशस्कन्धे 'किञ्चलेन हि भावेन गोप्यो गावः खगा मृगाः । येन्ये मूढधियो नागाः सिद्धा मामीयुरञ्जसा' । नन्वपपि सर्वया धर्मान्तरवदेककालीनो वैकदेशीयो धर्मो भविष्यतीत्याशङ्कानिरासायाहुः नान्यः कापि कदाचनेति । अन्योस्मदुपदिष्टधर्मात्पुष्टिपार्गायाद्विरुद्धः पूजापार्गायो यो धर्मः स न वैष्णवानां कार्यसाधकः, किन्तु बाधकः विभूतिपर्यवसायित्वात् । कश्चिन्नेन देशकालयोरपि धर्मविपर्यासो दृष्टा तत्राप्ययमेव धर्म आत्मीय इति मन्तव्यम् । कदाचनेतिशब्देन कालान्तरप्यस्य धर्मस्य त्यागो न विधेय इतिभावः । सर्वदेति सर्वकालं निरन्तरं भजनीय इत्यर्थः ॥१॥

एवं प्रथमपुरुषार्थं पुरुषोत्तमसेवनरूपं पुष्टिपार्गानुसारिधर्मं निरूप्यातः परं द्वितीयपुरुषार्थमर्थरूपं निरूपयन्तीत्याहुरेवमिति ।

एवं सतां स्म कर्तव्यं स्वयमेव करिष्यति ।

प्रभुः सर्वसमर्थो हि तेन निश्चिन्ततां व्रजेत् ॥ २ ॥

एवममुना प्रकारेण स्वधर्माचरणरूपे प्रथमपुरुषार्थे सम्यक्तया निर्णीते तदनन्तरं विश्वासयुक्तहृदयेन स्वनुष्ठिते च सति, कालानवच्छेदेन स्मर्तव्यः । वैष्णवैरिति शेषः । इति निश्चितम् । सतां वैष्णवानामैहिकं पारलौकिकं च सर्वकार्यं स्वयमेव विनैव प्रार्थनेन करिष्यति, सर्वथा सम्पादयिष्यति स्म । कुतः स प्रभुरिति । यतोसौ सर्वसमर्थः स्वतन्त्रश्च । कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थो हरिरेव । अतो वैष्णवानां चिन्ताकरणं व्यर्थमेवेतिभावः । उक्तं च 'भोजने छादने चिन्तां दृष्टा कुर्वन्ति वैष्णवाः । योसौ विश्वम्भरो देवः स किं भक्तानुपेक्ष्यत' इति । अतोत्र भगवद्भक्तस्तेन भगवदीयानामैहिकामुष्मिन्नमनोरथानां भगवतः स्वयमेव कर्तव्यरूपेण हेतुना निश्चिन्ततां व्रजेत् प्राणुयादित्यर्थः । यथोक्तं दशमस्कन्धे 'तथा न ते माधव तावकाः कांचिद् भ्रश्यन्ति मागोन्नायं वदसो-हृदाः । स्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो' इति ॥ २ ॥

एवं भगवत्प्रभेयवत् वैष्णवानां समस्तकार्यसाधकर्थरूपं द्वितीयं पुरुषार्थं निरूप्यातः परं कामरूपं तृतीयं पुरुषार्थं निरूपयन्ति यदीति ।



यदि श्रीगोकुलाधीशो धृतः सर्वात्मना हृदि ।

ततः किमपरं ब्रूहि लौकिकैर्वैदिकैरपि ॥ ३ ॥

हे मनुज यदि स्वहृद्यन्तःकरणे सर्वात्मना सर्वात्मभावेन श्रीगोकुलाधीशः प्रभुः स्थापितस्तदा ततः श्रीगोकुलाधीशात्पूर्णपुरुषोत्तमादपरमन्यत्सर्वस्मादत्युत्कृष्टं भक्ता-  
नां सर्वकामपूरकं वस्तु किमप्यस्ति तर्हि ब्रूहि कथय । लौकिकैर्लौकिकसाधनसिद्धियुक्तै-  
र्वचनैस्तथा वैदिकैर्वैदिकयागादिसाधकवचनैर्निर्द्धारितफलं मुक्तिसाधकं सुमुष्णं काम-  
पूरकमपीदमेवेति भावः । उक्तं च श्रीमदाचार्यचरणैरन्तःकरणप्रबोधे 'अन्तःकरणं मद्भावयं  
सावधानतया शृणु । कृष्णात्परं नास्ति देवं वस्तुतो दोषवर्जितम्' । किञ्च । 'एकं शास्त्रं  
देवकीपुत्रगीतमेको देवो देवकीपुत्र एव । मन्त्रोप्येकस्तस्य नामानि यानि कर्माप्येकं तस्य  
देवस्य सेवे'ति । अर्थाद्भगवत्प्राप्त्यर्थं भगवदीयानां भगवत्स्वरूपसेवनमुपदिष्टं प्राचीनैर्भ-  
गवदीयैर्नारदाद्यैर्मुनिभिः । यदि स एव हृदये स्थापितो निविष्टस्तदा तस्य वैष्णवस्य  
सेवाफलं किमपरमन्यदृष्टिप्राप्त्यर्थं, न किमपरमन्यदपीति सिद्धान्तः ॥ ३ ॥ एवं काम-  
रूपं तृतीयं पुरुषार्थं निरूप्यातः परं चतुर्थं मुक्तिरूपं पुरुषार्थमुपदिशन्ति-अत इति ।

अतः सर्वात्मना शश्वद् गोकुलेश्वरपादयोः ।

स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यमिति मे मतिः ॥ ४ ॥

अतः परं श्रीगोकुलेश्वरस्य स्वहृदि स्थापनानन्तरं मुक्तिसाधनं निर्दिशन्त आहुः  
श्रीगोकुलेश्वरपादयोः स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यम् । इतीति समाप्तौ ।  
यथा औषधसेवनात्सुखीभूतस्यापि पुनरौषधसेवनं पुनर्न्याध्यनुत्पत्तिकरं भवति, तद्वद-  
त्रापि भगवत्प्राप्तौ सत्यामपि पाञ्चभौतिकदेहभृतो जीवस्यासुरादिसद्भादासुरावेशसम्भा-  
वनायां तदनुत्पादकं साधनं कर्तव्यमेव वैष्णवेनेत्यर्थः । अतोत्रेदमौषधवत्सर्वथा न त्याज्यं  
भगवतः स्मरणं तथा भजनं चेत्यर्थः । स्मरणं त्वन्तःकरणमलापहारकं जीवस्य । भजनं  
भगवत्स्वैरारूपं शरीराङ्गीकारज्ञानार्थम् । यद्यपि शरीरत्यागानन्तरमन्यशरीरं प्राप्य भज-  
नानन्दप्राप्तिरूपं मुक्तिफलं भविष्यति परन्तु तदपि फलमनेन देहेन भगवत्सेवाकरणादु-  
त्पन्नमस्ति तेनास्यैव रसार्थं निरूपितम् । भगवता देवजीवोद्धारार्थं स्ववागीशरूपः प्रकटीकृ-  
तस्तेनोक्तं श्रीमदाचार्यचरणैर्मे मतिरिति । भगवदीयेषु स्वकृपात्प्राप्त्यर्थमिति दिक् ॥४॥

इति श्रीकृष्णवागीशसिद्धान्तस्य प्रकाशिका ।

चतुःश्लोकी प्रसादेन तस्यैव विवृता मया ॥ १ ॥

इति धीमत्पितृचरणीकृतानधीयह्यमयिरचित

चतुःश्लोकीप्रकाशः समाप्तः ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

## चतुःश्लोकी ।

विवृतिसमेता ।

नमः श्रीबल्लभाचार्यचरणाब्जनसेन्द्वे ।

धर्मार्थकाममोक्षार्थं सेव्याय स्वजनैः सदा ॥ १ ॥

अथ श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणाः कृष्णाश्रयग्रन्थे शरणार्थि निरूप्य शरणागतानां स्वमार्गीयप्रमाणार्थं धर्मार्थमोक्षोपदेष्टुं पूर्वं धर्मं निरूपयन्ति सर्वदेति ।

सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो ब्रजाधिपः ।

स्वस्यायमेव धर्मो हि नान्यः कापि कदाचन ॥ १ ॥

सर्वदा सर्वस्मिन्काले । एतेन निरोधलक्षणोच्यमाना सर्वेन्द्रियैः सेवा सूचिता । फलरूपा मानसी वा, अन्यथा कालापरिच्छेदनासम्भवात् । सर्वभावेनेति । सर्वपा-  
मिन्द्रियाणामहमहमिकया प्रवृत्तिः सर्वभावः । 'तन्मनस्कास्तदालयास्तद्विचेष्टास्तदात्मिका'  
इति श्लोकोक्तवत् । 'तस्मात्सर्वात्मना नित्य'मिति नवरत्नवाक्याच्च । यद्वा, पतिपुत्रादिभा-  
वेन । ब्रजस्थ निःसाधनस्यानन्यस्वामिनः अधिपः । अत एवावश्यं सेवनीयः । स्व-  
स्यात्मनो जीवमानस्य अयं मुख्यो धर्मः । अग्रे त्वेतदङ्गभूता इत्येवकारः । धर्म इति  
'पुष्टिमार्गं हरेर्दास्यं धर्म' इतिकारिकोक्तो विध्युक्तः । विधिस्तु नारदीये 'प्रातर्मध्यन्दिने  
सायं विष्णुपूजां समाचरेत् । यथा सन्ध्या तथा निद्रया विष्णुपूजा स्मृता बुधैः' । एतदे-  
वोक्तं भक्तिहंसे 'स्त्रियाः स्वपतिभजनव'दित्यादि । हीति युक्तोपमर्थः । अन्यो देवतान्तर-  
भजनरूपो धर्मः, कापि कस्मिन्नपि देवो, कदाचन कस्मिन्नपि काले न भवति ।  
एवकारस्तु अयोग्यवच्छेदकः । अधिमे 'ब्रूही'तिपदादत्र हे अन्तःकरण हे भक्त इति  
याऽऽयाहार्यम् ॥ १ ॥ एवं ब्रजाधिपतिभजनरूपं 'पुष्टिमार्गं हरेर्दास्यं धर्म' इतिवाक्योक्तं  
धर्मं सप्रमाणं निरूप्य प्रमेयमर्थरूपं भगवन्तं निरूपयन्ति एवमिति ।

एवं सतां स्म कर्तव्यं स्वयमेव करिष्यति ।

प्रभुः सर्वसमर्थो हि तेन निश्चिन्ततां ब्रजेत् ॥ २ ॥

देवतान्तरभजननिवृत्तिपूर्वकं भगवद्भजनं कुर्वतां गुसां, स्मेति प्रसिद्धौ । यत्क-  
र्तव्यमर्थादिसम्पादनं तत्सर्वं प्रभुः स्वयमेव करिष्यति । स्वकर्तव्यमिति पाठे स्वैः  
कर्तव्यम् । शेषं पूर्ववत् । भगवतः स्वयमेव कर्तव्यत्वे प्रभारवोधनायाहुः प्रभुरिति । प्रकर्षण

भवति, स्वयमेव भक्ताभिलषितवस्तुरूपो भवति । यथा मैथिलश्रुतदेवयोर्षुहयोर्कृप्यादिवा-  
हनादिसर्वरूपो भूत्वा विवेश । अत एव 'पद्यद्विषे'तिवाक्यम् । ननु सर्ववेदप्रतिपाद्यो  
भगवान्भक्ताभिलषितरूपमुच्चावचत्वं कथं भजत इत्यत आहुः सर्वसमर्थ इति । सर्वपूजा-  
वचभावेषु समस्तुल्योऽर्थो भावो यस्य । 'सर्वं खल्विदं ब्रह्मे'तिश्रुत्या वस्तुतः सर्वस्य भगव-  
त्त्वात् । हि युक्तोऽयमर्थः । तेन भगवतः सर्वसमर्थत्वेन निश्चिन्ततां ब्रजेत्याप्नुयात् । विधौ  
लिङ् ॥ २ ॥ एवमर्थो हरिरेव हि 'प्रमेयं हरिरेवैक'..... प्रमेयं हरिं निरूप्य सकामं  
साधनदशां प्राप्तं हरिं निरूपयन्ति यदीति ।

यदि श्रीगोकुलाधीशो धृतः सर्वात्मना हृदि ।

ततः किमपरं ब्रूहि लौकिकैर्वैदिकैरपि ॥ ३ ॥

एतेन दुर्लभत्वमुक्तम् । अत एव दिदृक्षा । श्रीयुक्तो गोकुलाधीशः । 'कामः स्त्रीपु मति-  
ष्ठित' इतिवाक्योक्त्याभिर्युक्तः कामरूपः हृदि धृतः, हृच्छयः कृतः । तत्रापि सर्वात्मना  
सर्वेन्द्रियैः 'एकादशेन्द्रियैः काम' इतिनिबन्धवाक्यात् । यद्वा, श्रीभिर्गोपिकाभिर्युक्त इत्यु-  
क्त्या साधनं निरूपितम् । 'कौण्डिन्यो गोपिकाः मोक्ता गुरवः साधनं च त'दितिवाक्यात् ।  
ततः साधनसहितकामरूपहरेर्हृदि धारणादपरमुत्कृष्टं स्वस्तिपरं किं स्यात् । एतादृशं कि-  
मपि न । अस्ति चेद्ब्रूहि । लौकिकैरित्युद्यमादिभिः । वैदिकैरिति यज्ञादिभिः साधनै-  
रपि ॥ ३ ॥ एवं हरेर्दिदृक्षारूपं कामं साधनं निरूप्य फलं मोक्षं निरूपयन्त्यत इति ।

अतः सर्वात्मना शश्वत्केश्वरपादयोः ।

स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यमिति मे मतिः ॥ ४ ॥

यतो हृदये श्रीगोकुलाधीशधारणादन्यत्साधनं नास्ति, अतः सर्वात्मना देहे-  
न्द्रियमाणान्तःकरणैः शश्वन्निरन्तरं, गोकुलेश्वरपादयोः गवां कुलस्य 'कुल संस्त्याने  
यन्धुषु वै'ति धात्वर्थसमूहस्य, गोबन्धूनां गोपगोपीनां, गोकुलग्रामस्य वा ईश्वरस्य नि-  
यामकस्य, पादयोः स्मरणमाध्यानं भजनं सेवनं तनुजवित्तजमानसप्रकारैः परिचरणं न  
त्याज्यं, अन्यत्यागपूर्वकं सादरं सर्वथा विवेकम् । चकारः अयोग्यवच्छेदकः, अनुक्त-  
श्रवणकीर्तनसमुच्चायकश्च । अविः संभावनायाम् । त्यागसम्भावनैव नास्ति । इति एवंश-  
कारिका मम मतिः । मन्मतेः पर्यवसानमत्रैव । इदमेव फलम् । मोक्षत्रायम् । 'मोक्षः कृष्ण-  
स्य चेद् ध्रुवमि'तिवाक्यात् । 'ममोत्तमश्लोकजनेषु सख्यमि'ति वृत्रासुरोक्तेश्चेति दिक् ॥४॥

एवं श्रीवल्लभाचार्या घर्मायंछलाऽमृतान्निजान् ।

लोके प्रदर्शयामासुः प्रमाणार्दींश्च येचशः ॥ १ ॥

इति विधृतिः समाप्ता ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनबद्धमाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

## चतुःश्लोकी ।

श्रीमद्गोस्वामिश्रीमथुरानाथकृतव्याख्यानान्विता ।

श्रीहरिवागीशो विजयनेतराम् ।

नत्वा श्रीवल्लभाधीशपादाब्जयुगले मया ।

क्रियते तच्चतुःश्लोकीव्याख्यानं विदुषां मुदे ॥ १ ॥

अथ श्रीपुरुषोत्तमसुखारविन्दाधिदैविकानन्दमयामिस्वरूपश्रीवल्लभाचार्यचरणाः परमस्मरणिकाः स्वान्तःकरणोपदेशद्वारा स्वसमीपस्यान्तरङ्गभक्तोपदेशव्याजेन वाखिल-स्वामीयनिरूपयिदुःखमहरणेच्छया स्वमकटितभक्तिमार्गं श्रीकृष्ण एव धर्मादिचतुष्टयपुरु-षार्थरूप इति तानुपदेष्टुं शिक्षितुं च तावच्छ्लोकैरेवैतद्धर्मादीनुपदिशन्तस्तत्रापि 'तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्' 'धर्मेण पापमपनुदति' 'धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितं तस्माद्धर्मं परमं वद-न्ती'त्यादिश्रुतिभिर्मर्यादायामपि तत्परमोत्कर्षत्वं यत्र, तत्र फलमार्गीयभक्तिमार्गतत्परमो-त्कर्षत्वे किं वाच्यमिति कैमुतिकन्यायमतमपि मूचयन्तो, भजनरूपे धर्मे क्रियमाण एव तद-र्थादित्रितयं सेन्स्यतीति न तदर्थं पृथगायासः कार्यं इति मार्यादिकतच्चतुष्टयतो भक्ति-मार्गीयतच्चतुष्टये वैलक्षण्यमिति सौख्यमिति च ध्वनयन्तस्तच्चतुर्षु च सर्वत्र प्रथमं धर्म एवो-दिष्ट इत्यत्रापि तावदादौ तमेव दृढयन्तो निरूपयन्ति सर्वदेति ।

सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो ब्रजाधिपः ।

स्वरयायमेव धर्मो हि नान्यः कापि कदाचन ॥ १ ॥

सावधानतया श्रवणार्थमाभिमुखीकरणेन हे अन्तःकरण ! हे भक्त ! इति वा सम्बोध्य सर्वदा सर्वस्मिन्काले सर्वभावेन ब्रजाधिपो भजनीय इत्यन्वयः । भग-वदीयेन त्वयेति शेषः । उपदेशयोदेशाश्रवणनस्तथासम्बोधनं वक्तव्यमन्ययोत्तरे 'ब्रूही'ति पदं न सहृष्टेत् । आसुरप्रवेशाभावाय सर्वदेति कालापरिच्छेद उक्तः । सर्वभावः सर्वेषां भावः पतिपुत्रधनादि सर्वं प्रभुरेवेति । अत एव सुष्टिधुतिरूपाभिस्तामसप्रकरणो-पफलप्रकरणे 'अस्त्वेवमेतदि'त्यत्र तथैव गीतं 'प्रेष्टो भवांस्तनुभृतां किल चन्पुरात्मे'ति । एतदर्थस्तु 'नत्कस्यचित्पियो देह' इत्यारभ्य 'भगवत्सेवैवोचिते'त्यन्नं तद्वाक्याशयेन प्रभु-

चरणैस्तथैव निरणायीति तत एव विभावनीयः । यद्वा, सर्वेषु पदार्थेषु भावो भगवत्स-  
 म्वन्धित्वभावनं, तेनेत्यर्थः । अत एव वृत्रासुरेणापि तथा प्रार्थितं 'त्वन्माययात्मात्मज-  
 दारगेहेष्वासक्तचित्तस्य न नाथ भूयादिति । अथवा सर्वभावः सर्वात्मभावः, तेन  
 तथैत्यर्थः । आत्मपदमन्तरेण कथनं तु 'परोक्षप्रिया इव हि देवाः' 'परोक्षं च मम प्रिय-  
 मि'तिन्याहारतः परोक्षकथनाभिप्रायेण । स्वरूपं तु सर्वेषामिन्द्रियाणामहमहमिकया  
 निरूपधिभगवत्प्रवृत्तिः । विशेषतो जिज्ञासायां तु विवेचितोस्मत्प्रभुचरणैरनुभाष्यतृती-  
 याध्यायतृतीयचरण इति सुधीभिस्तत एव परिभावनीयः । तदधिकरणरूपास्तु व्रजे  
 रासमण्डलमण्डना एवेति न तद्वावाधिष्ठानान्वेषणमयासः । सर्वभावेनेत्यत्र हि करणे  
 तृतीया, तद्धि व्यापारवत्कारणं, व्यापारस्तु 'तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकत्वम्' । तथा  
 च सर्वात्मभावजन्यफलं भजनानन्दानुभवस्वरूपं, तच्च रसात्मकप्रभुस्वरूपात्मकमेव ।  
 'रसो वै स' इतिश्रुतेः । मध्ये रमणमवान्तरव्यापारः । अत एवोक्तं फलप्रकरणारम्भे  
 तथैव प्रभुचरणोक्तिरभयत्र । 'पञ्चधा रमणं मतं' 'ततो रूपं प्रतिष्ठितम्' । 'हरिप्रियास्त्रि-  
 ति शेष' इति । अत एतद्रमणस्य तज्जनकत्वम् । एवं चोक्तप्रकारेण भजने फलाभाव-  
 शङ्का निराकृता । करणं तु फलवन्न तु फलात्मकं, तेनास्य साधनत्वं न तु फलरूपत्व-  
 मिति पूर्वपक्षिमनःकलिलतां व्रजाधिपपदेन निरस्यन्ति । व्रजस्य 'अद्यापृतं निशि  
 शयानमतिश्रमेणै'तिवाक्याग्निःसाधनस्याधिपः प्रभू राजवन्नियामरुः, 'अनन्यगोकुलस्वा-  
 मिफलदाता फलात्मक'श्चात एव 'निःसाधनफलात्मायं प्रादुर्भूतोऽस्ति गोकुल' इति श्री-  
 मदाचार्यचरणोक्तिरपि । स एव भजनीयः सेव्यो नान्यस्तदंशः कलादिवैत्यर्थः । एवञ्च  
 सतीदं भजनं फलरूपं साधनरूपं च । यथा चारखण्डभूषण्डलखण्डलस्य हि हेममणि-  
 माणिक्यमयहचिरपात्राणि, कोशविशेषे सद्वाद्याणि व्यवहार्याणि च तान्येव । यतस्तस्यैव  
 सर्वाधिकैश्वर्यत्वात् । तेषामपि तत्तज्जातीयैभ्यस्तथात्वात्तथाप्रापि । न हि ततोपि जीवमात्र-  
 नियामकोऽपरोऽस्ति येन सोपि नियम्यः स्यात् । अतो भक्तिमार्गं सकलसाधनमूर्धन्यमेव  
 साधनं सकलफलमूर्द्धन्यमेव फलमिति नानुपपत्तिः काचित् । किञ्च, प्रामाण्यापेक्षया-  
 माप्तवाक्यं शब्द एव प्रमाणम् । आप्तत्वं तु यथाभूतायोपदेशकर्तृत्वम् । प्रकृते तादृक्प्रहा-  
 नुभावाः श्रीमदाचार्यचरणा एवेति नेतरप्रमाणाकाङ्क्षा । युक्तं चैतत् । न हि साक्षात्पुरु-  
 पोत्तमसुरारविन्दाधिष्ठातृरूपानन्दमयामिस्वरूपादितरः कश्चन तथाभक्तिमुर्हतीत्यलं वि-  
 शेषजल्पनेन । अत एवाचार्य मां विजानीयादिति भगवदुक्तिरपि । वस्तुतः पुरुषोत्त-  
 मा एव श्रीमदाचार्याः, तत्त्वं च कस्यचिद्भक्तविशेषस्य तद्भक्तयुद्धेकदशायामेवानुभूतं  
 भवति, अनुभूतं चासकृत्चादृशैः । अत एव बलभाष्टके 'अनुभवनिगमाद्युक्तमार्गैरित्यत्र  
 श्रीगोकुलनाथचरणैर्विविच्य तेषु तथात्वं निरणापि । एवञ्च तादृगाचार्यमचनानि श्रुतिरू-  
 पाण्येव । 'निःशसितमस्य वेदा' इतिश्रुत्या भगवन्निभासरूपस्य तस्योक्तदृशैस्तत्रैव संभ-

वान्न तच्छङ्गाग्न इति दिद् । प्रस्तुतं वदामः । ब्रजपटं तन्निष्ठपदार्थमात्रोपलक्षकमिति तत्रत्याः सर्वे एव भूयियमुनापुलिनाद्रिनिवृद्धगद्गरवृक्षलतापक्षिगोगोपालगोपीजनमृगाद्यो लक्षिताः । अत एव 'धन्येयमत्र धरणी'त्यादि भगवता गीतम् । किञ्चात्र 'भजनीय इति विधिस्तत्राप्यपूर्वनियमचिरी तु न सम्भवतस्तत्तल्लक्षणाभावात् । तथा हि नहीश्वरभजनममाप्तं, न वा तद्भजनं पाक्षिकमिति भोभयल्लक्षणावसरः । अतः 'स्तत्र चान्यत्र च प्राप्त' इतिलक्षणः परिसंख्याविधिरेवायं पारिष्टोप्यादिति सिद्धम् । एवं च तदकरणेऽपराधरूपप्रत्ययायोपि सूचितः । यथा मर्यादाया तदकरणे प्रत्ययायस्त्वनमार्गीयफलाभावश्च, तथात्रापि पुष्टिमार्गीयाचार्यनिदेशोल्लङ्घनेऽपराध एतन्मार्गीयफलाभावश्चेतिभावः । ननु यत्र रागतः प्रवृत्तिस्तत्रैव स, अत एव 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या' इति तार्किका इति चेत्, न । तथालक्षणस्यानुपलब्धेर्विनिगमकाभावाच्च । यद्वा, मास्त्रयं प्रमाणवृत्तान्तः, प्रमेयपद्धतौ विधेरनियामकत्वात् । वस्तुतस्तु आवश्यकार्थेऽनीय 'आवश्यमाधमर्ष्ययोः' 'कृत्याश्चे'त्यनुशासनात् । तेन सदानन्दरूपत्वाच्छ्रीगोकुल्याधिपतिरवश्यमेव भजनीय इति भावः । अपरञ्च, प्रजशतोरगमनार्थेऽन्येन प्रजतीति ब्रज इति व्युत्पत्त्या पचायच् । भगवतस्तस्याधिपत्येन सोपि व्यापिवैकुण्ठात्मन् इत्यमूचि । तेन भक्तहृदयप्रदेशादौ भगवदाविर्भावयोग्यतायां तद्विच्छया ततः पूर्वमेव तदाधिर्भाव इत्युक्तं भवति । अन्यथा तस्य तदधिष्ठानता न स्यात् । न वा भगवतः साधारणवच्च कुत्रचित्तपन्तरेणाविर्भावः । इतरथा निखिलजीवननियामकस्यानन्दरूपफलात्मकस्य त्रैलोक्यस्याधिपतेस्तदाधिपत्यमात्रकयनेन को वा तदुत्कर्षः स्यात्, प्रत्युतापत्रर्पाधायकश्च भवेत् । न चेन्द्रादिलोकवत्स्योत्कर्षः कुत्रचित्पुराणादौ प्रख्यातो येन तदधिपतित्वेन तादस्यापि तादृङ्माहात्म्य, यतस्तथात्वं वदेषुः । कदाचित्तादृशश्रवणमपि भूयोरु एव न स्वर्गादिषु, क्वचिच्छ्रूयतेऽपि न तादृशः, सोपि तत्तादृशलीलादर्शनानन्तरमेव, न तदवाक् । तादृगपि न सर्वजनावच्छेदेन किन्तु केषाञ्चिदेव भूरिभाष्यभाजा तथात्वं भासते, सोपि भगवतः सकाशादेतस्यैव, नापि तत्रो भगवतः । किं बहुना तादृशस्यापि प्रादुर्भावोपि माहात्म्याच्छादक एव । अत एव क्वचित्सुराणामपि तन्नावरोधः । अत एव श्रीभागवते पुराणान्तरीयप्रसिन्नाध्यायत्रयकथा । तत्रैव श्रीगोवर्द्धनोद्धरणमस्तावे पुरन्दरगर्वश्च । सोपि तत्र तज्जन्मादिभ्रमहेतुक एव नान्यया । नन्वेवं चेत्तर्हि तत्रैव स एव तेषामेव कथं स्तुत्यो जात इति चेत्, सत्यम् । परं सा स्तुतिः पूर्वं तन्माहात्म्यज्ञानत एव । यतस्तत्स्वरूपज्ञान, तत्रापि गर्भे एव ज्ञानादेव तादृक्तन्माहात्म्यायरोधनं, ब्रह्मणो भगवद्वयतरणसम्बन्धिनिखिलवृत्तान्तावबोधोत् । अत एव जन्मप्रकरणीयप्रथमाध्याये राजमन्त्राभिनन्दनानन्तरं 'भूमिर्दत्तवृष्याजे'त्यादिना श्रीशुकैस्तत्र तज्ज्ञानं निरूपितम् । न चैवं क्लृप्तवारणचरित्रे तस्य तद्वरणप्रशङ्कयवचनं स्यात्तन्मोहासम्भवादिहासम्भवादिदि वाच्यं, सर्वमेतदस्मत्प्रचुरणैस्तामसप्रकरणीयप्रमाणप्रकरण-



वितन्यते । इन्द्रस्य युज्यो योज्योऽनुकूलः सखा । अयमाशयः । प्रभुणा इन्द्रयागभङ्गे कृते  
 वहुःप्राहृतासाधारणत्रपेणेनेत्रेण तद्रोहे कृतेपि सर्वसमर्थोपित द्वेतुक्तन्मदमेव दूरीकृतवान्,  
 न तु तत्तदधिहार वेति तथा । तदनन्तरमिन्द्राभिपेरुगोविन्दनामधारणादिभिस्तन्तमान-  
 वपस्तथा । एव निरूप्य तत्पूर्वोक्तं विष्णोः लीलास्यानं परमं पदं सूरयो विद्वांसः, तत्त्वं  
 च शब्दब्रह्मपरब्रह्मस्वरूपत्रिचमम् । तत्र परब्रह्मबोधस्तु भक्त्यैवेति सिद्धान्तः, 'भक्त्या  
 गामभिजानाति' 'भक्त्याहमेकया प्राण' इत्यादिवाक्यैः सूरयो भक्ता एव । नन्वत्राह  
 तदुत्सायस्ये'ति 'सूरयः सदा पश्यन्ती'तिवाक्यैरुवाक्यताया भूमौ तत्परमं पदं भक्ता  
 एव सदा पश्यन्तीत्यर्थोऽवर्सायते, एवञ्च वाननकालिन्दीतनुर्लि नगिरिवरगङ्गाद्यात्मरुत्वे-  
 नोदृतस्वरूपमहच्च । तदेव हि द्रव्यं यचाक्षुषं, यन्महत्वे सति उद्धृतस्वरूपदिति तर्कोक्तिः ।  
 तच्चाक्षुषं द्रव्यात्मकं च तत् परमं पदं कथं भक्तैकदृश्यमेव, न साधारणजनगोचरमित्या-  
 शङ्काया दृष्टान्तमाह-दिवीचक्षुराततम् । दिवि स्वर्गं यथा आ समन्तात् तत् व्याप्त  
 'यन्न दुःखेन सभिन्न'मितिवाक्यास्तुखैःसाधनतद्रूप तत्पदार्थं तत्रस्थानामेव चक्षुः  
 पश्यति नान्येषाम्, तथैतद्वीलामध्यवर्तिनामेव तद्दृश्यमित्यर्थः । शाखान्तरेपि, 'ता वा  
 वास्तुन्युष्मसि गम'यै यत्र गात्रो भूरिशृङ्गा अयासः । अत्राह तदुत्सायस्य दृष्टः परमं  
 पदमवभाति भूरि' । अर्थस्तु, ता तानि, वा युवयोः कृष्णरामयोः गोपीमाधवयोः,  
 वास्तूनि अनेकविधकुञ्जादीन्येव वस्तूनि, गम'यै प्राप्तुं 'तुपर्ये से स' इत्यनुशासना  
 देतत् साधु । दृष्टः कामान् वर्पतीति दृष्टा, तस्य । गोपिकासु कामवर्षकस्य । भूरि बहुरूपं,  
 पदविशेषणम् । अग्रिपार्थस्तुक्त एव । परमपदा'दधिकं तत्रानुप्रविष्टमिति न्यायो ध्वनितः  
 अन्यथा तत्पदमित्येव श्रुतिर्विदेत् । एवञ्च, लक्ष्मीतुल्यतायामपि यथा भक्तेषु तत्र उक्तदृष्टत्वं  
 'गोप्योन्तरेण भुजयोरपि यत्स्पृहा श्री'रितिवाक्यात् । अत एव 'स्वानन्दानुभवार्थ'मि-  
 त्यस्य विवरणे श्रीविठ्ठलवरै'स्तथा च स्वपदस्य स्वामिनीवाचकस्ये'त्यादि व्याख्यान  
 कृतम् । तथा च प्रसिद्धतदयेक्षया प्रभो रतिप्रीतिसाधकत्वेनानिर्वचनीयच्छर्वाक्याय-  
 कत्वेन च तस्य तथात्वमितिभावः । 'न स्त्रियो व्रजमुन्दर्य' इत्यादि तत्रत्यबृहद्दामनपुरा-  
 णीयकथाप्युक्तार्थेऽनुसन्धेयेत्यल विस्तरेण । प्रस्तुतमनुसरामः । एतादृशस्याधिपो भज-  
 नीघः सैव्य इत्यर्थः । सेवा हि सेवकस्यैव धर्मः । 'भज' धातोः स एवार्थो निरुद्धः ।  
 तथा चारोपजीवाना सहजदासत्वमसूचि । तदकरणे तदण्डयोग्याश्च त इत्यपि । उक्तमेवो-  
 द्घाटयन्ति स्वस्येति । स्वस्य भगवदीयस्यायमेव भजनारूप एव धर्मो न तु मार्या-  
 दिकः स इतिभावः । एवकारस्तु पुरुषोत्तमभजनधर्मानिरिक्तधर्ममात्रव्यवच्छेदकः ।  
 अथवा स्वस्यैवाय धर्मो नेतरेषाम् । तेन भगवदीयव्यतिरिक्ता निवारिताः । ततो गोप-  
 नमप्यसूचि । अत एव 'न बुद्धिभेदं जनयेत्', 'त्वं च रद्म महाबाहो मोहशास्त्राणि  
 कारये'त्यादि भगवत्प्रापितम् । एतदर्थमेव शङ्करप्रभृतीनामुद्धवः । यद्वा, अयं धर्म एव



भगवदीयस्य सर्वपुरुषार्थसाधकस्तत एव सजातीयार्थादित्रितयसिद्धेः । अथवाऽयं धर्म एव स्वस्य तथा, न ज्ञानादयः । 'तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्ये'तिवाक्यतः । हिशब्दः कैमुति-कन्यायेन युक्तार्थं ध्वनयति । भगवता गीतायां 'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज । अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच' इति स्वधर्मातिरिक्तसर्वधर्म-परित्यागपूर्वकं निजशरणमुपदिष्टं, तत्फलं च पापमोचनमुक्तं, न स्वरूपसम्बन्धादिकम-तोऽप्यमुक्तमार्गो मार्यादिक एव स इत्येवं निश्चीयते । इतरथा स्वयमपि पापमोचनमेव फलत्वेन नोक्तं स्यात् । एवञ्च यत्र निखिलधर्मतो मर्यादामार्गावोपि शरणमार्गः साधी-याँस्तत्र फलमार्गीयभक्तिमार्गोक्तमकारेण सेवाकरणं, तत्रापि श्रीपुरुषोत्तमसुखारविन्द-विचितपद्धत्या, सुतरां तदात्मजनिर्मितरीत्या, सेव्योपि श्रीकृष्णः सदानन्दः फला-त्यकस्तत्राप्युक्तभावेन भजनं सर्वधर्मपरित्यागपूर्वकं सर्वोक्तप्रमफलं स्वरूपानन्दात्मक-मिति किं वाच्यमिति । अतः सर्वात्मनाऽन्यं निराकुर्वन्ति नान्यः कापि कदाचनेति । अन्यः प्रेरणादिलक्षणो धर्मो न भगवदीयो भवतीत्यर्थः । मार्यादिकत्वाद्भगवदीयैर्न कार्ये इति भावः । कापीति देशाश्रमापरिच्छेद उक्तः । कदाचनेति कालापरिच्छेदश्च । उक्तमकारेण दासैस्तदास्यमेव विधेयमिति भावः । अत एव 'भक्तिमार्गे हरेर्दास्यं धर्म' इति तन्मार्गमर्षैर्दास्यमेव धर्मत्वेनोक्तम् । अत एव वृत्रासुरेणापि इष्टपुष्टिफलेन 'अहं हरे तत्र पादैकमूलदासासुदारा भवितास्मि भूय' इति प्रभुं प्रति तदेव प्रार्थितं नेतरत् । प्रभुताक्षात्कारे साक्षात्तप्रार्थनमनुचितं भक्तस्येति परम्परया तत्प्रार्थनम् । एतेन स्वस्य दीनभावो दर्शितः । प्रभुसन्तोषाधायको यतस्तादृग्भाव एवात एव 'भक्तानां दैन्य-मेवैकं हरितोषणसाधनमिति भाषितं प्रभुचरणैः ॥ १ ॥

एवं श्रीपुरुषोत्तमस्य भक्तिमार्गीयप्रथमपुरुषार्थरूपत्वं सोपपत्तिकं निरूप्य तस्यै-वार्थरूपत्वं प्रतिपादयन्ति एवमिति ।

एवं सति स्वकर्तव्यं स्वयमेव करिष्यति ।

प्रभुः सर्वसमर्थो हि तेन निश्चिन्ततां व्रजेत् ॥ २ ॥

एवं सति उक्तमकारेण भजनरूपे धर्मे क्रियमाणे सति । स्वकर्तव्यं स्वामिकार्यं यत्तत्स्वयमेव स्वाम्येव करिष्यति न तु तदंशावतारादि । अतः प्रभोः स्वातन्त्र्यमप्य-सूचि । न जीवत्केवलं पारतन्त्र्यमेव । 'अहं भक्तपराधीन' इत्यादिवाक्यैः कालादि-नियामकस्य प्रभोस्तत्केवलं स्वभक्तमाहात्म्यावबोधनायैव नान्यथा । अत एव 'ह्रस्वतन्त्र इव द्विजे'ति तदाक्ये इवशब्दः । अस्वतन्त्र इव, नत्वस्वतन्त्र एवेति ध्वनयति भगवता तयो-क्तमित्यवसीयते । भक्तवात्सल्यतोपि क्वचित्पाया, अत एव दामोदरलीलापि । 'यस्य च भावेन भावलक्षण'मित्यनुशासनात्सतीति सप्तमी । ततः स्नेहनावच्छेदतो दास्यकरणेऽप्यभिचा-

रिनित्यं स्वामिर्नन्यमिति च ध्वनितम् । नपुंसकलिङ्गोक्त्या स्वयमिन्यव्ययोक्तेषु श्शुद्धते-  
 वास्त्वत्वमानन्ददायकत्वमविकारित्वं च । अन्यर्थं कृते कृत्येति वा द्रुपुः । स्वकृतीरिति  
 च । ननु श्रीमदस्मदाचार्यस्य चरणसरसिजरजोभूषणभूषितैस्सेवैर्वाङ्मधुद्रवास्वादि-  
 स्वान्तैस्तद्विधासेन तत एव 'स्मिन्मभ्य'मित्यादिवाच्यार्थानुसन्धानतः मार्थनमन्तरेण  
 भजनोपयोगिनिखिल्यदार्पणसम्पत्त्या तादृग्भावेन स्वभाष्यसौभाग्यसञ्चयमिव तद्भजनं  
 फलैवमेव, परन्वाधुनिकाना तत्स्वरूपानभिज्ञतया तदनुभवाभावाच्च जीवधर्मत्वेन कदा-  
 चिद्विधासेनोक्तदृष्टसेवासाधनरूपतनुजचित्तजसेवासिद्धपर्ययसाध्यायां तत्र प्रयत्ने कृते  
 कदाचिद्वाहिर्मुख्यसेवाप्रतिबन्धौ च स्याताम्, 'त्रैवर्गिकायासे'तिवाक्यात्मभुक्तप्रति-  
 बन्धोपि सम्भवेत् । न च सेवार्थं यत्ने क्रियमाणे न भगवन्कृतमतिबन्धः, अत एव  
 'त्रैवर्गिके'तिपदम्; आयासमात्रविघातहेतुत्वे 'त्रैवर्गिके'तिपदं न बदेत्; अतो भज-  
 नार्थं यत्ने कृतेपि न दोषः; मर्यादाप्रवाहसंवलितानामेव वाहिर्मुख्यादिभावो, न पुष्टाव-  
 द्भोक्तानामिति वाच्यं, नवरत्ने 'वापी'तिपदव्याख्यानोऽस्मत्प्रभुचरणैरुत्तरितत्वात् ।  
 अपरञ्च, भगवान् पूर्णपुरुषोत्तमः सर्वैररणसमर्थोपि स्वसेवार्थमप्यर्थयत्नसापेक्षश्चेत्तस्सेवा-  
 यामेव को विरोधोऽप्यसेवैव कुतो न कार्या, यत्नायासस्य तुल्यत्वात् । तस्याकिष्टकर्मत्वं  
 च भज्येत । वाहिर्मुख्यसेवाप्रतिबन्धौ च कथञ्चिदपि दुर्निवारौ स्याताम् । स्वामिकृत-  
 प्रतिबन्धस्याप्यतिबन्धिगुत्वनः स्वकृतोपि प्रयत्नोपि व्यर्थः स्यात् । वस्तुतस्तु अस्मि-  
 न्फलमार्गायभक्तिमार्गे सेवैव धर्म इति राद्धान्तः । अत एवात्रैव मन्येऽस्त्वभुभाषण-  
 मुधाधारा, 'स्वस्यायमेव धर्मो ही'ति । इतोऽपि स न कार्यं एवेत्युक्तं भवति । 'योगक्षेमं  
 ब्रह्मस्यह'मितियायमं च व्याजुष्येत । 'तुष्यतु दुर्जन' इतिन्यायेनास्तु वा मार्यादिक  
 एव स तथा'प्यधिकं तत्रानुप्रविष्टं न तु तद्धानिः' । अत्रायमभिमन्धिः, परमकारण्यैक-  
 सिन्धुः श्रीगोकुलजनैरुजीवनः स्वाश्रितस्य स्वल्पमप्यायासमसहमान एव सर्वैकरण-  
 समर्थस्तत्प्रयत्नमन्यथाकरोति स्वस्मिन्निश्वासादाद्याय नान्यथा । तथा च यत्र मर्यादा-  
 प्रवाहसवलितानामपि भक्ताना यत्नकेशासहिष्णुः करणाकोपलो हरिस्तत्र पुष्टावे-  
 वाङ्गीकृतस्य यत्किञ्चिदपि तदसहिष्णुः श्रीमद्भोक्तुलजनलोचनचकोरचन्द्र इति किं वाच्य-  
 मत एव 'किमलभ्यं भगवति प्रसन्ने श्रीनिकतने' इति वचनामृतं च । 'भगवद्दर्शापि  
 सा न कार्ये'त्युक्तं नवरत्नेऽस्मत्प्रभुचरणैरत एव । किञ्च, प्रजरतानामपि निजनाथनिदे-  
 शतोपि न निजप्रजगृहगमनमपि । यत्रैवं सूक्ष्मेक्षिका तत्रेतेषा वाहिर्मुख्यादौ का वार्ता ।  
 अत एव तामसमकरणीयफलभरणे 'यर्हाम्बुजाक्षे'तिश्लोके प्रजरत्नैर्निरुक्तं यत्प्र-  
 भृति त्वत्पादतलमस्पाक्ष्य तत्प्रभृति वयमञ्जसा अन्यसमर्षं स्थातुं न पारयामः । विवृत्तं  
 चैतदस्मत्प्रभुचरणैर्पिथा देहाभिमानी व्याघ्रस्य देहविघातकत्वात्तसंनिधौ स्थातुं न शक्नो-  
 ती'ति । एवं च सर्वथोक्तदोषसम्भवभयतो न भयत्नं कुर्यात् । अकृते तस्मिन्सेवासाधनानुपल-

विद्यस्तदनुपलब्धौ भजनोच्छेदस्तदुच्छेदे स्वधर्मात्यन्ताभावादुक्तोपदेशे घटुकुटीप्रभात-  
 वृत्तान्तो वृत्त इति निजजनस्वान्तभ्रान्तिमपनयन्तः प्रवदन्ति-स्वयमेवेति । स्वयं प्रभु-  
 रेव सर्वं करिष्यति । स्वाश्रितजनयत्नयन्तरेणापि भजनपेक्षितसकलपदार्थान्तंपाद-  
 यिष्यतीत्यर्थः । सेवकैः सेवोपयोगिसमस्तपदार्थाधिक्येनेतरतोऽर्थार्थिनेन मनो व्याकुलं  
 न विधेयम् । अत्रायमाशयः, आश्रयान्तररहितः स्वाश्रितजनो यदि भजनानुसृ-  
 लनिखिलन्यासपुरस्सरं तदनुकूलसकलवस्तुविकारतो निजभजनमेव सर्वतोऽधिकं  
 फलरूपं स्वसर्वस्वं ज्ञात्वा विदधाति तदा सर्वात्मरूपः फलात्मा सर्वकरणसमर्थः  
 कालादिनियामको भगवान्पूर्णाानन्दो हरिः परमरूपाखुर्येतो यत्किञ्चिदपि स्वकी-  
 यपरिश्रमासहमान एव स्वसेवासाधकमेव तदपेक्षितसमस्तसामग्रीरूपं कृतो न विद-  
 ध्यात् । अन्यथा 'योगक्षेमं ब्रह्मायह'मितिदृढमतिज्ञां न बदेदेव प्रभुरकुतोभयः । अमा-  
 सस्य प्रापणं योगः । प्राप्तस्य परिपालनं क्षेम इति तयोरर्थः । यद्वा, स्वयमेव स्वत  
 एव सर्वं करिष्यति प्रार्थनानपेक्षः । एतेन सेवकैर्न प्रभुः प्रार्थनीय इतिभावः ।  
 अत एव 'निजेच्छातः करिष्यती'ति नवरत्नेऽस्मत्प्रचरणैर्गौतं, 'प्रार्थिते वा ततः किं  
 स्या'दिति विवेकधैर्याश्रयग्रन्थे च । यद्वा, स्वयमेवेत्यादि पूर्ववत्, न कस्यचित्प्रे-  
 णया देयतान्तरद्वारा वा । कालादिदेयतान्तरप्रेरकोऽपि हरिरेवेति भावः । अस्मिन्नर्थेऽत्रा-  
 योगव्यवच्छेदक एवकारः । अथवा सेवकप्रार्थनस्य दोषावहत्वात्तत्प्रार्थनमन्तरेणैव ततः  
 पूर्वमेव तदभिलषितं कुर्वन्न तत्प्रार्थनावासानां समीक्षते । अन्यथा 'यस्त आश्रिय आशास्ते  
 न स भृत्यः स वै वणिक्', 'आशासानो न वै भृत्य' इत्यादिवाक्यैस्तत्सेवकत्वहानौ स्वस्वा-  
 मित्वभावस्तत्र दुर्लभ इतिभावः । एतेन भभोः परमभक्तपरमहितकारित्वं समसूचि ।  
 अत एव 'योगक्षेमं ब्रह्मायह'मितिवाक्यम् । यद्वा, स्वयं करिष्यत्येवेति क्रियया सहान्यये-  
 नात्यन्तायोगव्यवच्छेदक एवकारस्तेन प्रभुविश्वासेनैव सेवकैः स्थेयमतोऽस्मिन्मार्गे तद-  
 भाव एव परमवाधकः । अत एव विश्वासतदभावयोर्ब्रह्माह्मचातकौ भाव्या'विति तयोरनु-  
 रान्धानं तत्रैवोक्तम् । ननु सर्वसमर्थोपि प्रभुः सर्वथा साधनसम्पत्तिमन्तरेण तादृक्फलदाने  
 कथं समर्थो भवेत्, भवेद्वा यथाकथञ्चित्सम्पत्तावेव । अत एव 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते'  
 इतिवाक्ये प्रपत्तिरेव तत्सम्पत्तिरिति चेत्, सत्यम् । परं तत्रेदमवधेयम्-यस्य येन प्रकारेण  
 प्रपत्तिस्तस्यै तत्प्रकारेण प्रपच्छतीति प्रभुः 'तांस्तथैव भजाम्यह'मितिवाक्यत एवमेव ।  
 एवञ्च, यत्र मर्पादामार्गोक्तरीत्या प्रपत्तिस्तत्र तद्रीत्यैव फलदानं प्रावाहिकेभ्यः प्रावाहिक-  
 रीत्या पुष्टौ तद्रीत्या तथेति विवेकः । इतरथा 'यथा तथे'तिपदे न बदेत् । ये जना मां  
 प्रपद्यन्ते तानेवाहं भजामि हीन्युक्तेषु चारितार्थ्यं स्यात् । उक्तार्थं यथाशब्द इत्यत्र  
 'प्रकारवचने थालि'तिपाणिन्यनुशासनं जामरूकमेवेति नानुपपत्तिः काचित्, तथाश-  
 ब्दार्थोप्यनेनैव व्याख्यातः । तथा चात्र भजनोपदेशः पुष्टिपदत्पनुसारेणैति तथैव फल-

दानमिति दिक् । इत्थं च मर्यादायां साधनापेक्षो भगवान्ययासाधनं फलं ददातीति पुष्टौ तन्निरपेक्ष इति निगर्वः । अत एव श्रीमद्भागवते श्रीगोवर्द्धनोद्धरणप्रस्तावे 'गोपा-  
येत्स्वात्मयोगेन सोऽयं भे व्रत आहित' इति श्रीमद्गोकुलनाथोक्तिः । अन्यथा ब्रजजन-  
स्वरूपानन्ददानं च मुतरामशक्यवचनं स्यात् । न च तत्रैव पूर्वोक्त एव प्रस्तावे पूर्वाद्धिन  
'तस्मान्मन्च्छरण'मित्यादिनोक्तमेव वक्ति चेच्छरणगमनादिकं तत्साधनमप्यस्तीति वाच्यं,  
'निस्साधनफलात्माय'मिति प्रभुराश्रयविरोधापत्तेः । यदि ग्रहिल्लतया तद्वाच्यं तथापि  
प्रभुणैव तत्सम्पादितं न तु तैरपि किञ्चित्कृतम् । किञ्च, कदाचित्कृपाञ्चित्सम्भवेपि  
तत्रत्योपरिभागस्थशुकमयूरभृगादीनां मुतरां तदसम्भवः । वस्तुतो नास्त्येव तेषामपि  
तद्ग्रन्थसम्भवोपि, प्रत्युत विपरीतं च तत् । अत एव श्रीमद्गोकुलस्वामिना महता यत्ने-  
नापीन्द्रबलिभागो निवारितः । अत एवा'न्यापृत'मित्तिवाक्यं च । न च जन्मान्तरीयं  
सदस्तीति चेत्, न । तथाभूपने मानाभावात् । न चैतत्फलान्यथानुपपत्तिरेव तदिति  
चेन्न । उक्तोक्त्युच्छेदापत्तिः । ननु क्वचित्तादृशगुक्तिरपि स्यादिति चेत्, न । 'अस्ति  
चेदुपलभ्येते'तिन्यायो व्याकृत्येत्, प्रत्युत भगवत्तैव सर्वं सम्पादितमित्युक्तिर्लभ्यतेपि ।  
अत एव 'प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरि'रितिवाक्यमिति चेत्, समः समाधिः, 'अहो  
अमीषां क्रिपकारि शोभन'मित्तिवाक्यात् । अत्र ब्रूमः । यद्यप्येतद्वचनमपि कोट्टिवाचवो-  
पमत्रगाहते तथाप्युत्तरदले यथोपोद्बलक'मन्यापृतं', 'निःसाधनफलात्माय'मित्तिवाक्यं न  
तथा पूर्वदले इत्यनेनापि भगवत्कृतिरेव निरणाधि, न ब्रजवासिनामतो मर्यादायां तत्सा-  
धनेरेव फलं यतस्तद्रक्षकोपि प्रभुरेव । पुष्टौ तद्विनापि स्वबलेनैव सर्वं कर्तुं समर्थ इति  
कृतं वाचां विनासः । इदानीमुक्तार्थमेवोद्धाटयन्त्यस्मत्प्रभुचरणाः प्रभुरिति । प्रभुः  
सर्वनियामकः । 'अन्ये चाशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान्स्वय'मित्तिवाक्यतः । अत एव  
समर्थ इति हेतुगर्भं विशेषणम् । सर्वेभ्यः कालादिभ्योपि समर्थः । कालसाध्यपदार्थ-  
स्यापि स्वयमेव साधकः । यद्वा, सर्वेष्व्वाश्रमेषु देशेषु बाहोस्विदुर्णेषु तथा कालत्रितयेषु  
यर्णाश्रमादिषु तथा । देशादिपट्टसाधनानपेक्षः । यद्वा, सर्वस्मिन्साधनविषये तथा । तत्तत्सा-  
धननिरपेक्षः । यद्वा, सर्वैः कालादिभिः कृत्वा समर्थः सर्वकरणक्षमः । कालाद्योपि  
तदधीना एवेति तत्साध्यपदार्थस्यापि प्रभोरिच्छामात्रेण त एव साधका न तु विघ्नक-  
र्तारः । अथवा सर्वेषु देवजीवेषु साधनसम्पत्तिं साधयितुं तथा । स्वस्मिन्नेव ज्ञानादेः  
सिद्धत्वात् । यद्वा, असाधनमपि साधनं कर्तुं समर्थः, अद्भुतमर्थत्वात् । अत एव तत्त्वा-  
र्थदीपे 'असाधनमपि साधनं करोती'त्यस्मत्प्रभुचरणोक्तिः । हिशब्दोपि समर्थमनु-  
मोदते । तथा हि यत्र मर्यादाप्राप्तौ साधनाभाववत्पापात्यन्तासक्ताजापिन्यादिभ्यः स्वांश-  
कलाप्रवतारः परम्परासम्बद्धेपि नामवर्णाज्ञानेन कथनेनापि परमस्नेहभरतः केवल-  
स्वपुत्रनाममात्रजल्पनेन स्वसम्बन्धगन्धसम्भावनाऽभावेपि तन्नामवर्णमाहात्म्यावबोधार्थं

साहकृफलदानं तत्र साक्षात्कालत्मकश्रीपुरुषोत्तमस्यैव पुष्टिमार्गीयस्वगुणारविन्दरूपाचार्यो-  
पदेशपूर्वकतदुक्तप्रकारेण भजने स्वयमेव किं किं न विधास्यतीति निखिलमनिर्वचनीयम् ।  
य एतादृक् प्रभुः समर्थः, तेन प्रभुणा कृत्वा तेन कारणेन वा हेतुना वा भक्तो भगवति  
स्निग्धः निश्चिन्ततां निराकुलतां अजेत्प्राप्नुयात् । अत्रायं भावः । पूर्वं श्रीमदाचार्यो-  
पदेशमात्रेण तद्विधासोद्वेगेण भजनपक्षात्तस्मिन्तदुद्वेगेण स्निग्धः सन् तथा स्यादित्यर्थः ।  
इदं भजनमेव सर्वस्वमिति ज्ञात्वा यदि भजनमेव कुर्वन्प्रभुं क्षणमात्रमपि न त्यजेत्तदा स  
तथात्वं प्राप्नुयादिति भावः । तथा चेतन्मार्गीयो द्वितीयपुरुषार्थोपि सोपपत्तिको निरूपितः ।  
तथैवाभिहितं भक्तिरससारपरिशीलनशीलैरर्थो हरिरेव ही'ति ॥ २ ॥

एवं मार्यादिकौ तौ निराकृतौ तथा कृतेऽप्यर्थे सात्त्विकादिभेदेन त्रैविध्यमित्यतः  
कामस्यापि तत्र तदुत्कर्षस्वमाशङ्क्य तदपि प्रभुस्वरूपापेक्षया सुतरामेवाप्रयोजकमिति  
दृष्टीमपि तं तमेव निरूपयन्तस्तत्परिहर्तुमुपक्रमन्ते यदीति ।

यदि श्रीगोकुलाधीशो धृतः सर्वात्मना हृदि ।

ततः \*किमपरैर्द्वैहि लौकिकैर्वैदिकैरपि ॥ ३ ॥

यदि चेद्गोकुलाधेशो यशोदोत्सङ्गलालितोऽनन्यगोकुलस्यामी । श्रोपदोक्त्या  
तादृगन्तरङ्गभक्तसहितः । यद्वा, 'श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र ही'तिवाच्यतः श्रीपुक्तं यदो-  
कुलं, तस्य तथा । पूर्वोक्त्याच्यतः सर्वोत्कृष्टशोभायुक्तं यत्तत्तस्य तथा । तादृशोपि सर्वा-  
त्मनोक्तभावेन धृतः भवता त्वया येति शेषः । धृत इतिपदात्कायवाङ्मानसैस्तदेक-  
परता ध्वनिता । विशेषतश्चेत्तत्प्रवणता यतः स प्रभुस्तत्सम्बन्धेव । अतः फलप्रकरणे-  
ऽस्मत्प्रयुचरणैर्गीति 'सोऽन्तःकरणसम्बन्धां विरोधत्' इति । आश्रयान्तरं परित्यज्य केवल-  
तदेकनिष्ठो जात इति यावत् । तदा ततः पूर्वोक्तफलात्मकप्रभोः सकाशादपरैस्तुच्छै-  
ल्लौकिकैर्वैदिकैरपि किं ? न किमपीत्यर्थः । अयमर्थः । लौकिकैर्लौकिके परमोत्कर्षभापकै-  
स्तामसराजससात्त्विकैः । बहुवचनं त्रिविधत्वसूचनाय । वैदिकैस्त्रिविधगुणस्वरूपैर्लोक-  
योगसिद्धिभोसैः । बहुवचनं पूर्वोक्ताभिप्रायेण । चतुर्विधमौक्षणानादिसूचनायापि शब्दः ।  
उभयविधैस्त्वैर्ज्ञानादिपिश्च कृत्वा किं ? न किमपीत्यर्थः । अपरमिति पाठे उत्तरैः कृत्वा-  
ऽपरशुक्लं वस्तु किमप्यस्ति । न किमपीत्यर्थः । यद्वा, अपरैर्देवतान्तैः किं ? सर्वेषां  
तद्विभूतिरूपत्वात् । अत एवोक्तमस्मत्प्रयुचरणैस्तत्त्वदीपे 'कृष्णान्देन परं वस्तुच्यते' ।  
'कृष्णात्परं नास्ति देव'मित्यन्तःकरणप्रबोधे च । अत्रायमभिसन्धिः । रसातलादिपु  
भूम्यपेक्षयाप्यानन्दाधिबोधं, तदपि वामनावतारेणैवोद्धृतमतः प्रभोस्नयायिन्याः त्रियः  
सकाशादपि तदप्रयोजकम् । एवं सर्वभूमीश्वरत्वं लोके यत्परकरं, तद्य यद्दानादिसापे-

क्षमत औपाधिकं सावधि च । न च राज्यमन्ते परलोकोपकारि, 'राज्यान्ते नरकं ध्रुव-  
 मितिवाक्यात् । अतो भगवदनययज्ञसस्तकाशात्तथा । एवमेवेन्द्राधिपत्यमपि परि-  
 णामपायि । भगवद्वखण्डितैश्वर्यात्तत्तथा । एवं लौकिकत्रिविधमपि निराकृत्य वैदिक-  
 मपि निराकुर्वन्ति । अपरिपक्वयोगिनो हि स्वयोगजलेनाभिलषितपदार्थानाविर्भाव्य तद-  
 नुभवं कुर्वन्तस्तस्मादपि भ्रष्टाः सन्तो दुःखिता एव पुनर्जन्मार्हन्तीति भगवज्ज्ञानापेक्षया  
 तदज्ञानमपि तथा । भगवज्ज्ञानस्य नित्यत्वात् । ब्रह्मणो रजोव्रतारत्वात्तल्लोकोऽपि  
 राजसः, तत्र हि 'ब्रह्मणा सह मुच्यन्त' इतिवाक्यात्तत्साहित्येन पारतन्त्र्यतो भोगफलयोः  
 सिद्धिरिति स्वपराक्रमातिक्रमः । भगवद्दीर्घापेक्षातस्तौ तथा । 'तमेव विदित्वाति-  
 मृत्युमेति । नान्यः पन्था विद्यतेऽप्यनाये'त्यादिश्रुत्या ज्ञानतो मोक्षस्तत्र 'सत्त्वात्सञ्जायते  
 हानमि'तिवाक्यतस्तत्तज्जन्यं तदपि सात्त्विकमेव भवितुमर्हतीति तत्साध्यो मोक्षोपि तथा ।  
 सोऽपि गणितानन्दात्मकोऽस्तः पूर्णानन्दमभवपेक्षया सोऽत्यन्तं स्वल्पतर इति तथेति  
 वैदिकमपि तत्तथाकृतम् । किञ्च, मार्यादिकवैराग्यमपि प्रभोर्भक्तातिरिक्ते रागाभावा-  
 ल्लोकोत्तरवैराग्यतः पूर्ववदिति भगवद्धर्मरूपतत्पङ्कणत । पङ्क्तिधास्तेऽकिञ्चित्करा  
 यत्र तत्र किं वाच्यमन्तरङ्गधर्मिरूपतद्गुणतस्तथात्वमिति कस्मृतिरूप्यायोपि ध्वनितः ।  
 किञ्च, 'अस्पैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ती'तिश्रुत्युक्तेर्भगवदानन्द-  
 लेशस्तदतिरिक्तसरुल्लयैषु निर्णीतः । तर्हि त्रिपयानन्दनिमित्तमात्रपुत्रायांदिख्यं तदा-  
 नन्दाभासरूपं वस्तुतो दुःखात्मकमेव तत्रथे'त्यधिकं तत्रानुप्रविष्टं न तु तद्धानि-  
 रितिन्यायमपि सूचयन्तः स्वान्तरङ्गस्वाश्रितमभिमुखं विधाय प्राप्नोचन्-ब्रूहि  
 त्वमेव वद । अत्र ब्रूहिपदतोऽस्मदाचार्यवर्धकृपाप्राप्त्युत्तरकालावच्छेदेन तस्य स्वरू-  
 पानन्दानुभव इत्यवयवसीयते । इतरथा ब्रूहीतिप्रश्नः कथमपि न सङ्घटेतैवेति पूर्वमेवावो-  
 चाम । न च तादृग्भाग्यशालिनस्तस्य तादृगाचार्यचरणकृपाकटाक्षपक्षपाततस्तादृक्तदनु-  
 भवो दुर्घटस्तस्य तादृङ्मुखारविन्दरूपत्वात्तद्रसपूर्णत्वाच्च । अत एवास्मत्प्रभुचरणैः 'स्तत्सा-  
 रभूतरासस्त्रीभावनपूरितविग्रह' इति सर्वोत्तमे तादृगस्मत्स्वामिनाम गीतम् । एवञ्च भक्तो-  
 पदेशपक्ष एव सार्धायाचान्तःकरणोपदेशपक्षैः । फलप्रकरणे 'ब्रूहि किं करवाणि व'  
 इतिवत् । अन्यथा स्वमनोवबोधे यथा 'किं स्यादिति विचारये'ति तत्रत्यववदंस्तथाप्रापि  
 तत्पदमेव वदेयुः, यतो विचारो ह्यन्तःकरणधर्म एव, परं तादृग्वेषणीय एवेति यदी-  
 तिपद भाषितमस्मत्सौभाग्यसुभगभूपणैः श्रीमदाचार्यचरणैरिति दिक् । अत्रायं निगूढा-  
 शयः । पूर्वं देवभजनमेव दुर्लभ, तत्रापि देवाधिदेवस्यातिदुर्लभम् । क योगिध्येयो  
 भगवान्ब्रह्मादिदुर्लभो निर्दोषपूर्णगुणविग्रह आनन्दमात्रवरपादमुखोदरादिः, क सरुल-

दोषात्मको दुःखैकसदनरूप आनन्दशून्यो जीवः । अत एव सर्वधर्मान्परित्यज्येत्यन्यथाकृतौ श्रीविठ्ठलवरोक्तिसुधासारो 'ब्रह्मस्तुत्यादिदूरापचरणरेणुरीश्वरः काहं तृच्छो जीव' इति । ततोपि गोकुलेशस्य यशोदोत्सङ्गलालितस्य श्रीगोकुलैकस्वामिनः पुरुषोत्तमस्य श्रीनन्दात्मनस्यात एव 'पुरुषोत्तमस्तु नन्दगृह एव'त्यस्मत्प्रभुवाङ्गीयुषं, तत्रापि श्रीगोकुलेशस्य परमसौन्दर्यसुन्दरस्य सुतरां ततोप्युक्तभावेन ततस्तरां तत्तथा । अत एव श्रीभागवततत्त्वार्थदीपे 'कृष्णशब्देन परं वस्तूच्यते तदेव कदाचित्परमसौन्दर्यं प्रकटं करिष्यामीतीच्छया प्रादुर्भूतं सच्छीकृष्ण' इति श्रीमदाचार्यमधुरं वचः । 'भक्तिमार्गे फलं कृष्णस्तदास्वादस्सुदुर्लभ' इति च । इति च प्रस्तुतासंभाषनायां, कदाचित्कस्यचिद्वैवर्जीवस्य देहस्य च भ्रुरतरभाग्योदयेन 'यमेवैष दृणुते तेन लभ्य' इति श्रुतितः स्वसुखारविन्दनिष्ठसुधासाररूपाचार्यचरणापारकल्पया तदनुग्रहतस्तदुरीकारेण तादृग्भजनतस्तदुद्रेकदशायां श्रीनन्दराजकुमारसुकुमारनिजचरणकुवलययुगलतरलतरलितपरागसंवलितपनोमधुलिह एव तल्लेखमिति निर्गर्भः । एतेनैतादृग्भजनाधिकारी चैतत्कालावच्छेदेन दुर्लभ इति सूचितम् । तथा चैतन्निरूपणेनैतन्मार्गापिद्विशालक्षणतृतीयपुरुषार्थोपि निरूपितोप्यभूत् । न हि तादृक्स्वरूपानन्दानुभवोत्तरं कस्यचिदपि लोकोत्तरपरमानन्दरूपस्य पुनर्दिदृक्षाऽसंभवः, प्रत्युत क्षणमपि तद्दर्शनमन्तरेण स्वरूपानन्दसुधापानपरैस्ततोन्मय स्यात्प्रमशक्यं, किं पुनर्वाच्यं दिदृक्षामृते तथात्वं तथेति । अथोदाहरणानि ब्रजजनरतान्येवानुसन्धेयानि । अत एव फलप्रकरणे 'यद्यन्मुजाक्षे'त्यादितैरेव गीतम् । 'क्षणं युगशतमिव यासां येन विनाभवं'दित्त्रिवाक्यतस्तासां तद्वियोगकालीने क्षणमपि सोढुं तावत्परिमाणकमिति पूर्वोक्तमखिलं कम्पनीयम् ॥ ३ ॥

एवं तृतीयं तं निरूप्य तुर्यं तथा निरूपयन्ति-अत इति ।

अतः सर्वात्मना शश्वद्गोकुलेश्वरपादयोः ।

स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यमिति मे मतिः ॥ ४ ॥

अत्रायमाशयः । ब्रजजनवृन्द्वाञ्छाकल्पतस्वीलः श्रीगोकुलाधिपतिरदेयस्वस्वरूपानन्ददानक्षमोपि प्रभुर्मनोरथान्तं श्रुतयो यथा यद्यु'रितिवाच्यतः पुष्टिश्रुतिरूपभक्तवाङ्मनोगोचरातीतपरमानन्ददायको यतः, अतः कारणाद्धेतोर्वा सर्वात्मनोक्तभावेन शश्वन्नैरन्तर्पेण गोकुलेश्वरपादयोरनन्यगोकुलस्वामिनः पुरुषोत्तमस्य भक्तिरूपधरणसरसिजयोः स्मरणं भजनं सेवनं, स्मरणं नामानुभवजनकसंस्कारावशेषरूपमिति तु तार्किकाः । भगवन्मते त्वनुभवजन्यमेव स्मरणमिति राद्धान्तः । एतत्स्फुटीकृतं 'सद्यो नष्टस्मृतिर्गोपी'त्यत्र सुबोधिण्याशयविसदीकरणे भगवद्दाशयङ्गैरिन्यलं बहुना । चकारात्तद्व्योभिलषणमपि न त्याज्यम् । भक्तैरिति शेषः । यत्र वक्षःस्थलस्थिताया

चार्यवरणवचनरचना भक्तिवर्धिन्याम् । ननु 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्य' इतिश्रुतेस्त्वद्वरणेनै-  
 वोक्तभावेन तच्चरणस्वरणादिसम्भवेऽयमुपदेशमयासः मयास एवेति कस्यचिद्विद्विमुख-  
 मौख्यं परिहरन्तः स्वमतिं प्रमाणयन्ति इति मे मतिरिति । मे मत्सम्बन्धिनी मदीया,  
 मतिः बुद्धिरिति एवंरूपा उक्तमकारे न्यवसायात्मिकैत्यर्थः । अत्रायमभिसन्धिः । यद्यपि  
 पूर्वोक्तमुक्तश्रुत्यादिना तदनुग्रहसाध्यं, तथापि स्वस्य तादृग्भगवन्मुखारविन्दरूपायिष्ठा-  
 त्त्वान्तदभिज्ञतया मे मतिरित्युक्तिर्भगवदुक्तिरेव । तथा चोक्तमकारेण तत्करणेऽनुग्रहं  
 करिष्यत्येव परमदयालुः श्रीमन्नन्दाजकुमारः श्रीगोकुलजनलोचनचातकचेतोहरनवनीर-  
 दगुन्दरो, यतो यथा श्रीगोकुल उत्तरखलबन्धनमस्तावे मसद्गतो नारदोक्तमपि निजोक्तमे-  
 वेति तदवस्थातोपि तत्साधनमन्तरेणापि स्वमयत्नेन तदुक्तमात्रेण महदायासेन स्वयमेव  
 तत्र गत्वा मलकूबरमणिस्रीवयोस्तद्वरूपयोरन्तरगत्योल्लखलतत्सङ्घट्टनेन तौ भूयौ पातयं-  
 स्ततो निष्ठतलव्यस्मृतदिव्यशरीरयोस्तपोस्तादृक्स्तवननमनपदक्षिणादीनङ्गीकुर्वन्नुदुत-  
 वानत एव 'तत्तथा साधयिष्यामि यद्रीतं तन्महात्मने'ति श्रीकृष्णचन्द्रोक्तिः । एवञ्च  
 स्वमुखारविन्दोक्तमखिलं स्वोक्तमेव कुतो न कुर्यादिति मद्दिशासेन पूर्वोक्तमदुक्तकरणेन  
 भगवदीयैर्निश्चिततया स्थेयमिति भावः । यद्वा, मे मतिरिति भेदबोधकपृथया स्वमतेः  
 स्वातन्त्र्यमसूचि । अत एवासमाप्तोक्तिरपि । अन्यथा मन्मतिरित्येव बदेयुः । तेनाय-  
 माशयः । भारते भीष्मयुद्धे पार्थेरथार्थं श्रीमच्छुकुलजलधिसुधाकरः स्वमतिज्ञातामप्यन्ना-  
 यरूपां स्वोक्तिं वितथीकृत्य तत्पार्थनाभावेपि स्वत एव तत्स्यन्दनकगिरिशिखरतः  
 सत्वरमुत्तरंक्षयलजलद इव चक्रपाणिस्तेन सह युद्धार्थं पृच्छन्तत्प्रतिज्ञामेवापालयत् । यत्र  
 मर्यादायामपि तद्भक्तकृतप्रतिज्ञानिर्वाहकरणं तत्र पुष्टौ निजाज्ञया शक्यीभूतसाक्षात्स्व-  
 स्यैव मुखारविन्दाधिष्ठातृरूपस्य वस्तुतः स्वस्यैव तस्य तत्साधनसम्पत्तौ सत्यां स्वयमेव  
 स्वस्यैवाभिलषितसम्पादनेन स्वोक्तमेव तदुक्तं कथं न करिष्यतीतिभावः । स्वानभिल-  
 पितमपि वा पूर्वोक्तहेतोर्मदुक्तमिति करिष्यत्येव । एतेन स्वस्य धर्मिमार्गाभिमानमौढत्वम-  
 पि ध्वनितम् । अत एव सिद्धवत्कारेणास्मत्प्रमुखरणातां तादृग्व्याहार इत्यलं शङ्कान्वेषणा-  
 विलासैः । एतेन तदीयत्वसिद्धिस्तस्मिन्तदौ पुष्टिमागींचरमपुरुषार्थोपि सिद्ध इत्युक्तं  
 भवति । अत एव 'मोक्षः कृष्णस्य चेद्भुव'मित्युक्तलक्षणो मोक्षस्तदभिज्ञैरेव भाषित  
 इति संक्षेपः ॥ ४ ॥

यद्यप्यनुचितमेतन्मत्वोचितं रचितमेतदस्माभिः ।

सन्तुं तमपि प्रभवो मन्तुं मे बल्लभप्रभवः ॥ १ ॥

मया नापानुसारेण महानेवानयः कृतः ।

यत्कृतचतुःश्लोकीन्यारूपाने विष्टता मतिः ॥ २ ॥



श्रीमद्रोस्वामिश्रीमधुसूतनाथदत्तज्याख्यानान्विता ।

कृपालवस्त एवैतदागःसन्तुं ममेदशः ।

मभवो विद्वलाधीशा मर्दायोयमिति स्वतः ॥ ३ ॥

रमणी रचिरा टीका भूयान्मधुरभाषिणी ।

करसम्बन्धपात्रेण विद्वदानन्ददायिनी ॥ ४ ॥

इति श्रीमच्छास्त्राचार्यचरणशरणीकपतिना श्रीविद्वलपद्कमलय-

रागपरिमल्लुधमधुना निर्मिता

चतुःश्लोकीच्याख्या घृत्ता

—————

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवह्नुभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

## चतुःश्लोकी ।

श्रीकृष्णरायभट्टविरचितसर्वार्थबोधिकाव्याख्यासमेता ।

श्रीमद्ब्रह्मपादान्नपुगले विगलन्मधु ।

नमाम्यहं सदानन्दरूपं सर्वार्थसिद्धिदम् ॥ १ ॥

श्रीविद्वलपदद्वन्द्वं नत्वा मधुमुपूरितम् ।

कुर्वेहं श्रीमदाचार्यकृपापूरित्वाङ्मनाः ॥ २ ॥

तत्कृतायाश्चतुःश्लोक्या व्याख्यां सर्वार्थबोधिकाम् ॥

अथ श्रीमदाचार्यचरणाः स्वीयानां सकलनिरतिशयसाधनसाध्यफलप्राप्त्यर्थं शुद्ध-  
पुष्टिमार्गीयातिरिक्तसाधनासाध्यफलं चात्र ज्ञापयितुं समलवेदवेदान्तप्रतिपाद्यशुद्धपुष्टि-  
मार्गीयभक्तिस्वरूपं तत्साधनं तत्सेव्यस्वरूपं च वक्तुं स्वसिद्धान्तोक्तमुबोधिन्यशुभाभ्या-  
दिरहस्यं छल्लेपतश्चतुःश्लोक्या आहुः—सर्वदेति ।

सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो ब्रजाधिपः ।

स्वस्यायमेव धर्मो हि नान्यः क्वापि कदाचन ॥ १ ॥

सर्वदेति न कालनियमोत्र । सर्वकाले निरन्तरम् । नो चेद्भजनाभावे द्यामुसावेद्यः  
स्यादित्यर्थः । सर्वभावेन ब्रजाधिपो भजनीयः । पाटशो भावो भगवता सम्पा-  
द्यते, कोपि भावः । भावो मनोवृत्तिः । यथा नन्दयशोदादीनां वात्सल्यभावः । तथा-  
भावेन भजनीयः । अथवा, सख्यभावेन । यद्वा, मुख्यस्वामिनीनामिवासाधारणस्नेह-  
भावेन । तत्र साधनदशायां यावद्भगवति कोपि भावो नोत्पद्यते तावद्भजने क्रियमाणे  
राजसेवकवर्ज्येयोपि रक्षणोपोग्रभाभावार्थम् । नियमस्तु पतिव्रताया इव सर्वथैव भग-  
वद्भजने रक्षणोपः । यथा पतिव्रतायाः पतिभजने विहायान्यद्दर्मादिकं गौणं, तथा भग-  
वद्भजने विहायान्यद्दर्मादिकं गौणमेवेति । यद्वा, सर्वभावेन सर्वान्भभावेन सर्वकारणा-  
खनः स्वस्य जीवस्य भावो मनोवृत्तिर्भगवति । यद्वा, सर्वेषु स्यात्परनक्षत्रेषु ज्ञात्पनो

भगवतो भावनाभावः । तेन तदुक्तं 'सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः । भूतानि भगवत्यात्मन्येव भागवतोत्तम' इतिवाक्यात् । भजनीयः सेवनीयः । सेवा कर्तव्या । सेवा च स्वामिनो मनोनुकूला स्ववृत्तिः, तस्या ज्ञानं तु शास्त्रद्वारेति विवेकधैर्यपूर्वकं काय-वाङ्मनोभिर्भगवदाश्रयपूर्वकं चित्तोद्देशप्रतिबन्धभोगादिकं विहाय सेवनं कर्तव्यम् । यद्वा, 'श्रवणं कीर्तनं'मितियापाच्छ्रवणादिरूपा नवधा भक्तिः मेघरूपा कार्या । सेव्यस्वरूपमाहुः—ब्रज्राधिय इति । ब्रजस्य निरसाधनस्याधिपः स्वामी नियामकः प्रभुः फलात्मा भक्तानां त्रिविधदुःखदूरीकरणार्थमाविर्भूतः साकारो व्यापक आनन्दमाधकरपादमुखो-टरादिरूपः पूर्णः परब्रह्म 'रसो वै स' इतिश्रुत्या रसात्मा युगलस्वरूपः । सर्वात्मभावेन विरहादुल्लिख्यदयेन 'यद्यदुःखं यन्नोद्राय' इत्यादिभावनया पूर्वोक्तवास्तव्यादिभावाविष्टेन सेव्यः । ननु 'धर्मण पापमपनुदति' 'धर्मं सर्वं प्रतिष्ठित'मित्यादिश्रुतिभिर्नैक्येण न प्रज-या धनेन त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशु'रित्यादिना त्यागेनैवामृतत्वप्राप्तेरुक्तत्वात्कथं भजनमेवो-पदिश्यते इत्यपेक्षायामाहुः—स्वस्वत्यायमेवेति । स्वस्य जीवस्यात्मनोयमेव भगवद्भजनमेव धर्मः । इति निश्चये । जीवात्मनो भगवदंशत्वादंशिनः सेवा युक्तैव । तस्मादस्यैव सुरयधर्मत्वम् । अन्ये धर्मास्तु दैहिकाः । तस्मादन्येषां गौणत्वम् । अत एव 'त्यक्त्वा स्वधर्म-परणाम्भुजं हरे'रित्यस्य व्याख्यानं 'अस्वधर्ममिति पदच्छेदं कृत्वा भगवत्परणारविन्द-भजनमभिहितम् । तदेव स्वधर्म इति द्योतितम् । अत एव धर्मादिभिर्यद्भवति तद्भजनमे-व भविष्यतीति दैहिकधर्माणां गौणत्वं द्योतितम् । अत एव भगवद्वाक्यं 'यत्कर्मभि-र्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतथ यन् । योगेन दानधमेण श्रेयोभिरितरेरपि', 'सर्वं मज्जक्तियोगेन पद्भक्तो लभतेऽस्ये'ति । 'यद्भ योगेन साहच्येन दानवततयोध्वरैः । व्याख्यास्वाध्याय-संन्यासैः प्राप्नुयात्तन्वाङ्मनोतीतरसाधनाप्यत्वं स्वस्योत्तमम् । धर्मादिप्राप्यं तु भक्ते-रानुपदिश्रुत्स्वल्पमुत्तमम् । नान्य इति । कापि वृत्रापि यद्वाचिदप्यन्यो धर्मो नास्ति । अन्यथा, य भगवान्स्वीयन्तेनानुशुद्धाति 'यमेवैव वृणुत' इतिश्रुतेर्भक्त्या त्वनन्ययेत्यादिवा-क्यैश्च भजनमेव स्वधर्मः । किञ्च; 'त्रैर्गिके तिरास्येन यस्मिन् महाननुमहस्तस्मिन्'त्रिंश-शत्याज्जनार्थं त्रिर्गवियातं स्वयमेव भगवान्प्ररोति । मोक्षस्तु भक्तानामेव नापेक्षितो 'दायमानमि'तिरास्यत् । तथा च भक्तिमार्गं कः पुण्यार्थे इत्यपेक्षया 'हरेर्दास्यं धर्मोयौ हरिरेव हि । कामो हरेर्द्विस्तैव मोक्षः कृष्णस्य चेद्भ्रु'मिति श्रीमद्भक्तप्रवचरणे'रहं हरे तत्र पादेनमून्दात्मानुदास' इत्यस्य व्याख्याया निरूपितमिति जीवपात्रस्य भगवद्भ-जनमेव स्वधर्मः ॥ १ ॥

ननु सर्वेषां भगवद्भजनमेव स्वधर्मश्चेति सर्वं भगवद्भजनमेव किमिति न दुर्ब-न्तीत्यपेक्षायामाहुः—एवमिति ।

एवं सदा रम कर्तव्यं स्वयमेव करिष्यति ।

प्रभुः सर्वसमर्थो हि तेन निश्चिन्ततां ब्रजेत् ॥ २ ॥

एषमनेन प्रकारेण स्त्रियः स्वपतिमजनवत्सदा निरन्तरं दैवर्भावैः सद्भिर्ध-  
त्कर्त्तव्यं तदस्माभिरुक्तम् । दैवजीवानां सतां सत्पुरुषाणां सम्बन्धी कर्त्तव्यो यो भगव-  
द्भजनरूपो धर्मः सोऽस्माभिरुक्तः । स्म इति प्रसिद्धिः । दैवजीवानामेवायं धर्मो, नत्वासुर-  
जीवानाम् । आसुरावेशिनां तु व्यवहारिणीनामिवान्यधर्मेष्वपि प्रवृत्तिः । दैवजीवानां तु  
गृह्यधर्मिणां श्रौतस्मार्चादिकर्मानुष्ठाने घेद्रूपभगवदाज्ञया देवतान्तरयजने क्रियमाणे  
भगवदङ्गत्वेन तद्विभूतित्वेन यागकरणस्योक्तत्वान्नान्यत्प्रभु इति । तथा च 'अन-  
न्याश्चिन्तयन्तो मामि'तिवाक्याद्योगक्षेमनिर्वाहकत्वं भगवत् एवेति यद्दर्मादिभिरैदिका-  
द्युष्मिकफलादिकं तदनायासेन भगवान्स्वयमेव करिष्यति सम्पादयिष्यति । कुत  
इत्यपेक्षायामाहुः—प्रभुरिति । सर्वेषां ब्रह्मेन्द्ररुद्रादीनामपि प्रभुः स्वामी नियामकः सर्व-  
सामर्थ्यविशिष्टः । सर्वैर्मिलित्वा यत्कर्त्तव्यं तत्स्वयमेव कर्तुं समर्थः । ह्येति प्रसिद्धिः,  
सीरोदमयने घन्दरानयने । तेन सर्वप्रकारेण देशकालद्रव्यकर्तृमन्त्रकर्माद्याग्रहं परित्यज्य  
चतुर्विधपुरुषार्थरूपो भगवानेवेति भगवदाश्रयेण भगवद्भजनमेव कुर्वाणो निश्चिन्ततां  
ब्रजेत् । तेन दैवजीवैर्भगवदाश्रितैः कदापि कापि चिन्ता न कार्या । चिन्ताया आसु-  
रधर्मत्वात् । सर्वं भगवानेव करिष्यतीति भावः ॥ २ ॥

ननु लौकिकवैदिकधर्माद्याश्रयपरित्यागेन भगवद्भजने क्रियमाणे कदाचिद्भगवा-  
नप्येतन्मनोरथं न कुर्यात्तदा किं भविष्यतीत्यपेक्षायामाहुः—यदीति ।

यदि श्रीगोकुलाधीशो धृतः सर्वात्मना हृदि ।

ततः किमपरं ब्रूहि लौकिकैर्दैविकैरपि ॥ ३ ॥

यदि कदाचिच्छ्रीगोकुलस्यानन्यशरणस्यानन्यगतिकस्य 'तरमान्मच्छरणं गोष्ठं  
मन्नायं मत्परिग्रह'मित्येवं भगवता श्रीनन्दनन्दनेनाङ्गीकृतस्य निरस्ताधनरयाधीशोधि-  
पतिः स्वामी रक्तकः फलात्मा पालकश्च, सर्वात्मना कायवाञ्छनसा सर्वात्मभायेन वा  
हृदये धृतो धारितः । येषां भगवन्त्वं विहाय दारागारसुतधनादिकं किमपि मियं नास्त्येव  
सर्वस्वरूपेण भगवानेव येषामस्ति, भगवदर्थमेव वैः सर्वं त्यक्तं, येषां प्राणादयोपि  
भगवदर्थमेव मिया नात्मार्षम् । यदीतिपदादेताददयवस्या दुर्लभोति सूचितम् । भगव-  
द्भ्रष्टातिरिक्तसाधनासाध्येति भावः । गोकुलाधीश इतिपदेन यथा श्रीगोकुले भक्त-  
वश्यत्वेन भगवता स्वीयते तथैतस्यापि वशे भूत्वा भगवान् वर्त्तन इति द्योतितम् । अत  
एव 'एवं सद्गतिता ह्यङ्ग हरिणा भक्तवश्यता । स्ववरोनापि कृष्णेन यस्यैर्दं सेश्वरं वशे',  
'नायं सुरापो भगवान्देहिनां गोपिकामुतः । ज्ञानिनां चात्मभूतानां यथा भक्तिमतामिदे-

ति । नन्वेवं भगवति हृदि विद्यमाने गृहस्थानां धनाद्यभावाद्भौक्तिकवैदिककार्यादेः कथं निर्वाह इत्यपेक्षायामाहुः—तत इति । यदा श्रीभगवानेव सर्वसामर्थ्यविशिष्टो हृदये स्थितस्तदा लौकिकैर्कर्मव्यवहारदि कर्मभिर्भेदिकैराश्रमवर्णादिविहितैः कर्मभिर्यागदानादिभि-  
थैतस्य किं फलमन्यत् ? न किञ्चिदपीत्यर्थः । सर्वस्यैव ब्रह्मलोकपर्यन्तस्यापि फलं स्याद्ब्रह्म-  
भुवनाल्लोकाः पुनरावर्त्तिनोर्जुने'तिवाक्यान्नश्वरत्वमेवेति न किञ्चिदित्यर्थः । ततस्तस्मा-  
दपरं किं फलमिति त्वमेव ब्रूह्यतो येषां सर्वभावेन भगवानेव हृदि स्थितस्तेषामैहिकं  
पारलौकिकं सर्वं भगवानेव करोति 'तेषामदं समुद्धत्तं'तिवाक्यात् । 'अहं त्वा सर्वपा-  
पेभ्यो मोक्षयिष्यामी'ति वाक्याच्च ॥ ३ ॥

ननु तर्हि जीवैः सदा किं कर्तव्यमित्यपेक्षायामाहुः—अत इति ।

अतः सर्वात्मना शश्वद्रोकुलेश्वरपादयोः ।

स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यमिति मे मतिः ॥ ४ ॥

यतः कर्मयोगज्ञानादिसाध्यं फलं तद्भक्तेरानुपङ्गिस्मृतः सर्वात्मना सर्वप्रकारेण  
शश्वन्निरन्तरं गोकुलेश्वरस्य निस्साधनफलात्मनो भक्तवश्यस्य परब्रह्मणो रसात्मरुस्य  
भगवतः पादगोश्रणारविन्दयोः स्मरणं भजनं चकाराच्छ्रवणं कीर्त्तनं कदापि  
न त्याज्यम् । स्नेहाभावेपि मनोधर्मत्वात्स्मरणस्य मुख्यतया स्मरणमेवोक्तम् । अत एव  
'तस्माद्भारत सर्वात्मै'त्यस्य व्याख्याने श्रवणकीर्त्तनस्मरणानामेवोक्तौ कथं नवधा  
भक्तिर्नोक्तेति स्वयमेवाशङ्क्य समाहितम् । पादसेवनादारभ्यात्मनिषेदनपर्यन्तानां पण्णां  
प्रेमोत्तरभावित्वान्मुख्यतया श्रवणकीर्त्तनस्मरणमेवाभिहितम् । तस्माद्दर्शनं स्मरणं कर्त्तव्यं  
लीलाविशिष्टस्य । रासादिलीला अपि सर्वाधिन्तनीया भावाविष्टतया । तथैव भजनं सेरनं  
कर्त्तव्यं, कदापि न त्याज्यम् । 'कृष्णसेवा सदा कार्ये'तिवाक्ये मानस्या एव फलरूप-  
त्वमुक्तम् । अत एव सेवाश्रवणं श्रेयसो भगवत्प्रवणत्वम् । भगवत्प्रवणचित्तसिद्धयर्थं तनु-  
वित्तगान्स्मरणम् । तेन सेवाकरणेन संसारदुःखनिवृत्तिसुपूर्वब्रह्मज्ञानागतिरवान्तरफलम् ।  
परमफलं तु यथाधिरारतो भगवदनुग्रहेण नित्यलीलाप्राप्तिरेवेति मे मय मतिरिति ।

श्रीमदाचार्यकृपया व्याख्या सर्वाधेरोधिका ।

मया कृता चतुःश्लोक्याः कृष्णरायाभिधेन हि ॥ १ ॥

तुष्यतां तेन भगवान्श्रीमदाचार्यवत्प्रभः ।

दासे निस्साधने दीने कृष्णराये दयानिधिः ॥ २ ॥

इति श्रीमद्ब्रह्मदेवविरचितायाश्चतुःश्लोक्या कृष्णरायभट्टविरचिता  
सर्वाधेवाधिका व्याख्या

सम्पूर्णा ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनकृष्णाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

## चतुःश्लोकी ।

मठेशश्रीनाथभट्टकृतटीकया संवलिता

श्रीबृहभाभिधानौमि तान् स्वशास्त्रार्थतो मुदा ।

उपदिष्टा चतुःश्लोकी स्वीयेभ्यो यैः समासतः ॥ १ ॥

अथ श्रीबृहभाचार्यचरणाः स्वीयजनानां सुप्रहर्षं समासतः स्वात्मधर्मनु-  
शिक्षायन्तद्यतुःश्लोका सर्वशास्त्रार्थं निरूपयन्ति सर्वदा सर्वभावेन भजनीय इति ।

सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो ब्रजाधिपः ।

स्वस्यायमेव धर्मो हि नान्यः कापि कदाचन ॥ ३ ॥

परमेश्वरो देवः सेव्य इति सर्वशास्त्रार्थः । स च केपाधिप्यने निराकारः, केपा-  
ञ्चिन्मते साकार उपास्यः । तत्र निराकारस्तु नोपपन्न एव । तथा हि, क्रियाकारो देह  
आत्मा येति विचारणीयम् । तत्र देहस्तु पाञ्चभौतिकः प्राकृतः स नोपपन्न एव, 'देहे-  
न्द्रियासुहीनानां'मितिरावपात्तदीयानां पार्पदानां यत्र तयात्वं तत्र तन्मूलस्वामिनः  
परस्य द्रव्यणः पुरुषोत्तमस्य तथात्वे किमु वाच्यमिति कैमुतिकन्यायः । अत्र एव आन्वित  
परः स तथाभूतो दिव्यः स्वीकार्यः । न च दिव्यपदवाच्यो देह एव तत्रारारः  
स्वीकार्य इति वाच्यं, देहदेहिभिर्भागभावात् । 'स यथा संभरयन् आभ्यन्तरो वायः  
कृतसो रसयन्, एवं वाजरेज्यमात्रे'त्यादिश्रुतिभिर्माहृतत्वात् । दिव्यपदेन द्विविधो  
दिव्य इतिप्युत्पत्त्यामरश्चेत्तदा देवानामिव तथादेहस्य प्राकृतत्वात्तः, देहेष्वनपञ्चोक्त-  
त्वत्सपैव दिव्यपदवाच्यत्वस्वीकारात् । यत्तु 'अन्य कर्म च मे दिव्यमि'न्मुक्तं तदप्यनाहृ-  
तत्वाभिवायेण, दिव्यपदस्य रूढार्थत्वस्वीकारात् । अत्र एव 'देहेन्द्रियासुहीनानामित्यत्र  
तस्मिन्नेवः । न च तत्र सामान्योपया निषेध एव देहादेवारयन् इति वाच्यम्, पुनस्तन्-  
यत्वात्, 'बहुवचपुरवासिनां पश्यतां कुर्वतां गानमित्यनुपदमेव तथाकारणेन निरूपणात्,  
तेन प्राकृतकारस्य निषेधस्तत्र पर्यस्यति, न न्यसाकृतत्वात्स्येव । प्राकृतभौतिकादिषा-  
कामन् न तथा भगवतीतिशोभस्य । अत्र एवोक्तं 'साधारण्यतार्कस्यारतो येऽराग्य' इति

स्वाचार्यनाम सर्वोत्तमे । तत्रैकशब्दो मुख्यार्थवार्त्ता । साकारत्वमुक्त्वा यद्ब्रह्मत्व निरूपितं, तथाया ब्रह्म केवलं सच्चिदानन्दमयं तथा तत्परचरणादीनामपि केवलसच्चिदानन्दमयत्वं ज्ञापितम् । साकारत्वमर्थनेन पुष्टिपार्श्वोपपत्त्यस्य तत्स्वरूपस्य सर्वेन्द्रियास्वाग्रत्वं, फलानुभवप्रकार उक्तः । नन्विद्यदयमि सर्वशास्त्रार्थविचारैरपि परब्रह्मणः साकारत्व-निरूपणात् कथमाचार्याणामेव साकारत्वनिरूपणत्वमिति चेत्, उच्यते । ब्रह्मणोऽय-लौकिकत्वाच्चतुरादीना लौकिकप्रमाणत्वाच्चतुरादिगम्यत्वं ब्रह्मणि, किन्तु स्वच्छया संभवतीति श्रुतीनामलौकिकमानत्वेन श्रुतय एव परब्रह्मणि प्रमाणमिति तत्रप्रतिपाद्यमेव ब्रह्म । तास्तु 'स ईशाञ्चक्रे' 'सस्मादेकाकी न रमते' 'स द्वितीयमैच्छत्' 'स हैतावानासे'-ति साकारमेव निरूपयन्ति । गीता च 'सर्वतः पाणिपादान्त सर्वतोऽक्षिशिरोमुखमि'त्यादि साकारत्वमेव वदति । ननु निराकारत्वादिभिरपि निराकारप्रतिपादाने 'अस्थूलमनश्चह्रस्व मदीर्यमि'त्यादिश्रुतय एव प्रमाणत्वेनाङ्गीक्रियन्ते कथं न निराकारत्वमिति चेत्, उच्यते । निराकारत्वप्रतिपादान्ना अपि श्रुतयो ब्रह्मणि देवाद्याकारत्वं प्राकृताकारत्वमेव प्रतिपे-धन्ति, नत्वानन्दमात्रकरपादमुखोदराद्याकारम् । यद्दि सर्वथा निराकारत्वमेव शुभ मत स्यात्तदा निराकारत्वमुक्त्यापि अग्रे 'स ईशाञ्चक्रे' इत्यादिना साकार न प्रतिपादयेयुः । अत एव व्याससूत्रमपि 'प्रकृतनावचं हि प्रतिपेधति ततो ब्रवीति च भूय' इति । अस्या-प्यर्थः, प्रकृतमेतावन्न प्राकृतं साकारत्व, तन्निपेधति निराकारश्रुतिः, न त्वानन्दैकाका-रत्व, तत्र हेतुः 'ततो ब्रवीति च भूय' इति । अस्याप्यर्थः ततोऽग्रे । पुनरपि 'स ईशाञ्चक्रे' 'अपा-णिपादो जवनो गृहीता पश्यत्यक्षुः स शृणोत्यकर्ण' इत्यादि साकारत्वमेव वदतीति निराकारत्वादिना यत्किञ्चिच्छ्रुतिज्ञानवत्त्वेपि सर्वशास्त्रीयोपनिषद्ज्ञानाभावात्तानामु च प्रका-रभेदतो ब्रह्मनिरूपणात्, तत्र परस्परविरोधपरिहारपूर्वकविषयव्यवस्थया यत्सिद्ध्यति तादृग् ब्रह्म मन्तव्यम् । निराकारत्वादिना सर्वशास्त्रीयोपनिषत्तात्पर्यज्ञानाभावात्स्वबुध्यनुसारेण यत्किञ्चिच्छ्रुतितात्पर्यं स्वसिद्धान्तानुसारं कल्पयित्वा निराकारत्वकथनमिति न तदुक्त प्रमाणम् । स्वाचार्यस्तु सर्वशास्त्रीयोपनिषत्तात्पर्यस्य विरोधपरिहारेणावगमात्तत्र च साकार-स्यैव निरूपणात् सर्वमवगत्यैव साकारत्वमुक्तमिति सिद्ध साकारत्वम् ।

स च साकारः परमेश्वर, को वा भजनीयः, शिशो विष्णुर्वा व्यूहात्मा वा नारा-यणो ब्रह्माण्डविग्रहो विश्वरूपादिवैतपाकाङ्क्षायामाहुः ब्रजाधिप इति । अनेन सर्वतो व्यावृत्त्यावतारदशापन्नेष्वपि भगवदशेषु स्वरूपेषु भजनीयः श्रीकृष्णः पुरुषोत्तमो ब्रजाधिप एवोक्तः । 'वचित्याण्डित्यमि'तिश्लोके निर्णीतत्वात् । सोपि नोपास्यः किन्तु भजनीयो, 'भज' सेवायामिति धातोः । उपासनायाः कर्मान्तर्गतत्वेन मन्त्रोपा-सनवैदिकनाम्निकदीक्षादीनादिविषयधीनत्व भजनीयस्यापातीति विभूतिरूप व्याव-र्त्यते । भजनञ्च सेवा, सैव भक्तिपदस्यवार्थः । 'धात्वर्थः सेवा, प्रत्ययार्थः स्नेह'

इति निबन्धोक्तेः । 'सा परानुरक्तिरीश्वरे' इति भक्तिसूत्रात् । 'माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोधिकः । स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तथा मुक्तिर्न चान्यथे'ति नारदपञ्चरात्रोक्तेश्च । ज्ञानपूर्वकत्वे विहितस्नेहो भक्तिपदवाच्यः, अन्यथा त्वविहितः स्नेह इत्यन्यत्र विस्तरः । सा सेवा तदुचितजा कायिक्येय केवला संभूतेति मानसीत्वमपि लक्षणे निवेश्यते । 'प्रत्ययार्थः स्नेह' इत्यान्तरो धर्म उक्तः । तथैतदुक्तं सिद्धान्तमुक्तावल्यां 'चेतस्तत्त्वगणं सेवा तत्सिद्धयै तदुचितजा' इति । तथा च देहेन्द्रियमाणान्तःकरणैर्निवेदितात्मभिः संसेव्य इत्यभिप्रायतः सर्वभावेनेत्युक्तम् । सर्वो यो भावो देहेन्द्रियादीनां यथार्हं तत्तद्विनियोगात्मकस्तेन सेव्यः । सर्वात्मभावेनेति केचित् । सोऽप्यत्र पुष्टिमार्गीय एव । सर्वोऽपि आत्मनो भावो, न तु सर्वत्रात्मत्वभावनं, तस्य मर्यादासामाणीयत्वादिति विवेचनीयम् । किञ्च, स सर्वदा भजनीयः, न तु कदाचित् कर्ममार्ग इव, नैमित्तिकदेववद्वा । ननु वैदादिप्रमाणग्रन्थेषु तु तदुपासनं विहितमभिहितं न त्वेतदित्यप्यविहितमेव भजनमिति चेन्न, सर्वतः पृथक्त्वेनैतत्प्रमातो व्यवस्थापितत्वात् । 'अनित्यममुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व मामि'ति भगवद्वाक्ये भजनविध्युपपादितत्वाच्च । 'मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु । मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोसि मे' इत्यादिना । अत एवात्राप्यावश्यकत्वार्थकतयानुशिष्टानां तेष्वक्षय्यानीयप्रत्ययानां मध्ये अनीयप्रत्यय उपात्तः । तथा विध्यर्थकश्च । न चैवं विध्यधीनत्वमसङ्गः । मर्यादातो व्यतिरेकात् पुष्टिमार्गीयत्वाच्च । अत एवोक्तमेकादशस्कन्धे भागवते भगवद्दर्शनरूपणमसङ्गे 'यानास्थाय नरो राज्ञ ममाचेत कर्हिचित् । धावन्निमील्य वा नेत्रे न स्वलेन पतेदिहे'त्पादि । अयमेव धर्मः ॥ १ ॥

इति मठेशधीनाथभट्टवृता चतुःश्लोक्याः प्रथमश्लोकटीका समाप्ता ।

(१) तद्व्यययानीयत् ( ३-१-२६ ) इतिव्याप्तः । ( २ ) नापिका लक्ष्य ।



धीदृष्णाय नम ।  
श्रीगोपीजनपद्मभाय नम ।  
धीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नम ।

## चतुःश्लोकी ।

श्रीद्वारिकेशविरचितव्याख्यायुता ।

श्रीगोवर्धनधराय नमः ।

नत्वा श्रीमद्भगवत्पाचार्यान्विद्वलेशांश्च सदृश्वन् ।

स्वसिद्धान्तचतुःश्लोकीं चिदृणोमि यथामति ॥ १ ॥

अथ श्रीमद्भगवत्पाचार्यचरणाः कृष्णाश्रयमन्ये सपरिकरस्वाश्रयस्य निरूपितत्वादा-  
श्रितान् स्वभार्गीयप्रमाणप्रमेयसाधनफलानि निर्देष्टुं तद्वोधरूपमार्थिकाप्रमोक्षाश्रयोपदेष्टुं  
पूर्वश्लोके धर्म प्रमाणं च निरूपयन्ति सर्वदेति ।

सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो ब्रजाधिपः ।

स्वस्यायमेव धर्मो हि नान्यः कापि कदाचन ॥ १ ॥

सर्वदेति सर्वस्मिन्काले । सर्वभावेनेति पतिपुत्रादिभावेन । तदुक्तं 'प्रेम्णो भवां-  
स्तनुभूतां किञ्च बन्धुरात्मे'ति, 'सर्वपाप्मात्मजो ह्यात्मा पिता माता स ईश्वर' इति,  
'येषां च त्वं प्रिय आत्मा सुतश्च सखा गुरुः सुहृदो दैवतञ्च' । ब्रजाधिपः । ब्रजस्य  
निःसाधनस्यानन्यस्वामिनः अधिपः स्वामी । कर्तव्यं निर्दिशन्ति भजनीय इति । काय-  
वाङ्मनोभिरवश्यं सेवनीयः । यद्वा, सर्वपापिन्द्रियाणां भावेन 'तन्मनस्कास्तदाला-  
पास्तद्विचेष्टास्तदात्पिकाः' इतिरीतिकेन, निरोधवृत्तये चक्ष्यमाणरीतिकेन वा सेव्यः ।  
स्वस्येति 'देवोऽसुरो मनुष्यो वे'तिवाक्यात्, 'को नु राजन्नि'तिवाक्याच्च स्वस्यात्मनो  
जीवमानस्य । स्वस्य कृष्णाश्रितजीवस्यायमेव धर्मः । तदेव भक्तिर्हंसे 'स्त्रियाः स्वपति-  
भजनव'दिति । अकर्तव्यं निषेधयन्ति .....

ण काले श्रौतकर्तव्यस्य । 'वर्णाश्रमवतां धर्मः श्रुत्यादिषु यथोदितः । तथैव  
विधिवत्तार्थः' वालवोवे 'स्वधर्ममनुतिष्ठन्वै भारद्वाजगुण्यमन्यथा' । अत एव सर्वोत्तमेषुपि  
'कर्ममार्गप्रवर्तकः' 'यागादौ भक्तिमार्गैकसाधनत्वोपदेशकः'; 'यज्ञभोक्ता यज्ञकर्तृ'स्यादि-  
नामानि । तथाकृतिश्च परम्परया दृश्यते । न चैवं 'सर्वदा'पदवाचः शङ्क्यः, भक्तिमार्गं  
साधनफलधोरैवयेन तोपामपि सेवा मध्यपातिनीति न वाधः ॥ १ ॥

एवं 'सर्वदा सर्वभावेन भजनीय' इत्यनेन प्रमाणं निरूप्य 'धर्मो हीत्यनेन  
धर्मं च निरूप्य प्रमेयमर्थं च निरूपयन्ति एवं सतामिति ।

एवं सतां स्म कर्तव्यं स्वयमेव करिष्यति ।

प्रभुः सर्वसमर्थो हि तेन निश्चिन्ततां व्रजेत् ॥ २ ॥

उक्तप्रकारेण भजताम् । इमेति प्रसिद्धिः । भगवद्गीतासु 'अनन्याश्रिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते । तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यह'मिति भगवद्वाक्यात् । एकादशस्कन्धे च 'यत्कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत् । योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि, सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽज्ञसो'ति भगवद्वाक्यात् । कर्तव्यं सेवोपयुक्तपदार्थसम्पादने स्वयमेव करिष्यति । स्वकर्तव्यमिति पाठे स्वस्य जीवस्य भगवतो वा यद्यत्कर्तव्यं तत्तद्भरिः स्वयमेव अविकृत एव अपार्थित एव करिष्यति, न त्वन्यद्वारा । नापि कल्पवृक्षादिवत् । स हि प्रार्थित एव करोति । अत एव दशमस्कन्धे 'व्रजस्योवाह वै ह्ये भगवान्बालचेष्टितैः' । सर्वोत्तमेषु 'स्वदासार्थकृताशेषसाधन' इति । मार्गादिकभक्तेषु नृसिंहमहत्तरादिषु तथाकृतपि श्रूयते । ननु भगवान् केन प्रकारेण करोतीत्याशङ्क्यापानाह प्रभुरिति । प्रकर्षेण भवतीति । भगवदीयाभिलषितशय्यासिंहासनादिरूपो भवति । यथा मैथिलश्रुतदेवयोर्शुभयोर्त्र्यम्पादिवाहनादिसर्वरूपो भूत्वा विवेश । तदुक्तं 'उभयोराविशद्रेहमुभाम्यां तदलक्षित' इति । यथा च पौदशसदृस्रनायिकाविवाहे श्रीवसुदेवादिवीरपात्रिकसर्ववस्तुरूपो भूत्वा सर्वत्र विवाहं कृतवान् । तदुक्तं 'अयो सुहृत् एकस्मिन्नानागारेषु ताः स्त्रियः । अधोपयेने भगवोस्तावद्रूपधरोऽप्यय' इति । ननु सर्ववेदप्रतिपाद्यो भगवानुच्चावचभावं कथं भजते इत्यत आहुः सर्वसमर्थ इति । सर्वं कर्तुं समर्थः । अथवा । सर्वेषूच्चावचभावेषु समस्तुल्योऽर्थो यस्य । 'सर्वं खल्विदं ब्रह्मेति श्रुत्या वस्तुतः सर्वस्य भगवत्त्वात् । तथा चोक्तमष्टमस्कन्धे 'उच्चावचेषु भूतेषु चरन्वायुरिवेश्वरः । नोच्चावचत्वं भजते निर्गुणत्वादि-यो गुणैः' । हि युक्तोऽयमर्थः । एतेन सिद्धमाहुः तेनेति । भगवतीव संपादितेनार्थेन निश्चिन्ततां भगवदेकतानतां व्रजेत् । निश्चिन्तो भूत्वा सेवां कुर्यात् । अत एव भक्तिवर्द्धिन्यां 'अध्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः' । नवरत्नपद्मिणीसि 'भगवद्दर्शयि सा न कार्या' । विवेकधर्याश्रयेऽपि 'प्राप्तं सेवेन निर्ममः' । गद्यधर-दासीनां तथाकृतिषु श्रूयते । एवं प्रभुपदेनार्थं सर्वसमर्थपदेन प्रमेयं च निरूप्य 'भक्ति-योगस्य तत्सर्वमन्तरायतयार्भक' इत्युपक्रम्य, 'एतन् आशिष आद्यास्ते न स भृत्यः स वै यणिकु । आशाप्तानो न वै भृत्यः स्वामिन्याशिष आत्मनः । न स्वामी भृत्यनः स्वाम्य-मिच्छन्त्यो राति चाशिष' इत्युक्त्वात् ॥ २ ॥

एवं तु भगवत्प्राप्तसंपादने कृते भक्तिमार्गान्तरायः, स्वयं कृते सेवाशनिर्वाह इति प्राप्ते; भक्तिमार्गीयं साधनं निरूपयन्तो हरेर्दिक्सारूपं कामं निरूपयन्ति यदि श्रीगो-कुलाधीश इति ।

यदि श्रीगोकुलाधीशो धृतः सर्वात्मना हृदि ।

ततः किमपरं ब्रूहि लौकिकैर्बैदिकैरपि ॥ ३ ॥

एतेन दुर्लभनोच्यते । अत एव दिदृक्षा । श्रिया युक्तो गोकुलाधीश, एतेन कामसम्पत्तिर्निरूपिता । 'कामः स्त्रीषु प्रतिष्ठितः' इतिवाक्यात् । 'कौण्डिन्यो गोपिकाः प्रोक्ता गुरवः साधनं च तदि'तिवाक्यात् साधनसंपत्तिर्निरूपिता । तयोः स्वस्मिन्समावेशमाहुः धृतः सर्वात्मना हृदि । 'एकादशेन्द्रियैः काम' इतिवाक्यात् । अत्राऽऽत्मपदं इन्द्रियपरम् । सर्वपदं एकादशपरम् । सर्वेन्द्रियैः कामसाधनसंयुक्तो गोकुलाधीशो हृदि धृतो हृदये कृतस्तदा लौकिकफलस्य स्वाधीनपतित्वस्य वैदिकफलस्य चित्तशुद्धेश्च 'हृदि स्थितो यच्छ्रुति भक्तिपूत' इतिवचनादाप्तत्वेन लौकिकैरुद्यमनादिभिः वैदिकैर्यज्ञादिभिरपि किं नास्ति परमुत्कृष्टं, यस्मादेतादृशमत्कृष्टमस्ति चेद्ब्रूहि ॥ ३ ॥

एवं श्रीपदेन कामं साधनं च निरूप्य भगवदीयत्वरूपं मोक्षं स्मरणसेवारूपं फलं निरूपयन्ति—अत इति ।

अतः सर्वात्मना द्वाध्वद्वेकुलेश्वरपादयोः ।

स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यमिति मे मतिः ॥ ४ ॥

यतो हृदये श्रीगोकुलाधीशपारणादन्यसाधनं नास्ति, अतः परं सर्वात्मना देहेन्द्रियमागन्तःकरणैः द्वाध्वद्वेकुलेश्वरान्तरं, गवां कुलस्य, गवां धन्युनां गोपगोपीनां, गोकुलग्रामस्य वा ईश्वरस्य निपातरस्य पादयोर्भगवदीयदेहसंपादकयोः स्मरणमाध्यानं भजनं सेवनं, चकारेण श्रवणं शीर्तनं च, न त्याज्यम् । सादरं सर्वया विधेयम् । अपिः संभावनायाम् । त्यागतंभावनैव नास्ति । एवं भगवदीयत्वरूपमोक्षं सेवारूपफलं चेति । स्वयं स्वाभिप्रायान्पेन ग्रन्थं समापयन्ति—इति मे मतिरिति । मे श्रीकृष्णवद्वमस्य इति एवं प्रकाशिका मतिः ॥ ४ ॥

एवं भगवदीयानां धर्मार्यैश्छामृतप्रदा ।

व्यारयातेयं चतुःश्लोकी प्रमाणादिप्रदर्शिका ॥ १ ॥

तेन श्रीवद्वभाचार्याः स्वदासे मयि वंशजे ।

प्रसीदन्तु स्वकृपया सान्ध्याः सहस्ररथाः ॥ २ ॥

इति श्रीवद्वभाचार्यचरणैकतान्धीप्रयुरानायात्मजद्वारिकेशविरचिता

चतुःश्लोकीव्याख्यान्यपयोधिनी

समाप्ता ।

परिशिष्टम्

श्रीमद्-वल्लभाचार्य-महाप्रभु-श्रीमद्-विठ्ठलेश-प्रभुवरण-विरचिता

श्रीवृत्रासुरचतुःश्लोकी विवृतिः

व्याख्यात्रय-समलंकृता

१. श्रीहरिरायणां टिप्पणी
२. श्रीवल्लभानां टिप्पणी
३. श्रीपुरुषोत्तमानां प्रकाशः

॥ श्रीनरसीतमियो जपति ॥

॥ श्रीहृष्याय नमः ॥

॥ श्रीगोशीजनकभाय नमः ॥

॥ श्रीमहाचार्यवरणात्मनेभ्यो नमः ॥

महानुभावश्रीहरिरायवरणात् श्रीवद्विभान्नाथ टिपणीभ्या समस्त, न, ति, गु, णे, ...  
चरणविरचितप्रकाशेन विशदीकृत्वा, श्रीमद्विद्वत्संज्ञासंगतिर्नि ।

॥ श्रीवृत्रासुरचतुःश्लोकीविवृतिः ॥



ननु पुरुषार्थावतारस्तत्र त्रिवर्गविघातं भगवानेव करोति मोक्षस्तु भक्तानामेव  
नापेक्षित इति भक्तिमार्गे न कोपि पुरुषार्थः सिद्धवतीत्याशङ्क्य भक्तिमार्गोऽयं तद्यत्तुष्टयं  
भिन्नमेनेत्याह—चतुर्भिः,

पूर्वमिन्द्रं प्रति प्राह ततो भक्तयाग्रतो इतिम् ।

दृष्ट्वा तन् मार्ययायास पुष्टिर्दृष्ट्वा यतः ॥ १ ॥

आद्ये तु पुष्टिमार्गीयो धर्मः स्पर्णस्तीर्तने ।

सेना चेति त्रयं तेन प्रार्थितः स निरुप्यते ॥ २ ॥

आत्मनधाप्रिसारित्वमुत्तमं दीनभारतः ।

मार्थर्नापतया तस्य माथनं च कृपांन्यने ॥ ३ ॥

धर्मं मार्थपन् प्रथममधिसारित्वं स्वस्य निरूपयति, अहमिति,

अहं हरे तव पादकमूलदासानुदासो भवितास्मि भूयः ।

दास्ये तु न तयेत्याशयेनास्मच्छन्देन भेदमुपपादयति-अहमिति । ननु दास्यं कथं सेत्स्यतीत्यत आह-तवेति त्वदीयोहमित्यर्थः तेनावयोः सेन्यसेवकभावः सहज इति सूचितम्, अन्यथा त्रिवर्गविद्यातपसुरत्येपि सति कथं कुर्याः, तनो मोक्षे चानधिकार उक्तः, एवं चेत् कथं दास्यं न करोपीत्यत आह-भवितेति, जीवस्य त्वदीयत्वोपि देहस्यासुरत्येनायोग्यत्वादेहान्तरे दासो भविष्यामीत्यर्थः, अतस्त्वदनुग्रहेणैव तथा भवितेत्यत्र विश्वासमाह-अस्मीति । साक्षात्प्रमुदास्ये हि स्वस्य दीनभावो गच्छतीति परम्परादासत्वमुक्तं, यद्वा, प्रभुदास्ये हि स्वस्य सर्वोत्तमत्वाभिमानेन भक्तान्तरे अपराधसम्भवात् प्रभुदास्यादपि भ्रंशो भवेत्तच्चानुभूतं चित्रकेतुदशायाम्, अतः परम्परादासत्वेन दैन्यमेवोचितमिति भावः ।

अथवा तवेत्यादिपदसमुदायेन मोक्षादिक्रमेण वक्ष्यमाणपुरुषार्थचतुष्टयेष्वधिकाररूपं चतुर्विधं दास्यमुच्यते, तत्र पुष्टिभागं मोक्षो हि भजनानन्दानुभवः, स च देहेन्द्रियप्रणान्तःकरणयुक्तानामेव, 'अक्षय्यतां फलमिदं न परं विदाम' इत्यत्र श्रुतिप्रतिपादितः, तत्र चाधिकाररूपं प्रभुदास्यं 'भवाम दास्यः' 'गुरुयैभूषण देहि दास्य'मिति श्रुतिवाक्यादतस्तवेति पदान्मोक्षाधिकाररूपं प्रभुदास्यमुक्तमन्येन्यसमाप्तः, अन्यथा त्वत्पादेति वदेत्, तव पादावेवैकं मूलं येषां ते तथा, अर्थाद्भजस्थितभक्ता एव, 'तेद्घ्निमूलं प्राप्ता' इति तेषावोक्तेः, तेन कामाधिकाररूपं तदासत्वमुक्तमन्यथा कामासिद्धेः, अत एवोक्तमाचार्यचरणैः 'तेद्वारा गुरुपाणां च भविष्यन्ति न चान्यथे'ति । अनुपदेन तदासदासत्वमर्थाधिकाररूपमुक्तम्, ततस्तव दासत्वं धर्माधिकाररूपमुक्तम् ।

ननु सत्सङ्गाभावेऽप्येवम्भावस्तव कथं जात इत्यत्र आह-भूय इति, पूर्वमहं चित्रकेतुर्दास एव स्थितोऽनः गुनरपि तथा वितेति भावः । एवं स्वस्याधिकारचतुष्टयं प्रतिपाद्यतरतमभावादादौ धर्मं प्रार्थयते मनः स्मरेतेति । असुपतेरिति गुणानामिति च कर्मणि षष्ठी, तथा च मनः असुपति स्मरेत चिन्तयेत्, स्मरणत्पात्प्रमुक्तैकतापनत्वादात्मनेपदम् । वक्त्रु तस्यैव गुणान् शृणीत कीर्तयेत्, कीर्तनस्यापि मुख्यः स्वार्थ एव परार्थस्त्वानुपङ्क्ति इत्यात्मनेपदम् । क्वायस्तस्यैव कर्म सेवां करोतु, सेवा तु यथा प्रभोः सुखं भवति तथा क्रियते, न तु तत्राणुमात्रमपि स्वार्थपरत्वमनः परस्मैपदम् । स्मरणकीर्तनयोः श्रवणाधीनत्वेनान्यकथनसापेक्षत्वाद्विधिरक्तः । सेवायां स्नेह एव नियामकः, स च प्रभुकृपैकताभ्य इति तत्राशीर्निरूपिता ॥ १ ॥

एवं मनोवाक्यमेदेन त्रिविधमपि धर्मं सम्प्राथम्येण निरूपयति—न नाकपृष्ठमिति ।  
 न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम् ।  
 न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा समञ्जस त्वा विरहय्य काङ्क्षे ॥२॥

लौकिको वैदिकश्चार्थद्विविधः प्राकृतेर्गुणैः ।  
 क्रमेण ते भगवतो गुणैः पद्भिर्निराकृताः ॥ १ ॥  
 स्वर्गभूमिरसैश्वर्यं सात्त्विकादि तु लौकिकम् ।  
 मोक्षश्च पारमेष्ठ्यं च सिद्धयथेति वैदिकम् ॥ २ ॥  
 प्रवृत्तिधर्मसाध्यत्वात्सामान्यं तच्च लौकिकम् ।  
 निवृत्तिधर्मसाध्यत्वाद्दिशेषाद्वैदिकं परम् ॥ ३ ॥  
 मत्प्रेक्षयेव ते धार्या न तु सम्भूय कुपयिन् ।  
 भगवत्परिवलात्मत्वाद्भवन्त्येव तथा हि ते ॥ ४ ॥  
 अतोऽर्थो भगवानेव पुष्टिमाहेन्द्रमन्यतः ।  
 सर्वतो नैरपेक्ष्यं च तथात्र विनिरूप्यते ॥ ५ ॥

आदौ लौकिकमात्रिदमर्थं निराकरोति—न नाकपृष्ठमिति, नाकः स्वर्गस्तस्य  
 पृष्ठं रागासनम्, इन्द्रासनमितिपावन्, तत्र नश्यति बान्धान्तरे, अतस्त्वरथावच्छिन्नैश्वर्यस्य  
 विद्यमानत्वात्तत्र काङ्क्षे नेच्छामोत्यर्थः) वैदिकराममर्थं निराकरोति—न पारमेष्ठ्य-  
 मिति, परमेष्ठी मन्त्रा, रजोवतारत्वात्तत्पानं राममम्, तत्र च 'ब्राह्मणा सह मुच्यन्ते'  
 इति वारपात्पारतन्त्र्येण फलसिद्ध्या स्वार्थिदानितेव, त्वयि पाव्यच्छिन्नवैर्यस्य विषयान-  
 त्याद्यपि न काङ्क्षे । लौकिकराममर्थं निराकरोति—न सार्वभौममिति, सार्वभूमिर्वाश्वत्से  
 हि सर्वेषु लोके यशो भवति, तत्र दानादिसामेन्द्रानादीपापिकं भावयितं च 'सोऽपमं  
 तीर्थ'मिति यचनात्स्वरूपतोपि दुष्टं 'राज्यान्ते नरकं भुव'मिति यचनाद्विगतानां  
 तथा, त्वयि पानवपयशसो विषयानत्याद्यपि न काङ्क्षे । शौचिचक्राममर्थं निराकरोति—  
 न रसाधिपत्यमिति, रामेणुपपन्नं तेनापोनोराः सर्वं निरन्विताः, तत्र च भुङ्क्तेतया  
 एवभोगोपिः स च यिया भवति, मा च त्वया वनेरपदना दृष्टा च, त्वयि पानना-  
 पित्याः भिषो निर्यं विषयानत्याद्यपि न काङ्क्षे । वैदिकराममर्थं निराकरोति—न योग-  
 सिद्धीरिति, अरकयोगिनो हि सिद्धिचयेनापेक्षितवित्तं संतृप्तं भोगं श्रुवन्ति तेन सां-  
 गाद्यपि भ्रष्टा भवन्तीति तेनां ज्ञानं भ्रान्तदेव, त्वयि च नित्यावच्छिन्नदानस्य विद्वान्ना-

या अपि न काङ्क्षे । वैदिकगारिष्ठमर्थं निराकरोति-अपुनर्मयं वेदि, ' भवेत्वात् म-  
 श्रापते ज्ञानमिति रचनाज्ञानस्य गारिष्ठत्वेन तन्वाप्यमोसस्यापि तथास्वमुच्यते,  
 म च गणितानन्देन न्वदानन्देन एव न तु त्वम्, तथापि सत्यमेवमावेन नान्योर्न्य  
 सांभ्रता भेदाभावाद्दत्तम्यार्थन्याभावात्पुनर्मयदम्, जन्माभावातिरिक्तविशेषामा-  
 वात्, तं तु पूर्णानन्दो भक्तमार्गस्येति 'मैदन्त्ये न जानन्ति नाहं तैस्यो मनाग-  
 पी'ति पात्रपादना भक्तान्तिरिक्तगणामावेन त्वत्पत्तित्त्वेनैतान्यस्य विषयानत्वात्तपि  
 न काङ्क्षे । मर्यादायां मोक्षधृतीपुण्यार्थः म च पुष्टा हेतुनेनार्थमध्ये गणित इत्यनादरयो-  
 त्तमर्थं वेत्युक्तम्, यत्र मोक्षस्यापनादरम्यार्थयोः किं वाच्यमिति च । तर्हि कौथस्तत्रापेक्षित  
 इत्यन आह-ममञ्जयेति, हे ममञ्जम पूर्णानन्दमर्थरूप, अतस्तस्या त्वां विरह्य  
 पृष्यन्त्योक्तार्थानरं न काङ्क्षे, किन्तु त्वामेव सर्वार्थरूपन्यादर्थत्वेन काङ्क्षे निरन्तरविच्छा-  
 मीत्यर्थः । यदा उक्तार्थानृपस्य त्वामेव चार्थत्वेन काङ्क्षे ॥ २ ॥

एवमर्थं निरूप्य कामं निरूपयति-अजातपक्षाद्वेति ।

अजातपक्षा इव मातरं सखाः स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधानाः ।  
 मियं प्रियेव व्युत्पिन् विपण्णा मनोरविन्दास दिदक्षते त्वाम् ॥ ३ ॥

पुष्टिपार्श्वे हरे रूपदिदक्षा मनमोस्य हि ।  
 कामो निरूप्यते तत्र दृष्टान्तावितयं यथा ॥ १ ॥  
 द्वितयं लौकिकं मोक्तभेकं शास्त्रीयमुत्तमम् ।  
 लौकिकस्त्रिगुणीभूय दृष्टान्तः स्यादलौकिके ॥ २ ॥  
 अन्यथैवतरेणापि सिद्धेयं त्रितयेन किम् ।  
 क्षुद्रूपो लौकिकः कामो रसरीत्या तु शाश्वतः ॥ ३ ॥  
 प्रभोस्तु रसरूपत्वात्स्वस्यैवत्वेन चोत्तमः ।  
 अपमेव हि दृष्टान्तस्तेनान्ते चैकतोदिता ॥ ४ ॥

हे अरविन्द ? मनुस्त्वां दिदक्षन् इति सम्मन्यः । नेत्रयोरभ्युज्ज्वलेन तदिदक्षया  
 मनसो मनुष्यत्वं बोधितम् तथा चारविन्दे विवसिते मनुष्यस्य कामः मिद्धयति नान्यपेति तथा दृष्टि  
 मयि संपादयेति प्रार्थितम्, दिदक्षाहेतुभूतं स्वरूपसौन्दर्यं च संशोधनेन ध्वनितम् । मनसः  
 स्वतन्त्रत्वायास्मच्छब्दप्रयोगाभावः । किञ्च, दिदक्षा दृशो धर्मः, स च मनसो निरूप्यते, तेन  
 सर्वेन्द्रियाणामपि मनःमनिकर्तात्पूर्णाः कामो निरूपितः, अन्यथा भक्तानन्दानुभवो न स्यात्



तस्य सर्वेन्द्रियैकवेद्यत्वात् । प्रभोः पूर्णकामत्वेन क्रियाफलस्यान्वगामित्वायात्पनेपदम् । मनसश्चञ्चलत्वान्मधुपत्वबोधनेन च कामान्तरं संभवतीति तदभावात् ऋणान्तमाह—एवमा इवेति, यथा पक्षिणः कदा किमानीय दास्यतीति मातरं द्रष्टुमिच्छन्ति, एवमानां नियतभक्ष्या-भावादनियतस्य च क्षुधार्ततयार्थसिद्धत्वात्तदन नोक्तम्, तदपि न सर्वदा किन्तु क्रियस्काल-पर्यन्तमेवेत्याह—अजातपक्षा इति, पक्षोदपानन्तरं न तथेति तावदेव दृष्टान्तनेर्षवः । तथाचात्र क्षुद्रुयाधिकृतत्वमनियतविषयत्वमनियतकालत्वं चेति दूषणत्रयं संभाव्य द्वितीयं दृष्टान्तमाह—स्तन्यं पथेति । वत्सतरा अतिवालवत्सास्ने यथा कदा स्तन्यं प्राप्स्याम इति तदिच्छन्ति तथेत्यर्थः । तेषां स्तन्यमात्रैककामत्वाद्य तदेव प्रोक्तम्, मानुरभावे तद्दूषण परस्या अपि स्तन्यं पिबन्तीति तदनुक्तिः । अत्रापि नियतविषयत्वेपि वत्सतरपदादनियत कालत्वं क्षुद्रुयाधिकृतत्वं चेतिदूषणद्वयं संभाव्य तृतीयं दृष्टान्तमाह—प्रियं प्रियेवेति, प्रिय-पदादुभयत्र निरुपाधिकस्नेहो निरूपितः, स्नेहस्य तथात्वं नदभिज्ञेनोक्तं 'आविर्भावदिने न येन गणितो हेतुस्त्वनीयानपी'ति, तेनोपाधिदूषणमत्र परिहृतम्, न्युपिनमिति प्रवासे नमित्यर्थः, तेन गमनक्षणमारभ्यागमनावधि दिदृक्षाया एकरस-वादनियतकालत्व चाप्य-स्तम् । विषण्णेतिपदादनियतविषयत्वं च, अन्यथा विषादासम्भवात्, एवं दोषत्रया भावादयमेव दृष्टान्तो युक्त इत्याशयेन स्वस्यैकत्वाद्वाग्नेकचनमुक्तपन्थया पूर्ववदत्रापि बहुवचनं वदेत्, बहुषु तथात्वस्यासंभवात्, अत एवान्ते च निरूपणं कृतम्, पूर्वोक्तदय-भेकदेशाभिप्रायेणेति तत्कथनमपि नानुपपन्नम् । किञ्च, प्रिया हि विनयाने केवलं विषादमात्रं न करोति किन्तु, प्रिये विविधरसभावानन्तःप्रकटयति, प्रकागन्तरेण जीवनमेव न स्यात्, जाते च जीवने विपत्वं तु बाधिनं स्यात् । स्वस्य पुरुषत्वेन स्त्रीदृष्टान्तान्यथानुपरत्वा च तज्जातीयरसभाव उक्तः, अतो रसस्यानिगोप्यत्वादयं भावः प्रियापदेनाभिप्रेयज्यते, विषादस्य तु वदिरप्यनुभूयमानत्वादेवज्ञानविषयत्वाच्च तथाविशेषणम्, एवमनेकरसभाव-विशिष्टं विषणं च मनस्त्वां दिक्षते, न तु दर्शनमात्रमिच्छति, तत्तु पूर्वपर्यन्तेन वाङ्मि-त्वाद्वात्तुपपद्यं विज्ञेयाभावात्, अग्नय, अहमच्छब्दप्रयोगो हि देहाभ्यामकृतो भवति साम्प्रतं तु रसातुभययोग्यदेहाभावाद्गृह्यमाणस्य च तन्वतिरग्नकत्वाद्ध्याभावात्साम्प्रत एवोक्तं न तु मथेति । दृष्टान्ते च तद्दृश्यासस्य दृढत्वादिप्रयेनि निरूपितं न तु मनः, अन्यथा प्रियेवाहं दिदृशे इति दृष्टान्तमाधर्म्यं वक्तव्ये मनो दिदृशत इति न वदेत्, अतो रसमागीगः कामो रसदृष्टयैव पूर्णाय इति तथा सम्बोधनेन भाषितम् ॥ ३ ॥

एवं कामं निरूप्य मोक्षं निरूपयति-भ्रमोत्तमेति,  
 भ्रमोत्तमश्लोकजनेषु सख्यं संसारचक्रे भ्रमतः स्वकर्मभिः ।  
 त्वन्माययात्मात्मजदारगेहेष्वासक्तचित्तस्य न नाय भूयात् ॥ ४ ॥

पुष्टिमागं हरेर्दास्यं धर्मोयं हरिरेव हि ।

कामो हरेर्दिदृक्षैव मोक्षः कृष्णस्य चेद् ध्रुवम् ॥ १ ॥

पुष्टिमागं\* मोक्षो निरूप्यते,

श्रीमद्भगवद्गीतासमूहाप्रसुचरणकमन्त्रेश्चम्यो नम ॥

अथ श्रीहरिरायचरणविरचिता टिप्पणी ।

श्रीवल्लभाचार्यपद स्वीयसर्वार्थसम्पद ॥

प्रणमामि तदुक्तार्थबोधनाय मुहुर्मुहुः ॥ १ ॥

[१] अथ श्रीवल्लभाचार्यचरणा पुष्टिमागं धर्मोयं कामाना पूर्वपद्येषु स्पष्टत्वमवगम्यमानत्वान्मोक्षमात्रस्य सन्दिग्धत्वाद्गतिविलक्षणत्वाच्च तन्निरूपयन्ति-पुष्टिमागं इति पुष्टिर्हि प्रभोरनुग्रह स च फलदानेन्द्रा, सापि द्विधा, केवला विशिष्टा च, तत्र केवला नि प्रकारा, साधन प्रकारस्त-द्रहिता, विशिष्टा ससाधना सैव फलप्राप्त्युपायतया मार्ग इत्यर्थ । तत्र मोक्षो निरूप्यत इत्यर्थ ।

अथ श्रीपुष्टिमागीयमुक्तिविवृतिप्रकाशः ।

दशदिगन्तविजयि-श्रीपुरुषोत्तमपाद-प्रणीतः ।

श्रीकृष्णाय नम

प्रणम्य श्रीमदाचार्यचरणोस्तकृपाबलात् ।

तदीया पुष्टिमागीयमोक्षोक्तिं विवृणोत्ययम् ॥ १ ॥

[१] अथ श्रीमदाचार्यचरणा पुष्टिप्रवाहमर्यादाया पुष्टेर्मागंत्वस्य विवृतत्वेन तत्र पुमर्याना-मवश्यवक्तव्यत्वात् पुष्टे पष्टस्कन्धार्थत्वेन तत्र सपरिकरायास्तस्या निरूपितत्वात् समत्वैर्वाक्यैरेव तान्विवरिष्य पूर्ववाक्येषु धर्मोयं कामाना रपष्टत्वात्तुरीयस्य चास्पष्टत्वात्तन्निरूपण प्रतिजानते-पुष्टिमागं मोक्षो निरूप्यत इति,† “पोषणं तदनुग्रह” इति लक्षणवाक्यात्पुष्टिरनुग्रहः, स च धर्मान्तरमिति भक्तिहेतुनिर्णये स्थितम्, स एव फलसाधनत्वान्मार्ग । तत्र मोक्षो (भा० २, १०, ६.) “मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिर्” इति वाक्योक्तलक्षणकमन्ययारूपत्याग-पूर्वक स्वरूपणावस्थानम् । निरूप्यते इतरवैलक्ष्येन ज्ञाप्यत इत्यर्थ ।

† इयं वदुर्थश्लोकविवृति श्रीमदाचार्यचरणानामेवेति तद्विचारयेणवगम्यते इत्यते चैतत्प्रमाणक-पेद्गुणैस्तो ग पुस्तके । \* पुष्टिमागीय इत्यपि पाठः । † भा २ १०, ६.

तत्र स्थितौ बन्धो नामाहन्ताममतास्पदेष्वसक्तिस्तदन्येषु सङ्गश्च, तस्य सहे-  
तुकस्याभावो मोक्षश्च, पुष्टिस्तु तद्विपरीता, तत्र व्यवस्थया मोक्षद्वयमाह—ममोत्तमेति ।

टिप्पणी—[ २ ] अत पर पुष्टिमागं बन्धमोक्षाभ्या वैलक्षण्य निरूपयन्ति तत्र  
स्थिताविति, तत्र स्थितौ पुष्टिभर्यादाया बन्धोऽहन्ताममतास्पदेषु पुत्रदारगृहधनादिषु  
आसक्तिः सर्वात्मना तन्निष्ठमनोवृत्ति, तदन्येष्वसक्तिविषयान्येषूदासीनेषु सङ्गश्च तस्य बन्धस्य  
सहेतुकस्य तदुत्पादककारणकलापसहितस्य योऽभावः स मोक्ष इत्यर्थ । पुष्टौ तद्वैपरीत्यमाहु-  
पुष्टिस्त्रिति, पुष्टिः पुष्टिभर्यास्ताभ्या बन्धमोक्षाभ्या विपरीता, पुष्टिमागं बन्धो हि पुत्रा-  
दिष्वासक्तिविषयेषु भगवदीयत्वेनानासक्तिल्लासीनेषु भक्तेष्वसङ्गश्च, तदभावो मोक्ष । भगवदीयेषु  
पुत्रादिष्वासक्तिभंगवद्भक्तसत्य च मोक्ष इति वैपरीत्यमित्यर्थ ।

प्रकाशः—[ २ ] ननु “मसङ्गमजरं पाशात्मानः क्वयो विदुरि”ति ( भा० ३,  
२५, २० ) “ स्नेहपाशैर्निबन्धाति भवान्सर्वमिद्भङ्गादि”त्यादिवाक्यैर्देन्वाय स्पष्टत्वेन तद-  
भावरूपमोक्षस्यापि तथात्वात्तस्य च मार्गमात्रतुल्यस्त्रादपार्याय प्रयास इति शङ्कायामाहु—तत्रे-  
त्यादि, मोक्षस्येतद्वैलक्षण्येन ज्ञाप्यतया वैलक्षण्यप्रतियोगिनोऽवश्यवक्तव्यत्वे, स्थितौ उपादेय-  
तया प्रतियोगिभूतायाम्, बन्धः ससारकारणभूत उक्तविधः, तस्य सहेतुकस्य “तत्र सत्त्वं  
निर्मलत्वादि”त्यादिगीतावाक्यात्तद्वैतनो गुणास्तत्तद्विषय बन्धस्याभावो ध्वसादिमोक्षः । पुष्टिः  
पुष्टिसरणी, तद्विपरीता विरुद्धलक्षणा, तथा च तत्र ससारास्पदेषु प्रसङ्गासक्तौ मोक्षस्तदभावश्च  
बन्ध इत्यर्थ । तत्र मोक्षस्तु अत्र सुटिव्यति, बन्धस्तु तृतीयधर्कबन्धवमाध्याये ब्रह्मरुतौ  
“अन्धापुतार्त्तकरण” इत्यस्य सुबोधिन्या व्युत्पादित । ये पूर्वजन्मनि प्रह्लादमभावचिन्त-  
नपरा स्तेभ्य एवोक्तनिवृत्तिमार्गकरणान्प्रसन्नो भूत्वा क्षत्यादिलोकेष्विह वा किञ्चित्प्रसाद  
प्रयच्छति तदा जेदमस्माकमवक्षितमिति ततो विमुत्वा प्रज्ञात्मभावचिन्तनेनैव “मासदेहाव-  
सानाद्ये”तिश्लोकोक्तीत्येहैव स चरन्तीति स्वमुक्त्वाभिमानेन भगवद्वत्प्रसादागृहाणा ऋषी-  
षामप्येव भाव इति ।

श्रीटिप्पण्यं नम

## अथ श्रीमद्ब्रह्मभानामियं टिप्पणी ।

ममोत्तमेतिश्लोकोक्तिविरणे तत्रेति मोक्षविषये इत्यर्थ, स्थिताविति मर्षादामागं इत्यर्थ ।  
पुष्टिमोक्षमदभोचकतया प्राहु तन्निरूपणस्यावश्यकत्वात् । तद्विपरीतति, स्वरूपत साधनत कल्पश्रैत्यर्थ ।  
स्वरूप कृपया नि साधनाङ्गीकार, साधनं यद्विधितपूर्वक भजनम्, फल साधान्ननानन्दानुभव । अत  
एव कल्पप्रकरणे प्रमाणनिष्ठात्यागेन तदनुभव, नो चेत् द्विजदाख्यसत्रिणां गन्धामतमेव त्यात् । तत्र  
व्यवस्थयेति, पुष्टिमागं व्यवस्थयेत्यर्थ ।

एवं कामं निरूप्य मोक्षं निरूपयति-ममोत्तमेति,  
ममोत्तमश्लोकजनेषु सख्यं संसारचक्रे भ्रमतः स्वकर्मभिः ।  
त्वन्माययात्मात्मजदारगेहेष्वासक्तचित्तस्य न जाय भूयात् ॥ ४ ॥

पुष्टिमार्गं हरेर्दास्यं पर्यायं हरिरेव हि ।

कामो हरेर्दिदृशैव मोक्षः कृष्णस्य चेद् ध्रुवम् ॥ १ ॥

पुष्टिमार्गं\* मोक्षो निरूप्यते,

श्रीमद्भार्याशरणप्रवृत्तव्यवहारेणुभ्यो वम ॥

अथ श्रीहरिरायचरणविरचिता टिप्पणी ।

श्रीवत्सवाचार्येण स्वयमर्थमम्पद ॥

प्रणमामि तदुक्तार्थबोधनाय मुहुर्मुहुः ॥ १ ॥

[ १ ] अथ श्रीवत्सवाचार्यचरणा पुष्टिमार्गं पर्यायं कामाना पूर्ववद्येयु स्फुटत्वपदगम्यमानत्वा-  
-मोक्षमत्रन्य सन्दिग्धत्वाद्भक्तिविरक्तगत्वाच्च तन्निरूपयन्ति-पुष्टिमार्गं इति पुष्टिर्हि प्रभोरनुग्रह  
म च कल्पदानेनञ्ज, सावि द्विधा, केचन विदिष्टा च, तत्र केचन नि प्रकार, साधन प्रकारस्त-  
-रहिता, विदिष्टा समाधना मेव कल्पप्रप्त्युपायतया मार्ग इत्यर्थं । तत्र मोक्षो निरूप्यत इत्यर्थं ।

अथ श्रीपुष्टिमार्गीयमुक्तिविवृतिप्रकाशः ।

दशादिगन्तविजयि-श्रीपुरोत्तमपाद-पर्यायः ।

श्रीकृष्णाय वम

प्रणम्य श्रीमदाचार्यचरणाम्बुलुपायगन् ।

तदीया पुष्टिमार्गीयमोर्गेति विवृणोत्ययम् ॥ १ ॥

[ १ ] अथ श्रीमदाचार्यचरणा पुष्टिमार्गमार्गीयया पुष्टिमार्गीयत्वेन विवृणोत्येन तत्र पुनर्मार्गा-  
-मरःवत्कल्पगत्वात् पुष्टे पदगम्यमानत्वेन तत्र सपरिच्छयायास्तस्या निरूपितत्वात् तत्रैवैकैवैरेव  
सावि-वशरिया पूर्ववद्येयु भर्मायं कामाना स्रष्टृत्वानुगीयस्य चारुष्टत्वात्तन्निरूपणं प्रतिमाने-  
-पुष्टिमार्गं मोक्षो निरूप्यत इति, + "पोषणं तदनुग्रह" इतिश्रुत्याचार्यवारदुष्टिरनुग्रह, म च  
भर्मान्तरमिति भक्तिहनुनिर्णये स्थितम्. म एव कल्पसाधन-दानमार्गं । तत्र मोक्षो (पा० २, १०,  
६ ) " मुक्तिर्हित्वान्यधारुणं स्वरूपेण न्यत्रस्थितिर्हि "तिवाक्योक्तत्वात्तद्व्यवहृत्यन्यथाहपयाग-  
-पूर्वक स्वरूपसाधनम् । निरूप्यते इत्यर्थेऽत्राप्येन ज्ञाप्यत इत्यर्थं ।

१ इत्तं चतुर्थं श्लोकविहितः श्रीमदाचार्यचरणानामेवमि मदिवाच्यवत्कल्पगत्वेन इत्येते चैतन्मार्गक-  
-वेदुष्टमोक्षो व पुष्टिः । \* पुष्टिमार्गीय इत्यपि पाठः । १ भा १ १०, ४

तत्र स्थितौ बन्धो नामाहन्ताममतास्पदेष्वासाक्तिस्तदन्येषु सद्गन्ध, तस्य सहे-  
तुकस्याभावो मोक्षश्च, पुष्टिस्तु तद्विपरीता, तत्र व्यवस्थया मोक्षद्वयमाह—ममोत्तमेति ।

टिप्पणी—[ १ ] अत पर पुष्टिमागं बन्धमोक्षाभ्या वैलक्षण्य निरूपयन्ति तत्र  
स्थिताविति, तत्र स्थितौ पुष्टिमर्यादाया बन्धोऽहन्ताममतास्पदेषु पुत्रदारगृहधनादिषु  
आसक्तिः सर्वात्मना तन्निधमनोवृत्ति, तदन्येष्व्वासक्तिविषयान्येषूदासीनेषु सद्गन्ध तस्य बन्धस्य  
सहेतुकस्य तदुत्पादककारणकलापसहितस्य योऽभावः स मोक्ष इत्यर्थ । पुष्टौ तद्वैपरीत्यमाहु —  
पुष्टिस्त्विति, पुष्टिः पुष्टिमार्गस्ताभ्या बन्धमोक्षाभ्या विपरीता, पुष्टिमागं बन्धो हि पुत्रा-  
दिष्वासक्तिविषयेषु भावदीयत्वैनानासक्तिरुदासीनेषु भक्तेष्वसद्गन्ध, तदभावो मोक्ष । भगवदीयेषु  
पुत्रादिष्वासक्तिर्भगवद्भक्तसख्य च मोक्ष इति वैपरीत्यमित्यर्थ ।

प्रकाशः—[ २ ] ननु “प्रसङ्गमजर पाशमात्मनः कवयो विदुरि”ति ( भा० ३,  
२५, २० ) “ स्नेहपार्श्वैर्निवप्राति भवान्सर्वमिद्रज्जगदि”त्यादिवाक्यैर्बन्धस्य स्पष्टत्वेन तद-  
भावरूपमोक्षत्यापि तथात्वात्तस्य च मार्गमात्रतुल्यत्वाद्वाप्यायं प्रयास इति शङ्कायामाहु—तवे-  
त्यादि, मोक्षस्येतरवैलक्षण्येन ज्ञाप्यतया वैलक्षण्यप्रतियोगिनोऽवश्यवक्तव्यत्वे, स्थितौ उपादेय-  
तया प्रतियोगिभूतायाम्, बन्धः ससारकारणभूत उक्तविध, तस्य सहेतुकस्य “तत्र सत्त्वं  
निर्मलत्वादि”त्यादिगीताकाश्यात्तद्धेतवो गुणास्तःसहितस्य बन्धस्याभावो च्छसादिर्मोक्षः । पुष्टिः  
पुष्टिसरणी, तद्विपरीता निरुद्धलक्षणा, तथा च तत्र ससारारण्येदं प्रसङ्गात्सक्ती मोक्षस्तवभावश्च  
बन्ध इत्यर्थ । तत्र मोक्षस्तु अत्र स्फुटिष्यति, बन्धस्तु तृतीयस्फुट्यन्ववमाभ्याये ब्रह्मरतुतौ  
“अन्ध्यापृतार्त्तकरणे” इत्यस्य सुबोधिन्या व्युत्पादित । ये पूर्वजन्मनि ब्रह्मात्मभावचिन्त-  
नपरा स्तेभ्य स्त्रोक्तनिवृत्तिमार्गकरणाद्भगवान्प्रसन्नो भूत्वा सत्यादिलोकैष्विह वा किञ्चित्प्रसाद  
प्रयच्छति तदा नेत्रमशक्नुमपश्चिन्मिति ततो विमुक्त्वा ब्रह्मात्मभावचिन्तनेनैव “प्राप्तदेहाव-  
सानाश्रे”तिश्लोकोत्तरीत्यैहैव सञ्चरन्तीति स्वमुक्तत्वाभिमानेन भगवदत्प्रसादागृहाणा कथी-  
णामध्येव भाव इति ।

श्रीरुष्णाय नमः

## अथ श्रीमद्ब्रह्मभानामियं टिप्पणी ।

ममोत्तमेतिश्लोकविवरणे तत्रेति मोक्षविषये इत्यर्थ, स्थिताविति मर्यादामार्ग इत्यर्थ ।  
पुष्टिमोक्षमदबोधकतया प्राप्तत्वरूपगन्धोऽवश्यत्वात् । तद्विपरीतेति, स्वरूपत साधनत फलतश्चेत्यर्थ ।  
स्वरूप कृपाया नि साधनाङ्गीकार, साधन गृह्यतिपिपूर्वकं भजनम्, फल साधान्नजनानन्दानुभव । अत  
एव फलप्रकरणे प्रमाणनिग्रहत्वात् तदनुभव, नो चेत् द्विजदारवत्प्रियया गृह्यमनमव स्यात् । तत्र  
व्यवस्थयेति, पुष्टिमागं व्यवस्थयेत्यर्थ ।

मोक्षो हि द्विविधः, पुष्टिमर्यादाया पुष्टिपुष्ट्या च। † (मर्यादाया ज्ञानेनैव मुक्तिः, पुष्टौ च ज्ञानेन भक्त्या वा मुक्तिः) भगवत्पारोक्ष्यापारोक्ष्याभ्यां व्यवस्था, प्रत्यक्षेपि भगवति

टिप्पणी—[ ३ ] अथ पुष्टे शुद्धमिश्रभेदेन द्विविधाया मोक्षैक्यस्य नाधितत्वाद्यवस्थया तद्व्यमाहु —तत्रेति, पुष्टिमागं व्यवस्थयैकेन पद्येनार्द्धाभ्या मार्गभेदेन मोक्षद्वयमाहेत्यर्थ । ममोत्तमेति मोक्षो हि द्विविध इति, कर्मभि सत्तारचत्रे भ्रमणेन भगवदीयत्वप्रकारेण पुत्राद्या सत्तया, चोत्तमश्लोकजनसख्य मोक्ष इति द्विविध इत्यर्थ । उपायद्वैविध्यमाहु —पुष्टिमर्यादयेति, पुष्टिमर्यादा ह्यनुग्रह साधनसाहित्यम् । पुष्टिपुष्टिश्च तत्र तद्वाहित्यमिति भेद ।

[ ४ ] ननु प्रकारभेदेपि तत्सख्यस्यैकरूपनाया कथ व्यवस्थया द्वैविध्यमित्याशङ्क्याहु — भगवत्पारोक्ष्येति, पुष्टिमर्यादात्मोक्षरूपमख्ये भगवत्पारोक्ष्य शास्त्रार्थतया गुणगानकर्तृशुकादिसख्ये तथात्वस्य स्पष्टत्वान् । अत एव \* “ मथुराया व्रजज्ञता ” इत्यादिपु परोक्षेणैव कथनम् । पुष्टिपुष्टौ तु गुणगानविषयलीलाविशिष्टप्रभोरपारोक्ष्यम्, † “ नन्दसूनुरय ”मित्यादिपु तथाक्ते स्त्वन्याययेत्याभिमुच्योक्तेश्च स्पष्ट एव व्यवस्थया भेद इत्यर्थ ।

प्रकाश—[ ३ ] ननु मार्गक्ये साधनस्य समानतया वैजात्याभावात्कले कथ भेद इत्यत आहु तत्रेत्यादि, तथा च मार्गे अत्रान्तरभेदान्मोक्षभेद इत्यर्थ ।

[ ४ ] ननु किंनिबन्धनो भेद, कथ च मोक्षभेद इत्यत आहु —मोक्षे हीत्यादि । वेदोक्त कर्मज्ञानभक्तयो मर्यादेति पुष्टिप्रवाहमर्यादाया स्थितम्, तेष्वत्र प्रकरणवशाद्विहितज्ञानभक्ती प्राह्य योगोपासनादिमहणे त्रयो वा, तथा च तथा ताभ्या तैर्वा मिश्रितोऽनुग्रह पुष्टिमर्यादा, तथैक । अनुग्रहान्तरेण मिश्रितोऽनुग्रह पुष्टिपुष्टिस्त्वयेतर इति भेदनिबन्धकमुक्तम् । स्वरूप-भेदकमाहु —भगवदित्यादि, तथा चाख्या भगवत् परोक्षानुभव, इतरथा च प्रत्यक्षानुभव, इति ताभ्या कृत्वा भक्तरूपावस्थितिरूपमोक्षस्यापि स्वरूपभेद इत्यर्थ ।

[ ५ ] एव श्लोकार्थं सङ्ग्रह पूर्वस्य गुणभाव स्पष्टयितु पूर्वाद्धैत्यपदानि विवृण्वन्त पूर्वश्लो-केषु हरेसमन्वसारवि-दाक्षपदै समोपधेनेन भगवत्प्रयक्षताया स्पष्टत्वाद्वापि सबुद्धि सभाव्यते, तथा सति हे उचामश्लोक? उक्तविधस्य मम जनेषु सत्प न भूयादिति जननादिधर्मवत्सख्या-भावप्रार्थन श्लोकार्थो भवति स वाऽपुनर्भवपर्यन्तमनाकाङ्क्षतो मनसा भगवन्त दिदृक्षतश्च प्रतिनन्धनिरासस्य प्रागेव जातत्वाच्चादृशा सख्याभावे स्याद्व निरस्त इति न युज्यतेऽत समासमाहृत्यान्य एवार्थो वक्तुमुचित इत्याशयेनाहु —प्रत्यक्षेपीत्यादि, अप्रत्यक्षवादिनापि सम्बो

श्रीवद्वभट्टि०—ननु एकरिमध्व मार्गे कथ व्यवस्थाभेद † तत्राहु —भगवत्पारोक्ष्येति, पुष्टिमया दास्या परस्पर गुणसमाजनेनान्त प्रकटेनैव भगवता पूर्णतां मन्वाना लोकोपकारिण शुकादय इवात्मभाराना रमन्ते । शुद्धपुष्टिमागोपास्तु साक्षाद्द्वि सर्वधमन्तरा नैतावतैव पूर्णतां मन्वत इति एतत्कृता व्यवस्थाभेद । अत एव कल्पप्रकरेण भगवद्वाद्यसम्पत्त्या गुणगानेन च न तापशान्ति, पश्चादादिभिरिति एव तस्मिन्स्तच्छान्ति । ननु पुष्टिमयादास्या कदाचिप्रयक्षे भगवति प्रमाणनिर्वा परियज्य तमेव गृह्णीयुस्तदा कथ

† इय पद्विनहि वैरिदिपि टीकापरिष्कारात्तथा तथा च “ पुस्तकयोरपि नोपलभ्यते ।

शास्त्रार्थत्वाय उत्तमश्लोकजनेष्विति समासः । भक्तसंबलित एव भगवास्तद्वारा फलं द-

टिप्पणी—[ १ ] नन्वस्ति भगवान् शास्त्रार्थं “ वैदेशं सर्वं ” रिति स्मृत्ये “ त लो-  
पनिपदं पुरुषमिति ” श्रुते “ सर्ववेदान्तप्रत्ययमिति ” न्यायाच्चातस्तत्माह्वयं तन्नामार्थं च  
तथाप्रतिपादकमकसख्यापेक्षा इति तदुपायापेक्षा । तत्र परोक्षे भगवति गुणगाने भक्तवान्यत्र  
तिपाद्यतया तदपेक्षा । प्रत्यक्षे वचसा गौणतया न शास्त्रार्थता, साक्षादनुभूयमानत्वादिति तदुत्तर  
तदुपायरूपभक्ता नापेक्षन्त इति तदा किमिति तत्सख्यप्रार्थनमित्याशङ्क्याह—प्रत्यक्षेपीति ।  
उत्तमश्लोकजनेष्वितिसमासेनैकार्थताबोधेन प्रभोर्भक्तानां च परस्पर सापेक्षता सूचिता ।  
तथा च भक्तानां प्रभुसंबलितत्वमेव तत्सापेक्षत्व, प्रभोश्च तद्वारं फलदातृत्वमिति सापेक्षत्वात्प्र-  
त्यक्षेपि प्रभौ भक्तापेक्षासत्त्वान्न भक्तप्रतिपाद्यतारूपशास्त्रार्थत्वव्याहतिरित्यर्थः । एतेन प्रभुस्वरू-  
पमनुभूयमानमपि भक्तनिरूपितमेव विदितं भवतीति भावः ।

मकाशः—

धनानुलोभेन बौद्धसन्निधानस्य “ \*अहं समाधाय मनो यथाह सङ्कर्षणस्तच्चरणारविन्द ”  
इतिशास्त्राद्यपूर्वैर्ब्रह्मरूपस्य चावश्यंवाच्यत्वात्तस्यैका-तभक्तत्वमवश्यं वाच्यम्, तथा तादृशस्या-  
नुभूत्यागावसरे भीष्ममुक्ताविव भगवदनुकम्पा, तथा दर्शनदानं चावश्यं मन्तव्यम्, तथा सति  
कानुष्मसि प्रत्यक्षे ? तस्मादुक्तं प्रत्यक्ष इति । एव यद्यपि भगवान्-प्रत्यक्ष इति मम त्वदीयेषु जने-  
ष्विति वक्तव्यम्, तथापि यदेवमुक्तं तेन उत्तमैर्यथाशास्त्रार्थविरिद्धि श्लोकयते कीर्त्यते इत्युत्त-  
मश्लोकः । उत्तमा परापरविद्यागोचरा वा श्लोका कीर्तिव्यस्य स तथा । तस्य ये जनाः, “ न  
कर्मबन्धनं जन्म वैष्णवानां च विद्यते, विष्णोस्तु चरत्वं हि मोक्षमाहुर्मनीषिणः ” इति पाद्मा-  
चादृशज-मयुजास्तेष्विति च समास स शास्त्रार्थत्वाय, भगवतः शास्त्रार्थरूपत्व ज्ञापयितुमिदं ।  
अत्र “ क्रियायौपपदस्य च कर्मणि स्थानिन ” इत्यनेन तुमुन प्रयोगे चतुर्थी । फलेभ्यो  
यातीतिवत् ।

ननु शास्त्रार्थत्वमुत्तमश्लोकपदीयसमासेनैव प्राप्यते, न तु षड्व्रयसमासेन । तथा च तादृ-  
शत्वेन सम्बोध्य प्रतिबन्धकाभावप्रार्थनं सरसद्गादौ पर्यवसास्यतीति कथं सम्पूर्णतया तयार्थ इत्यत  
आहु-भक्तेत्यादि । तथा च वैयासकिः स भगवानथ विष्णुरातमि” इत्यनेन तादृशत्वसङ्गे

श्रीविलम्बिते—तद्वेदस्वत्राहु—प्रत्यक्षेपीत्यादि । कदाचित्तयात्वेपि तेषां शास्त्रार्थत्वमेव ।  
गुणसमाजनरूपेण शास्त्रेणैवार्थं पुरुषार्थो यथा ते तथा । तत्रावस्तत्त्वं तदर्थमित्यर्थः । समास्तत्पर्यमाहु—  
उत्तमिति । उत्तमे शुकादिभिः शास्त्रद्वारा श्लोकवत् एव न तु पुष्टिरेविव बहिरनुभूयते । तत्सम्बन्धिनी  
जना । यथोक्तमानां भगवतश्च श्लोकितृभोक्तव्यमात्र एव सम्बन्धो न त्वन्योपि बाह्यस्तया तेषु समासेन  
पदेकत्ववचनद्वैकत्वमपि श्रुतिमिति तद्वैव त इत्यर्थः । तादृशजनेषु सख्यप्रार्थनया तत्समाजरील्लयसत्त्व  
सिद्धौ मुक्तता सिद्धेति सरयस्य मोक्षरूपत्व सिद्धमिति स एव प्रार्थते ।

ननु भगवत्सख्यमेव फलं न प्रार्थते तत्राहु—भक्तसंबलित इति । तादृशजनसख्यद्वारा ननु  
पठारी लक्ष्यादिभक्तसंबलित एव फलरूपं स भवतीत्येकम् ।

१ शीता १५, १५ । २ प्रत्यक्षोत्तरम् । ३ प्रत्यक्षोपायरूपा \* भा १, ११, २१

दातीति पौरुषसभाजनञ्च ( " येन्योन्यतो भागवता " इति तृतीयपङ्क्त्ये दर्शनकारणं पौरुषसभाजनमुक्तं ) फलम् । भक्त्यु दास्यपर्यन्तस्य साधनन्यासस्यार्थपत्तेः ।

टिप्पणी—[१] ननु प्रकृते प्रभौ फलरूपे तस्यैव होपयुक्त्येन तस्य तु गुणगानमाधनत्वात् कथं शास्त्रार्थत्वप्रत्यय इत्यत्र आहुः—पौरुषसभाजनञ्च फलमिति । उभयत्रापि पारोक्ष्यापारोक्ष्ययोः पौरुषसभाजनं लीलाभिनन्दनं विषयज्ञानप्येत्यादिरूपं तदेव फलं, स्वरूपस्य तु गुणगानात्प्रकारमात्रवदस्य तद्रूपस्य तदनुभवाधीनानुभवस्य तच्छेपत्वमिति तस्यैव फलत्वाया प्राकृत्येपि तद्ब्रह्ममन्त्रोत्पत्तौ शान्तिप्रार्थनमिति सिद्धिरिति भावः ।

[७] ननु भक्तानामीदृशान् तेषु दास्यमप्रार्थयित्वा साम्यमप्यादत्तं सन्त्य कथं प्रार्थितानित्यादाद्ब्रह्माहुः—भक्तेरिति । भक्त्यु " मैत्रक्षपूजाभ्यधिकं "त्यादिना श्रवणमारभ्य दास्यपर्यन्तस्य सर्वस्य सन्त्यरूपफलमाधनत्वात्फलप्रवर्तणत्वान् फलरूपं सन्त्यमेव प्रार्थयत इत्यर्थः ।

मनाशः—

तेष्वाविष्टो भगवास्तद्वारा फलतीति पदत्रयसमासमादिश्रा लभ्यते, तदभावे तु केशलेन सम्बोधनेनोदासीनतया सत्सद्भाक्षेपात्प्रार्थनमसङ्गतं स्यादत्तं पदत्रयममाम एवादर्शनीय इत्यर्थः ।

[६] ननु षाटशसत्सद्भेपि शास्त्रार्थरूपस्य परोक्षेण प्रकाशात्तत्र चालुभवामीति प्रत्ययाभावात्कथं फलनीत्युच्यत इत्यत्र आहुः पौरुषेत्यादि । " नैर्नामता मे स्पृहयन्ति केचिन्मत्पादसेवाभिरता मदीहाः । येन्योन्यतो भागवताः प्रसज्य सभाजनयन्ते मम पौरुषार्थी— " एतत्र श्रीकपिलदेवैर्ब्रह्मवदीयानां परस्परसत्तिपूर्वकं भगवत्पौरुषममाननरूपं जीवता साधनमुक्तं, तदपि " प्रायेणं मुनयो राजनिष्ठिता विधिप्रेथतः, नैर्गुण्यस्था रमन्ते स्म गुणानुषयने हरेः " " पेरिनिष्ठितोपि नैर्गुण्य उत्तमश्रोत्रनील्या, शृहीतचेता राजर्षे आन्यानपदधीतवान् " " तद्दह तेभिर्शास्यामि " " निवृत्ततर्पणरूपगीयमानाद्भवोपधा श्रोत्रमनाभिरि— " त्यादिषु गुणातीवानां स्वरूपावस्थितानां रतिविषयत्वेन च कथनात्फलम् । तत्र च तद्दानेन फलतीत्यर्थः । यद्वा च सगुण्ये । तथा च यथा काठकश्रवणं कर्णनीयस्य परोक्षज्ञानेऽपि विगलितवेद्यान्तर आनन्दो लौकिकानां, तथात्र स्वानन्दवद्गुणाश्च सभाजनयन् स तथेत्यर्थः ।

[७] नन्वेतादृशं फलं श्रवणपि भवति यथा परीक्षितं, तस्यापि " नानुत्तुप्ये जुषन्पुष्पद्वचो हरिकृपाभृतम् " " येन येनावतारेणे "त्यादीनां गुणसभाजनशक्त्यानां दर्शनान् । तत्र च वक्तुरपेभया हीनभावस्य स्पृहत्वान् सद्ब्रह्ममात्रमेव तदर्थं प्रार्थ्यं, मध्ये को विशेष इत्यत्र आहुः—भक्तेरित्यादि । इमानि वाक्यानि सभाजनप्रयोजकानि न तु सभाजनरूपाणि । स्वरूपादि-

श्रीब्रह्मभट्टि०—१६ वाक्ये सद् गुणसभाजनं देहधर्मनियामण्डूकं ब्रह्मानन्दादप्यधिकविलक्षणं सानुभवो भवतीत्यपरं फलम्, तदप्युक्तं पौरुषसभाजनञ्च फलमिति । तेन तत्सत्यं फलद्वयमिति तत्प्रार्थनेत्यर्थः । भगवत्सत्ये तु स एवैकं फलमिति कदाचिदनुभवत् (गीता अ ११-७-४१) " अक्षान्दस्पर्शपरिसरः श्रोत्रोऽसि " इति वाक्येऽप्यप्यस्यैवैतन्मतेति न त्प्रार्थनेति भावः ।



सर्वथा स्वतन्त्रत्वाय स्वनिष्ठभक्तविषयकीर्तनम् । गुणसभाजने स्वस्यापि स्वातन्त्र्यार्थं,

टिप्पणी—[ ८ ] ननु तन्निरूपितसख्यमप्राप्त्यर्थं मम उत्तमश्लोकजनेष्विति षष्ठीसप्तमीभ्यां निष्ठताविषयताबोधिकाभ्यां कथं स्वनिष्ठतद्विषयसख्यमप्राप्त्यर्थनमित्यत आहु—सर्वथा स्वतन्त्र-  
त्वायेति । सख्यस्य भक्तिमार्गीयमोक्षतया स्वातन्त्र्यमुचितं, तत् स्वनिरूपितत्वे तन्निरूपितत्वे  
वौ तस्य व्याहन्येत । अतः स्वनिष्ठभक्तविषयसख्यकीर्तनमित्यर्थः । ऐतन्नैतन्मार्गीयमोक्षस्या  
साधनसाध्यत्वमुक्तं भवति ।

[ ९ ] ननु पौरुषसभाजनं हि फल तदस्वातन्त्र्ये न भवति, तथा सति श्रवणमेव भवेत्  
सभाजनमिति फलप्रतिबन्धनतया न सख्यं मोक्ष । सभाजनविशिष्टत्वात् तस्य तथात्वादित्यत  
आहु—गुणसभाजन इति । गुणानां सभाजने अभिनन्दने स्वस्यापि स्वातन्त्र्यार्थं स्वस्यापि  
प्रकाशः—

ज्ञानपूर्वकतदनुवादस्य सभाजनत्वात् । “कलिलं सभाजयन्त्यायां गुणज्ञाः सारभागिनः” इत्यादौ  
तथा दर्शनात् । परीक्षित्वाक्यानां गुणादिज्ञानार्थत्वात् । अतस्तत्कालमात्रस्य षष्ठ्यप्रोत्सङ्गेषु स-  
धनत्वम् । तच्च दास्यपर्यन्तानां तुल्यं, सख्यस्य तु तदीयस्वरूपमानसजनकत्वमिति विशेषात्तद्व्या-  
र्थनमित्यर्थः ।

[ ८ ] नन्वभयं विशोकत्वमारतन्त्र्यं च मोक्षलक्षणं “अभयं वै जनकं प्राप्नोति” “स्स-  
र्तप्यथेच्छताभयं,” “तरति शोकमात्मवित्” “तदस्य संस्तुतिर्वन्धः पारतन्त्र्यं च तच्छु-  
तमि”त्यादिवाक्यात् । प्रकृते तु “निवृत्ता विधिषेधत” इत्यनेन “एष इ वा ष तपतीति”  
शुस्यर्थस्फुरणात्तेषां भयाभावाशोकाभावयोः सख्येऽपि सख्यस्य ससम्बन्धकत्वेन पारतन्त्र्यात् मोक्षत्व-  
मित्यत आहुः—सर्वथेत्यादि । तथा च दयाप्रशयादिवत् संसंबन्धकत्वेऽपि स्वधर्मत्वेन तेषु विद्यमानः  
सख्यरूपो धर्मो मत्सम्बन्धोप्यस्त्वित्याशयेनात्र स्वनिष्ठस्य भक्तविषयस्य सख्यस्य कीर्तनं वृत्त-  
वत्त्वत्रैमिसिकत्वेऽपि तस्य विद्यमानतया सर्वथा स्वातन्त्र्यं ज्ञापयितुं, तेन न मोक्षत्वहानिरित्यर्थः ।

[ ९ ] ननु सख्यस्य स्वतन्त्रत्वेऽपि स्वस्य सख्येन श्रोतृत्वे षष्ठ्युपाहारतन्त्र्यान्मुक्तत्वहानि-  
स्तेषाञ्च अनत्वेनोपान्त्यादिभावविकारदशापत्तौ प्रतियोग्यभावेन सख्यस्याप्यभावे देशकालपरि-  
च्छेदान् सख्यस्य मुक्तिस्त्वहानिरित्यत आहु—गुणेत्यादि । तथा च बहूनां गुणपदकृतत्वासम्भ-

श्रीबृहद्भट्टि०—ननु स्वाधीनत्वात्तद्व्यजनदास्यमेव कार्यं तेन गुणसभाजनमपि सैत्थ्यतीति किं  
सख्यमप्राप्त्यर्थनयेत्यत आहु—सर्वथेति । तदास्ते लोकतः स्वातन्त्र्येऽपि दास्यस्यासङ्गेन तस्सभाजने सर्वथा तत्र  
त्यादिति तदर्थं स्वस्मिन् विद्यमानस्य लोकविषयसख्यधर्मस्य मकविषयक कथनमित्यर्थः ।

ननु गुणसभाजको महान् “मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायण । सुदुर्लभः  
प्रशान्तान्मा कोटिष्वपि महासुतः” इति वाक्यादेक एव भवति । तत्सभाजनञ्च तदधीनमतः  
ततः स्वातन्त्र्यमसंभावितं तदपि तत्सख्ये सति भवति तादृशेन तदप्यसमाधिउमिति किं तत्प्राप्त्यर्थनयेत्यत  
आहुः—गुणसभाजने स्वस्यापीत्यादिना । जनेषु इति बहुवचनतात्पर्यं, न हि तादृश एक एव किन्तु

१ वा इति पदान्तरे सख्यस्य भक्तिरित्युक्तत्वे सति स्वातन्त्र्यं व्याहृतम् । २ सख्यस्य, ३ भग-  
वत्प्राप्त्यर्थेन ।

हेतुसाधनपदेन कृपया साधनसंपत्तिश्च सूचिता । योग्यायोग्यदेहानां बहुधाजातत्वादिदानीं तदभावार्थं प्रार्थना । हेतुः स्वामिनामग्रहणस्य हेतुत्वेनापुक्तत्वात्कर्मपदम् । आवश्यकत्वाय स्वपदम् । निरवधित्वाय बहुवचनम् ।

टिप्पणी—[ १२ ] ननु तथापि भगवद्भक्तमूल्ये किं साधनं, न हि ते संसारपरिभ्रमणमात्रेण मिलन्ति तत्सङ्गस्य भवापवर्गसाधनत्वात्, “भैवापवर्गो भ्रमत्” इति वाक्यादित्याशङ्क्याहुः—हेतुसाधनेति । हेतुसाधनपदेन परिभ्रमणपदेन कृपया सत्तां तत्सङ्गस्यसाधनसंपत्तिः सिद्धिः सूचितेत्यर्थः । ते हि कर्मभिर्भ्रममाणमवलोक्य सहजवक्ष्यात् कृपात्वो भवन्ति । सैव च साधनमिति तथेत्यर्थः । एतेन भक्तिमार्गस्य सांशस्यापि नि साधनत्वं द्योतितं, न हि तद्वीर्यंशो कोपि साधनैः सिद्धयति ।

नन्वेवं सति कथं प्रार्थनेत्याशङ्क्याहुः—योग्यायोग्येति । संसारचक्रभ्रमणेन योग्यायोग्यदेहा बहवो जाता इतीदानीं हेतुः स्वैकर्ममविचार्यापि तदभावार्थं प्रार्थना, न फलार्थमित्यर्थः ।

[ १३ ] ननु कथं भक्तिमार्गीयस्य वृत्रस्य सख्योपयोगिचक्रभ्रमणहेतुत्वेन कर्म पुन्यं इत्यत आहुः—हेतु इति । स हि भक्तिमार्गीय एवेति भ्रमणरूपे हेतुः हेतुत्वेन स्वामिनां नामग्रहणमयुक्तमिति हेतुत्वेन कर्मोक्तत्वानित्यर्थः । ननु तानि कर्माणि त्यक्तन्यानि भ्रमणमाधनत्वादित्यत आहुः—आवश्यकत्वायेति । स्वकृतत्वेनावश्यंभोक्तव्यतया कर्माणि न त्यक्तुं शक्यन्त इति भावः । ननु किं बलं कर्मणां स्वसाध्यत्वादित्यत आहुः—निरवधित्वायेति । बहुवचनेन कर्मणां निरवधित्वमुक्तं, नहि कश्चिदिति वाक्यात् ।

प्रकारः—[ १२ ] ननु तथापि संसारपदेन हेतुसाधनतापि स्पष्टतरीति कथं दुःखासम्भेद इत्यवस्तत्तात्पर्यमाहुः—हेतुसाधनेत्यादि । तथा च तेन पदेन भगवन्तं प्रति तथा सा सूचिनेति तदर्थं सत्पदप्रयोगो न हेतुशब्दोच्यतेति न दुःखासम्भेद इत्यर्थः ।

नन्विदं सूचनं प्रार्थनाफलकं तथा सति कथं हेतुसाधन इत्यत आहुः—योग्येत्यादि । तथा चेत् परं भगवद्वययाऽन्तिमदेहभावनादितः प्रागेव हेतुः, न त्वेतदुत्तरमपीति न दुःखासम्भेद इत्यर्थः ।

[ १३ ] ननु कार्यमात्रं प्रति भगवद्विच्छायाः कारणत्वेन हेतुः स्यात् तथा त्वादीदृशमफलस्य तस्सु तैरेवोचितत्वात् कथं तदनुचितित्यत आहुः—हेतु इत्यादि, बहुवचनमित्यन्तम् । आवश्यकत्वायेति । तत्फलभोग्यावश्यकत्वाय । तथा च तत्रोचितं, द्विन्तु कर्मपदमेवोचितम् । तदेतदहेतुः प्रार्थनाप्युचितेत्यर्थः ।

ननु “जनो वै लोक एतस्मिन्नविद्याकामकर्मभिः, उभावचासु गतिषु न येत् स्वान् गति भ्रमन्ति” इत्यत्र प्रयाणां भ्रमणकारणत्वसिद्धेः कथं कर्मनाश्रयैव कारणत्वेन कथनमित्यत श्रीवृत्रभट्टि०—

हेतुः हि । हेतुसाधनं समास्तत्पदेनेत्यर्थः । तत्र पतिरस्य चेत्तदग्रममन्वत्पुरुषसाधनमित्यभिः, सा तदेवेत्यर्थः

चक्रपरिभ्रमणे दण्डस्येव मुख्योपयोगे नृतीया । अस्या मुक्तेर्गौणत्वाय नात्र भार्यनापद  
प्रयोगः । तथा च तादृशभगवद्भक्तसख्यं पुष्टिमर्यादाया मोक्ष इत्युक्तम् ।

टिप्पणी—ननु सप्तात्रचक्रभ्रमणे साधनान्तराणामविद्याकामादीना सत्त्वात्म्य कर्ममात्र  
तत्साधनत्वेनोक्तमित्यत आहु—चक्रपरिभ्रमण इति । सर्वेषा निमित्तकारणत्वेऽपि कारणता  
भोगविषयत्वेन मुख्योपयुक्ताना कर्मणामेव । घटे दण्डस्येवेति ज्ञापनाय तृतीयेत्यर्थः ।

[१४] नन्वर्धत प्रार्थनासिद्धावपि तद्वाचिपदप्रयोगाभावतात्पर्यमाहु—अस्या इति ।  
अस्याः पुष्टिमर्यादामुक्तेर्द्वितीयापेक्षया गौणत्वज्ञापनायात्र प्रार्थनापदानुक्तिः । निर्गलितार्थमाहु—  
तथा चेति । एतादृश पूर्वोक्तवर्मनिशिष्ट चक्रभ्रमणादिज्ञेशाप्रप्य भगवद्भक्तसख्य पुष्टिमर्यादाया  
मोक्ष इत्युक्तम् ।

प्रकाशः—

आहु—चक्रेत्यादि । कर्माभावे ताभ्या तथाभ्रमणाभावस्यानुभवसाक्षिकत्वाद्भ्रमणे मुख्योपयोग  
कर्मणामेवातस्तेषामेव तथात्वं बोधितमित्यर्थः ।

[१४] ननु भवत्वेव तथापि सरय प्रार्थयत इति यदुक्तं तदसङ्गतम् । प्रार्थनावाचक  
पदस्यात्रानुपलम्भादतो व्याख्यान सर्वमेव सन्दिग्धमित्यत आहु—अस्या इत्यादि । तथा च  
तदप्रयोगमात्रेणोक्तेऽर्थे न सन्देहमित्यर्थः । सिद्धमाहु—तथा चे त्यादि । पुष्टिप्रवाहमर्यादाया  
“तस्माज्जीवाः पुष्टिमार्गे भिन्ना एव न सशय” इति जीवभेद पूर्वोक्तेषुभिर्निगमयित्वा  
भगवद्रूपसेवार्थं तत्सृष्टि, तेषा स्वरूपादिभिर्भगवत्तुल्यत्व, सेवासिद्धयर्थमीपत्तारतम्य चोचवा तेषा  
शुद्धमिभ्रभेदेन द्वैविध्य प्रतिज्ञाय मर्यादामिश्राणा गुणज्ञत्व लक्षणमुक्तं, तत्र भगवद्रूपसेवार्थं संपूत्वे  
सति स्वरूपादिभिर्भगवत्तुल्यत्वे सति सेवार्थमीपत्तारतम्यत्वे सति भगवद्गुणज्ञत्व मर्यादामिभ्र  
पुष्टिजीवत्वमिति फलति । तथा “वैदिकत्व लौकिकत्व कापट्याचेषु नान्यथा । वैष्णवत्व हि  
सहज ततोऽन्यत्र विपर्यय” इत्यन्यथारूपज्ञापनपूर्वक सामान्यलक्षण त्रयाणा तत्रोक्तम् । तन्मूले  
“नैकात्मता मे” “प्रायेण मुनयः” “परिनिष्ठितोपी” चेतेषु “तत्रोभवद्भगवान् व्यासपुत्रः”  
“तं शृष्टवर्षं” “द्वैपायनाच्छुको जज्ञे भगवानेव शङ्करः । अशाशेनावतीर्योर्व्यां समाप परम  
पद” “त सफन्द इत्याचक्षते” सुहृत्पदिदक्षितभङ्गे “गोविन्देभ्युजगुप्ताया द्वारावत्या  
कुन्दह । अवात्सीन्नारदोभीक्ष्ण कृष्णोपासनञ्जालस” इत्यादिभि शुक्सनत्कुमारनारदेषु स्पु-  
टम्, तथा “कायेन तु फल गुणवि भति पुष्टिफलस्य स्वरूपसाध्यत्व तत्रोक्तम् । तदत्र “वैयासकिः  
स भगवानि”त्यनेनोक्तम् । तेन लौकिकत्ववैदिकत्वरूपा इत्यर्थः । अत्रापि पूर्वकक्षा परीक्षिति, उत्तर-  
कक्षा सनत्कुमारादिषु श्लेषा । छान्दोग्ये सनत्कुमारनारदसवादे सर्वोत्तमभाक्विवरकृतया सर्वमस्तथा-  
त्वस्य शक्यवचनत्वाच्छ्रुतिगीतायनिर्णयस्य भजनार्थताया सुधीभिन्त्या निर्णयित्वाचेति । अय  
मोक्ष प्रायस्तुरीयाभ्रमाणा दसपरमहसानामेवेति भाति । सदाहरणस्य तेष्वेवोपलम्भादिति दिक् ।  
श्रीबल्लभटि०—अस्या इति । शुद्धपुष्टिमुक्तपेक्षया गौण वादित्यर्थः ।

द्वितीयमाह—त्वन्माययेति । समासादेव भिन्नतया न मायामोहनम् ।

टिप्पणी—[ १५ ] पुष्टिपुष्टिमोक्ष वक्तुं सजातीयत्वबोधनायाभासमाह—द्वितीयमाहेति । द्वितीयं भक्तिमार्गीयं मोक्षमाहेत्यर्थं । तस्य मर्यादाऽप्राप्यकेवलपुष्टिप्राप्तिप्राप्त्यन्तत्वात् तत्सजातीयत्वसिद्धिरित्यर्थं । त्वन्माययेति । संसारचक्रे ध्रुमतो भगवदिच्छया कुटुम्बासक्तस्य न किन्तु, त्वन्मायया तदासक्तस्य मे भूपादिति संबन्ध । पूर्वस्माद्द्वैलक्षण्यमाह—समासादेवेति । त्वन्माययेतिसभासेन तस्या स्वरूपसबन्धित्वमुच्यते । सा च स्वरूपसबन्धेन तदर्थं मोहयति न तु पृथग्भावेन लीलार्थमेव तस्या प्राक्क्याप्त एव तदुपक्रमे तस्या आशार्पणम् । वैष्णवीं व्यतनोन्मायामित्यादिन्वपि सैवोक्तं । सा च भगवान् यत्र प्रकटीभूय लीला करोति तत्रैवोपयुज्यते, तदभावे लीलाऽसमात् । एवं सति पुष्टिपुष्टिमोक्षस्य प्रकटलीलाविशिष्टप्रयुक्तस्वरूपान्तररमणरूपत्वात् तदुपयोगित्वेन गृहादिप्रासक्त्यपेक्षणात् त्वन्माययेत्युक्तम् । पूर्वत्र तु पारोक्ष्येण साशाह्नीलाऽसंभवात्सामचेत्ययोगः । माया तु तत्रापि भगवदीया पर न स्वरूपसबन्धिनी, “मयै माये—” त्रिन्वयासेन कथनात् तरणोक्तेश्च । अत एवात्रोक्तं न भिन्नतया प्रमुपृथग्भावेन मायामोहनमिति, किन्तु प्रसुरेव तया मोहयतीत्यर्थं ।

[ १५ ] प्रकाशः—अतः परं पुष्टिपुष्टिमोक्षं विवरितुमाहुः—द्वितीयमित्यादि । ननु “प्रसङ्गमजरं पाशमात्मनः कवयो विदुः । स एव साधुषु कृतो मोक्षद्वारपपाटं” “न एते सोऽभवः साधिब” “सर्तसङ्गेन हि दैतैया” इत्यादिवाक्यैः सत्सङ्गस्य मोक्षद्वारत्वात् पूर्वोक्तवाक्येषु गुणगानस्य फलत्वसाधनाच्च पुष्टिमर्यादासमोक्षरूपत्वं तत्सख्यरयोचितम् । तच्च पूर्वार्द्धे भूपादि-त्यद्वान्वयाङ्गीकारेण सिद्धम् ।

अतः परमुच्यते देहाद्यासक्तिशोभकं स्वविशेष्यमवशिष्यते, निधेभो नाथपदञ्च । तथा सति देहाद्यासक्तिनिषेधः प्रार्थनीयत्वेन फलिष्यतीत्यासक्तिरूपो मोक्षः कथमत्र कथं वा देहाद्यासक्तिमोक्षत्वमित्याकाङ्क्षाया भगवदपरोक्षमानेन पुष्टिपुष्टिमोक्षस्य पूर्वं व्यवस्थापितत्वाद्वा तदसत्त्वेन तस्या मोक्षत्वं वक्तुं देहाद्यासक्तिजनकमोहने विशेषमाह—समासादित्यादि । मायासक्तिर्हि मोहने अचिह्नता । तत्र यदि “माया चाविद्या च स्वयमेव भवतीति” श्रुत्या मायाविद्ययोरभेद आद्रियते तदापि “सर्तसङ्गेन हि दैतैया” इत्यादिवाक्यैः सत्सङ्गस्य मोक्षद्वारत्वात् पूर्वोक्तवाक्येषु गुणगानस्य फलत्वसाधनाच्च पुष्टिमर्यादासमोक्षरूपत्वं तत्सख्यरयोचितम् । तच्च पूर्वार्द्धे भूपादि-त्यद्वान्वयाङ्गीकारेण सिद्धम् ।

१ मच्छ देहि मम भवे इति । २ भा. १०, ८, ४३. ३ गीता ७, १४ मम माया दूरययेति गीतावाक्ये मन्मादेति परं मोक्षं तत्र मायाया मोक्षरूपत्वात् तदासात्तरणपुष्टिमय न तु लीलाकारमायायास्वरूपम् । ४ भा. ३, २५, २५. । ५ भा. ११, १३, ३. ६ भा. १, १२, ३. ७ भा. ३, २०, १८ ।

पूर्वस्मादेतस्य विशेषस्त्वत्पदेनोक्तः । आभिमुख्यञ्च । त्वदिच्छया प्राप्तस्यात्मात्मज्ञादिषु  
सख्यं पुष्टिपुष्टिमोक्षः ।

टिप्पणी—[ १६ ] ननु को विशेषो मोहस्यैकजातीयविषयत्वादित्याशङ्क्याहु-पूर्व  
स्मादिति । पूर्वस्मात् मोहादेतस्य पुष्टिपुष्टिमोक्षाय मोहस्य विशेष आदरणीयत्व मोक्षाद्गत्या  
दिरूपस्त्वैतपदेन प्रकारतया तत्सन्नन्वसूचकनोक्त इत्यर्थ । यद्वा, नन्वेतस्मिन्नपि मोक्षे मायामो  
हस्य तुल्यत्वात्को विशेष इत्यत आहु-पूर्वस्मादिति । एतस्य पूर्वस्मात् मोक्षाद्विशेषस्त्वत्पदे-  
नोक्त । एतत्सन्नन्विमायाया अपि सदा स्वरूपसाहित्यादिति भाव । किञ्चात्र मोक्षे विशेष  
प्रसारान्तरेणान्युपपादनीय इत्याहु-आभिमुख्यं चेति । एतत्प्रार्थनावसरेपि यत्र वृत्रस्य प्रभु  
प्राकट्यम्, अन्यथा त्वत्पद न प्रयुज्यान् । तत्र तदनुभवे तस्य का वार्तेति भाव ।

प्रकाशः—

दनात्पूर्वापेक्षयोत्तमत्वस्य च ततोपि दहाहङ्कारो भगवत्सेवौपयिकत्वादुत्कृष्ट इति पञ्चमपर्वव्याख्या-  
नेन सूचनाद्भगवद्भैमुख्येन महाभोगेच्छारूपस्य तत्प्रथमपर्वण इन्द्रे वर्त्तमानस्य मत्त्वभङ्गपुत्रहरण-  
लीलोपयोगिताया, भोगेच्छारूपस्य द्वितीययोमसेनादौ, अज्ञानस्य तृतीयस्य “सद्यो नष्ट-  
स्मृतिरि”त्यादौ, मोहस्य चतुर्थस्य कालियदमनादौ, महामोहस्य पञ्चमस्य सेवौपयिकभाया सर्वत्र  
स्फुटत्वाच्च तदुत्तमताया स्फुटत्वेन प्रकारभेदो मोहने । यदि च “विद्याविद्ये मम तनु विद्वद्युद्धव  
शरीरिणा । मोक्षबन्धकरि आघे मायया मे विनिर्मित” इतिवाक्ये कार्यकारणभावोच्यया भेद  
आद्रियते तदाप्यविद्याकृत मोहन ससाराय, मायाकृत तु भगवद्दीलार्थ, तदपि “वैष्णवी व्यत-  
नोन्माया मजास्त्रेहमयीं प्रभुरि”त्यादौ स्फुटम् । प्रकृते च तदभिप्रेतमतस्त्व माया त्वन्मायेवि  
साक्षात्सम्बन्धरोधकात् त्वदविनाभूता माया त्वन्मायेति वा तथाभूतात्समासादेव भिक्षतया  
भगवत्सम्बन्धराहित्येन केवल ससारार्थतयेति यावत् । तथा न मायामोहनमित्यर्थ ।

[ १६ ] ननु शक्ते शक्तिमदविनाभावस्य साक्षात्सम्बन्धस्य च सर्वजनीनत्वात् सर्वतत्प्रसिद्ध-  
त्वाच्च सर्वदेव तथात्वेन प्रागपि वेण्व इति पूर्वजन्मीनस्यापि देहपुत्राद्यासक्तिरूपमोहस्य तथात्वेन  
स्य च बन्धकताया मूले पुत्रशोकशापादिकथया स्फुटत्वेन प्रकृते तत को विशेषो ? येन मोक्षत्वमि-  
त्यत आहु-पूर्वत्वादि । अविनाभावस्यानुक्तसिद्धत्वेन तद्बोधकपदोक्तिप्रयोजनाभावेपि या तदुक्ति  
सेदानी प्रार्थमानस्य मोहस्य तच्चिकीर्षितलीलार्थत्व बोधयतीत्येष पूर्वस्माच्चन्मनो विशेष इत्यर्थ ।

ननु भवतु लीलार्थत्व तथापि मायामोहो भगवदज्ञानस्य “ये संवसन्तो न विदु-  
र्हीरि मीना इवोडुपमि”त्यादिषु सिद्धत्वान् परोक्षज्ञानमपि चेदूरे कुतस्तर्हि प्रत्यक्षसम्भावेनेति  
पूर्वोक्तत्रयस्था तु भग्येतैवेत्यत आहु-आभिमुख्यं चेति, तद्धि भगवतो नाभिमुख्ये, प्रकृते

श्रीवह्नमटि०—पूर्वस्मादित्यत्र । पूर्वत्र माया भिजा, तस्याच्च परित्याग । अत्र तु स्वरूपाभिजा  
सेति न तत्परित्याग प्रत्युत स्वरूपविषयकालक्तिजनकत्वेन कलसाधकत्वाद्गुण एव, अतो विद्वत्पत्तेनेत्यर्थ ।  
आभिमुख्यञ्चेति । प्रत्युत् एव त्वत्पदव्यवहार इति तत्रार्थनायामेव भगवदाभिमुख्यमितीदमपि विशेष  
धरेतिरित्यर्थ ।

त्वत्सेवोपयिक्तत्वेन चित्तस्य तेष्वसक्तिं नाधपदेन मार्ययते । तेषां नायत्वे तथा भवतीत्यर्थः । चक्र एव परिभ्रमतः सख्यं न भगवदिच्छया हिरण्यकशिपुमृतिष्विव कुड-  
म्भासक्तस्य, सर्वथानन्यत्वमङ्गमसङ्गात् ।

टिप्पणी—[ १७ ] ननु त्वन्माययेति को विरोधो ? यथायद्यिदपि पुरादेर्भगवदीयत्वेन तदासक्त्या तत्सख्यस्य मोक्षत्वादित्याशङ्क्याहु -चक्र एवेति । चक्र एव परिभ्रमतस्तत्सख्यं भवतु, अनन्यत्वास्तते पुष्टिमर्यादायोस्वरूपत्वाच्च, न तु भगवदिच्छया स्वावनाकारणीभूतया, हिरण्यकशिपुमृतिषु यथा देवताया प्रह्लादे पुत्रतया आसक्तिं सख्यश्च पुत्रत्वात्सख्यरूप, अनन्यथा न शिक्षा दापयेत्, तथा कुड्भासक्तस्य मे न भूयात्किन्तु त्वन्माययेत्यर्थ । सोपि पुरा मक्त एव शापेनासुरो जात इति साम्येन प्रार्थना तज्जातीया मन्येत प्रसुरितिभिः निषेवप्रार्थनमिति भाव ।

ननु तथापि भगवद्भक्त्यासक्तस्तत्सख्यस्य विद्यमानत्वात् को दोष इति चेत्तत्राहु -सर्वयेति । भगवन्मायामन्तरा केवलं भगवदीयपुराद्यासक्तावप्यनन्यत्वमङ्गस्तदशे तैस्तन्वन्मायूतं । न हि अनन्या कदाचिदपि तदसंबद्ध किञ्चिदपि स्मरन्ति । यद्यपि हिरण्यकशिपौ प्रह्लादासक्त्या शिवम-  
जनमतोऽन्यथा सर्वथैवानन्यतामङ्ग एव । तस्मात् त्वन्माययैव तयासक्तस्य सख्यं भूयादिति भाव ।

मकारः—

प्रत्यक्षं भगवन्त प्रति शुष्मत्वदोक्त्याभिमुख्यं सूच्यते, तेन यथा “ वैष्णवीं व्यतनोदि”त्यादां मोहनं तथाभिप्रेत, तच्च प्रत्यक्षं इति न व्यवस्थाभङ्गलेशोपीत्यर्थः ।

[ १७ ] उक्त विरोध निगमयितुं पूर्वं जातयो सख्यासक्तयो स्वरूप परिच्छिन्दन्त प्रथमं तस्य परिच्छिन्दन्ति—चक्र एयेत्यादि । पूर्वं नारदाङ्गिरसोर्मर्यादापुत्रमत्स्योर्यत्सस्य सत्स्वकर्मभि संसारपक्षे भ्रमत एव । अत एव “ ज्ञात्वान्पाभिनिवेशं ते पुत्रमेव तदावहमि”त्यन्वान्यद्वि-  
तोवाक्यानि, क्षमेन्विकारापो वृष्टदेहाग्निश्च न भगवदिच्छया परीक्षित इव न कर्मवन्धत्वा-  
जिज्ञया सयेति, वीरवैश्विकसख्यस्वरूप परिच्छिन्नम् । तेन एतादृशभगवत्प्रत्यक्षस्य पुष्टिमर्यादायां मोक्ष इत्यत्रापि कर्मवन्धत्वाजिज्ञया भगवदिच्छयेति विरोधगीयमिति बोधितम् । अतः परमासक्तिं परिच्छिन्दन्ति—हिरण्येत्यादि । अत्र सख्यपदसहितं पूर्वं क्विकामनुपगम्यासक्तिपदं चाम्याहृत्य योजनीयम् । तथा च तत्प्रमृतिष्विव स्वस्यापीतः पूर्वं वृष्टदेहे विप्रवत्तुदेहे च शापवदोमङ्गशिरो-  
पहासादिना स्यात्तदाज्ञासक्तिरपीन प्राचलना पक्षे परिभ्रमत एव । न तु कर्मत्याजङ्गुसौक्यो-  
दसपाद्भगवदिच्छयेत्यर्थः । तेनैव प्राचलनोभयस्वरूपनिष्कर्षेण प्राप्यमातसोर्विरोधो निगन्तव्य इति भावः ।

श्रीरत्नमटि०—चक्र एयेत्यत्र । यद्यपि हिरण्यकशिपुमृतिषु भगवदिच्छया गनेन लोके जन्तेषु तादृग्भिना सख्यमुपमशोद्धमनसत्वेन, तथापि तत्र मोक्षरूपम् । सुदृग्भि येनेनधिगुक्तस्य । मग परीक्ष्यन्नुक्तमेव तथापि, सर्वथाऽनन्यत्वस्यैव इत्यर्थः । तथा च लोके परिभ्रमतः प्रह्लादासक्तस्य । टिप्पणी विना तत्रानभो जन्मान्मगत्तुदृग्भित्वेन सख्याभव इति भगवदिच्छयेत्तु च ।

१ प्रहासात्तत्रये लरि । २ भगवत्प्रत्यक्षत्वेन । या १, १५, १०० ।

कृतार्थत्वं तु नाथपदप्रयोगादेव सूचितम् । तदन्ते च प्रार्थना, \* 'भगवदीय-  
त्वेनैव परिसमाप्तसर्वायां' इति सिद्धान्तात् ।

दिष्पणी—[ १८ ] नन्वय प्रफारस्तु लीगमष्टिरूपेणैव, वृत्रस्य तु कर्ममेव कथना-  
विचार इत्यत आहु—कृतार्थत्वं त्विति । स हि तद्भावद्वयागत्यैव कृतार्थं पूर्णसर्वायं । न ह्येन  
दतिरिचमन्यस्य मिथिलत्व भवति । रसाजुभवस्तु तेषामेव । अन्य कामयमानोप्ययोग्य पतेद-  
तस्तद्भावशृण्वेन भगवदीयत्वसिद्धान्तात् कृतार्थं एव । अन्यथा नाथपद न प्रयुज्यान् । न हि केचि  
दप्यभगवदीया भगवत नाथत्वेन संबोधयन्ति, तदनधिकारान् । अनधिकारकृतस्य दोषावहत्वाच्च ।  
प्रवृत्ते तत्त्वनाधिकारमिद्धौ सिद्ध तर्थात्वमिति भाव ।

[ १९ ] नन्वेव सति फलान्तरानभिन्नापिण प्रार्थना न घटत इत्याशङ्क्याहु—तदन्ते  
चेति । नाथपदप्रयोगान्तेपि या सख्यप्रार्थना सा भक्तिसिद्धान्तबोधनाय । तत्र हि भगवदीयत्व-  
मेव परमपुरुषार्थं । “ भगवदीयत्वेनैव परिसमाप्तसर्वायां ” इति वाक्यात् । स च तत्सख्ये-  
नैव भवतीति ज्ञापनाय तथाप्रार्थनमिति भाव ।

प्रकाशः—[ १८ ] नन्वख्येव तथाप्येव प्रार्थितं सख्यवतीत्यत्र किं गमकमत आहु—  
कृतार्थेत्यादि । पूर्वसन्दर्भे भक्तत्वस्य स्तुतत्वाच्च च नाथपदप्रयोगेण दैन्याविभावबोधना—“इ-  
च्छाना दैन्यमेवैकं हरितोपणसाधनमि”ति सर्वत्र दर्शनेन भगवदोपादिति तत्प्रयोगादेव  
तत्सिद्धि सूचितेत्यर्थं ।

[ १९ ] नन्वत्रासक्तिरूपैव कृतार्थेत्यत्र किं गमकमत आहु—तदन्त इत्यादि । इदं वाक्य  
पञ्चमस्कन्धीयपद्ये ऋषभचरितसमाप्तावस्ति, तत्र च पूर्वगते चरित्रश्रवणथावगयो फल भक्तिरिति  
“ भगवति तस्मिन् वासुदेव एकान्ततो भक्तिरनयोरपि समनुवर्तते ” इत्यनेनोक्ता । तदप्रिमे  
“ यस्यामेव कवय आत्मानमविरत विविधष्टजिनससारातापोपतप्यमानमनुसवन स्नापय-  
न्तस्तथैव परया निर्दृश्या ह्यपवर्गमात्यन्तिक परमपुरुषार्थमपि स्वयमासादित नो एवाद्रि-  
यन्ते भगवदीयत्वेनैव परिसमाप्तसर्वायां ” इति बर्तते । तत्र ससारावस्थावस्थिताना कवित्वेन  
भगवद्गुणभातृणा भक्तिजन्यसुखेन भगवदत्तपरमोक्षानादपूर्वकं भगवदीयत्वभर्षण सर्वैव सभ्य-  
कप्राप्तसर्वपुरुषार्थत्वमुक्तम् । तावत्वा “ सालोक्यसाष्टिसामीप्यसारूप्यकत्वमप्युत । दीयमान  
न गृह्णति धिना मत्सेवन जनाः ” “ स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृत ”

श्रीवह्मभट्टे—ननु सर्वसाधनतेषारहितेन कृतार्थेन पुष्टिमोक्ष प्रार्थं इति तत्राहु—कृतार्थत्व  
निति । सर्वसाधनेस्त्व चेन्नाप्यस्तदा न किञ्चित्कर्तव्यमिति स्वतदेन तत्त्वचितमित्यर्थः । तदन्ते चेति कृतार्थ  
त्वान्ते । पुष्टिमोक्षप्रार्थनेत्यर्थः । पुष्टिमोक्षत्वरूपमाहुर्भगवदीयत्वेनैवेत्यनेन ।

धर्मार्थकाममोक्षचतुर्विधपुरुषार्थसिद्धयर्थं माया क्रमाद्देहाद्यध्यासं करोति । तत्र देहाध्यासे धर्मसिद्धिः प्रसिद्धा । पुत्रापेक्षया अन्यार्थस्योत्कृष्टस्याभावादर्थसिद्धिः ।

टिप्पणी—[ २० ] नन्विदमद्भूतमिनाभाति यन्मोक्षे मायात्कार्यसंबन्धसाहित्यमित्या-  
शङ्क्य मोक्षेऽद्भुतत्वसाधनाय वैलक्षण्यं निरूपयितुमाहुः—धर्मार्थेति । अत्रायमाशयः मर्यादासार्गी-  
यमोक्षे हि तन्मात्रानुभवो न धर्मार्थकामानां प्रत्युत विरुद्धत्वं च । प्रकृते तत्साहित्याविरुद्धत्वा-  
दिनोपनायात्मात्मजदारोगेहेष्वासक्तचित्तस्येत्युक्तम् । यतो माया क्रमात् देहेन्द्रियादिक्रमाद्दे-  
हाद्यध्यासं चतुर्विधपुरुषार्थसिद्धयर्थं करोति । तत्रैकेनैव देहाध्यासेन धर्मार्थकाममोक्षान्तान्सा-  
धयति । एवमिन्द्रियाद्यध्यासेनेति क्रमो ज्ञेयः ।

[ २१ ] तत्र देहाध्यासं विवृण्वन्ति तत्रेति । तत्रैतेष्वध्यासेषु देहाध्यासे धर्मसिद्धिः  
प्रसिद्धा, तदध्यासवतामेव तत्राधिकारात् । अर्थसिद्धिरपि देहाध्यासेन यत्र पुत्ररूपस्योत्कृष्ट-

प्रकाशः—

इति च स्मारितम् । तेन तादृशपरमभक्तियुजां संसारस्य मुक्तयाभिन्त्यं तत्र स्पृष्टति, तदत्रापि स्ववि-  
शेषणनाथपदप्रयोगाभ्यां स्पृष्टतीति तदन्ते तादृशसिद्धान्तं हृदि धृत्वा प्रार्थनैव तादृशासक्तिरु-  
पकृतार्थत्वगमिवेत्यर्थः । सिद्धान्तादिति ल्यमूलोपे पञ्चमी ।

[ २० ] ननु भवत्वेवं तथापि त्रिवर्गस्य गृहाश्रमे संसिद्धिमोक्षरथेरेषु संसिद्धेः प्रकृते च  
दारतमपदाभ्यां गृहाश्रमयोचनात् तस्मिन्नितरेतरविरुद्धचतुर्वर्गानुभवसिद्धिर्न बुद्धिमभिरोद्धती-  
त्याकाङ्क्षायां तदनुभवप्रकारमाहुः—धर्मैत्यादि । मायेति पूर्वोक्तः । करोतीति पुष्टिपुष्टिभक्तानां  
करोति ।

[ २१ ] तत्रेति । तेष्वध्यासेषु । प्रसिद्धेति । प्राणव्यासविमानाभावे वासन्तिष्ठाध्याना-  
दिपरिणायोगात्तदुपदेशशास्त्रादरतत्परिणायानां प्रसिद्धा । पुत्रेत्यादि । पुत्रे प्राणाभिष्टप्रियत्वभा-  
नात्तत्र ममत्तारूपस्तत्साधन्यवैकल्ये स्वसाधन्यवैकल्यन्यभानाप्राप्ते देहप्राणवियोगाच्च तदाद्यर्थेऽद्भुता-  
रूपे वा प्राणाध्यासस्तस्मिन् सति तदुपार्जनपरत्वात् प्राणाध्यासेर्पसिद्धिः । प्रसिद्धेत्यध्याहारोऽन-



सिद्धिं कामसिद्धिः प्रसिद्धा । \* 'भक्तानां गृह एव विशिष्यते' इति न्यायान्वोक्तम् ।

टिप्पणी—

स्वार्थस्य तद्व्याप्तौ नैव भिदे । कामसिद्धिरपि धर्मापेक्षा देहाध्यात्ममूलैव । गृहासक्तिरपि तन्मूलैव ।  
[ २२ ] चतुर्विंशत्यापि मोक्षन्यत्वमाह — भक्तानामिति । भगवन्मायया लोकोपयोगि-  
पदार्थत्वेन तन्नामक्या तन्निरोधेन ब्रह्मभावापेक्षया गृहमेव भक्तानां विशिष्टं, यतो ब्रह्मभावेऽवि-  
ल्लभ्यमानानुभव इन्द्रियादिकल्प्य च । अनोऽत्रौचित्यदेहाध्यात्म्या प्रमुद्रास्त्रचेनास्त्रिपुरार्यक्ष-  
लीयायान्द्रक्षमादित्येनान्तरमणा मकोनुभवो मोक्ष इति भिदम् ।

प्रकारः—

योग्यम् । तेनैव ममत्वरूपोऽध्यासो वा । मूलं पुत्रवदमर्थमात्रोपलक्ष्यमित्याशयेनैवमुक्तम् ।  
स्त्रियेत्यादि । अत्र इन्द्रियाध्यासः स्त्रियामेव, ममतादि वा तेन कामसिद्धिर्भवत्यर्थः ।

[ २२ ] भक्तानामित्यादि । + “ ब्रह्मानन्दे प्रविष्टानामात्मनैव सुखममा । सङ्घातस्य  
विलीनत्वाद्भक्तानां तु विशेषतः ” “ सर्वेन्द्रियैस्तथा चान्तःकरणैरात्मनापि हि । ब्रह्म-  
भावानु भक्तानां गृह एव विशिष्यते ” इति निरन्धकारिकाभ्यां, † “ पश्यन्ति ते मे  
रचिरावतंसमसन्नवस्त्रारण्योचनानि । रूपाणि दिव्यानि वस्त्रानि साकं वारं  
स्पृष्ट्वा वदन्ति ” तर्जनीयावयवैर्द्वारविग्रासनासेधितराममूक्तैः । हतात्मनो हतप्राणांश्च  
भक्तानिन्दतो मे गतिमर्षां प्रयुक्तम् ” इति श्रीविल्देवशाक्यद्वयार्थं सङ्गृहीतं, तद्व्याख्याया-  
न्मोक्षानिन्द्यापूर्वकभगवदेकानतात्पर्यान्मोक्षलक्षिणीयिणीलीलोपयुक्तग्रामतिपूर्वकभगवदानन्द-  
नुभवरूपो मोक्ष । गोपिनादित्युक्तानां प्रसिद्ध इति योजना । तथा च हृष्टरात्यम्पराविरोधो  
ब्रह्मभक्तादीनामित्यर्थं प्रकार इत्यर्थः ।

श्रीवल्देवमते—

त्वान्, तेन तत्सिद्धिरित्यर्थः । उत्कृष्टत्वञ्च भगवदर्थमपादितार्थकत्वेन मुख्यतया सर्वोपयुक्तत्वेन  
यशजननदारा परम्परया तेजानिमोहकत्वैर्नामतिपुण्योद्धारत्वेन च । लोके पुत्रत्वार्थत्वेन प्रसिद्ध  
मावात् सा नोक्ता ।

विद्येति । तथा यथा विषयार्थं कामसिद्धिः प्रसिद्धा तद्वद्वानि सेमाध्यात्मयोश्चित्ताद्ब्रह्मभावात्  
भगवदीयपुत्रोत्पत्त्यैव तत्सिद्धिरित्यर्थः । भक्तानामिति । यथा तेषां भवनोपयोगित्वेन विधिधीनरातानु  
भाक्त्वत्वेन द्यूयस्थितियुक्त्यन्वेषाद्यथा गृहमेव विशिष्यते तन्नावेनैवत्यापि पुष्टिभार्गावलात्तन्मार्गीयम्  
तन्मात्रभावनया भवने तथैव परमानन्दात्तुयमेव ततो विशिष्यते । अथमेव “ सोऽश्रुते सर्वान् कामान्  
सृष्टे ” इत्यत्र मुख्यतया निरूपितं पुष्टिभार्गीयो मोक्षो, न तु कैवल्यम् ।

चित्तस्य वासुदेवात्मकत्वान्मोक्षप्रकरणत्वाच्चित्तपदप्रयोगः । क्रीडाप्रतिबन्धकत्वा-  
रमकृते विरोधाच्च निषेधप्रार्थना ।

टिप्पणी—[ २३ ] ननु कथमस्य तदधिकत्वेति मोक्षरूपत्वं, चित्तसत्केः संसाररूपत्वा-  
दित्याशङ्क्याहुः—चित्तस्येति । चतुर्विधेऽन्त करणे चित्तस्य वासुदेवात्मकत्वात्तस्य च मोक्षदातृ-  
त्वात्तद्वाचित्तपदप्रयोगेण मोक्षरूपत्वं सिद्धमित्यर्थः । किञ्च, प्रकरणमपि मोक्षस्येतिज्ञापनायामि  
चित्तपदप्रयोग इत्याहुः—मोक्षप्रकरणत्वादिति ।

[ २४ ] ननु भगवन्मायागमितासक्तिमात्रं प्रार्थ्येत, किं केवलासक्तिनिषेधप्रार्थनेनेत्यत आहु —  
क्रीडाप्रतिबन्धकत्वादिति । केवलासक्तिनिषेधाभावे 'अप्रतिषिद्धमनुमतं भवती'तिन्यायेन भग-

प्रकाशः—[ २३ ] प्रकृतं तादृशोनुभवप्रकारो विवक्षितोन्तःकरणाध्याससाध्यध्वेन्यत्र किं  
गमकमत आहुः—चित्तस्येत्यादि । \*यत्तत्सत्त्वगुणं स्वच्छं शान्तं भगवतः पदम् । यदाहुर्वा-  
सुदेवाख्यं चित्तं तन्माहृदात्मकमिति कपिलाकथनेन सर्वेष्वन्तःकरणेषु चित्तस्य वासुदेवात्मकत्वात्  
सृष्टिरियतिप्रलयमोक्षकर्तृषु प्रदुग्नादिषु चतुर्षु वासुदेवस्य मोक्षदातृत्वाद्भव मोक्षप्रकरणाद् चित्तपद-  
प्रयोगः । तथा च स एवोक्तप्रकारानुभवस्य तस्यन्तःकरणाध्याससाध्यतायाश्च विवक्षितस्वगमक  
इत्यर्थः । अनेन तादृशासत्केर्मोक्षत्वे युक्तिरपि स्मारिता । तथा हि यत्रेदं चित्तस्य वासुदेवात्मकत्व-  
बोधकं वाक्यं तत्रैव मनसोऽनिरुद्धत्वबोधकमहङ्कारस्य सङ्कर्षणत्वबोधकं च वाक्यमस्ति, तेन तत्त-  
दन्तःकरणाधिदैविकत्वं तेषां व्यूहानां तत्र सिद्धम् । मत्तन्तःकरणरूपाश्च स एव । किञ्च, यो योऽ-  
ध्यासः स सर्वोप्यहङ्काराध्यासमुलूकः, अहङ्कारश्च सङ्कर्षणात्मकः, तत्रास्याहमित्यप्यासरतदहङ्कारो-  
पासनागुल्यकश्चो भवति, अहङ्कारोपासना च सर्वतापनीयसिद्धा ! तथा च सा यथा मोक्षकृ-  
त्वान्मोक्षरूपा तथायमध्यासोपि मोक्षकलकत्वान्मोक्षरूप इति तन्मूला देहाद्यासतिरपि तथेति ।

[ २४ ] ननु सर्वमिदं तदोपपद्येत यदन्तरा न प्रयोगो न श्यात्, दृश्यते च स इति नायमर्थः  
साधीयान् । किन्तु स्वकर्मभिः संसारचक्रे भ्रमतो मम उत्तमभूतोकजनसदस्यं भूयात् तस्य प्रार्थ-  
नीयत्वे हेतुः त्वन्मायात्मात्मजज्ञानरोगोद्देश्यासकचित्तस्य नेति "भेदापवर्गो भ्रमतो यदे"ति-  
वाक्योद्देश्यासासक्तौ तन्न भवतीति तदभावपूर्वकतत्सहयमात्रप्रार्थनेत्ययं युक्त इत्यत आहुः—क्रीडे-  
त्यादि । उक्तसख्यायेति शेषः । अयमर्थः, त्वया हेतस्यासाधुत्वेन अतुपपत्तिमात्रमविवक्षितवत्-

श्रीवल्लभटि०—चित्तस्येति । चित्ता उच्यते इति पातोभिन्नं ज्ञानात्मकम् । तस्य यत्तद्वन्वम् ।  
उदधिदाया वासुदेव इति तदात्मकत्वमुच्यम् । इतः पूर्वं विभिः श्लोकैः पुष्टिमागीयपुण्यार्थमनुत्तम् । अत्र  
तन्मागीयो मोक्षो निरूप्यते इति तत्प्रकरणत्वम् । "ज्ञानान्मोक्ष" इतिन्यायेन चित्तपदप्रयोगो मूढे ।  
तेन दुःखज्ञानात्मकत्व एव तस्य यथा मोक्षसाधकत्वं तथा दुःखपुष्टिमागीयभावात्मकत्वं एव तन्मोक्षसाध-  
कत्वमित्यर्थो ज्ञापितः । क्रीडेति । संसारहेतुभूतमायामोहापन्ना एव तद्गृहे मगवान् श्रीवतीति तद्विबन्ध-

तथा च कर्मसंबन्धव्यतिरेकेण केवलभगवन्मायया रमणरूपया भगवत्सेवाश्रवणादित्यार-

टिप्पणी—

बन्मायायामपि तत्सत्त्वे तन्मिश्रणेन पुत्रादिपुण्यप्रतीत्युद्धौ केवलभगवन्मायाभावात् भगवान् क्रीडतीति क्रीडायां प्रतिबन्धकत्वात्तन्निषेधप्रार्थनमिति याव । अत एव “सैमागतान्पूजयती प्रजोक्तस” इत्यत्र भगवद्दीयत्वेपि ज्ञानितुष्या तत्रासक्तौ मातृचरणानां तथोपावर्णनं, लीलास-  
नुभवप्रतिबन्धकज्ञानमङ्गलमिति । किञ्च, मोक्षविरुद्धत्वादिपि केवलासक्तिनिषेधप्रार्थनमित्याहुः—प्रकृते विरोधाद्येति । प्रकृते विरोधो नामाकर्त्यां शक्तभेदविरिद्धे लौकिकभाववर्णनं चेति । मोक्षो हि भगवद्दी-  
यत्वं, तच्च सर्वोद्देशो तदीयन्त्रात्सुमनवान्स्वयं, तत्र केवलासक्तेरंशत सत्या अपि बाधकत्वात्निषेधप्रार्थनमि-  
त्यर्थः । [ २९ ] सिद्धमर्थमाहुः—तथा चेति । कर्मसंबन्धव्यतिरेकेण संसारेपि प्रभुसंबन्धात्सर्व-

प्रकाशः—

गमकतयोच्यते, सा तु नास्ति । तथा हि अत्र सर्वं “अहं समाभाये”त्यादिवाक्यैर्दृष्टस्य स्वपूर्व-  
जन्मनि सर्वत्रुत्तान्तस्मरणं निश्चीयते । “त्रैवर्गिकायासे”तिवाक्यात्स्वस्मिन्प्रसादोऽनुमित इति  
च । एवं सति पूर्वजन्मनि न्याभिनिवेशाद्द्विरःसद्भुवदानतच्छोकनारदोपदेशसम्भवत्प्रसादविद्या-  
धराधिपत्यशिक्षोपहासाऽम्बिकाशापा अपि हास्य स्मृतिगोचरा इति पूर्वसादस्य परमफला-  
साधकत्वं स्मृत्वा साग्रत्वं प्रसादे किं भगवता विधेयमिति तदाशये सन्दिहानः इदानीं च  
मरणकाल इतीदानींगोचरो मोक्षविषयत्येवेति निश्चिन्वानः अनुगृहीतत्वात्पौष्टिकमेव हास्य-  
तीति निश्चित्य पूर्वजन्मनि नारदाद्द्विरःसत्स्य भ्रमत्सत्यत्वञ्च निश्चित्य यदि पुष्टिमयांइया  
दिरसति तदा पूर्वजन्माभूदिति सख्ये साक्षिणेणे हीति प्रकारनिषेधस्य पूर्वाभेन प्रार्थना, सख्यं  
भूयात्परं तथा न भूयादिति । यदि पुष्टिपुष्ट्या दिस्सति तदा तथाऽसक्तचित्तस्य पूर्वार्द्धप्रार्थितं  
सख्यं न भूयादिति विशेष्य निषेधस्योत्तरार्द्धेन प्रार्थनेति प्रकरणवशेनात्र वाक्यद्वयाद्वाङ्मोक्षोप-  
पत्त्वान् तत्र नोपपत्तिरिति न सौधः किन्त्वयमेव साधीयानिति ।

[ २५ ] सिद्धमाहुः—तथा चेत्यादि । “वैष्णवत्वं हि सद्भजमि”ति पुष्टिप्रवाहमर्कादायां  
पौष्टिकानां सामान्यलक्षणात्तादृश, “न कर्मबन्धनं जन्मे”तिपाद्यात्तद्व्यतिरेकेण केवला  
“अविद्याकामकर्मभिरितिवाक्योक्तप्रमणसाधककामकर्मासंस्तृष्टा या क्रीडासाधिका भगवन्माया,  
तथा गृहे गृहाभ्रम एव “पश्यन्ति ते म” इत्यत्रोक्तरीत्या तदनुभवत्, “सुष्ट्या चिमिथाः  
सर्वज्ञा” इति तेषां विशेषलक्षणात्सर्वं भगवद्देशयपर्यन्तं जानन् भगवद्दीयः “यावन्न मयि ते  
श्रीबलभट्टि०—

वत्त्वम् । प्रकृतेऽर्थात् क्रीडेव प्रार्थ्यत इति तद्वाप्यबाधकविरोधाच्च तज्जनितासक्तिनिषेधप्रार्थना । तेन त्वन्माय-  
याऽऽसक्तचित्तस्य ममात्मादिषु सख्यं भूयादितरमायासक्तचित्तस्य लोकवदिति श्लोकाः पर्यवस्यति । तथा  
चेति । लोके कर्मसंबन्धमन्तरा पुरुषार्थाननुभवत्तया तै विनाश्च तदनुभवः । “तस्मिन् दृष्टे परावर” इति

१ भा. १०, ७, ६, १२ बहिर्बलभट्ट इत्यर्थः । मदीया अप्येवं बहिर्बल भगवते इति श्लोकिनी ।

तथा गृह एव चतुर्विधपुरूपार्थसुखमनुभवन् भगवदीय इति द्वितीया मुक्तिरियमेव मुख्या, आशीरिति सर्वान्ते क्रियाप्रयोगः । हे नाथ ? मर्यादाज्ञानमोक्षो मे मा भूयादिति ॥

॥ इति श्रीमत्पञ्चरत्नकृता वृत्रासुरचतुःश्लोकीविवृतिः संपूर्णा ॥

टिप्पणी—

या तत्सन्धराहित्येन केवलं भगवन्मायया लौकिकासक्तिसन्धरहितया गृह एव लीलारूप-  
चतुर्विधपुरूपार्थसुखमनुभवन् भावप्रकारेण लोकेन्द्रातीतप्रसुखरूपेण सह सर्वलीलानुभव कुर्वन्  
भगवदीयः स्वतन्त्रमक्त इति द्वितीया पुष्टिपुष्टिमार्गीया मुक्तिरित्यर्थ ।

[ २६ ] तद्गुदाहाण तु स्वामिन्य एतानन्तस्या, एतस्यैव सकलफलमूर्द्धन्यफलत्वज्ञान-  
नायाहु—इयमेवेति । इयमेव नान्या मुख्याखिलफलेषु, आशीरिति ज्ञापनाय सर्वान्ते पद्य-  
निष्ठयन्नातनिरूपणान्ते भूयादित्याशीर्वादीयक क्रियापदप्रयोग इत्यर्थ ॥

प्रकाशः—

नाथे"तिविज्ञानिश्लोकोक्तरीत्या भगवता स्वीयत्वेन निश्चित इति द्वितीया पुष्टिपुष्टिकृता  
मुक्तिः । तथा च गृह एव तयानुभवत्वेन मर्यादापुष्ट्युक्तव्यावृत्तत्वे सति "निर्गुणो यद्वा-  
श्रय"इत्येकादशे गुणातीतकृतलक्षणाद्भगवदीयत्वेन त्रिविधलौकिककर्तृव्यावृत्तत्वं पुष्टिमिश्र-  
ष्टजीवत्वं तेषा स्वरूपं तेन रूपेण यावज्जीव स्थिति सेत्यर्थ । अत्रापि पूर्वकक्षा यादवादौ, उक्तमा  
श्रीमदुद्धवाशौ शेषा, "नोद्धेवोऽप्यपि मरुयूनो यदुणैर्नादित" इति कर्मबन्धव्यतिरेकस्य "वृक्षणाध  
मे मोहमहान्यकार" इत्यत्र "प्रसारिते सृष्टिविशुद्धये त्वये"ति भगवन्मायया देहाद्यासक्ते,  
'अयापि तद्भिमिते जानमि'ति तादृशत्वस्य स्पृष्टत्वादिति ।

[ २६ ] एव पुष्टिमार्गे द्विविध मोक्ष निश्चित्य "शुद्धाः प्रेम्णातिदुर्लभा" इत्यत्र विषा-  
रिवाता शुद्धपुष्टाना फलस्य स्वरूपस्य चेतोऽप्यधिकत्वं हृदि कृत्वा प्रकृतानामेतदन्वता शाप-  
यितुमाहु—इयमित्यादि, इयमेव, नेतोधिनेत्यर्थ ।

नन्वत्रायमेवाशय इत्यत्र किं मानमिति चेत् उच्यते । अत्र "भक्तानांगृह एव विनिष्पद्यत"  
इतिन्यायोपशेषान् वदन्नादयाने साधन भक्ति फल मोक्षस्तथापि फलदशात् साधनदर्शोचितमेति-  
कथनेन "अनिच्छतो गतिमर्षी प्रयुङ्क्त"इति मुक्तिदित्सासूचनात् । शुद्धपुष्टाना तु मुर्खान्याया-  
मपि तदनुकैरिति आनीदि । न च भक्तानामित्यस्य स्वतन्त्रभक्ताना गोपिकादितुत्यानामिति व्याख्या-  
नाः प्रेममिति शब्द, तस्य साधनदशामात्रोत्प्रेक्षापनपरत्वात् । अन्यथाफलदशाकथनविरोधापा-  
क्यात् । प्रकृतयेषु केतुमिति "ईशाश्रयभाषणं च प्रत्यापत्तिरिति प्रकाशत्तेरेकाङ्गीकारात् ।

श्रीवृद्धभट्टि—

यास्याद्भगवदीयस्य सर्वकर्मज्ञान-पुष्टयर्थ । भक्तिमार्गे हरेर्देश्यमित्याद्युक्तचतुर्विधपुष्टयार्थगुणमित्यर्थः ।  
अपे रथम् ॥

इति श्रीवृद्धभट्टिभट्टकृतश्रीवृद्धभट्टा"समोत्तमे"इत्यत्र टिप्पणी समाप्ता ॥

## टिप्पणी—

इति श्रीब्रह्मार्च्यकृतपया विनिरूपित । ममोत्तमेतिपद्यर्थव्याख्यानाथो मया मुदा ॥ १ ॥  
 मयोचितमिदं मत्ता अवलोक्य विचारितम् । मन्तु सतत श्रीमदाचार्यचरणश्रया ॥ २ ॥  
 एतत्कल तत्कृपातो भविष्यति न सशय । अतस्तदुक्तमार्गेण भननीय प्रमु सदा ॥ ३ ॥  
 स एव श्रीमदाचार्यपक्षपाती मम प्रमु । करिष्यति स्वकीयानामैहिक पारलौकिकम् ॥ ४ ॥

इति श्रीमत्प्रमुपादपयदाप्तामुदासहरिदासविरचिता  
 ममोत्तमेतिपद्यव्याकृतिटिप्पणी समाप्ता

प्रकाशः—नन्वस्त्वेव, तथापि परममहिस्वरूपे सावने तारतम्याभावात् फलमेदं  
 किंप्रयुक्तो य स्वरूप भिनचीति चेद्, उच्यते । उत्तरतन्त्रतातीयिकतृतीयपादश्रीयाऽ‘क्षरधिया  
 त्वविरोधे’ इतिमुद्रोक्तौपसदन्यायेन भगवदिच्छाभेदादेवेत्येवेहि । ततस्तेष्वपि तारतम्य धमर-  
 गीतोक्तसदेशस्वरूपाभ्यास्तद्वद् । एकादशीयद्वादशाध्यापत्या ‘न्न रोपयति मा योग’ इत्यारभ्य  
 “धारयसे ह्यकुतोपयामि” इत्यन्तात् सर्वात्मभावपूर्वकशरणोपदेशसद्वर्माश्च । तेन शर्भो हि पुष्टि-  
 मर्यादायामङ्गीकृतो न तु पुष्टिपुण्यविति “न्यासादेशे” इत्यत्र प्रमुचरणोक्ते । सात्त्विकप्रकरणो-  
 क्तानां तत्सजातीयभाववता चाद्य, राजसप्रकरणोक्तानां तादृशा चैतर, तामसप्रकरणोक्तानां  
 तु प्रसन्नचित्तैरेवेति लीलापरिकरस्य यथास्तिवत्स्य नित्यत्वमस्यामेव लीलायां सिद्धपतीति । किं  
 च पूर्वोक्तोपदेशप्रवणोत्तरमपि “सशयः शृण्वतो वाच तव योगेश्वरेश्वर । न निवर्तत आत्म  
 स्यो येन मे भ्राम्यति मन ” इतिश्रीमदुद्धवोक्तैरय भावोतिदुर्लभो भगवत्स्वरमसादादेव उच्य  
 इति च । तथापि “त्वद्भक्तियोग च महद्गुण्य” “आख्याही” इति प्रश्ने ‘भक्तियोगः पुरै-  
 वोक्त’ इति द्वादशाध्यायोक्त तत्स्वरूप स्मारयित्वा “गुण्य फययिष्यामि मङ्गलेः कारणामि”-  
 न्यादिना तदुपायकथनात्तथा तदुपायस्वज्ञानपूर्वकतत्करणेन प्रसन्नाद्भवत् एव तादृशमसादसिद्धि-  
 नैतरथेत्यादिकमालोचनीयमिति तदेतत्सर्वं हृदि श्रुत्वोपभियमेवैत्यादि । इति दिशु ।

इतिस्मिन्पुचन्द्रमुलवारिहोद्रतपुष्टिपुष्टिमन्त्रन्दत्सा ।

इति कृष्णचन्द्रकृतपया विदित पुष्टयोत्तमेन वचसा विद्वत् ॥

इति श्रीमत्प्रमुभनन्दनचरणैकतानश्रीपीताम्बरतनुजपुष्टयोत्तमकृत  
 पुष्टिमार्गयमुक्तिविवृतिप्रकाशः सपूर्णतामगात् ॥

॥ समाप्तोप ग्रन्थः ॥

१ अ० भा० सू० १ ३ ३३ अत्र वपसगालये कर्मणि एकं ताननप्रसवार्थं च औपसद् कर्मोक्ति,  
 अस्मिन् कर्मणि सर्वेषां कृत्विज्ञां ताननप्रसव समान, तथापि “अथ यत्र यथावत्पृच्छेति” इति वपसवानस्य  
 यस्मिन्नेहातिपद्य तमेव कृत्विज्ञं यजमानो ह्युच्यते न हि तत्र तजानेत् तेषु कर्म इच्छानेत् इति प्रश्न संभवति ।  
 यत्रमपि भगवदिच्छा फलमेदं इत्याद्यपि । २ भा० ११ १२ १६

## भक्तिवर्धिनी

चतुर्दशटीकाभिःसमलंकृता

- |                         |                                     |
|-------------------------|-------------------------------------|
| १. श्रीबालकृष्णानाम्    | ८. श्रीवल्लभानाम्                   |
| २. श्रीगोकुलनाथानाम्    | ९. श्रीजयगोपालभट्टानाम्             |
| ३. श्रीरघुनाथानाम्      | १०. श्रीलालुभट्टानाम्               |
| ४. श्रीकल्याणरायणाम्    | ११. केपाञ्चित्                      |
| ५. श्रीहरिरायणाम्       | १२. श्रीवल्लभात्मजश्रीबालकृष्णानाम् |
| ६. श्रीगोपेन्द्ररायणाम् | १३. श्रीगिरिघराणाम्                 |
| ७. श्रीपुण्योत्तमानाम्  | १४. श्रीद्वारकेशानाम्               |

श्रीमद्-वल्लभाचार्य-महाप्रभु-वंशावतंस-गोस्वामि श्री १००८

श्रीगोपीनाथ-महाराजश्रीत्येतेः — प्रकाशिता

प्रकाशकः

गोस्वामिश्री १००८ श्रीगोपोताथजी महाराज,  
वडा मन्दिर, श्रीजीवनजी महाराज लैन,  
भुलेदवर, बम्बई-४०० ००९, भारत.

साधारण सस्करण २००० प्रति

राज सस्करण १००० प्रति

श्रीवल्लभाब्दाः ५०३.

ग्रन्थ-परिचय लेखकः गोस्वामी इयाम मनोहर

मुद्रकः

स्टूडियो बहाद, २३-ए, मेट्रोल चोगाटी विटिडग, चोगाटी,  
बम्बई-४०० ००७.



सोवियतों 1992 सीपीईएम की हत्या



॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

## ग्रन्थ--परिचय

चौरासी बंष्णवोकी वार्ताके भावप्रकाशके अनुसार भक्तिवर्धिनी ग्रन्थ श्रीमहाप्रभुने साचोरा पुरुषोत्तम जोशीके लिए लिखा था. एक किंवदन्तीके अनुसार इस ग्रन्थका प्रणयनकाल वि. स. १५५२ माना जाता है तथा प्रणयनस्थल प्रयाग, परन्तु भावप्रकाशके अध्ययन करनेपर लगता है कि इस ग्रन्थकी रचना गुजरातके किसी गांवमें हुई होनी चाहिये

“तब एक समय श्रीआचार्यजी गुजरात पधारे. सो पुरुषोत्तम जोशी मध्याह्नके समय एक तलावपर सन्ध्या करत हुते तब श्रीआचार्यजी तलावपर पधारिके सन्ध्या-वन्दन करत लागे. सो पुरुषोत्तम जोशीकी ओर कृपा करिके देखो जानि देखे. तब पुरुषोत्तम जोशी श्रीआचार्यजीके पास आई नमस्कार करि पूछ्यो—‘महाराज ! यह कर्ममार्ग बडो के ज्ञानमार्ग बडो ?’ तब श्रीआचार्यजी कहे—‘जाके मनमें दृढ जो मारग आवे, जाके जाको विश्वास होय, वाके भाये तो वह मारग बडो, और बडो तो भक्तिमार्ग है जाके जीव कृतार्थ होई. और ज्ञानमार्ग कर्ममार्ग सो कृतार्थ कठिनतासो होई सो बाहसो निर्वाह होय नाही काहेते ? कष्ट साध्य है सो या कालमें शरीरको कष्ट बर्यो न जाई कोऊ शरीरको कष्ट सहै तो मन ठिकाने रहे ताते भक्तिमार्गमें जीव कृतार्थ होई और आश्रय नाही

“तब पुरुषोत्तम जोशीने नही जो ‘महाराज ! भक्तिको स्वरूप कहा, कृपा करिके कहिये ।’ तब श्रीआचार्यजी कहे— ‘भक्तिको स्वरूप वर्णन करिये तो पार आवे नाही परन्तु कष्टुच तोको कहत हो’ तब ‘भक्तिवर्धिनी’ ग्रन्थ करि प्यारह श्लोक पुरुषोत्तम जोशीको सुनाये सो यह उत्तम अधिकारी है, ताते सगरो बोध हो गयो.”

इस तरह भक्तिवर्धिनी पुरुषोत्तम जोशीके हृदयमें भक्तिवर्धनार्थ लिखी गई थी, गुजरातमें ही कही पुरुषोत्तम जोशीके गांवमें इसके उपदेशके बाद पुरुषोत्तम जोशी सपत्नीक श्रीमहाप्रभुके अनुयायी हुए, और अख्यावृत होकर अपने घरमें कृष्णमेवामे तत्पर होगये—“सा दोऊ जन प्रीतिमो सेवा करत लागे पाछे श्रीआचार्यजी द्वारिका पधारे सो पुरुषोत्तम जोशीने बहोन दिन सेवा बरी भगवद्भावमें मगन रहने-अख्यावृत होई रहे काहूके आगे अपने हृदयको भाव प्रकट न बरने”

## कर्म-ज्ञान-भक्ति

भगवद्-गीताके तीसरे अध्यायमें अर्जुन भी भगवान्‌में ये ही प्रश्न कर बैठ था कि ज्ञानयोग यदि श्रेष्ठ है तो कर्मकी क्या आवश्यकता है, और कर्म यदि आवश्यक है तो फिर ज्ञानयोग किस अर्थमें श्रेष्ठ है. भगवान्‌ने वहाँ अर्जुनको समझाया है कि कर्मोंके अनारम्भ या त्यागके कारण ज्ञानयोग श्रेष्ठ नहीं बन जाता क्योंकि फलासक्ति-रहित कर्म अर्थात् निष्काम-कर्म भी इस दृष्टिसे ज्ञानयोगसे मिलते लाभोको देनेमें सक्षम है कर्मके फलोमें आसक्ति बनी रही तो ज्ञानमार्गीय साधकके नैष्कर्म्यका भी अपने-आपमें कोई मूल्य नहीं है. कर्मके फलोके आकर्षणके रहने हुए कर्मका त्याग निरा पाखण्ड है.

भगवान्‌ कहते हैं कि उन्हें, आत्माराम-आप्तकाम होनेपर भी, कर्मत्यागके बजाय लोकसंग्रहार्थ ही सही पर कर्म अधिक सुहाता है. कोई भी ज्ञानी स्वयम् परमात्मासे अधिक निष्काम या आप्तकाम हो नहीं सकता फिर ज्ञानयोगके नामपर कर्मत्यागकी क्या आवश्यकता है !

ज्ञानयोगी हो अथवा कर्मयोगी दोनोंको ही स्वधर्म-स्वकर्मका अनुष्ठान फलासक्तिके बिना करना चाहिये क्योंकि परधर्मका भलीभाँति अनुष्ठान भी स्वधर्मके बिन-भली-भाँति किये गये अनुष्ठानसे श्रेष्ठ नहीं है अर्जुनने इस सन्दर्भमें एक महत्वपूर्ण प्रश्न, भगवान्‌के समक्ष उपस्थापित किया है वह पूछता है कि स्वधर्म-पालनकी जब इतनी अधिक महत्ता है तब ध्यर्थं लोप कभी स्वधर्मके त्यागद्वारा तो कभी परधर्मके अनुष्ठानद्वारा पापाचरण क्यों करने है ?

भगवान्‌ने इस प्रश्नका विलक्षण उत्तर दिया है कि स्वधर्मत्याग अथवा परधर्माचरण के द्वारा मनुष्य पापीको बढोरता रहता है, अपने काम और क्रोध के बशीभूत होकर ज्ञानियोकी ज्ञानाग्नि भी बहुधा कामके धुएँ धिर जाती है काम ही ज्ञानियोका चिरशत्रु होता है

भगवान्‌की बात बड़ी अटपटी लगती है कि क्यों केवल ज्ञानमार्गीय साधक ही कामनाओका शिकार बनता है, कर्ममार्गीय या भक्तिमार्गीय साधक क्यों नहीं ? कामनाओका आकर्षण तो सभी मार्गके साधकोमें प्रारम्भमें तो रहता ही है या कमसे कम रह सकता है ! परन्तु थोड़ा ध्यानमें देखनेपर पता चलेगा कि हमारी ममता और अहन्ता का ही अदम्य विस्फोट क्रमशः काम और क्रोधके रूपमें होता है. अतएव भगवान्‌ कहते हैं— "काम एव क्रोध एव रजोगुणसमुद्भव महारानो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्" हमारी अहन्ता हमारे रजोगुणका साथ पाकर हमारे भीतर क्रोधके रोगका रूप धारण कर लेती है इसी तरह हमारी ममता हमारे रजोगुणका साथ पाकर हमारे भीतर कामके रोगका रूप धारण कर लेती है.

इन काम तथा क्रोधके रूपोंमें हमारी ममता तथा अहन्ता के राजस विस्फोटसे घ्वस्त होती साधकोकी साधनाकी सुरक्षाके उपायरूप अनेक मार्ग प्रवृत्त हुए हैं.

(१) बुद्धने आत्मचेतनाको काम-क्रोधके आवेगोंसे बचानेके लिए इनकी बीजभूत अहंता और ममता कोही तोड़ देनेका उपाय सुझाया था एतदर्थ अनात्मवादपर आधारित 'नाहम्' की भावना तथा विज्ञानवादपर आधारित 'न मम'की भावना को जगानेपर भार दिया गया मानो हमारी चेतनामें अहंता और ममता की ग्रन्थियोंमें यदि क्रोध और कामके व्रण हो गये हो तो उन्हें रक्षानेके वजाय इन ग्रन्थियोंकी ही शल्यचिकित्सा कर दी गई, वैदिक शास्त्रोंको यह शल्यकर्म सभी स्थितियोंमें मान्य नहीं था अतः बुद्धसे पूर्व ही कर्मयोग ज्ञानयोग एवम् भक्तियोग की प्रणालियोंमें अन्य अघोर एवम् अक्लिष्ट चिकित्सा इनकी सोची गई

(२) कर्मयोगकी प्रणालीमें अहंताको तोड़नेकी परवाह किये बिना ममताको विभिन्न देवताओंमें जोड़नेकी चिकित्सा-प्रणाली अपनायी गई है - 'अग्नये स्वाहा अग्नये इदं न मम— सूर्याय स्वाहा सूर्याय इदं न मम' इत्यादि "वित्तं च मे पुत्रं च मे पशुश्व मे" की ममतामयी सकाम-कर्म-वृत्ति वाले साधकोंकी ममताको - 'देवतायै इदं न मम' की प्रणालीद्वारा निष्काम-कर्मकी ओर कर्मयोग आये बढ़ाना चाहता है स्वयम्के उपभोगसे पूर्व देवताओंके यजनकी आवश्यकता है, अतएव कर्मयोगके निरूपणमें गीता हमें समझाती है

"कर्म किये बिना कोई रह नहीं पायेगा, अपनी प्रकृतिके अनुरूप विवश होकर कुछ न कुछ कर्म तो सभीको करने ही पड़गे ऐसी स्थितिमें कर्मन्द्रियोंको सयत करनेके पापण्डमें विमूढ़ साधक अपने असयत मनको इन्द्रियायोंके चिन्तनमें डुबा देते हैं, जबकि सच्ची विराष्टता तो मनसे इन्द्रियोंको सयत करके कर्मन्द्रियोंसे आतन्त्रित-रहित कर्मयोगको करते रहनेमें है। अतएव नियत कर्मोंको करते रहना उत्तम है, उन्हें त्याग देनेके वजाय, सर्वथा कर्मत्याग करनेपर तो शरीरयात्रा भी नहीं निभ पापगी और फिर इस लोकमें वे ही कर्म बन्धनरूप माने गये हैं, जिनका अनुष्ठान यज्ञकर्मके रूपमें नहीं होता अतः यज्ञार्थ किया गया कर्म तो असगभावमें करते ही रहना चाहिये, प्रजापतिने भी प्रजाकी सृष्टि यज्ञके साध ही की है अतः यज्ञ ही हमारी सारी कामनाओंको अर्थात् पूर्ण करता है हम यज्ञके द्वारा देवताओंको देनेकी वस्तु उन्हें देनी चाहिये और यज्ञभावित देवगणों जा हमें मित्रता चाहिये वह हमें दोगे इसी भादानुप्रदानमें हमारा परमश्रेय रहा हुआ है जो देवताओंने हमें दिया है उमम में जो उन्हें देन लायक है उसे दिये बिना जब हम अपने उरगगम लेने है ता हम चार वन जाने हैं अतएव यज्ञके बाद बची हुई वस्तुओंके उपभोगकी जीवनप्रणालीमें पापस्पृश नहीं होता है फिर भी जो बबल अपने लिए पकाने है और खाने है, वे अन्नना नहीं प्रत्युत पात्रता ही भक्षण करते हैं"

इस विस्तृत उद्धरणके अन्तर्गतमें स्पष्ट हो जाता है कि कर्मयोग हमारी अहंता-

की परवाह अधिक नहीं करना चाहता किन्तु ममताको मार्गदर्शन देना चाहता है ममतामें रचे-भचे मनुष्य अपने उपभोगसे पूर्व यदि थोड़ी सी धीरज धरके देवताओंको लिए "इद न मम" कहना सीख पायें तो निष्कामताके मार्गपर आगे बढ़ा जा सकेगा यही निष्काम-कर्म अन्तमें आत्मसुख या शाश्वत स्वर्गका सुख प्रदान करेगा. परन्तु अहन्ताकी उपेक्षाके कारण इस कर्ममार्गमें प्रारम्भिक साधनावस्थामें अहन्ता और राजसगुण के साहचर्यसे पनपे क्रोधकी सम्भावना पदे-पदे रहती है कर्मयोग ममताको ही स्वस्थ बनाता है

(३) ज्ञानमार्ग अत अहन्ताकी चिकित्सा— उन्में स्वस्थ बनानेका प्रयास है कर्म-योगमें जैसे ममताको देवताओंसे जोड़ा गया था इसी तरह ज्ञानयोगमें हमारी अहन्ताको ब्रह्मके साथ जोड़नेका प्रयास करना पड़ता है—“योहमस्मि ब्रह्माहमस्मि अहमस्मि ब्रह्माहमस्मि अहमेवाह मा जुहोमि स्वाहा” अर्थ मैं जो कुछ हूँ—मैं ब्रह्म ही हूँ हा, मैं हूँ— मैं ब्रह्म हूँ मैं ही मैं भेरा होम (ब्रह्ममें) करता हूँ.

कर्मयोग जैसे प्रारम्भमें—“पुत्र च मे वित्त च मे” की कामनाओंमें धिरे सवाम कर्मकर्ताको निष्काम-कर्मकी ऊर्ध्वपर उठानेके लिए “इद न मम” में प्रसिद्धित करता है वहा यज्ञाग्निमें अपनी ममताकी आहूति देनी पड़ती है वैसे ही ज्ञान-योग ब्रह्माग्निमें अपनी अहन्ताकी आहूति देना विखलाता है. ज्ञानयोग हमारे अहकारकी चिकित्सा है ध्यान रहे कि ‘अहम्’ की आहूति ब्रह्माग्निमें देनी है— अपने अहकार-की घघकती ज्वालाओंमें ब्रह्मकी आहूति ज्ञानयोग नहीं है ।

वाक्य उद्देश्य-विषयभाव-घटित होता है जैसे “गाय प्राणी है” वाक्यमें ‘गाय’ उद्देश्य है और ‘प्राणी’ विषय है. इसी तरह “अहं ब्रह्मास्मि” में ‘अहम्’ उद्देश्य है और ‘ब्रह्म’ विषय है अतएव अहमास्पद जीवात्माको ब्रह्म मानना वास्तविक ब्रह्मबोध है, तथा व्यापक अशी परमात्माके साथ अशरूप जीवात्माकी अहन्ताको सर्वे परिप्रेक्ष्यमें देखना है. ब्रह्मको उद्देश्य मानकर अहकारको विधाय बनाना सभी प्राणियोंको गाय माननेके जैसी त्रुटी है ब्रह्म तो त्वकारात्पद भी है—“तत्त्वमसि” में और इत्कारात्पद भी है—“सर्वं खलु इदं ब्रह्म” में प्राणी तो गाय हाथी और घोड़ा आदि अनेक प्रकारके होते हैं अत सभी प्राणियोंको गाय माननेकी जैसी त्रुटी यद्यत्को अहमास्पद माननेवाले बर बैठते हैं अशीको अहम् नहीं कहा जा सकता है क्योंकि वह त्वम् भी है और इदम् भी अहम्को किन्तु अश होनेके कारण अशी ब्रह्म कहा जा सकता है वापके जैसा बेटेका चेहरा होता है बेटेके जैसा चापका नहीं ।

अतएव श्रीशंकराचार्य कहते हैं कि लहरोको ‘समुद्रकी लहरे’ कहना चाहिये— समुद्रको ‘लहरोवाला समुद्र’ नहीं (सामुद्रा हि तरग ववचन समुद्रस्तारग इति). विनारोपर पट्टच बर लहर अपनी आहूति समुद्रमें दे देती है पर भला कभी समुद्रकी आहूति किसी लहरमें दी जा सकती है क्या ?

ज्ञानमार्गी अहंताकी चिकित्सापर भार देता है— ब्रह्मके साथ अपनी अहंताकी जोड़कर उसे स्वस्थ बनाना चाहता है परन्तु इस प्रणालीमें ममताकी उपेक्षा हो जाती है और उसी ममताके विकृत होनेपर ज्ञानीके ज्ञानमें कामके व्रण प्रकट हो जाते हैं। ममताकी छोड़कर केवल अहंताको ब्रह्मके साथ जोड़नेका प्रयास ज्ञानमार्ग है सफल होनेपर ब्रह्मानन्दकी उपलब्धि होती है और विफल होनेपर 'अहं ब्रह्मास्मि' का उद्देश्य विषेयमें बदल जाता है प्रायः ज्ञानमार्गीय विविदिपुके 'अहं ब्रह्मास्मि' के जपमें ब्रह्मके बजाय अहम्पर भार आजाता है और इस महावानयका अर्थ बदल जाता है।

कभी विफल ज्ञानमार्गीय साधककी उपेक्षित ममता ज्ञानमार्गपर दोड़ते हुए साधककी रजोगुणकी गोधूलीकी वेलामे शिष्येयणा जैसी कामनाआका रूपधारण कर मोहपाशमें बाध लेती है अतएव भगवान् कहते हैं— "सदृश चेटले स्वस्था प्रवृत्तेर्ज्ञानवानपि प्रवृत्तिर्यान्ति भूतानि निग्रहं किं करिष्यन्ति ?"

ये दोनों ही मार्ग, कर्मयोग और ज्ञानयोग के, यात्राकी सफलतापर मुश्किलतक पहुँचानेवाले मार्ग हैं, पर अहंता और ममता में से एक ही किसीको स्वस्थ करनेके ये अपूर्ण प्रयास होनेसे हमारे काम और क्रोध के रोगीकी पूर्ण चिकित्सा नहीं करते भक्तियोग ही हमारी अहंता-ममताको पूर्णतया स्वस्थ रखनेकी एकमात्र चिकित्साप्रणाली है— अकठोर मृदु पूर्ण एवम् भयरहित।

(४) 'भक्ति' शब्द भज + क्तिन् को जोड़ने पर बनता है 'भज धातुकी प्रकृतिका अर्थ है सेवा 'क्तिन्' प्रत्ययका अर्थ होता है प्रेम अतः 'भक्ति' शब्दका कुल अर्थ होता है प्रेमके साथ की जानेवाली सेवा

यह भक्ति हमारी अहंता-ममताको पूर्ण चिकित्सा है शरणागत पुष्टिजीवकी भगवत्सेवामें लगाकर यह उसकी अहंताकी भगवान्के साथ जोड़ देती है— 'मोहम्' की प्रक्रियासे नहीं किन्तु 'दातोहम्' की प्रक्रियामें सेवा मचाईमें हम उसीकी कर सकन है जिसके मामले हमारा अहंकार मुक्त जाये पुष्टिप्रभु दजाधिप श्रीकृष्णके सम्मुख आने अहंकारको 'श्रीकृष्ण शरणमम' कह कर अथवा 'दातोहं कृष्णस्तव' कह कर झुका देना पुष्टिभक्त या पुष्टिभक्ति ही प्रकृतिक निहित अर्थ है अहंकारके झुकने ही तनकी भी झुकना पड़ेगा अतएव मिदान्धमुक्ताबलीमें तनुक्तिवा सेवा तथा मिदान्धरहस्यमें सर्वममपण की बात समझा कर चतुःश्लोकीम द्रजाधिके भजनका ही स्वधर्म माना गया है

हमारी ममताके श्रीकृष्णके साथ जुड़नेकी वात चित्तकी कृष्णप्रवणताके रूपमें सिद्धान्त-  
मुखनावलीमें समझायी गई है. चतुर्दशोकीमें श्रीकृष्णके प्रति अपनी ममताको मोड़नेकी  
क्रियाको ही पुष्टिमार्गीय काम कहा गया है. वही काम- वही कृष्णदर्शन- कामना 'भक्ति'  
शब्दमें 'कितन्' प्रत्ययका अर्थ है.

चतुर्दशोकीमें भजन और स्मरण के निरन्तर चक्रकी तरह चल पड़नेकी क्रियाको मोक्ष  
माना गया है (स्मरण भजन चापि न त्याग्यविति मति). अपरोक्षमें भजन या काविकी  
सेवा हमारी अहन्ताके कृष्णसे जुड़नेकी निशानी है परोक्षमें स्मरण या हमारे चित्तकी  
कृष्ण-सन्मयता हमारी ममताके कृष्णसे जुड़नेकी निशानी है. पुष्टिभक्त न तो अपनी अहन्ता  
या ममता को देह या विषयो म मुक्त छोड़ता है, और न उन्हें तोड़ता ही है  
क्योंकि तोड़ना आवश्यक नहीं है पुष्टिभक्त अपनी अहन्ता एवम् ममता को ब्रज्राधिय  
श्रीकृष्णके साथ जोड़ता है जिस दिन—जिस क्षण ये दोनों भलीभांति श्रीकृष्णके साथ  
जुड़ जाती है, उनी दिन पुष्टिजीव मुक्त हो जाता है इससे अधिक और कोई मतलब  
मुक्तिका पुष्टिजीवने लिए नहीं होता.

हमारी अस्वस्थ अहन्ता-ममताकी क्लेशरहित, सम्पूर्ण एवम् शुभ चिकित्सा भक्ति  
है अतएव श्रीमहाप्रभु पुरुषोत्तम जोशीको समझाया था कि "ज्ञानमार्ग अहं कर्म-  
मार्ग सो कृतार्थ नञिनतामो होई. ताते भक्तिमार्गमें जीव कृतार्थ होई और आयण  
नाही."

जब भक्ति ही हमारे नसार-रोगकी पूर्ण चिकित्सा है तो भक्तिरसायनके अनु-  
पानको ही क्यों न बढ़ाया जाये ! वस्तुतः तो भक्तिको औपयोगी मानना भी भक्तिकी  
पूर्ण महत्ताका विवरण नहीं है क्योंकि भक्ति पुष्टिजीवके लिए औपयोगी कहीं अधिक  
स्वयम् स्वास्थ्य ही है परमात्माने प्रति जीवात्माकी भक्ति न होना जीवात्माने अस्वा-  
स्थ्यका लक्षण है पुष्टिप्रभु ब्रज्राधिय श्रीकृष्णके प्रति पुष्टिजीवका पुष्टिभक्तिके भावन  
रहित होना भी उसकी अस्वस्थताका लक्षण है गीताके छठे अध्यायकी समाप्तिपर  
अतएव भगवान् भी कहते हैं— "मुझे कर्ममार्गीय ज्ञानमार्गीय तपस्वी माधवीमे जो योषी  
हैं वे अधिक मान्य लगते हैं. योगियों में भी श्रद्धापूर्वक जो अपनी अनन्तरात्माका मेरे  
साथ जोड़ करके भेग भजन करते हैं वे मुझे सभीमें युक्ततम लगते हैं"

इस जगत्में आहार-विहारकी जिन अनियमितताओंके कारण हम अपनी अहन्ता-  
ममताको अस्वस्थ बना लेते हैं, उनसे बचनेके लिए श्रीमहाप्रभुका स्वारस्यबर्धक  
उपदेश 'भक्तिवर्धिनी'को सुनना समझना और हृदयमें धारण करना अत्यावश्यक है  
भगवान्के अनुग्रहके कल्पतरुमें लिपट कर ऊपर उठनेवाली भक्ति-कल्पवृक्षाकी  
वृद्धिके उपायोंको जानना अतः आवश्यक है

भक्ति उम जीवात्माने प्रकट होती है जिसका भगवान् भक्तिके लिए वरण करते  
है अपनी भक्तिके हेतु परमात्माद्वारा किया गया जीवात्माने वरण जीवात्माने

बीजभावके रूपमें सर्वदा विद्यमान रहता है सत्सग गुरुकृपा या शास्त्रतात्पर्य-निर्णय के अनुकूल वातावरणमें कभी वह अकुरित हो पाता है और कभी नहीं धीप्रभुचरण कहते हैं कि स्वयम् परमात्मा इस एकान्तभक्ति या प्रजभक्ति के बीजको बोता है— सत्सग एगम् गुरुकृपा के जलमें उसे सींचता है— अपन अनुग्रह कल्पतरुका सहारा देकर उसे ऊपर उठाता है— उसपर उगनेवाले पुष्प-फलोंकी रक्षा भी एक सावधान मालीकी तरह वह स्वयम् ही करता है— तब इस भक्ति-कल्पतरुका नष्ट होना या मुरझा जाना, उसे कैसे पसन्द आयेगा ? अतः पुष्टिभक्तिका बीजभाव अनश्वर बीज-भाव है जन्म-ज-मन्तो तक यह नष्ट नहीं होता एक एक जन्म ऋतुचक्रकी तरह आते और जाते रहते हैं— किसी ऋतुमें किसी लतापर फूल खिलते हैं और किसी ऋतुमें नहीं इसी तरह भक्तिका बीजभाव भी किसी जन्ममें प्रमदने रूपमें अकुरित हो पाता है और किसी जन्ममें नहीं.

भक्तिकी यह कल्पलता बढ़कर इतनी सघन हो जाये— पुष्टिके कल्पतरुके इन्द्र-गिदं इतनी फूल जाये कि दोनोंके पल्लवोंको पृथक् करना कठिन हो जाये— पुष्टिकल्प-तरु और भक्तिकल्पलता के पल्लव परस्पर मिलकर पुष्टिभक्तिके रूपमें दिखलाई देने लग जायें— ऐसा उपाय श्रीमहाप्रभु हमें दिखलाना चाहते हैं लता जब वृक्षपर भलीभांति दृढ़तासे लिपट जाती है— फूल जाती है— तब उसके नष्ट होने या मुरझा जाने का भय कम हो जाता है इसे ही 'बीजभाष की दृढ़ता' कहा गया है

दृढ़ बीजभाव तथा अदृढ़ बीजभाव वाले जीवोंके लिए भक्तिकी फलात्मिका वृद्धिके उपाय :

अपनी प्रेमतेवात्मिका भक्तिके हेतु परमात्माद्वारा समारोपित वरगना बीजभाव जिन जीवात्माओंमें दृढ़ हो जाता है वे तो निश्चय ध्वषण-कीर्तनकी प्रणालीसे भी भगवान्की मानसी सेवामें सर्वदा मग्न रह सकने हैं. अतः एमें भक्त गृहत्याग भी कर सकते हैं परन्तु जिन भक्तोंका बीजभाव ही दृढ़ न हो उन्हें गृहत्याग नहीं करना चाहिये, प्रत्युत अपने घरमें रहते हुए ही भगवत्सेवा तथा भगवत्कृपा में अपने-आपका तत्पर बनाना चाहिये तभी बीजभाव दृढ़ होगा

भक्तिमें तीन भेद होते हैं

- १) भगवत्स्वरूपका बाह्य भजन
- २) भगवत्स्वरूपका आन्तर भजन
- ३) भगवत्प्राप्तात्मर भागवतका ध्वषण-चिन्तन-नीर्जन

बाह्याभ्यन्तरभेदेन रूपे भेदद्वय मतम् ।

नाग्नि चैव तत्तत्रया भक्तिमार्गो निरूपित ॥

त्रिसुखा बीजभाव दृढ़ हो गया हो अर्थात् पुष्टिभक्ति भाव-प्रमदने रूपमें अकुरित, भगवदात्मिके रूपमें पल्लवित तथा भगवद्-ध्वषणने रूपमें फलित होने लग गई हो ता

ऐसे भक्तको भगवद्-ध्यानके स्वभाववशा ही भगवान्‌के विरहकी तीव्र अनुभूतिमें सिद्धान्तमुक्तावलीमें वर्णित मानसी सेवा अर्थात् भगवत्स्वरूपका आन्तर भजन सिद्ध हो जाता है और एक कदम आगे बढ़नेपर सर्वात्मभावके सिद्ध होनेपर आसक्तिभ्रम-न्यायसे सभी इन्द्रियोका भगवान्‌में विनियोग भी निश्चय हो जाता है ऐसे भक्तोंके लिए सर्वत्र भगवद्-भाव प्रकट हो जाता है घर और बाहर का भेद लुप्त हो जाता है— वे घरमें बँठे हुएहो या बाहर, उनके मन और उनकीसभी इन्द्रियों से निरन्तर भगवान्‌की अनुभूति चलती रहती है फलस्वरूप आसकरणदासजी (दृष्टव्य २५२ वार्ता) की तरह उनका घरमें रहना अनिवार्य नहीं रह जाता है वे गृहत्याग कर सकते हैं— भगवत्सलीलाओका श्रवण, भगवान्‌के स्वरूप, गुण एवम् लीलाओकी भावना तथा उनके कीर्तन की मस्तीमें, या कभी भगवद् विरहके तीव्रतामें ऐसे भक्त कब घरको छोड़कर बाहर निकल जाते हैं यह उन्हें स्वयम् भी मालूम नहीं पड़ता । (विरहानुभवार्थं तु परित्याग प्रशस्यते सन्ध्याम-निर्णय)

सर्वनिर्णय—निर्बंधमें श्रीमहाप्रभु कहते हैं कि केवल श्रीकृष्णको ही अपना स्वामी मानकर—आन्तर और बाह्य रूपमें सभी बातोंका त्याग कर— श्रीकृष्णके विभूतिरूप सभी देवताओका सन्मान करते हुए— देहपातपर्यन्त केवल श्रीकृष्णमें ही अपने मनको जो एकाग्र कर पाते हैं— उनकी वाणीका और कायाका श्रीकृष्णमें विनियोग हो पाये या नहीं— उनके मनकी एकाग्रता स्नेहमयी बन पाये या नहीं— उन्हें श्रीकृष्णम सायुज्यका लाभ अवश्य ही मिल जाता है पर भगवत्प्रेमके प्रबल प्रवाहके कारण दारा-आगार-पुत्र आप्त-प्राण वित्त-आदिमें जिनकी ममताकी दीवार ढह जाती है और जो स्वयम् भी उस प्रबल प्रवाहके बेगसे परके बाहर फिक्र जाने हैं— ऐसे भक्त व्यसनदशाके परग-भावोकी भँवरोमें धिर जानेसे पुन पुन डूबते और उभरते रहते हैं ! करोड़ो भक्तोंम कभी-कभी एकद ही कोई ऐसा कृष्णव्यसनी बन पाता है ।

बीजभावकी ऐसी दृढ़ताके अभावमें गृहत्याग श्रेयस्कर नहीं होता अतः पहले बीजभावके दृढ़ होने तक धीरज रखनी चाहिये

त्याग और वैराग्य भगवदनुरागकी तीव्रताके कारण प्रकट होते हो तो उन्हें स्वस्थ एवम् सरस मानना चाहिये अन्यथा ससारमें केवल दोषदृष्टिके कारण जो वैराग्य पनपता है वह नीरस एवम् शुष्क, अतएव अस्वस्थ भी होता है ऐसे अस्वस्थ वैराग्य-वशा व्यर्थ ही किसी भी वस्तुका त्याग कर देनेके वजाय उसे भगवान्‌को समर्पित कर देना चाहिये हमारी अहंता और ममता के विषयोंको त्यागनेके वजाय उन्हें श्रीकृष्णको समर्पित कर श्रीकृष्णकी सेवाम उपयोग लानेवायेका बीजभाव दृढ़ हो सकता है अतएव श्रीमहाप्रभु कहते हैं कि अव्यावृत्त होकर स्वगृहमें स्वयम्-भगवत्सेवा तथा भगवत्कथामय जीवनयापन करनेवालेका बीजभाव दृढ़ होता है “बीजदाढघंप्रकारस्सु गृहे स्थित्वा स्वयमेत अव्यावृत्तो भजेन् कृष्ण पूजया श्रवणादिभि”



स्वगृहमे स्वधर्म-भगवत्सेवाके विषयमे शास्त्रार्थं प्रकरणमे एक विलक्षण वात श्रीमहा-  
 प्रभुने समझायो है कि ब्रह्मानन्दकी प्राप्तिके लिए मोक्षकी चाहनासे भक्ति करनेवालोंको  
 यह समझना चाहिये कि साध्य मोक्षके बजाय साधन भक्ति अधिक श्रेष्ठ है जो जीव  
 मूक्त होते हैं वे देहेन्द्रियादिके सघातको छोड़कर ही मूक्त हो पाते हैं - उनकी केवल  
 आत्मा ही परमात्मासे लीम हो पाती है, जबकि भक्तोंके तो देह इन्द्रिय प्राण अन्त करण  
 गृह परिवार आदि सभी कुछ उनके धरमे बिराजते प्रभुकी सेवामे काम आते हैं भक्तका  
 तो ससार भी ब्रह्मात्मक हो जाता है फलत जीवमुक्तिके बजाय भक्तके लिए तो भग-  
 वत्कृपाके साथ गार्हस्थ्य ही श्रेष्ठतर होता है अत वीजभाव दृढ करनेके लिए यह  
 आवश्यक है कि धरमे स्वधर्माचरणको निभाते हुए अव्यावृत्त होकर भगवद्-भजन  
 करना चाहिये

धरमे रहना है तो स्वधर्माचरणका त्याग सम्भव नहीं, पर स्वधर्मकी व्याख्या भी  
 सरल नहीं है. 'स्वधर्म' का प्रथम अर्थ होता है स्वयम्के धर्म तथा आश्रम के अनुरूप  
 यथार्थात्क शास्त्रविहित आचरण करना शक्ति रहनेपर स्वधर्माचरणमे सकोच नहीं  
 करना चाहिये क्योंकि जब तक यह देह है और इस देहमे साथ हमारी अहंता-ममता  
 जूठी हुई है, तब तक वर्णाश्रमधर्म ही स्वधर्म है— भगवद्धर्म भी विधर्म या परधर्म  
 की तरह हो जाता है जब देहाभिमान शिथिल होने लग जाये तभी भगवद्दास्य या  
 भगवत्सेवा आत्मदृष्टिसे स्वधर्म बन जाती है, तब वर्णाश्रमधर्म भी परधर्म बन जाता  
 है (सुक्ती ३-२८-२), अत इस देहाभिमान और आत्माभिमान के अति कोमल और  
 जटिल विशेकके साथ वर्णाश्रम-धर्मका निर्वाह करते हुए कृष्णभजनमे तत्पर रहना  
 चाहिये कृष्णभक्तिमे जैसा कि हम देख चुके हैं अहंताको स्वस्थ करनेका उपाय कायिकी  
 सेवा 'भज' धातुका अर्थ है, और ममताको रक्ष्य करनेका उपाय चित्तको कृष्णप्रेम-  
 प्रवण बनाना है तदनु रूप अपरोक्षमे पूजा कायाकी भजनमे लगानेकी प्रक्रिया है और  
 परोक्षमे श्रवण चिन्तन-कीर्तन मनको भजनमे लगानेकी प्रक्रिया है

सोहेकी दृढताके विना कायामे प्रेमसेवा न भी निभ पाये पर माहात्म्यज्ञानको  
 निभाते हुए पूजा तो निर्भाई जा सकती है पुष्टिप्रवाह्मर्पादाग्रधमे इसी पूजाको—  
 "प्रवाहेण त्रियारता" कह कर व्यक्त किया गया है सर्वनिर्णयमे २२७ वी कारिकामे  
 लेकर २४६ वी कारिका तक भजनके इसी त्रिधापक्षका निरूपण किया गया है यही  
 "एतत्सर्वं प्रयत्नेन गृहस्यस्य प्रकीर्तितम्" कहकर गार्हस्थ्यमे इसकी आवश्यकता दिख-  
 लायी है यही २४० वी कारिकामे श्रीमहाप्रभु कहते हैं कि श्रवण-कीर्तन आदि द्वारा  
 जब हरि हृदयमे निविष्ट हो जाते हैं तभी पूजाका निर्वाह निर्ययतया सम्भव हो पाता  
 है अतएव पूजाको यदि केवल कियारूप ही न रहने देना हो तो, श्रीमद्भागवतमे  
 वर्णित भगवान्के स्वरूप गुण एवम् लीलाओंके श्रवण-भावन कीर्तनकी प्रणालीमे, उसे  
 प्रेममय बनाना होगा (प्रेम्णोऽप्यस्तापन लोवे नास्ति मुस्यं पर महत् श्रीभागवतमेवात्र पर

तस्य हि साधनम् सर्वनिर्णय) अन्यथा प्रेमरहित क्रियासे बहुधा व्यग्रता उत्पन्न होती ही है. श्रीमहाप्रभु अतएव कहते हैं—“सप्रेम इत्यनुद्वेगार्थम्” (सर्वनिर्णय २३०). भगवान्की पूजा करते समय अनन्य भाव नहीं जग पाया तो हम अव्यावृत्त होकर भजन नहीं कर पायेंगे—भक्तिके वजाय व्यर्थ ही मानसिक व्यग्रता बढ़ा लेगे.

भक्तिमार्गीय जीव अव्यावृत्त भी हो सकते हैं और व्यावृत्त भी अतः. दोनों तरहके जीवोमें भक्तिके बीजभाव की दृढ़ताके उपाय भी श्रीमहाप्रभुने दिखलाये हैं

अध्यावृत्त और व्यावृत्त अधिकारियोंकी भक्तिके बीजभावोंको दृढ़ करनेके उपाय :

सभी इन्द्रियो और मन की अहमहमिकता ('गहते मैं—पहले मैं' की उतावल) से भगवान्के कार्योंम जुट जानेकी अर्थात् सेवामें तत्पर होनेकी वृत्ति हमारी अहन्ताका भगवान्में विनियोग है एतदर्थ अनन्यभाव आवश्यक होता है 'भाव' का अर्थ होता है: हमारे अन्त करणमें निहित रुचि या अभिप्राय. वह यदि केवल भगवान्के ही वारेमें हो तो उसे 'अनन्यभाव' कहते हैं अन्यथा (१) किन्ही अन्य देवताओंके वारेमें (२) अन्य लौकिक वस्तु या व्यक्ति के वारेमें, अथवा (३) पुष्टिमार्गीय फलसे भिन्न किसी फलके वारेमें, हमारे हृदयकी रुचि या भावना के प्रबल होनेपर हमारी वृष्णभक्ति अनन्य-भावारिम्का नहीं बन पायेगी

'अनन्य भाव'वाले भक्त ही अध्यावृत्त हो पाते हैं जिनकी भक्ति अनन्यभावादिमत्वा नहीं हो पाती वे अध्यावृत्त नहीं हो पायेंगे अन्यान्य भाव हमारे देह और अन्त करण को व्यावृत्त बनाये रखेंगे — वे अपनी पूर्तिरी कामनाके भावोंका हमारे भीतर पंदा करके हमें व्यावृत्त बना देंगे — हमसे अध्यावृत्तिमय भजन सम्भव न हो पायेगा ऐसी स्थितिमें पुष्टिभक्तिमार्गपर चलनेके बुद्धिगत निर्णयके बावजूद भी हृदय इन पूर्वोक्त अनन्यभावोंकी पूर्तिके प्रयासमें यहाँ-वहाँ भटकता रहेगा — व्यावृत्त रहेगा ऐसी स्थितिमें श्रीकृष्णकी पूजा या कामिकी सेवा करते रहनेपर भी वह गेवाफलमें दिखलायी गयी — भोग, उद्वेग और प्रतिबन्धों से रहित सेवा नहीं हो पायेगी. फलम्बरूप चित्तमें वह व्यग्रता बचानेवा ही कारण बनेगी

श्रीमहाप्रभु आज्ञा करते हैं कि पूर्वोक्त देवान्तर, पदार्थान्तर, मार्गान्तर या फलान्तर के कारण जिनके देह और अन्तकरण बाह्य और आन्तर रूपमें व्यावृत्त न हो ऐसे जीवोंको भगवत्पूजा और भगवत्कथा दोनोंमें ही तत्पर रहना चाहिये पर जिनके देह या अन्त करण किसी न किसी तरह व्यावृत्त हो उन्हें वृष्णसेवाका अनुष्ठान सहमा प्रारम्भ नहीं करना चाहिये प्रारम्भमें केवल भगवत्कथाके श्रवण चिन्तन एवम् बीर्जन की प्रणालीमें चित्तको अनन्यभाव-युक्त अध्यावृत्त बनाता चाहिये (. भावान्तरम-हित्वा या स हि देवान्तरविषय पदार्थान्तरविषय. मार्गान्तरविषयो वा तत्सहभावीय निर्विघ्ने फलभावश्च. सुवो. ३-२५-२२) इस सुवोपिनीकी भागवतकारिकामें

भक्तिका स्वरूप यो दिखलाया गया है :

मद्यतन्येन भावेन भक्ति कुर्वन्ति ये दृढाम् ।  
मरुते त्यक्तकर्माणिस्त्वक्तस्वजनवाग्धवा ॥  
मदाश्रया कथामृष्टा शृण्वन्ति कथयन्ति च ।

त एते साधव माध्व । सर्वसगविद्विजिता ।  
संगस्नेप्वथ ते प्रार्थ्यं मगदीपहरा हिते ॥

(भाग २।२५।२२-२४)

व्याख्या जो भगवान्‌में अतन्त्रभाव रखते हुए भगवान्‌की दृढ भक्ति करते हैं, जिन्होंने आलस्यवश नहीं किन्तु भगवदर्थ वेदादिशास्त्रोक्त अलौकिक कर्मोंका तथा लौकिक स्वजन-दान्यवोंका त्याग कर दिया है, ऐसे भक्तोंकी सगति करनी चाहिये निरन्तर भगवत्सेवा अथवा भगवत्स्मरण में सभी कर्म तथा सम्बन्ध बाधक बनते हैं—अतन्त्रभावम कुछ न कुछ बाधा पहुँचाते ही हैं अतः इनमें व्यावृत्त हुए बिना पूजा-श्रवणादिमें तत्पर होना चाहिये सभी अधिकारियोंम किन्तु ऐसी स्वरूपासक्ति सम्भव नहीं है फलतः कथासक्ति— भगवान्‌के स्वरूप गुण एवम् लीलाओं के श्रवण और कथन में आसक्ति— जिनकी दृढ हो एंगोंका सत्सग करना चाहिये ऐसे भगवदीयोंक सत्सगमें— उनके मुखमें कथाश्रवण करनेसे तथा स्वयम् भी चिन्तन-कीर्तन करनेसे लौकिक विषयोंस समता हटकर भगवान्‌में जुड़ पायेगी

अतएव श्रीमहाप्रभु कहते हैं कि जो व्यावृत्त है उन्हें स्वरूपभजनके वजाय नाम-भजनम प्रयुक्त होना चाहिये इसी श्रवण-चिन्तन-कीर्तनकी प्रणालीद्वारा उनका बीज-भाव प्रेम-आसक्ति व्यसनकी अवस्थाओंमें विकसित हो पायेगा

बीजभावकी दृढ हुआ तभी समझना चाहिये जब हमारे देह और अन्त करण भी व्यावृत्ति देवतान्तर पदार्थान्तर मार्गान्तर एवम् फलान्तर के वारिम न्यूनमें न्यूनतर होती हुई सर्वथा समाप्त हो जाये परमें भगवत्सेवा जिनमें नहीं निभ पाती परन्तु भगवत्कथाके श्रवण-भावन-कीर्तनकी प्रणालीसे जो अपनी भक्तिके बीजभावको दृढ करनेके लिए आगे बढ़ते हैं, उन्हें इस यात्राम में कोशस्थम्भ (milestone) जनि भक्तिके मागपर मिलेगे

(क) जब बीजभाव भगवत्सेनेहने रूपमें अङ्कुरित हो जाता है तब गृहस्थका अपने घर-परिवारम रहा अनुराग खतम हो जाता है यह अवस्था बड़ा विलक्षण है, भगवान्‌में अनुराग बढ़ने लगा तो भगवद्-भक्तिमें अनुपयोगी प्रत्येक वस्तुमें पर-परिवार आदिमें अनुराग घटने लगेगा.

जो व्यावृत्त हाकर अपने घरमें भगवत्सेवायें निराम करने हैं उनका अनुराग नष्ट होना आवश्यक नहीं है क्योंकि उनका घर उनकी अहंता-ममताकी मन्तुष्ट करने

लिए नहीं होता प्रत्युत भगवत्सेवाका स्थल - भगवन्मन्दिर ही होता है. उनका परिवार भी सांसारिक ममताके बन्धनमें बंधा हुआ नहीं होता प्रत्युत भगवत्सेवा करनेवाले विभिन्न सेवकोंका भक्तिके बन्धनमें बंधा हुआ परिवार होता है अतः बीजभाव प्रेमात्मना बहुरिक्त होता है पर दूसरी ओर रागविनाश नहीं होता.

(ख) भगवत्कथामार्गसे बीजभावको दृढ़ करनेकी दिशामें आगे बढ़नेवाले यात्रीको द्वितीय श्रोत्रस्तम्भ भगवदासक्तिका मिलेगा जैसे ही भगवदासक्ति सिद्ध हुई कि अपने घर-परिवारमें जो अनुराग खण्डित हुआ था वह अब घर-परिवारमें अश्विका रूप धारण करने लगेगा भगवदासक्त भक्तको यह प्रतीत होने लगेगा कि मेरे घर और परिवार न केवल मेरी कृष्णमन्दिमें अनुपयोगी हैं बल्कि ये मेरी कृष्णासक्तिमें किसी न किमी तरह बाधा पहुंचानेवाले हैं. वस यही मनोभाव उत्तममें अपने घर-परिवारके प्रति अश्वि जमा देता है अभी तक अपने घर और घरमें रहनेवाले जिन माता-पिता पति-पत्नी पुत्र-पुत्री या बन्धु-बान्धवों को वह अपना मान बैठा था अब उसे लगेगा कि ये मेरे सगे नहीं है. क्योंकि श्रीकृष्णके प्रति मेरे हृदयकी आसक्तिमें ये अपना हिस्सा बांटना चाहते हैं. प्रत्येक सदस्य अपने परिवारके दूसरे सदस्यकी अपनेमें स्वाभाविकतया आमन्त्रित चाहता ही है. यही माग भगवदासक्त भक्तको अश्विकर लगने लगती है

परन्तु अपने घरमें कृष्णसेवा करनेवाले भक्तमें भगवदासक्ति तो प्रकट होती है पर घर-परिवारमें अश्वि प्रकट होनेका कोई कारण नहीं होता.

(ग) तीसरा श्रोत्रस्तम्भ भगवत्कथा-प्रणालीसे भक्तिमार्गपर आगे बढ़नेवाले यात्रीको व्यसनदशाका मिलता है. यहा तक पहुंचनेवाले भक्तकी दशा बड़ी विकल हो जाती है. अब वह भगवान्के बिना एक क्षण भी रह नहीं सकता. भगवान्के स्वरूपका चिन्तन करता हुआ, भगवान्के गुणोंका स्मरण करता हुआ तथा भगवान्की विविध लीलाओंके मनोरमपर सवार भक्तका मन अब अपने भक्तिके पथपर लेशमात्र रुकावट या व्यवधान सहन नहीं कर पाता. वह असहिष्णु बन जाता है. उसे श्रीकृष्णका व्यसन हो गया समझ लेना चाहिये !

यही वह अवस्था है जहा पहुंचते ही भक्तको यह समझमें आ जाता है कि "गृहस्थितरेत्कृष्टं न भगवदोपस्वमात्रेण चिन्तु भगवता सह स्थित्या भगवत्कार्यार्थं वा अन्यथा न स्थातध्यम्" अर्थ स्वयम्का भगवदीय होना घरमें रहनेका स्वस्थ हेतु नहीं है, चिन्तु भगवान्के साथ रहना अथवा भगवत्सेवार्थ रहना ही उत्कृष्ट हेतु है, अन्यथा गृहयाग ही उचित होता है (सुबो. ३।१।२). एकदिन अचानक भक्तके अन्त करणमें ऐसी आवाज आनी शुरू होती है - फिर तो स्वयम् उभे भी पता नहीं चलता कि वह कब घरके बाहर हो गया ! इस अन्दर उठती आवाजको अनमुनी करनेमें वह समय हो पाये तो समझ लो कि वह अटक गया या भक्तिपथसे वहीं भटक गया है ! अतएव श्रीमहाप्रभु कहते हैं - "तादृशास्यापि सततं गेहस्थान विनाशक त्याग कृत्वा यत्नेद् यस्तु

तदर्थार्थिकमानस लभते मुदृढा भक्ति सर्वतोम्यधिका पराम्'।

कथाप्रणालीसे व्यसनभाव सिद्ध होते ही घरसे बाहर निकल जाना श्रेयस्कर होता है अन्यथा व्यसनदशासे पालित होनेवाला बीजभाव भी सर्वात्मभाव या अलौकिक सामर्थ्य में परिणत नहीं हो पायेगा. ऐसे घरमें रहनेसे क्या लाभ जो कृष्णभक्तिका अंग न हो ?

यह गृहपरित्याग कृष्णव्यसनके आवेशमें कृष्णके विरहके कारण होनेवाला परित्याग है. जगतमें पैदा हुई दोषदृष्टिके कारण किया गया अस्वस्थ नीरस-शुष्क त्याग नहीं, किन्तु श्रीकृष्णमें वृद्धिगत हुई प्रेमदृष्टिसे विवश होकर किया गया सरस प्रेमपूर्ण स्वस्थ त्याग है. सर्वनिर्णयमें इस गृहत्यागके बाद एकाकी निस्पृह शांति-भावसे—कहो हके बिना— देहपालनपर्यन्त निरन्तर तीर्थाटनका जम थीमहाप्रभुने समझाया है. यात्रा तीर्थोंकी करनी है न तो मृष्यकी खोजमें और न मोक्षकी खोजमें ही किन्तु श्रीकृष्णकी खोजमें—“कृष्ण एव तात्पर्यं न तु तीर्थादो देहपालनपर्यन्तं च पर्यटनम्”।

प्रेमके इस कठिन त्यागमार्गपर जो चलनेका साहस नहीं जुटा पाते परन्तु घरमें निकल पड़नेकी जितनी तैयारी हो ऐसे भक्तोंको सहसा दुःसाहस नहीं करनेकी सलाह थीमहाप्रभु देते हैं.

इस त्यागमार्गपर चलते हुए जरा सूँचे कि भक्तिहीन गृहस्थसे भी अधिक नीचे गिर पड़नेकी भीति रहती है गृहस्थमें तो पुत्रपणा वित्तपणा या लोभपणा के दोष रह सकते हैं परन्तु त्यागीमें कहीं ससारी जीवोंके ससर्गसे निर्वापणा जग गई तो मारा त्याग चीरट हो जायेगा । पुत्र वित्त और लोक तीनोंकी वासना शिष्यसग्रहकी वासनामें मूढभ्रमत्या त्रिगुणित हो जाती है ।।

घरसे बाहर निकलनेके बाद भी त्यागी भक्तका समगं तो ससारी और भगवद्बिगुण साक के साथ टूट नहीं पायेगा भगवान्का अनिर्वेदिन अन्न अथवा पशुचमहापन्न न करनेवाले गृहस्थका अन्न खाकर अन्नदोषवत् ही भय पातकी सम्भावना अधिक रहती है अतः सर्वथा अमग और अपरिग्रह होनेके साथ जब तक व्यसनदशा प्राप्त न हो तब तक त्याग श्रयस्कर नहीं होता. केवल भगवत्प्राप्तिकी कामना हृदयमें रहे और मारी कामनाय नि शेष हो जायें तभी त्यागमार्गपर आरोहण करना चाहिये.

स्वगृहत्याग और हरिगृहवास

कथाप्रणालीद्वारा प्रेमात्मिकव्यसनकी शक्ति प्रवृत्त्याशामें जब बीजभाव दृढ़ हो रहा हो और घरमें भगवत्संवादा निवृत्ति पाकर न हो तब ऐसे घरमें रह पाना मंग-वशीमके लिए अनवश हो जाता है पर भक्तिमार्गीय मन्वागपहन करनेके लिए भी यदि भक्त अपने-आपकी समर्थ न पाता हो तो क्या करना चाहिये ?

श्रीमहाप्रभु कहते हैं कि ऐसे व्यक्ति को ऐसे हरि-स्वानुपर जाकर बस जाना चाहिये जहाँ भगवत्सेवापरायण भक्तगण निवास करते हैं ( उदाहरणतया ब्रज, चोरासी बैठन, नाथद्वारा, जगदीश, श्रीरंग, पदरपुर, द्वारका, निरुपति इत्यादि). इन भगवत्सेवापरायण भक्तोंकी सेवायं परिचर्या अर्थात् सहायक बननेका अवसर मिले तो सबसे अच्छी बात है अन्यथा इनके सत्सङ्गका लाभ तो लेना ही चाहिये १

इन भगवदीयोंके साथ रहनेका तात्पर्य यही है कि जब वे भगवत्सेवायं रत हो तो हम भी उनको भगवत्सेवायं सहायक बन कर कुछ भगवत्परिचर्या कर पायें मेवासे वहिरण साधनोको सम्पादित करनेमें उन्हें सहयोग दे पायें और इस तरह तनका सेवामें विनियोग हो. यह सिद्धान्तमुक्तावलीमें वर्णित तनुजा-सेवा नहीं है, यह तो एक पुष्टि-मार्गीय सम्बन्धम बंधनेवाले एक व्यापक परिवारकी भावना है एक परिवारमें निता भगवत्सेवा-अंतरंग-सेवाम परायण हो तो पुत्र भगवत्परिचर्यामें वहिरणसेवामें परायण होता है परन्तु सेवा करती हा तो पतिको परिचर्या करनी चाहिये इसी तरह जन्मना एक परिवारमें न भी हां पर पुष्टिमार्गमें जिन दो भक्तोंको एक परिवारकी तरह साथ रहना हो ता एक अपन घरमें विराजमान प्रभुकी अन्तरंगसेवामें तत्पर रहे और दूसरा वहिरणसेवामें यह अनुज्ञा श्रीमहाप्रभु देना चाहते हैं साथमें भगवत्सेवा करगे तो साथमें भगवत्प्रसाद भी लिया जा सकता है यह अति उदात्त भावनापर अवलम्बित होता है सवैतनिक तनुजासेवा अथवा उदरपूतिके हेतुमें नहीं वह तो सिद्धान्तमुक्तावलीमें ही वर्णित किया जा चुका है

इसमें एक सावधानी किन्तु अपेक्षित है कि न तो इतने अधिक समीप जाना चाहिये किमीके कि एककी दूसरेके दोष दिखलायी देने लग और न इतने दूर ही रहना चाहिये कि एक भगवदीय द्वारा की जाती भगवत्सेवा या भगवत्कथा के लाभसे दूसरा भगवदीय बंधा वञ्चित ही रह जाये (अदूरे विप्रकर्ष वा पथा बन्धन न दुष्यति)

अपने घरकी छोड़कर निकल जानवाला भक्त भी इस तरह भगवत्सेवापरायण भगवदीयोंके साथ उनके हरिगृहमें वास करते हुए यदि भगवत्सेवा और भगवत्कथा को निभा पाता है तो कभी उसका भार नहीं होगा यदि एक भगवदीयकी दूसरे भगवदीयव साथ इतनी घनिष्ठता न भी पनवे कि दोनों साथ मिलजुलकर भगवत्सेवा कर पाय तो भी दोनों साथ मिलकर भगवत्कथा तो कर सकते ही है इस तरह यदि अपने घरकी छोड़ दिया हो पर दु सङ्गमें वचना हो तो पुष्टिमार्गीय अन्य भगवदीयका मत्सङ्ग प्राप्त

१ मूलत गोस्वामी धर्माचार्योंकी गृहसेवामें जो मुखिया भोलरिया, जलघरिवा आदि भगवत्सेवाने सहायोगी देखे जाते हैं वे इसी तरहके अपने घरको छोड़कर परिचर्यायं आनवाते महा प्रायदान भगवदीय होते थे- सवैतनिक कर्मचारी नहीं अपण्ड इन्हें भगवत्प्रसादी जन्म करके देवकी लालन परिचाटी थी-वेतन नहीं बालकपमें वह विवृत होकर तनुजासेवायं परिणत हो गई

## EDITORS' NOTE.

---

भक्तिचरितं is the twelfth of the Sixteen Sacred Books of श्रीमद्भक्तिसारं It is the foundation of भक्तिमार्ग, and it clearly shows the means by which भक्ति towards God may be increased and strengthened. Nothing is said here about the मुक्त्यर्थी, for his अधिपत्य is strong enough to lead him to final realisation; the मय्यम अधिचारी has to resort to त्याग and उद्वेगवीक्षण after his बोधभाव : e love towards God, which is produced only by His grace has been strengthened into भागवित्त and स्वप्न. Such a स्वप्नी, who cannot live without God, should leave worldly surroundings, and realise His separation unobstructed. Such a मय्य is referred to in विशेष दृष्ट्य and his state is described in मदनो कुरवा... अन्वानीति निश्चयि It is for such a मय्य, that in संन्यासनिर्णय it is said विरहात्मकार्यं तु परिलग्नो प्रवसति His वाचन is nothing else but भारो नावनना हि For the हृदि अधिचारी—and almost all the people of the modern times should be included in this category—the method of strengthening the बोधभाव : e, the divine love which is the gift of His Grace, is as follows —He must stay in गृहस्थाश्रम, observe वर्णधर्मधर्म, give up worldly pursuits and worship कृष्ण by पूजा, प्रवण &c Even if he cannot give up worldly pursuits on account of poverty &c, he must concentrate his mind in हृदि, the remover of all pains, and always try for प्रवण &c, till the बोध germinates, and प्रेम, भावक्ति and स्वप्न are produced The test of divine love is सत्कारणता, the test of divine भावक्ति is यदादि, all the people in the house look like hindrances—nay, strangers. The test of स्वप्न is the inability to live without Divine Presence, अदिना स्वात्मवक्ति Even such a स्वप्नी or विरहात्म should not constantly stay at home, because it is a prison, full of many fetters

The ज्ञान stated above is not easy, it is full of obstacles due to दु संसर्ग and दुष्टात् Hence it is better to stay in a हृदिस्थान, in the company of भक्त, who are wholly engrossed in serving the Lord There also the aspirant should stay near or distant, in such a way that his चित्त is not spoiled श्रीवैष्णवार्थ says that he who is wholly engrossed in सेवा or कथा till his life will never perish.

## EDITORS' NOTE

If one is really anxious to go to God, he will learn much from this *ग्रन्थ*. The fourteen commentaries that we have been able to collect and publish show the various aspects from which we can look at it. Of each of the first eight commentaries we had three to five copies, and from the ninth we had only one copy of each. Of श्रीकृष्णचरणजी's commentary we had got a mss written by his illustrious son श्रीहरियजी of श्रीपुरवोत्तमजी's we had a mss corrected by himself in his own hand writing, and of 10, 11, 12 and 13, we had the original mss written by the authors themselves.

A large collection of these commentaries we got from Pandit Gattulala's Library and we are grateful to the departed Pandit for his vast and varied collection of mss. Some mss we were able to get from the Bhandarkar Research Institute for which we are thankful to Dr S K Belvalkar. Shri Vallabhalalji son of Shri Devkinandanaji also gave us some mss and we acknowledge our gratefulness to him. Lastly some important original mss Mr Telivala was able to collect while on tour at श्रीनाथद्वार कोटा काकरोली &c.

We note with pleasure the help that we have received in the preparation of press copies of some of these mss from Messrs Gopaldas Jhalani B A of Ujjain Dhirajlal Kashinath Pandya of Anand Chandulal C Shah Becharadas Maganlal and Purushottamdas Tribhuvandas of Nadiad. This work is printed from the funds supplied by निखलीदास गोसावगी श्रीजीवनलालजी of पोखरदर and his son श्रीरमठोडलालजी and our sincere thanks are due to them.

With feelings of joy we offer this fruit of our labour of love at the Lotus Feet of Ford Shri Krishna

BOMBAY }  
March 1921 }

MULACHANDRA T TELIVALA  
DHIRAJLAL V SANKALIA





## प्रस्तावना.

सेवाकलादि बौद्धश्रद्धांनी बाळा ते अभाराद्वारा प्रकट थाय छे तेना आश्रयदाता श्रीसुदा भयुरीस्थ श्रीमद्गोस्वामि श्रीछवनवावळ गत श्रावणवृक्षु नवमी-वदमहोत्सवने दिवसे नित्यदीक्षाया पधार्था छे, अने तेथी सांप्रदायिक विद्याकार्यने महान् अद्याय थयो छे श्रीछवनवावळतु प्राकृत्य श्रीमद्गोकुलमा सवत् १८१६ मार्गशीर्ष शुद्ध नयोदशीने दिवसे थयु हतुं आपथीनो उपनयनसंस्कार श्रीजगन्नाथलमा थयो हतो सवत् १८३५थी आपथी पोरणदर पधार्था अने निवास त्यांज करीं त्दारथी आपथी पोरणदरवाळा श्रीछवनवावळ जे नामथी सांप्रदायमा प्रसिद्ध थया पंडित गदवाक्षमा सपईथी विद्यामा अभिरुचि राधनारा त्रयु गो स्वाभी महाराजे थया १ ठिकेते श्रीगोवर्धनवावळ, २ श्रीदेवडीनन्दनवावळ, ३ श्रीछवनवावळ आ त्रयुमा श्रीदेवडीनन्दनल नित्यवीचया त्रयम पधार्था श्रीदेवडीनन्दनलनो विद्यानुराग अपेक्षित रीते सांप्रदायिक न थयो अने तेथी जनमनोरंजन करीने यद्यपि महती धनसंपत्ति तथा फीनि संपादन करी तोपणु आपथीना छवनमा सांप्रदायिक नोध तेवा नेतु विद्याकार्य जेक पणु न थयु जेज्योथीना बावळ श्रीवक्षववावळ जे नूनता हूर करे जे स्यू दक्षीय छे ठिकेतेथीनो विद्यानुराग वैकल्प्य छे, परन्तु राणकार्यनी षट्पटमा आचार्यथी तरीकेतु प्रधान कर्तव्य-सांप्रदायिक विद्यातु रक्षयु-तेमा अपेक्षित ध्यान अद्यापिपर्यंत जेज्योथी आपथी शक्या नथी त्याना आश्रित नूनी वैखिना कुडी दृष्टिवाया अने देशकान नदि सभजनारा अने सांप्रदायिक साहित्यना रक्षयु गोरव अपरिचयथी नदि अनुभवनारा पडिते वळे असे आ परिष्कारमा जेसभदार छे श्रीछवनवावळनो विद्यानुराग न्यारथी बीजरूपे रीपायो त्दारथी नित्यवीचया पधार्था त्यासुधी वृक्षादिकूपे वृद्धिगत शतोज गयो आपथीमा विद्यानी परीक्षा करवानी अने उर्ध्व देवानी शक्ति हती आज्ज उरलुथी आपथीजे छगनशास्त्री तथा वावशास्त्रीने आश्रय आभ्यो हतो छगनवाव शास्त्री साये आपथी श्रीसुभोधिन्त्यादिनु वाचन करता जेटकुं न नदि, परन्तु सभयोचित जेटवाक धन्यो गुर्जर लापाभा वभावी प्रसिद्ध करान्या वावशास्त्री साये पणु आपथी श्रीसुभोधिनीलनु वाचन नियमश करत, अने अन्न समये शास्त्री हरिकृष्णने येताना आश्रयमा राथीने आपथीजे श्रीसुभोधिनीलनु वाचन प्रवचन नित्यदीक्षामा पधार्था त्यासुधी सतत व्याहं राधु

महाराजश्रीनी व्यावहारिक कार्य करवानी कुशलता पणु वणु हनी आज्ज उरलुथी आ पथी निज तनुज श्रीरजुछोडवावळने मदती समृद्धि वारस्यामा संपी गथा छे, अने त सत्रधी चिन्ताभाथी मुज करी गथा छे श्रीरजुछोडवावळजे पणु निजपितृश्रवणुना नाम तद्वीष्ट र कथ साहित्य समेत श्रीसुभोधिनीलनी प्रसिद्धि करवानी सकथ कथां छे ते अत्यंत बोध छे जेना नेवु स्मारक अथ थु जेध शके ।

મહારાજશ્રીનુ કાર્યકોશાય અસાધારણ હજુ એટલુજ નહિ પરન્તુ સમયોચિત રીતે કાર્ય કરતા હતા હયાનન્દાદિના મોહથી લોકોને ઉપનયનાદિનો મોહ થતો આ મોહથી તે લોકો માર્ગમાથી ભ્રષ્ટ ન થાય તેથી આપશ્રીએ ઘણા વૈઘ્ણવોને ઉપનયનસંસ્કાર કરાવ્યા આ શ્રીની ઉદારતા ખજી ઘણી હતી પ્રત્યેક જે એઓશ્રીના સબધમાં આવતું તેનો આપશ્રી તદુચિત રીતે સતકારાદિ કરતા આ મકારે અનેક રીતે આપશ્રીનુ જગન્મલકર્તૃત્વ તેમને સ્ફુરતું

મહારાજશ્રીની કાર્ય કરવાની દૃઢતા પણ પ્રશસનીય હતી જ્યારે આપશ્રીએ મને યોકસ શ્રેયોની સકલ સાદિલ સમેત પ્રકટ કરવાની સેવા સોંપી, તે સમયે સપ્રદાયના અન્ય પડિ-તોએ તેમ નહિ કરવાને આપશ્રીને નૃત્યવેલું 'ખીલઓ તરફથી એ કાર્ય થાય છે, તેમા વચમા પકડુ નહિ, આ લોકો તો વખિરુ છે, તેમને એ કાર્ય સોંપાય નહિ' વગેરે વગેરે ઘણી રીતે મહારાજશ્રીને સમભવવામા આવેલા પણ એઓશ્રીની દૃઢતા તથા પ્રભુકૃપાથી અન્ને એ સેવા અમારાદારા થઇ, અન્ને અમને જાણીને સતોષ થાય છે કે ઉકા પરિતો પણ અમારા કાર્યથી પ્રસન્ન થયા છે આર્ટિસ્ટ પારે તૈયાર કરાવીને આપશ્રીનુ ચિત્ર ચાત્ર ધર્યું છે-

### ગ્રન્થાદિસંગ્રહ.

- ૧ પ્રથમ ટીકા શ્રીમહાસ્વાર્થપીઠ શ્રીમહાભાસ્કૃષ્ણજી-શ્રીમદ્વિદુલ્લેશ્વરના તૃતીય કુમારની છે. આ ટીકાના ત્રણ પ્રતિ પ્રાપ્ત થઇ હતી એક પડિત ગદ્વાલાના સમ્રાજમાથી અને બીજી જે યાત્રમાથી અમને મળી હતી
- ૨ દ્વિતીય ટીકા શ્રીશ્રીવલ્લભ-શ્રીગોકુલેશ-શ્રીગુસાઈજીના ચતુર્થ લાલજીની છે આ ટીકાની ચાર પ્રતિ મળી હતી-જે પ ગદ્વાલાના સમ્રાજમાથી, એક શ્રીવલ્લભલાલજીના સમ્રાજમાથી, અને એક ભાગરકર રિસર્ચ ઇન્સ્ટીટ્યુટમાથી
- ૩ તૃતીય ટીકા શ્રીરઘુનાથજી-શ્રીગુસાઈજીના-પચમ પુત્રની છે આની ત્રણ પ્રતિઓ પ ગ લાલાના સમ્રાજમાથી મળી હતી, અને જે યાત્રમાથી
- ૪ ચતુર્થ ટીકા શ્રીગુસાઈજીના પોત્ર શ્રીકલ્યાણુરાયજીની છે આ ટીકાની ચાર પ્રતિ મળી છે આમાથી એક તો શ્રીહરિરાયજીના નિજ શ્રીહસ્તાક્ષરમા લખેલી છે
- ૫ પચમ ટીકા શ્રીહરિરાયજીની છે આ કારિકાતમક ટીકાની પાચ પ્રતિ મળી છે ત્રણ પ ગદ્વાલાની સમ્રાજમાની છે, એક શ્રીવલ્લભલાલજીની છે, અને એક યાત્રમાથી અમને પ્રાપ્ત થઈ છે
- ૬ ષષ ટીકા શ્રીહરિરાયજીના લાઈ શિક્ષાપત્રવાવા શ્રીગોપેશ્વરજીની છે આની જે પ્રતિ યાત્ર માથી અમને પ્રાપ્ત થઈ છે
- ૭ સપ્તમ ટીકા શ્રીપુરુષોત્તમજીની છે આ ટીકાની પાચ પ્રતિ મળી છે ત્રણ પ ગદ્વા લાના સમ્રાજમાથી, એક શ્રીવલ્લભલાલજીથી, અને એક નડીયાદમાથી પ્રાપ્ત થઈ છે આમા એક શ્રીપુરુષોત્તમજીના નિજશ્રી હસ્તાક્ષરમા શોધેલી છે એઓશ્રીનો પરિચય પૂર્વ પ્રકટિત અન્નોમા કરાવ્યો છે આ ટીકામા છાપેલ ટિપ્પણુ યોગેશ્રી શ્રીગોપેશ્વરજીના શ્રીહસ્તાક્ષરમા લખેલુ છે
- ૮ અષ્ટમ ટીકા કાકા શ્રીવલ્લભજીની છે એઓશ્રીનો પરિચય પૂર્વ પ્રકટિત અન્નોમા કરાવ્યો છે આની પ ચ પ્રતિ મળી છે જે યાત્રમાથી અમને ત્રણ પ ગ લાલામાથી
- ૯ નવમ ટીકા મહાપતિ જ્યોત્ષ્ણોપાસજીની છે પરિચય એમનો સેવાક્રમમા કરાવ્યો છે. આની એકજ પ્રતિ યાત્રમાથી પ્રાપ્ત થઈ છે

- ૧૦ દશમ ટીકા દીક્ષિત લાલુભટ્ટની છે આની એક પ્રતિ યાત્રામાથી પ્રાપ્ત થઇ છે આ મૂલ પ્રતિ હોય એમ લાગે છે, લાલુભટ્ટનો પરિચય સેવાકલમા કરાવ્યો છે
- ૧૧ નવમી વિવૃતિ ભાઠારકર રિસર્ચ ઇન્સ્ટીટ્યુટમાથી મળી છે મૂલ જ પ્રતિ હોય એમ લાગે છે ટીકાકાર કોઈ ગોસ્વામી મહારાજ હોય એમ લાગે છે
- ૧૨ દ્વાદશ ટીકા શ્રીવલ્લભાદિત્ય શ્રીઆલકૃષ્ણજીની છે આ પલુ મૂલજ પ્રતિ છે આ પ્રતિ યાત્રામાથી અમને પ્રાપ્ત થઈ છે
- ૧૩ ત્રયોદશ ટીકા કોની છે તે અજ્ઞાત છે એ પુસ્તક ઉપર શ્રીગિરિધરજી નામ છે તેથી શ્રીગિરિધરકૃત એમ કહ્યું છે આ ગોસ્વામી શ્રીકાકરોનીમાં થયલા હોવાથી તેમ ગૃહના કોઇ ગુણ ઇજીની આ ટીકા હોવાનો સંભવ છે આ પુસ્તક પલુ મૂલ જ છે કદાચિત્ આણંદની એકકવાળા શ્રીવિદ્યાનાથજી આના કર્તા હોય
- ૧૪ ચતુર્દશ ટીકા કોની છે તે પલુ અજ્ઞાત છે શ્રીદ્વારકેશજી નામ કલ્પનાથી મુદ્દે છે આ પ્રત અશુદ્ધ તથા તદિત છે ૫ જ લાલાના સચ્ચદમાથી મળી છે અશરતિ શોધી છે ગોપાલદાસ જાવાની ધી એ ચદુલાલ ધીરજીલ ન પછા બેચરદાસ પુરુષોત્તમદાસા દિનો લિખનમાં ઉપકાર થયો છે લખિવધિનીનો સાર અન્તે અગ્રેલમા આપેનો છે ઉપર જલાવેલા સર્વનો અમે ઉપકાર માનીએ છીએ શ્રીલલનવાલજી તથા એઓશ્રીના લાલજી શ્રીરણીએડલાજી સાહાય્ય મુજા કંઠે સ્વીકારીએ છીએ અને શ્રીમત્રમુચરજીકમલમા આ ર થને સમર્પીએ છીએ

મુંબઈ ૧૨ ૬૭  
દોલોતસવ

મૂનચન્દ્ર તેલીવાલા  
ધર્મવાલ સાકલીયા.



श्रीकृष्णाय नमः ।

# भक्तिवर्धिनी ।

श्रीमद्वल्लभाचार्यप्रणीता ।

यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात्तथोपायो निरूप्यते ।  
बीजभावे दृढे तु स्यात्त्यागाच्छ्रवणकीर्तनात् ॥ १ ॥  
बीजदार्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः ।  
अन्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः ॥ २ ॥  
व्यावृत्तोपि हरौ चित्तं श्रवणादौ न्यसेत्सदा ।  
ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवेत् ॥ ३ ॥  
बीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यन्नापि नश्यति ।  
लेहाद्भागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद्गृहाक्षयिः ॥ ४ ॥  
गृहस्थानां बाधकत्वमनात्मत्वं च भासते ।  
यदा स्याद्व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदेव हि ॥ ५ ॥  
तादृशस्यापि सततं गृहस्थानं विनाशकम् ।  
त्यागं कृत्वा यत्नेयस्तु तदर्थायैकमानसः ॥ ६ ॥  
लभते सुदृढां भक्तिं सर्वतोभ्यधिकां पराम् ।  
त्यागे बाधकभूयस्त्वं दुःसंसर्गात्तथाज्ञतः ॥ ७ ॥  
अतः स्वयं हरिस्थानं तदीयैः सह तत्परैः ।  
अद्वैत विप्रकर्षे वा यथा चित्तं न द्रुष्यति ॥ ८ ॥  
सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेत् ।  
यावज्जीवं तस्य नाशो न कापीति मतिर्मम ॥ ९ ॥  
बाधसंभायनायां तु नैकान्ते वास हृष्यते ।  
हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः ॥ १० ॥  
इत्थं भगवच्छास्त्रं गृहं तत्त्वं निरूपितम् ।  
य एतत्समधीयीत तस्यापि स्याद्दृढा रतिः ॥ ११ ॥  
इति श्रीमद्वल्लभाचार्यप्रकटिता भक्तिवर्धिनी समाप्ता ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

# भक्तिवर्धिनी ।

श्रीमद्बालकृष्णकृतविवृतिसमेता ।

रत्यन्ते स्नेदविन्दुश्रितमुखकमलस्तामवष्टभ्य जाता  
निःस्पन्दः श्रान्तियुक्तो मलयजपवनासेवितः पुष्पतल्पे ॥

श्रीराधावक्रपद्माद्भुतमधुचिरतःपानधूर्णायमानो-

द्रिक्तः खेहार्द्रदृष्टिः प्रतिफलतु दृशोः शीघ्रमेव व्रजेशः ॥ १ ॥

इह खलु स्नेनैव साक्षाद्भगवते निवेदितात् भक्त्यङ्कुरितचित्तान् सर्वान् भक्तिप्रवृद्ध्य-  
र्थमुपायानभिज्ञान् परमकृपया तानुपायानाचार्या उपदिशन्ति यथा भक्तिरिति ।

यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात्तथोपायो निरूप्यते ।

बीजभावे दृढे तु स्याद्यागाच्छ्रवणकीर्तनात् ॥ १ ॥

येन प्रकारेण भक्तिः प्रवृद्धा स्यात्, प्रकर्षणैधमानोत्तरोत्तरं भगवति स्याद्, यस्या न  
कदाचिदपि हासः । एतादृशस्तत्प्रवृद्धतुकूल उपायो निरूप्यते नितरामुच्यते । यत्प्रकारक-  
निरूपणानन्तरं न कोऽप्युपायस्तिदृष्टव्यः । एवं प्रतिज्ञां कृत्वा दृढं बीजभावं तत्र प्रथमं  
भक्तिप्रवृद्धौ हेतुमाहुः बीजेति । भक्तिकल्पतरुप्रवृद्धिकारणभावो बीजभावः । अनुग्रहो-  
त्तरकालीनभाव इति यावत् । यद्वा । बीजपदं सत्पुरुषपरम् । तस्मिन्यो भावो भगवत्त्वेन  
भावः । 'आचार्यं मां विजानीयात्' 'अविद्यो वा सविद्यो वे'त्यादिवाक्यैः । स यदा वक्ष्य-  
माणसाधनैर्दृढो भवति, तदा सा तथा भवति । भयवा, बीजपदेन भगवानेवोच्यते । त-  
स्मिन्तस्य तथात्वे सा तथा भवति । ननु बीजभावोत्पत्त्यानुग्रह एव हेतुरित्यत्र को हेतुः ।  
उच्यते । नहि तदुत्पत्तौ कर्म । तन्नन्यत्वेनाश्रयमाणत्वात् । नापि स्वतः । चैत्सादृष्टः  
स्यात् । नापि स्वभाववैचित्र्यं वक्तुं शक्यम् । अनुक्तत्वात् । तेन 'यमेवैष वृणुत' इति  
'यदा यमनुगृह्णाती'त्यादिवाक्यैः स एव हेतुत्वेन वाच्यः । निश्चयार्थकस्तुतार्थः । हेत्व-  
न्तरमाहुः स्यागादिति । स्यागाद्भक्तिः प्रवृद्धा स्यात् । स्यागस्तु भगवत्प्रणारविन्दप्राप्त्यर्थं  
संवासनगृहादिविस्तृतिः । केवलस्यागेनैव सा तथा न भवतीत्यत उक्तं श्रवणकीर्तना-  
दिति । प्राणिवर्जितजातिवाचित्वेनैकवद्भावः । श्रवणकीर्तनाभ्यामपि सा तथा भवति ।

एवं भक्तिप्रवृद्धौ हेतुप्रयमुक्त्वा बीजभावदाढ्यप्रकारमाहुः बीजेति ।

बीजदार्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः ।

अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः ॥ २ ॥

वीजस्य दाञ्जो यः प्रकारः स उच्यते । तुशब्दः पूर्वभेदकः । यत्स्वग्रहे खिल्ल  
 स्वधर्मतः स्वधर्मोभ्यो वर्णाश्रमधर्मोभ्यः अव्यावृत्तस्तत्सहितः सन् कृष्णं पूर्णपुरुषोत्तमं भक्त्यै-  
 काम्यं भजेत् । कैर्मन्त्रेदित्याकांक्षायामाहुः पूजयेति । कृष्णं पूजया भजेत् । पूजा त्वाग-  
 मोक्तप्रकारेणाहृणीयोपचारः । ननु पूजया भगवद्भजनं कथम् । भक्तेरेव पूजाविषयत्वात्,  
 ननु भगवतो, यतः 'भक्तियोगं स उच्यते एवं यः पूजयेत् मा'मिति भगवद्वाक्यविरोधात् ।  
 सत्यम् । अस्ति पूजाविषयत्वं भक्तेः, परन्तु मूले हि परम्पराकारणत्वामिप्रायेण पूजाव्यप-  
 देशो, न तु साक्षात् । तेन कृष्णपदं तु भक्तस्य पुरुषोत्तमगामिनी पूजापि भवतीत्यत उक्तम् ।  
 यद्वा । एवंविधनिःकामपूजाफलविषयनिर्धारार्थं कृष्णपदम् । एवं पूजया भजनं निरूप्य श्र-  
 वणादिभिरपि निरूपयन्ति श्रवणादिभिरिति । श्रवणादिभिरपि कृष्णं भजेत् । आदिपद-  
 शब्दे कीर्तनस्मरणे । तेनैतन्मार्गीयस्य श्रवणादिव्यतिरेकेण क्षणमपि न श्लेषमित्यायातम् ।

ननु सततं कृष्णभजनं कथम्, कार्यान्तरव्यासक्तेस्तत्राहुः व्यावृत्तोपीति ।

व्यावृत्तोपि हरौ चित्तं श्रवणादौ यसेत्तदा ।

ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवेत् ॥ ३ ॥

वीजं तद्बुध्यते शास्त्रे दृढं यन्नापि नश्यति ।

कार्ये व्यावृत्तो व्यासत्तोपि चेत्तदा गुरुरपदिष्टं यादृग्भगवत्स्वरूपं तत्रैव स्वस्य चित्तं  
 स्थाप्य भवेत्, अव्यावृत्तिमान् यदि भवेत्, तदा श्रवणादौ चित्तं यसेत् । यद्वा, प्रका-  
 रान्तरेणाप्यस्यावतारिका सम्भवति । तथा हि । ननु यदि स्वधर्मव्यावृत्तिरेव भजने प्रयो-  
 जिका, तदा त्वाद्यतोपदेशस्य दैववशात्प्रच्युतधर्मस्य कस्यचित्प्रयोजकामावाद्भजनसम्भवः ।  
 तथाच तत्कृतमपि सर्वं व्यर्थं स्यात्, तस्मात्प्रशाठनाद्धि पङ्क्त्यै'तिन्यायेन ग्रहणाभाव  
 एव चामिति चेत्तत्राहुः व्यावृत्तोपीति । अत्रेयं शङ्का न कार्या । यत्स्वधर्मव्यावृत्तिरेव  
 भजने प्रयोजिका । 'अपि चेत्सुदुराचार' इति भगवद्वाक्याद्भगवदीयस्य प्रच्युतधर्मस्यापि  
 भगवद्भजनस्य विहितत्वात् । परन्तु यावदारभ्य भगवद्भजनाभिनिविष्टस्ततःप्रभृति  
 तस्य दुराचाराकरणमित्यपेक्षितम् । अन्यथानन्यभाक्त्वमहत्प्रसङ्गः । दुराचारस्यापि भज-  
 नात् । तेन स्वधर्मोभ्यो व्यावृत्तोपि हरौ सर्वदुःखहर्तरी चित्तं यसेत्प्रयत्नेन स्थापयेदित्यर्थः ।  
 एतादृशस्यापि स्वधर्तेनैवान्तरायान् द्रीकृत्य स्वरूपानन्ददानं करोतीति ज्ञापनाय हरि-  
 पदम् । पूर्वं हरिपदोक्त्या मध्ये चित्तपदोक्त्यान्ते श्रवणादिपदोक्त्या देहलीदीप-  
 बद्भुमपवापि सान्धेन चित्तवृत्तिः स्थाप्येति ज्ञेयम् । एवं सततं भजने क्रियमाणे उभयवि-  
 धानामपि यदेकजातीयं फलं तदाहुः एतन्न इति । तदनन्तरमेवं भजनानन्तरमुभयविधानां  
 प्रेमोत्पत्तिर्भवति भगवति सर्वोत्तमा । तथैवासक्तिः, तद्भक्तिरेकेण स्थित्यसम्भव इति  
 यावत् । 'क्षणं युगशतमिव यासां येन विनाऽभव' इति यथा । व्यसनं तु सततमन्य-

विस्थितिपूर्वकं भगवत्परता । चः समुच्चायकः । एतन्नितयं यदा भवेत् तदा तद्दीजं  
भक्तिशब्दे दृढमुच्यते । यत्कथमपि न नश्यति ॥ ३ ॥

तन्नाशाभावप्रकारपूर्वकं स्नेहादीनां त्रयाणां प्रत्येकं फलमाहुः स्नेहादिति साधेन ।

स्नेहाद्रागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद्गृहारुचिः ॥ ४ ॥

गृहस्थानां बाधकत्वमनारम्भत्वं च भासते ।

यदा स्याद्द्वयसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हि ॥ ५ ॥

भगवति स्नेहाद्गृहविषयको यो राग उक्तटेच्छारूपस्तस्य विशेषेण नाशः स्यात् । ना-  
शपदेन पुनस्तस्यानुत्तरितिरिति ज्ञेयम् । अत एव न निवृत्त्यादिपददानम् । आसक्त्येति ।  
यदा भगवत्यासक्तिर्जाता, तदा तद्व्यतिरेकेण स्थित्यसम्भवेन तदर्थं यत्ने जाते गृहस्थाः स्वार्थं  
तं प्रेरयन्तीति तस्मिन्नरुचिः, तथा कृत्वा भगवद्भजने बाधकत्वं विघ्नकर्तृत्वं भासते, एत  
वात्मीया न भवन्तीत्यपि । यदि स्युस्तदा किं प्रतिबन्धकाः स्युरिति । व्यसनं हीति ।  
यस्मिन्काले अचिन्त्यानन्तफलदातरि कृष्णे व्यसनं स्यात्तदैव स कृतार्थः स्यात् । संशय-  
व्युदासाय हीति पदम् ॥ ४, ५ ॥

एवं त्रयाणां फलमुक्त्वा तादृशस्य कर्तव्यतामाहुः तादृशस्यापीति ।

तादृशस्यापि सततं गृहस्थानं विनाशनम् ।

त्यागं कृत्वा यतेद्यस्तु तदर्थार्थिकमानसः ॥ ६ ॥

स्नेहासक्तिव्यसनवतोपि पुरुषस्य तदनन्तरं यत्सततं सर्वदा गृहरूपं यत्स्थानं तद्विना-  
शनम् । स्नेहासक्तिव्यसनानां विनाशनमित्यर्थः । तथा सति कृतमपि सर्वं व्यर्थं स्यात् । तेन  
तत्त्यागं कृत्वा यो यतेत्यप्यत्रं कुर्यात् । एतेन मध्ये तीर्थादिकमपि गच्छेदिति सततपदेन  
ज्ञेयम् । ननु सोपि प्रयत्नो मायावादिवन्निराकार एव भवेदित्याशङ्कान्युदासापाहुः तद्-  
र्थेति । भगवद्रूपो बोधैस्तदर्थमेकं मानसं यस्य स तथा । इदं तेषां न । शून्ये एव पर्य-  
वसितमतित्वात् । 'येन्येरविन्द्राक्षे'त्यादिवाक्येन निन्दितत्वाच्च । तेषां गार्हस्थ्यपर्यवसायो  
भगवदर्थं गृहात्यागो उभयतः प्रत्युता अधःपतन्ति । तेन त्यागस्तु भगवदर्थमेव मुख्यः ।  
सोपि पूर्वमान्तरः, तस्मिन् सिद्धे ततो बाह्यतः । एकपदं सततमेतन्मार्गीयैकलभ्यपला-  
त्यके मनःस्थितिज्ञाननाय । तेनैतदतिरिक्तावतारो 'मूलसेकः शाखायामपि पर्यवसती'ति  
न्यायेन तदकरणं न विरुध्येत । तस्यां सत्यां देहव्यापृतिस्तत्रैव ॥ ६ ॥

एतादृशस्य यत्फलं तदाहुः लभते इति ।

लभते सुदृढां भक्तिं सर्वतोप्यधिकां पराम् ।

त्यागो बाधकभूयस्त्वं दुःसंसर्गात्तथान्नतः ॥ ७ ॥

य एवं त्यागं कुर्यात्स भक्तिं प्राप्नोति । एवंविधत्यागस्य भक्तिफलकत्वात् । तेन

मुक्त्यादीनामेतत्फलत्वाभावः सूचितः । तत्रापि सुदृढा अविनश्वरा । सततमेधमाना । सापि भक्तिः सर्वतो मोक्षादेरप्यधिका मुक्तानामपि दुःप्राप्या । 'भगवान् भजता'मिति वाक्येन । तत् पुष्टिरूपामपि लभते । परामिति । परामुत्कृष्टामुक्तभक्तेः । पुष्टिरूपामिति शेषः । एव त्यागफलमुत्त्वा पुनः सिंहावलोकनन्यायेन त्यागव्यवस्था वदन्ति त्यागे इति । कृत एव त्यागे न कोपि पुरुषार्थः । तस्मिन् बाधकानां भूयस्त्व बहुत्वम् । भूयासि बाधकान्युपस्थितानि भवन्ति । ततस्तः नाशयन्ति । ननु तस्मिन् सति तदुपस्थितिः कथम् ? तत्र हेतुमाहुः दुःसंसर्गादिति । तदुपस्थितिस्तु भक्तानां भगवद्भक्तविरोधिना संसर्गात् सगते । तत्संसर्गानन्तरं सोऽपि तथा भवति । तत्संसर्गेण भगवद्भक्त्यामन्तर्हितत्वात् । तथैव दुष्टान्नग्रहणे दुर्बुद्धिर्भवति । तस्य पापान्नत्वात्, आन्त्युत्पादकत्वाच्च । यथा जीवानां भगवत्सम्बन्धाभावे सदोषत्वम्, तथाज्ञस्वापीति, तत्प्रवृद्धिकामोऽसमर्पितः न भुञ्जीयादित्याशयः । उपलक्षणं चेत्तत् । वस्तुतस्तु वस्तुमात्रे तत्सम्बन्धव्यतिरेकेण तदगावः । तेन सम्बद्धैरसम्बद्धं न ग्राह्यमिति भावः । तेन यथाकथञ्चित्सम्पादितं तत्सम्बद्धं तदपि शुद्धमेव भवतीति तादृशैस्तथैव कार्यमिति भावः सूचितः । असद्भवोपासितमन्नं कृपणाद्यं च दुष्टान्नम् । तेन दुःसङ्गतिर्दुर्लभं च यत्र न भवति, तत्र सततं श्रेयम् । एतेनाट्टनाभावः सूचितः ॥ ७ ॥

तत्स्थानमेवाहुः अत इति ।

अतः स्वेषं हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परेः ।

अदूरनिप्रकर्षे वा यथा चित्तं न दृष्यति ॥ ८ ॥

यत्त उभाभ्यां तद्भयस्त्वमन एकान्ते हरिस्थाने यत्र हरिः सर्वतः तिष्ठति तत्रैव श्रेयम् । तत्राप्येवमेव जडवन्नं । किन्तु तदीयैः भगवदीयैः भगवत्सम्बन्धिभिः सह मिलित्वा । ते हि तद्भक्त्याभिज्ञा यतो भवन्ति । तेन सत्सङ्गे सति कृतार्थ एव भवति । एतेन दुःसङ्गो न भवतीत्यायातम् । दुष्टान्नप्राप्तिरपि न । तदुच्छिष्टमृगैवोपादेयत्वात् । अयमेव दासधर्मो यत् । असुखाधारोपोपि तेषु न कार्यः । यतस्ते तत्परा केवलं भगवत्परा । भगवन्तं विनान्यत्किमपि न जानन्ति । तस्मात्तेषु द्वेषादिषु सत्युः सोऽपि तत्र सहते । भक्तद्वेषादेरसद्यत्वात् । इदं तूच्यते । यस्य तत्सङ्गस्य तेषु तदारोपो भवति एव न । वस्तुस्वभावात् । तस्मिन्सति तु तथैवेति सम्भाव्यते । तदीयैः सह सेवना अदूरम् दूराभावस्य विप्रकर्षं अनिशयेनाधिक्यं यस्मिन्देहे तत्र श्रेयम् । यथाहोरात्रमध्ये वारद्वयमेकवारं वा तत्सङ्गो भवति । वेत्यन्नादेरः । यतो मुख्यं पक्षं स एव यस्मिन्नेवाश्रवणादिकं मतम् । अस्मिन्सु केवलं श्रवणादि एव । तेनायं गौणः । मुख्यामम्भवेपीदं तु कार्यमेव । अन्यथा चित्ते दोषात्प्रात्या जाग एव ॥ ८ ॥



नन्वेवं भगवदर्थं क्रियमाणयां सेवायां मध्य एव दैवशशुर्षुद्धौ जातायां नाशो-  
पस्यितौ तु तत्कृतिर्व्यर्था स्यादत आहुः सेवायां वेति ।

सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेत् ।

यावज्जीवं तस्य नाशो न क्वापीति मतिर्मम ॥ ९ ॥

यस्य सेवायामासक्तिर्भवेत्सोपि कियत्कालपर्यन्तमेव, पुनर्नैत्येवं न, किन्तु दृढा,  
सेवायां तु कश्चिदेवाधिकारी भवतीत्यत उक्तं वेति । अनेन दुर्लभत्वं निरूपितम् । तथैव  
कथायाम् । तदनन्तरं तामेव तदीयैः सह कुर्यात् । अन्यत्र मनो न निवेशयेत् । तेन मुख्यत  
इदं द्वयमेव कार्यम् । कार्यान्तरव्यावृत्त्यर्थं वेत्युक्तम् । तादृशस्य नाशो न, किन्तुतरो-  
त्तरसुन्नतिरेव । तर्हि यत्किञ्चिद्विनपर्यन्तं मा भवतु, ततस्तु कदाचिद्भवेदेवेत्याशङ्क्याहुः  
यावज्जीवमिति । स यावज्जीवति तावत्तस्य नाशो न । क्वापीति । कस्मिन्नपि देशे  
केनापि प्रकारेण न भवतीत्यर्थः । अनिशं तत्सेवाकयोद्यमे तदितरत्रानुपयोगः क्रियाशक्ते-  
र्वर्तायाश्चित्तस्यापि । अत्र प्रामाण्यार्थं स्वमतिरेव दर्शिता । मतिर्ममेति । अहं त्वेवमेव  
जानामि, यत्सेवाश्रवणादिकमेव सततं कार्यम्, यतो नाशाभावप्रकारस्त्वयमेवास्मिन्  
शास्त्रे मुख्यतया निरूप्यते ॥ ९ ॥

नन्वेवं तत्र स्थित्वा क्रियमाणयां सेवायां चेत्केनापि कृत्वा बाधसम्भवे सति किं  
कार्यं तत्राहुः बाधसम्भावनायामिति ।

बाधसंभावनायां तु नैकान्ते वास इष्यते ।

हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः ॥ १० ॥

बाधस्य सम्भावना यदा भवति सेवायां तदा त्वेकान्ते भगवत्स्थाने वासो नेष्यते ।  
न च कलहद्वेषादिनापि श्रेयम्, सेवाया एवेष्टसाधनत्वादिति वाच्यम् । एवं च प्रतिबन्ध-  
कस्य मलवत्त्वेन तदसम्भवे द्वेषादिर्मनसि स्थित्वा श्रवणाद्यसम्भवे चित्ते दोषाकान्त्या कृत-  
वैयर्थ्यापत्तिः । तस्माद्भगवदिच्छयैवं जातमिति मनसि निश्चित्य ततो निःशुल्य निश्चिन्त-  
स्तत्सम्यक् कुर्वन् तीर्थं तिष्ठति, गृहे वा । नन्वेवमेव चेद्भगवदिच्छा, तदा तु पर्य-  
वसानतो नाश एवेत्याशङ्क्याहुः हरिस्त्विति । सर्वतः सर्वेभ्यः सर्वप्रकारेण हरिस्तु रक्षां  
करिष्यतीत्येवं मनसि निर्धार्य श्रेयम् । सर्वथाश्रितानां रक्षामेव करोति । अप्रामाण्य-  
शङ्कानिवृत्त्यर्थमाहुः न संशय इति । अत्र संशयो न कार्यः । यमनुगृह्येतवास्तं पुनर्न  
त्यक्ष्यति, सत्यसद्गल्पत्वात् । इदानीमिच्छाया एव तथात्वात्सेवाऽभावः । यदि कदाचित्  
नविष्यति, तदा सापीत्यस्मिन्नर्थे न कापि चिन्ता विधेया ॥ १० ॥

एवमुपायानिरूप्य तत्फलं निरूपयन्ति इत्येवमिति ।

इत्येवं भगवच्छास्त्रं गूढतत्त्वं निरूपितम् ।

य एतत्समधीयीत तस्यापि स्याद्गुढा रतिः ॥ ११ ॥

इति भगवच्छास्त्रं मया निरूपितम् । यद्भगवत्कृपैकवेद्यम् । तत्र हेतुः । यतो भगवच्छास्त्रं भगवदीयं शास्त्रम्, एतच्छास्त्रवेदको भगवानेव, यतो नान्यः, एतदज्ञत्वात् । अन्यस्यैतदज्ञत्वे हेतुमाहुः । गूढतत्त्वं गूढं गुप्तं सर्वज्ञातं यद्भगवत्स्वरूपं तदेव तत्त्वं साग्भूतं यस्य तत्तथा । तदपि मया एवं निरूपितम् । अथ प्राक्तन्यपूर्वकं निरूपितमित्यर्थः । भक्तिमार्गजिज्ञासूनां निमित्तम् । तेन य एतदुक्तप्रकारमाचरोत्तस्य भगवति रतिः स्यात्सापि ददा । एतदुक्ताचरणभावे यत एतत्प्रत्यहं सम्यगर्थावबोधपूर्वकं अधीयीत पठेत्सापि तथा रतिः स्यादिति ॥ ११ ॥

विद्वेषपादान्जैकदास्यसद्वाङ्मिणा सदा । प्रकाशिता यथाशक्ति मयेयं भक्तिवर्धिनी ॥१॥

इति श्रीपालकृष्णकृतभक्तिवर्धिनीविश्रुतिः समाप्ता ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

## भक्तिवर्धिनी ।

श्रीश्रीवल्लभविरचितविश्रुतिसमेता ।

नत्वा स्वाचार्यपादान्जं कृपामधुमुपूरितम् ।

तत्परागारक्तबुद्ध्या व्याख्यासे भक्तिवर्धिनीम् ॥ १ ॥

तद्बुद्धिदृढतासिद्धौ पितृपादरजांसहम् ।

हृद्यापाय प्रवृत्तोऽस्मि नान्ययेति हि निश्चितम् ॥ २ ॥

अद्याचार्यचरणाः स्वमार्गाङ्गीकृतानां स्वमार्गीयभक्तिवृद्धिप्रकारमजानतां कृपया तज्ज्ञापनाय तद्बुद्धिप्रकाशं प्रतिजानते यथेति ।

यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात्तथोपायो निरूप्यते ।

वीजभावे दृढे तु स्यात्त्यागाच्छूत्रणकीर्तनात् ॥ १ ॥

यथा येन साधनेन भक्तिः स्वप्रवर्तितमार्गरूपा प्रकर्षेण वृद्धिं प्राप्नोति तथा तत्प्रकारक उपायः साधनं निरूप्यत उच्यते इत्यर्थः । ननु भक्त्युत्पत्तिप्रकाराः शास्त्रेषु पुराणादिपुक्ता एव । उत्पत्त्यनन्तरं वृद्धिस्त्वनुकसिद्धैव । तद्यथा । श्रीभागवते 'दानव्रततपो-

होमजपस्वाध्यायसंयमैः । श्रेयोभिविधैश्चान्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यत' इति । एका-  
दशेऽपि 'श्रद्धाश्रुतकथाया'मित्युपक्रम्य 'एवं धर्मैर्नतुग्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम् । मयि  
सञ्जायते भक्तिः कोन्योर्धोसावशिष्यत' इति । प्रथमस्कन्धेऽपि 'यस्यां वै श्रयमाणायाम् कृष्णे  
परमपुरुषे । भक्तिरुत्पद्यते पुंसः शोकमोहभयापहे'ति । गीतास्वपि 'श्रद्धाभूतः प्रसन्नात्मा न  
शोचति न कांक्षति । समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते परामि'ति भक्त्युत्पत्तिप्रकारा उक्ता  
एव । यद्यप्युत्पत्तिप्रकारा उक्तास्तथापि वृद्धिप्रकारो नोक्त इति तद्वृद्धिप्रकारार्थमाचार्यक-  
थनं सम्भवतीति चेत् । न । वृद्धिप्रकारोऽपि तत्रोक्तः । तृतीयस्कन्धे पञ्चमाध्याये 'पानेन  
ते देव कथाशुभायाः प्रवृद्धभक्त्या विशदाशया ये । चैराग्यसारं प्रतिरुभ्य बोधं यथा-  
सप्तसानीयुरकुण्ठधिष्ण्यमि'ति । अत्र प्रकारोऽप्युक्तः । यद्यप्यत्रोत्पत्तिवृद्धिप्रकाराः पुराणादि-  
ष्वप्युक्ता एव, तत एवोभयसम्भवे सत्यपि 'यथा भक्तिः प्रवृद्धा सा'दिति पुनर्भक्तिवृद्धि-  
प्रकारकथने को हेतुरिति चेत् । सत्यम् । पूर्वोक्तसाधनानां दानव्रतादीनां मर्यादामार्गी-  
यत्वात् तदुत्पन्नभक्तेरपि तन्मार्गीयत्वमेवेत्यवधेयम् । 'कार्यकारणयोरैकजातीयत्व'मिति  
नियमात् । वृद्धिप्रकारस्यापि तन्मार्गीयसाधनसाध्यत्वेन मुक्तिफलकत्वेन च मर्यादामार्गी-  
यत्वमेव । आचार्यास्तु स्वप्रकटितशुद्धपुष्टिमार्गीयभक्तिनिरूपणं कर्तुं तस्याश्च मर्यादाभक्ति-  
वैलक्षण्यं ज्ञापयितुं तत्साधनानि तत्फलं च वक्तुं तत्साधनानां तत्फलस्य च वैलक्षण्यं वक्तुं  
भिन्नतया स्वमार्गीयां भक्तिं तद्वृद्धिप्रकारसाधनं च निरूपयन्ति यथेति । यथा स्वमा-  
र्गीयस्वप्रवर्तितसाधनैर्भक्तिः शुद्धपुष्टिमार्गीया प्रकर्षेण वृद्धा वर्धिता स्यात् । वृद्धौ प्रकर्षः  
फलोन्मुखत्वम् । तथा तत्प्रकारकोपायस्तत्प्रकारसाधनसमुदायो निरूप्यन्त उच्यत  
इत्यर्थः । पूर्वोक्तसाधनसमुदायानेवाहुः बीजभावे दृढे तु स्यादिति । अत्र बीजभाव-  
स्वरूपं शुद्धपुष्टिमार्गीयाचार्यानुग्रहपूर्वकं स्वमार्गीप्रकारकभगवन्निवेदानन्तरं भगवदङ्गीकार  
एव बीजभावः । तस्य दार्ढ्यं निरन्तरं तदेकपरतया तन्मार्गीस्थितिः । तुशब्देन मार्गीन्तरी-  
यसाधनन्युदासः । तदा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात् । वृद्धौ स्वमार्गीयसाधनान्तराण्याहुः त्यागा-  
च्छ्रवणकीर्तनादिति । त्यागादेतन्मार्गीयातिरिक्तसाधनत्यागात् । तद्वदेवैतन्मार्गीयभग-  
वद्धर्मश्रवणात् । तथैव तद्वदेव कीर्तनात् । अत्र श्रवणकीर्तनयोरैकवद्भावोक्त्योभयोरप्येक-  
जातीयत्वं ज्ञापितम् ॥ १ ॥

यद्यपि पूर्वं बीजदार्ढ्यप्रकार उक्त एव । तथापि कदाचिदितरव्यासङ्गेनान्तरायः  
सम्भवति तस्माद्यथेतरव्यासङ्गाभावेन बीजदार्ढ्यं सिध्यति तदर्थं भगवद्भक्त्यरूपं प्रका-  
रान्तरमाहुः बीजदार्ढ्यप्रकारस्त्विति ।

बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः ।

अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः ॥ २ ॥

तुशब्देनैतदतिरिक्तप्रकारान्तरव्युदास उक्तः । स्वमार्गीयभगवद्भजनं तु गृहस्थित्य-  
 मावे न सम्भवतीति पूर्वं गृहस्थितिमेवाहुः गृहे स्थित्वेति । भगवद्भजनानुपूर्वे गृहे  
 सित्वा स्वधर्मतः कृष्णं भजेत् । अत्र स्वधर्मपदेन वर्णाश्रमधर्मां न विवक्षिताः, किन्तु  
 स्वमार्गीयभगवद्भजां विवक्षिताः । कुतः, वर्णाश्रमधर्माणां स्वधर्मत्वाभावात् । तद्यथा ।  
 धर्मो द्विविधः । एकः शरीरपर्यवसायी । द्वितीय आत्मपर्यवसायी । तत्र सन्ध्यावन्दन-  
 मारभ्य यागान्तानां वर्णाश्रमधर्माणां शरीरपर्यवसायित्वमेव । इन्द्रलोकादिभोगपर्यवसा-  
 नात् । समाप्ती पुनः 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ती'ति वचनात् शरीरमुखपर्यवसा-  
 यित्वमेव, न त्वात्मनः परलोकसाधकत्वम् । स्वपदस्यात्मपरत्वात् स्वधर्मपदेनात्मपर्य-  
 वसायी धर्म उच्यते । स च भगवद्भजे एव । तथा च प्रमाणं सप्तमस्कन्धे प्रह्लादवच-  
 नम् । 'यद्यज्ञो भगवते विदधीत मानं तच्चात्मने प्रतिमुखस्य यया मुखश्री'रिति । किञ्च,  
 फलप्रकरणेपि रासमण्डलमण्डनरूपाभिर्गीतम् । 'कुर्वन्ति हि त्वयि रतिं कुशलाः स्व  
 आत्मञ्चित्यप्रिये पतिसुतादिभिरार्तिदैः कि'मिति । किञ्च, स्वधर्मत इति कथनात् धर्मपदस्य  
 तसित्त्रत्ययान्तत्वेनाव्ययत्वादेविकृतो धर्म उक्तः । तेनाविकृतो धर्मो भगवद्भजे एवेति  
 स्वधर्मपदेन भगवद्भजे एवेति सर्वमनवद्यम् । स च स्वधर्मः क इत्याकांक्षायामाहुः अ-  
 व्याघृत्तो भजेत्कृष्णमिति । अव्याघृत्तो भगवद्भजनानुपूर्वव्याघृत्तिरहितः कृष्णं भजेत् ।  
 अत्र भजने कृष्णपदस्य फलवाचकत्वेनेदं भजनं मम फलरूपमिति ज्ञात्वा भजनं कर्तव्यम्,  
 न तु साधनबुद्ध्या । 'यैष्यग्रे 'लभते सुदृढां मक्ति'मित्यनेनालौकिकदेहसम्पत्तिपूर्वकं साक्षा-  
 त्पुरुषोत्तमभजनस्यैव फलत्वोक्त्याधुनिकभजनस्य साधनत्वमायाति, तथापि पुष्टिमार्गे पुरु-  
 षोत्तमस्यैव भजनीयत्वात्, यद्यपि आधुनिकभजने अलौकिकदेहसम्पत्तिर्नास्ति, तथापि  
 आधुनिकभजनस्य पुरुषोत्तमपर्यवसायित्वमेवेति अस्यापि फलरूपत्वमिति ज्ञापनायोक्तमिदं  
 भजनं मम फलरूपमिति ज्ञात्वा भजनं कर्तव्यमिति' । ननु एकस्यैव साधनरूपत्वं फलरू-  
 पत्वं च कथं सम्भवतीति चेत् । सत्यम् । साक्षात्पुष्टिमार्गीयफलस्यैतत्साधनासाध्यत्वात्  
 पुरुषोत्तमभजनमेव साक्षात्पुष्टिमार्गीयफलसाधक(त्व)म् । यथा महाराजस्य धार्यमपि सुवर्ण-  
 रत्नादिकमेव । व्यवहार्यमात्राण्यपि तन्मयान्येव । अथ च कोशे संग्राह्यमपि सुवर्णरत्नादि-  
 कमेव । यतस्त्वस्य महाराजस्य सर्वतोधिकत्वात् । सुवर्णस्यापि सर्वधात्वपेक्षयोत्कृष्टत्वात् ।  
 तथा तद्भद्रस्य फलस्य सर्वोत्कृष्टत्वमावात्सर्वोत्कृष्टमेव साधनमपेक्षितम् । सर्वोत्कृष्टस्य साध-  
 नस्य विचारे क्रियमाणे भजनातिरिक्तस्य सर्वोत्कृष्टत्वाभावात्सर्वोत्कृष्टमेव साधनं सर्वोत्कृष्ट-  
 फलमेवेति भजनमेव साधनम्, भजनमेव फलमिति नानुपतिः काचित् । अग्रे भजन-  
 प्रकारमाहुः पूजया श्रवणादिभिरिति । अत्र पूजापदेन आगमोक्तप्रकारकपूजा न  
 विवक्षिता । पूर्वं कृष्णपदेन सदानन्दफलरूपपुरुषोत्तमभजनस्य प्रकात्वेनोक्तत्वात् । आ-

१ कुतः ! तेषां वर्णाश्रमधर्मत्वेन नित्यप्राप्तत्वात् । अत्र फलमभिधमार्गीयधर्मविचारे पुन कथने  
 प्रयोजनत्वात्वाद् न विवक्षिता इत्युक्तम् । २ निदान्तर्गतं विष्णु प्रतिभाति, अन्यपुस्तकेषु कश्चिद्वचनात् ।

गमोक्तपूजायाः पुरुषोत्तमविभूतिपर्यवसायित्वात् न पुरुषोत्तमभजनपर्यवसायित्वम् । तथापि पुरुषोत्तमभजनप्रकारेषु पूजाया अपि गणनात्सा पूजा शुद्धपुष्टिमार्गीयैवेति ज्ञेयम् । अत एव शुद्धपुष्टिमार्गीविद्धिः प्रभेयप्रकरणीयसप्तमाध्याये गुणगाने हरिणीनां भावं निरूप्य पञ्चा-  
त्तद्भावदोष्टरेव पूजात्वमुक्तम् । 'पूजां दधुर्विरनितां प्रणयावलोके'रिति कथनात् । एत-  
द्भावसजातीयमावपूर्वकं श्रीकृष्णदर्शनसेवाकरणमेव पूजया भजनम् । एतद्भावज्ञापनाय  
अत्रैतन्मार्गीयभजनसाधनपूजेयमिति ज्ञापनायोक्तं पूजयेति । अस्मिन्मार्गे भजनं सेवैव ।  
अत्र 'केचित्स्नेहरहितसेवा पूजैवेति पूजापदं व्याख्यातवन्तः, तत्र विचारक्षमम् । कुतः ?  
मार्गभेदस्य नियामकत्वात् । आचार्यैस्तु स्वप्रकटितशुद्धपुष्टिमार्गीकीकृतस्वकीयजीवेषु स्वप्र-  
कटितशुद्धपुष्टिमार्गीयभक्तिवृद्ध्यर्थं भक्तिवर्धिनीरूपं शास्त्रं कृतम् । तदीयशास्त्रे तदङ्गीकृता  
एवाधिकारिणः, नत्वन्ये । तेषामाचार्यानुग्रहेण शुद्धपुष्टिमार्गीयत्वात् तत्प्रदर्शितसेवा-  
करणं सलेहं स्नेहरहितं वा भवतु, परन्तु पुरुषोत्तमपर्यवसायित्वाद्भक्तिमार्गीयमेव भवति ।  
नतु पूजामार्गीयम् । किञ्च, शुद्धपुष्टिमार्गीयसेवाप्रकारसदृशाः प्रकारा बल्लालङ्कारादिसम-  
र्पणरूपाः पूजायामपि दृश्यन्ते । तथापि तेषां विभूतिपर्यवसानात्पूजामार्गीयत्वमेव, न तु  
सादृश्यमात्रेण तेषां भक्तिमार्गीयत्वम् । मार्गभेदस्य नियामकत्वात् । किञ्च । यो यन्मा-  
र्गीयस्तत्कृतं सर्वं भगवद्दर्मादिकं तन्मार्गीयमेव भवति । यथा 'श्रमादात्कुर्वतां कर्म'त्यत्र  
कर्मसाहस्यार्थं कृतस्य विष्णुस्मरणस्य कर्ममार्गीयत्वमेव । अन्यच्च 'यस्य स्मृत्या च नामो-  
क्त्ये'त्यत्र स्मृत्यादित्रयाणामपि कर्ममार्गीयत्वमेव, न तु नवधामत्कृतसादृश्यमात्रेण  
भक्तिमार्गीयत्वम् । एवं सेवोपयोगिनीं पूजामुक्त्वा तदुपयोगिश्रवणादिकमप्याहुः श्रवणा-  
दिभिरिति । सेवाकरणानन्तरमवशिष्टकाले इतरव्यासङ्गाभावायै श्रवणम् । आदिपदेन  
कीर्तनस्मरणचिन्तनान्यपि ॥ २ ॥

एवमव्यावृत्तिपूर्वकं भजनमुक्त्वा कदाचिद्भगवदर्थव्यावृत्तिसमयेपि हरौ सर्वदुःखह-  
र्तरि चित्तव्यासङ्गपूर्वकमेव व्यावृत्तिः कर्तव्येत्यत आहुः व्यावृत्तोपि हरौ चित्तविति ।

**व्यावृत्तोपि हरौ चित्तं श्रवणादौ यतेत्सदा ।**

**ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवेत् ॥ ३ ॥**

व्यावृत्तिकरणानन्तरमवशिष्टसमये पूर्ववत् श्रवणादौ यतेत् श्रवणाद्यर्थं यत्नं कु-  
र्यात् । एवं भक्तिमार्गीयभक्तिवृद्धिसाधनान्युक्त्वास्व भक्तिवृद्धिप्रकारमाहुः ततः प्रेमेति ।  
पूर्वं प्रेम भवति । ततः स्नेहाङ्कुरो भवति । तदनन्तरं प्रौढभावे सति आसक्तिर्भवति । चित्तं  
भगवत्स्वरूपे व्यासक्तं उग्रं तदेकारं भवति । ततः प्रौढभावे सति व्यसनं भवति ।

१ 'तस्माद्दत्र केविरित्यारभ्य, तत्र विचारसममिति यदुक्तं, तत्सर्वं सोपपत्तिद्वयमुपपादितमैतल्लभितो-  
पि कविचारेण ।'

व्यसनं नाम तद्द्व्यतिरेकेण स्यातुमेव न शक्नोति । तथा । दशमस्कन्धे 'गोपीनां परमानन्द आसीद्गोविन्ददर्शने । क्षणं युगशतमिव यासां येन विनाभवदिति । एवं यदा व्यसनं भवति, तदा वीजभावो दृढो भवति ॥ ३ ॥

एवं व्यसनपर्यन्तं वीजदार्व्यप्रकारमुक्त्वाप्रे वीजस्य दृढत्वं निरूपयन्ति वीजं तदिति ।

**वीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यन्नापि नश्यति ।**

**स्नेहाद्रागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद्गृहारुचिः ॥ ४ ॥**

तत्पूर्वोक्तं वीजं व्यसनमात्रानन्तरं दृढं भवतीति शास्त्रे भक्तिशास्त्रे उच्यते निरूप्यत इत्यर्थः । दृढत्वस्य लक्षणमाहुः यन्नापि नश्यतीति । यत्केनापि लौकिकालौकिकनाशकेनापि न नश्यतीति । लौकिका दुःसङ्गादयः, अलौकिकाः कालादयः, तैरपि न नश्यतीत्यर्थः । अतः परं येन प्रकारेण त्रयाणां स्नेहादीनां मध्ये येन यथा स्थापनोदरं भवति, तथा तस्यापनोदनप्रकारं वदन्ति । अत्र स्नेहाद्युत्पत्तौ मुख्यापनोदकान्नयः, भगवदतिरिक्ते रागो गृहासक्तिर्भगवत्तिरेकेणापि कालनिर्वाहः । तत्र रागादित्रयाणां क्रमेणैकैकापनोदकत्वमाहुः स्नेहाद्रागविनाशः स्यादिति । तत्र पूर्वं यथाकथञ्चिदल्पस्नेहाद्गुरोत्यत्यापि भगवदतिरिक्ते रागो न भवति । तदनन्तरं यदासक्तिर्भवति, ततः श्रौढभावो भवति, तदा गृहासक्त्यपनोदो भवति । भगवदासक्त्या गृहासक्तिर्गच्छति ॥ ४ ॥

आसक्त्यनन्तरं गृहारुचौ हेतुद्वयमाहुः गृहस्थानामिति ।

**गृहस्थानां बाधकत्वमनात्मत्वं च भासते ।**

**यदा स्याद् व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हि ॥ ५ ॥**

गृहे स्थितानां भार्यापुत्रादीनां, गृहे तिष्ठन्तीति गृहस्था भार्यापुत्रादयस्तेषां स्वसजातीयभावाभावात् तैः सह संबन्धस्य भावविधातकत्वस्फूर्त्या तेष्वरुचिर्भवत्येवेत्यत उक्तं बाधकत्वं भासते इति । ननु यद्यपि भार्यापुत्रादीनां भावबाधकत्वमुक्तम्, तथापि 'न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति, किन्त्वात्मनः कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति' इत्यादिश्रुत्या तेषु आत्मसंबन्धित्वेन प्रियत्वसापि स्फूर्त्या सर्वात्मना बाधकत्वस्फूर्तिर्न भविष्यतीत्याशङ्कानिरासाय तेषु तादृशस्य भगवदासक्तस्य आत्मसंबन्धित्वस्फूर्त्यभावेन यथा सर्वात्मना प्रियत्वाभावस्तं प्रकारमाहुः अनात्मत्वं च भासते इति । स्वस्य भगवदासक्त्या निरुषाधिस्नेहासदत्वेन भगवत्प्रेमान्त्वं स्फुरति, न तु स्वात्मानि । अतो भगवदीपेष्वेवात्मसंबन्धित्वं भासते । न तु स्वात्मसंबन्धिष्वात्मसंबन्धित्वं भासते इति । तेष्व्वात्मसंबन्धित्वभानाभावात् बाधकत्वमेव भासते, न तु स्वात्मीयकत्वमिति ज्ञापनायोक्तं

पाथकस्त्वमनात्मत्वमिति गृह्यारुचौ हेतुद्वयमुक्तम् । एवं तादृशस्य गृह्यारुचौ हेतुद्वयमुक्त्वा तस्यैव स्नेहवृद्धिपराकाष्ठामाहुः यदा स्यादिति । यदा यस्मिन्काले कृष्णे फलात्मके व्यसनं स्यात् । तदशीनादिव्यतिरेकेण तत्संपन्धिव्यतिरेकेण स्यात्प्रशक्त्यर्थव्यसनं वयदा स्यात् । तादृशो भावो यदा स्यात्तदैव कृतार्थः स्यात् । कृतः अर्थो येन तादृशः स्यात् । अर्थोत्र भक्तिमार्गीयसाक्षाद्भगवत्संबन्धफलरूपः । सः स्वस्मिन्कृतो भवति, सम्पादितो भवति, तदा कृतः अर्थः पूर्वोक्तफलरूपो, भगवता तस्मै दत्तो भवतीत्यर्थः । नहि एतादृग्भावयुक्तस्य एतत्फलदानातिरिक्तं फलं दातुं युक्तमिति ज्ञापनायोक्तं हीति ।

एवं तस्य व्यसनवतो योग्यताभावं फलं च निरूप्य तस्याग्रिमव्यवस्थामाहुः तादृशस्यापीति ।

तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशनम् ।

त्यागं कृत्वा यत्तेद्यस्तु तदर्थार्थैकमानसः ॥ ६ ॥

लभते सुदृढां भक्तिं सर्वतोप्यधिकं पराम् ।

त्यागे बाधकभूयस्त्वं दुःसंतर्गात्तथात्रतः ॥ ७ ॥

तादृशस्यापि तादृग्भावयुक्तस्यापि, सततं निरन्तरं, गेहस्थानं गृहस्थितिः, तादृग्भावसत्सङ्गाभावाद्दिनाशकं तद्भावविघातकमित्यर्थः । यो यस्य विघातकः सतत्सन्निधौ स्यात् न शक्नोति । अत एव फलप्रकरणे 'यद्व्यङ्गुजाक्षे'तिपथे म्रजरत्नरूपामिर्निरूपितम् । यद्दि यत्प्रभृति त्वत्पादतलमस्त्राश्च तत्प्रभृति अन्यसमं स्यात् न पारयाम इति । तदेव निवृत्तमाचार्यचरणैः । 'यथा देहाभिमानी व्याघ्रस्य देहविघातकत्वात्तःसंनिधौ स्यात् न शक्नोती'ति । अत उक्तं तादृशस्येति । अतः परं पूर्वोक्तभावयुक्तस्य गेहस्थितेर्भावविघातकत्वेन तत्र स्यात्प्रशक्त्या स गेहत्यागमेव करोतीत्याहुः त्यागं कृत्वेति । तस्य गेहत्यागानन्तरं स्थितिप्रकारमाहुः यत्तेद्यस्त्विति । त्यागानन्तरं स यत्नमेव कुर्यात्, नतु प्रकारान्तरेण तिष्ठेत् । तस्य यत्नविषयमाहुः तदर्थार्थैकमानस इति । तादृशस्य यद्विषयको भावः स विषयो भगवानेव भवतीति । स एवार्थः । स चासावर्थश्च तदर्थः भगवान् तदर्थं भगवदर्थभक्तं केवलं मानसं मनो यस्य तादृशो भूत्वा सुदृढां भक्तिं लभते । पूर्वं तस्य व्यसनपर्यन्तां सर्वानपनोद्यां भक्तिमुक्त्वापि पुनर्यत्तदर्थार्थैकमानस इत्युक्तवापि लभते सुदृढां भक्तिमिति यदुक्तं तस्यापराशयः । ततोपि सुदृढां सर्वोत्पन्नभावरूपं भक्तिमिति साक्षात् स्वरूपात्प्रभवफलिकां लभत इति । तद्भाभक्त्यनेन तादृशस्य पूर्वोक्तातिविद्यात्भावेन विषयभावदेहापगमानन्तरं लीलापयिकमलौकिकं देहं प्राप्य साक्षात्स्वरूपसंबन्धि फलं लभत इत्यर्थः । फलरूपभक्तेः स्वरूपमाहुः सर्वतोप्यधिकामिति । सर्वतश्चतुर्विधमुक्त्यपेक्ष-

यापि अधिकम् । परामगणितानन्दपुरुषोत्तमपर्यवसायिनीम् । एवं पूर्वोक्तभक्तिवृद्धिपर्यवसानं फलं चोक्त्वा दुःखस्यागे बाधकभूयस्त्वकथनस्यायनाशयः । कदाचित्कश्चिद्भक्तिमार्गानुवर्ती पूर्वोक्तलागवस्वरूपमज्ञात्वाहमपि गृहादित्यागं कृत्वा भक्तिवृद्धिं साधयिष्यामीति यदि गृहादिकं त्यक्तुमिच्छति तस्य तत्र निषेधमाहुः स्यागे बाधकभूयस्त्वमिति । तादृश्य स्यागे गृहादित्यागेन भक्तिवृद्धिसाधने बाधकभूयस्त्वात्फलं न सिध्यति । ( 'पूर्वोक्तप्रकारत्यागिनस्तु दृढं यत्रापि नश्यतीति बाधकभाव उपपादित एवेति पूर्वोक्तत्यागोत्र न विवक्षितः । तस्मात्सुनस्त्यागे बाधकभूयस्त्वं यदुच्यते 'स कदाचित्कश्चिदि'त्यनेन वक्ष्यमाणत्याग एव बाधकभूयस्त्वम् । ' ) बाधकान्येवाहुः दुःसंसर्गादिति । दुःसंसर्गः स्वस्य पूर्वोक्तत्यागेहेतुभूतभावाभावात्सर्वात्मना चित्तस्य भगवदेकपरत्वामादेन चित्तचाञ्चल्याहुःसङ्गभगवद्भावाभाववतां लौकिकानां सङ्गः सम्भवतीति तस्य बाधकत्वं स्पष्टमेव । अथ च तस्य पूर्वसिद्धगृहादीनां बुद्धिपूर्वकत्वाभावाच्चरीरनिर्वाहार्यं यत्र कुत्रचिदन्नमक्षणेन तस्यान्नस्य भगवदसमर्पणजनितदोषवत्त्वेन तदन्नमक्षणेन स्वस्यापि बाह्यिर्गुण्यदोषः सम्भवति । यद्यप्येतादृशस्यापि बाधका दोषा इन्द्रियनिग्रहाभावरूपाः सम्भवन्ति, तथापि दुःसङ्गाच्चदोषयोरतिप्रबलत्वाद्दुर्भवेव गणितौ ॥ ७ ॥

एवं सति तादृशेन दोषाभावपूर्वकं कथं कालनिर्वाहः कार्य इत्याकांक्षायामाहुः अतः स्थेयं हरिस्थान इति ।

अतः स्थेयं हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परैः ।

अदूरे विप्रकर्षे वा यथा चित्तं न दुष्यति ॥ ८ ॥

यतः पूर्वोक्तप्रकारस्थितौ दोषसम्भावना अतो दोषाभावपूर्वकं कालनिर्वाहार्यं हरिस्थाने स्वस्य भक्तिमार्गीयत्वात् भक्तिमार्गीयसेवाप्रकारयुक्तभगवत्स्थाने श्रीगोवर्धनादौ स्थेयम् । तत्रापि स्थितिप्रकारमाहुः तदीयैः सह तत्परैरिति । तदीयैर्भगवदीयैः सह स्थेयम् । तत्रापि तत्परैर्भगवत्स्वरूपतत्त्वेवातच्छ्रवणादिपरैः । एतत्प्रकारकस्थित्यभावे तत्रापि दुःसङ्गेन पूर्वसिद्धबुद्धिनाशसंभवात् जीवनवैयर्थ्यमेव स्यादिति पूर्वोक्तप्रकारेण स्थेयमिति ज्ञापितम् । निरन्तरं तत्प्रकारकस्थित्यसंभवे चित्तदोषाभावार्थं प्रकारान्तरेणापि स्थितिप्रकारमाहुः अदूरे विप्रकर्षे वेति । अदूरे पूर्वोक्तस्यानात्स्वत्यान्तराये । अथवा विप्रकर्षे ततोपि किञ्चिदूरे स्थेयम् । 'तदीयैः सह तत्परैरिति स्थितिप्रकारमुक्त्वापि पुन'रदूरे विप्रकर्षे वे'ति यदुक्तं तस्यायमाशयः । अतिनिकटस्थितौ 'अतिपरिचमत्स्वत्वे'ति न्यायेन कदाचिद्दशवक्रतावज्ञापि संभवति, तदभावापोक्तं 'अदूरे विप्रकर्षे वे'ति । तत्राप्येवमपि स्थित्वा तैः सह सङ्गः कार्य एव, न त्याज्य इत्युक्तं भवति । एवं प्रकारत्रयेण स्थितिप्रकारमुक्त्वापि स्थितिप्रकारनिर्गलितार्थमाहुः यथा चित्तं न दु-



प्यतीति । अस्यायमर्थः । पूर्वोक्तप्रकारैर्यथा स्वमनोभिळपितप्रकारैर्वा यथा च भगव-  
दाहिर्मुख्यदोषेण चित्तं न दुष्यति तथा श्रेयम्, न तु प्रकारान्तरेणेत्यर्थः । एवं पूर्वं  
भक्तिवृद्धिप्रकारमुक्त्वा वृद्धेः परमकाष्ठामुक्त्वा तत्साध्यं फलं चोक्तम् ॥ ८ ॥

तदनन्तरं भक्तिवृद्धिप्रकारमुक्त्वा वृद्धेः परमकाष्ठामुक्त्वा शुद्धपुष्टिसाधनप्रकारगज्ञा-  
त्वा गृहं त्यक्त्वा वृद्धिं साधयिष्यामीति प्रवृत्तस्य बाधसंभावनानिराकरणपूर्वकं फलसिद्ध्यर्थं  
स्थितिप्रकारमुक्त्वा शुद्धपुष्टिभक्तिमार्गीयधर्मद्रव्यासक्तानामपि एतन्मार्गीयफलसिद्धिर्भवेतीति  
ज्ञापनायाहुः सेवायां वा कथायां वेति ।

सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेत् ।

यावज्जीवं तस्य नाशो न कापीति मतिर्मम ॥ ९ ॥

सेवायां शुद्धपुष्टिमार्गीयैः प्रकटितप्रकारकसेवायां, तदवशिष्टसमये तन्मार्गीय-  
लीलाकथायां, यस्यासक्तिश्चित्तव्यासङ्गपूर्वको दृढाग्रहो यावज्जीवं भवेत्, तस्य न कापि देश-  
कालभेदेनापि तस्य भावस्य नाशो न भवति । स भावस्य फलसाधको भवति । अथवा ।  
विकल्पेनोभयोः कथनाद्भगवदिच्छया कस्यचित्सेवायामेव दृढासक्तिर्भवति । कस्यचित्तस्य  
लीलायामेव दृढासक्तिर्भवति । परन्तु सासक्तिर्वाजीवमपेक्षिता, न तु यत्किञ्चित्कालम् ।  
तस्येति पदाद्भगवदिच्छया सेवासक्तस्य कथासक्तस्य च कापि नाशो न भवति । तन्मार्-  
गीयफलप्राप्तौ अन्तरायो न भवतीति मम मतिर्मदीया मतिः । तेन स्वमते फलविलम्ब्याभावे  
हेतुत्वकथनेन फलप्राप्तौ निःसंदिग्धत्वमुक्तम् ॥ ९ ॥

एवं पूर्वश्लोके सेवासक्तकथासक्तयोः फलमुक्त्वा कदाचित्कश्चित् सेवासक्तं कथा-  
सक्तं मक्तं दृष्ट्वा स्वयमप्यासक्तिव्यतिरेकेण उत्साहमात्रेण सेवां कर्तुमिच्छति तस्य पापः  
संभवति, तत्र पापस्वरूपं तद्विवाणप्रकारं चाहुः पापसंभावनायां त्विति ।

पापसंभावनायां तु नैकान्ते वास इष्यते ।

हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः ॥ १० ॥

पापसंभवे प्रकारान्तरेण पापभावव्युदास उक्तस्तुशब्देन । सेवाकरणे दृढासक्त्य-  
भावात् उद्वेगेन भोगासक्त्या वा पापसंभवे सति स्वस्य सेवाकरणासक्तिजनितगलान्या  
मयः सेवा न भवतीति मया गृहं त्यक्त्वा एकान्ते भगवद्ग्रामस्मरणदिकं कर्तव्यमिति  
शुद्धा यथेकान्ते स्थितिं कर्तुमिच्छति, तादृशस्यापि सेवात्यागपूर्वकैकान्तस्थितिरनुचितेति  
निषेधमाहुः नैकान्ते वास इष्यते इति । सेवां विहाय तसैकान्तवासो नेष्टः, सेवा-  
कृतिर्वेद्य । उद्वेगादिना प्रतिबन्धे कथं सेवाकरणं भवतीति धेत्तव समाधानमाहुः हरि-

स्त्विति । उद्वेगादिकमपि सोढा यदि सेवामेव कुर्यात्तदा भगवान् तस्य सेवाग्रह दृष्ट्वा स्वस्य सर्वदुःखहरणसामर्थ्यं प्रवर्तीकृत्य सेवाविपातोद्वेगादिकं दूरीकृत्य सेवासंपत्तिमेव कारयेदिति ज्ञापनार्थमुक्तं हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशय इति । 'न संशय' इति कथनापघस्मिन्नर्थे संशय कुर्यात्, तदा भगवानपि रक्षा न कुर्यादिति त्वर्थः । अत एव गीतास्वपि भगवतोक्तं 'संशयारामा निनश्यतीति । तस्मादस्मिन्नर्थे नि सन्दिग्धो भूत्वा 'भगवान् रक्षा करिष्यत्ये'वेति बुद्ध्या यदि सेना कुर्यात्तदा भगवानपि रक्षा करोत्येवेति ज्ञापनायोक्तं 'न संशय' इति । प्रकारान्तरेण रक्षाऽभावज्ञापनाय तु शब्दः । कथापि रक्षापि बाधसभावनाया पूर्वोक्तव्यवस्थेति ज्ञातव्यम् ॥ १० ॥

एष स्वमार्गीयभक्तिप्रवृद्धिप्रकारमुक्त्वा तस्योपसंहारमाहु इतीति ।

इत्येवं भगवच्छास्त्रं गूढतत्त्वं निरूपितम् ।

य एतत्समधीयीत तस्यापि स्याद्गुहा रतिः ॥ ११ ॥

इतीति समाप्तौ । एवमुक्तप्रकारेण भगवतः पुरुषोत्तमस्य भक्तिवृद्धिशिक्षाप्रकारकं शास्त्रं निरूपितं प्रतिपादितमित्यर्थः । शास्त्रस्वरूपमाहु गूढतत्त्वमिति । गूढमत्यन्तं गुप्तं तत्त्वं वागविषयमनुभवैकवेद्यं स्वरूपं यस्य तादृशं निरूपितं प्रतिपादितमित्यर्थः । एव शास्त्रस्वरूपं निरूप्यैतदध्ययनकर्तुरपि यथैतन्मार्गीयं फलं सिध्यति तत्प्रकारकमध्ययनस्वरूपमाहु य एतदिति । य इति सामान्योक्त्या नाना वर्णाश्रमादिनियम उक्तः । एतद् भक्तिवर्धिनीरूपं शास्त्रं समधीयीतेति । अध्ययने सम्यक्त्वोक्त्या न केवलं पाठमात्रकरणम्, किन्तु प्रतिपदमर्थोभिप्रायविचारपूर्वकमध्ययनमुक्तम् । एव विचारपूर्वकाध्ययनकरणे तत्प्रतिपाद्यार्थनिरन्तरानुसन्धानादन्तःकरणदोषनिवृत्त्या तन्मार्गस्वरूपस्य हृदि स्फुरणात्तन्मार्गस्य पुरुषोत्तमैकपरत्वात् तद्वारा स्वस्यापि तत्स्फूर्तौ भक्तिमार्गीयाचार्याङ्गीकारस्य सिद्धत्वात् तादृशस्यापि सुदृढा अत्यन्तं निश्चला रतिः रसभावयुक्तस्रोहो भवतीत्यर्थः ॥ ११ ॥

पितृपादनखालोकप्रकाशितधिया मया । स्वाचार्यचरणस्थेन विवृता भक्तिवर्धिनी ॥ १ ॥

कृपया पितृपादान्जैर्दत्ता मे यादृशी मतिः । तन्मया विवृतं भक्तिवृद्धिशस्त्रं सुदुर्लभम् ॥ २ ॥

यद्यधीश्वरवाक्यानि दुर्बोधानि सदा स्वतः । तत्कृपातो यथाबोधं विवृतानि न चान्यथा ॥ ३ ॥

बुद्धिदोषेण यद्यत्र व्याकृतौ चेद्विपर्ययः । क्षमन्त्वाचार्यचरणा स्वकीयेषु दयालवः ॥ ४ ॥

श्रीवल्लभेन रचिता या विवृतिर्भक्तिवर्धिण्या । चित्रं सगच्छे लोके सजाता भक्तिवर्धिनी सापि ५

इति श्रीपितृचरणैकतानश्रीवल्लभविरचिता भक्तिवर्धिनीविवृतिः समाप्ता ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

# भक्तिवर्धिनी ।

श्रीमद्रघुनाथकृतविद्वतिसमेता ।

वन्दे वृन्दावने वृन्दैर्गोपीनां वेष्टितं मुदा । हरिणीभिः कृष्णसारमिवाभातं तदीक्षणम् ॥१॥  
अपारदुःखदावामिदग्धजीवनमीक्षितम् । यस्य तं यामि शरणं विष्टलेऽमहं सदा ॥ २ ॥

अथ केनचित्तरामपुण्येन प्राप्तमहापुरुषानुग्रहाद्भक्त्यङ्कुरितचित्तस्य कदाचिदन्तरासं-  
भाविततद्गङ्गाभावाय भक्त्युद्रेकोपायनिरूपणं प्रतिजानते यथेति ।

यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात्तथोपायो निरूप्यते ।

वीजभावे दृढे तु स्यात्त्यागाच्छ्रवणकीर्तनात् ॥ १ ॥

यथा येनोपायाचरणप्रकारेण भक्तिः पूर्वोक्तेन हेतुना अङ्कुरतां प्राप्य स्थिता सती  
प्रवृद्धा प्रकर्षेण वृद्धिं प्राप्ता च स्वकार्यकरणक्षमा स्यात् भवेत्, तथा तेनैव प्रकारेण उपायः  
साधनं निरूप्यते, सोपपत्तिकं कथ्यत इत्यर्थः । अथायं भावः । यथा अन्तःस्थितबीजे  
क्षेत्रादौ सेचनादिबाह्योपायकरणं सफलं भवति, नानुसवीजे, एवमत्रापि भक्तिस्पृशान्तःकर-  
णसैवैतदुच्यमानसाधनप्रवृत्त्यधिकारो, नान्यसेति । इममेवार्थमुद्दिश्यामेत्याहुः बीज-  
भावे दृढे तु स्यादिति । उक्तभक्तिप्रवृद्धिः कदेत्यपेक्षायां बीजभावे दृढे सम्पन्ने स्यात् ।  
कुत इत्यपेक्षायां त्यागात् भगवदतिरिक्तविषयत्यागात् । श्रवणं च कीर्तनं च एकवद्भा-  
वात् श्रवणकीर्तनादित्येकवचनम् । ननु को नाम बीजभावः । उच्यते । मत्तयसाधारण-  
कारणं बीजमित्युच्यते । तच्च महदनुग्रहरूपम् । तस्य भावः सद्भावः तस्य दार्ढ्यं निययः ।  
यदा । बीजपदेन भगवानुच्यते । तस्मिन् भावस्तद्विषयिणी व्यवसायात्मिका बुद्धिः, मग-  
वानेवाश्रयणीयो, नान्य इत्येवंरूपा । दार्ढ्यं तदनन्तार्हितत्वम् । तुशब्दः प्रसिद्धौ । तथैव  
वक्ष्यन्तीति च । 'बीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यस्मापि नश्यती'ति ॥

मर्यादामार्गीषाणां गृहस्थानां बीजदार्ढ्यप्रकारमाहुः बीजदार्ढ्यप्रकारस्त्विति ।

बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः ।

अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः ॥ २ ॥

व्यावृत्तोपि हरो चित्तं श्रवणादौ यतेत्सदा ।

ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवेत् ॥ ३ ॥

वीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यत्रापि नश्यति ।  
 स्नेहाद्रागविनाश स्यादासक्त्या स्याद्गृहारुचि ॥ ४ ॥  
 गृहस्थानां बाधकत्वमनात्मत्व च भासते ।  
 यदा स्याद्वासन कृष्णे क्रतार्थं स्यात्तदैव हि ॥ ५ ॥  
 तादृशस्यापि सतत गेहस्थान विनाशकम् ।

गृहे स्थित्वा कृष्ण भजेदित्यवयव । कथं केनेत्याकाक्षादयप्रसादावाद्याया स्वधर्मत स्वस्य यो धर्मं श्रुत्याप्युक्तो वर्णाश्रमधर्मं तत्सहितं सन् अव्यावृत्तो भगवद्भजनविरुद्धो लोकवेदपरमव्यासङ्गो व्यावृत्तिस्तद्द्रवित सन्नित्यर्थः । केनेत्याकाक्षाया पूजया श्रवणादिभिरिति योज्यम् । अत्र प्रत्येकसमुदायाभ्यां पूजादिकं ग्राह्यम् । तत्र पूजा वेदपुराणोक्ता ग्राह्या । ऋग्विधानाद्युक्तपुरुषसूक्तादिभिर्यां सा वैदिकी । आगमपुराणाद्युक्तान्या । श्रवणं तु श्रुतिस्मृतिपुराणेतिहासरागायणादिवाक्येभ्य एव । आदिपदेन चिन्तनलीलातुकरणादिकं ज्ञेयम् । सर्वापेक्षया श्रवणस्य प्राधान्यं ज्ञेयम् । अत एव महाभारते श्रूयते 'सर्वाश्रमाधिगमनं सर्वेतीर्थावगाहनम् । न तथा कलद् सौते नारायणकथा यथेति । व्यावृत्तिराहित्येन मज्जनासम्भवे उपायान्तरमाहुः कथावृत्तोपीति । व्यासक्तोपि सन् हरौ त्रिविधदुःखहरणशीले चित्तविधाय पूर्वोक्तश्रवणादिषु यतेत् यन्न कुर्यादित्यर्थः । यतेदिति परस्मैपदं नाम धातुना ज्ञेयम् । भगवत्शरणारविन्दोश्चित्तसंस्थाप्य बाह्यश्रवणादौ कृतस्य यत्स नि फलत्वेपि न स्वार्थहानिरिति भावः । अत एवैतद्भजनमपि 'क्रियासु यत्त्वरणारविन्दयोराविष्टचित्तो न भवाय कल्पते' इति । हरी चित्तमित्यनन्तरं क्रियापदमप्याहृत्याग्रे योजनीयम् । तदेत्येतद्गुणयज्ञं सम्बध्यते । एवकृते यद्भवति तदाहुः तत इति । प्रेमं स्नेहः । आसक्तित्वद्विना स्यातुमशक्तिः । व्यसनं स्वभावत एव तद्वर्तमानं चिन्तनान्यप्रेरणतः । इदं सर्वं यदा भवेत्सम्पद्यते तदेतद्विषयसम्पत्तिरूपशास्त्रे भगवच्छ्लेषे दृढं वीजमिति व्यवह्रियते । दार्ढ्यमेव सटीक्रियते यत्रापि नश्यतीति । प्रेमादीनामसाधारणं तत्तत्कार्यमाहुः स्नेहादिति । रागो भगवदतिरिक्तविषयकः । गृहारुचिरिति । गृहे अरुचिरनासक्तिः । गृहस्थानामिति । गृहविषयकरागाद्यभावे स्त्रीपुत्रादिपोषणासम्भवरूपदोषोद्भावनेनाविवेकिना गृहस्थानां परमपुरुषार्थसाधकयोरप्यनयोर्धर्मयोर्बाधकत्वमेव भासते । अनविकारित्वात् अनात्मत्व चेति । आत्मनो भाव आत्मत्वम् । भावपदेन स्वामाविक्रमं उच्यते । तेन गायमालनं स्वधर्म इत्येव भासते । वस्तुतस्तु ज्ञानं तेषां नास्तीति ज्ञापनार्थं भासत इत्युक्तम् । व्यसनकार्यमाहुः यदा स्यादिति । यस्मिन्काले स्वभावतो यत्किञ्चिन्क्रियमाणमपि भगवद्विषयकमेव स्फुरति, तदा किं वक्तव्यं कृतार्थतायामित्यर्थः । दिगन्तं प्रह्लादादौ प्रसिद्धियोगतनयं । प्रह्लादस्यैवविषयत्वं विष्णुपुराणे श्रूयते । 'या

प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पत्वि'ति । तादृ-  
शस्यापीति । उक्तश्लेहादिमतोपि गृहस्थस्य गृहरूपं स्थानं सततं सर्वदैव विनाशकं  
विनाशहेतुः । श्लेहादिसम्पत्तेः पूर्वमेव विनाशकत्वेपि तत्सम्पत्त्यनन्तरं तथा न भविष्यतीति  
मनसि गृहस्थैर्न धार्यमिति भावः । अत्र विनाशकत्वं प्रतिबन्धकत्वमेव । यद्वा । तादृ-  
शस्यापि सततं गृह एव स्थानं स्थितिरिति । ईदृशगृहस्थेन मध्ये मध्ये भगवद्भक्तपुण्यक्षेत्र-  
नघायतनेष्वटनं कार्यम् । न तु गृहमात्रैकस्थितिशीलतया भाव्यमिति भावः ॥ ६ ॥

पूर्वं गृहस्थितस्यैव श्रवणाद्युक्तमिदानीं तस्य बहुप्रतिबन्धकत्वानुसन्धानेन समी-  
हितासिद्धिमाशङ्क्य निःप्रत्यहोपायमाहुः त्यागं कृत्वेति । लभेतेति ।

त्यागं कृत्वा यतेद्यस्तु तदर्थार्थैकमानसः ॥ ६ ॥

लभेत सुदृढां भक्तिं सर्वतोप्यधिकां पराम् ।

त्यागे बाधकभूयस्त्वं दुःसंसर्गात्तथाज्ञतः ॥ ७ ॥

यः पुरुषः सकलदुःखाकरगृहत्यागं कृत्वा पूर्वोक्तश्रवणादिषु यतेत्, सः  
सुदृढामत्यन्तदृढामन्यैः प्रतिबन्धसहस्रैरप्यतिरस्कृताम् । सर्वतोपि ज्ञानादिन्योप्यधि-  
कामधिकफलदायिनीं परां भगवत्प्राप्तेश्वरमकारणभृतां भक्तिं लभेत प्राप्नुयादित्यर्थः ।  
तं विशदयन्ति तदर्थार्थैकमानस इति । स भगवानेवासावर्धयति तदर्थः, अर्थः  
प्रयोजनं उद्देश्यमिति यावत् । स चासावैकधार्थः । तदर्थः स एवार्थैकः, तदर्थार्थैकः,  
तस्मिन्मानसं मनो यस्येति । एवंविधः सन् यतेदिति पूर्वोक्तान्वयः । यतेदिति घञर्थे  
कं कृत्वा पश्चात् नामधातुत्वात्परस्परदं ज्ञेयम् । ननु त्यागरूपोपाये विद्यमाने किम-  
न्योपायकथनमित्यत आहुः त्याग इति । त्यागसिद्धौ सर्वं सुकरम् । सैव तु नोपपद्यते ।  
तत्र हेतुः । बाधकानां प्रतिबन्धकानां भूयस्त्वं बाहुल्यादित्यर्थः । तत्र हेतुः दुःसं-  
सर्गात् । दुष्टानां भगवद्भिर्मुखाणां यः संसर्गः सम्बन्धः शारीरादिस्तस्मादित्यर्थः ।  
तथैवाज्ञतः दुष्टादज्ञादित्यर्थः । अज्ञदापास्तु पञ्चमहायज्ञाकरणाद्भगवद्निवेदनाच्चोद्भवन्तीति  
ज्ञेयम् । श्रुतिरपि 'मोक्षमज्ञं विन्दते अप्रचेताः । सत्यं ब्रवीमि यद्य इत्यतस्त । नार्यमाणं  
पुष्यति नो सखायं केवलापो भवति केवलादी'ति । अर्थस्तु अप्रचेताः मूढः मोषं  
व्ययमज्ञं विन्दते प्राप्नोति । यतः सो अज्ञलाभस्तस्य वध एव । इदं तु सत्यमेवाहं ब्रवीमि ।  
न श्रेयस्यः । किञ्च । अर्थमाणं सूर्यं न पुष्यति, देवयज्ञाकरणात् । उपलक्षणमेतत्,  
देवतामात्रमपि । सखायं अतिथिं नो न पुष्यति, मनुष्ययज्ञाकरणात्, किन्तु स्वयमेव  
अभाति, अतः केवलादी पुमान् केवलाप एव भवति । तदज्ञं नाति, किन्तु पापमत्तीस-  
र्थः । इममर्थं भगवानप्याह 'यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः । मुञ्चन्ते ते त्वयं  
पापा ये पचन्त्यात्मकारणा'दिति । अनिवेदितमज्ञेणपि दोषः श्रूयते । 'अम्शरीप नवं वज्रं  
फलं अज्ञापमौषधम् । अनिवेप हरेर्मुञ्चन् सत्त्वन्मानि नारकी'ति पुराणान्तरे ॥ ७ ॥

त्यागसाश्रम्यत्वं उक्त्वा तु शर्म्योपायमाह अत्र इति ।

अतः स्थेयं हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परैः ।

अदूरे निप्रकर्षे वा यथा चित्तं न दुष्यति ॥ ८ ॥

सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेत् ।

यावज्जीवं तस्य नाशो न क्वापीति मतिर्मम ॥ ९ ॥

उक्तहेतोर्हरिस्थाने भगवदधिष्ठितप्रदेशे तत्परैर्भगवदकपरै तदीयैर्मगधदीयैर्भक्तै सह अदूरे नैकत्रय यथा स्यात्तथा श्लेयमित्यर्थ । अतिनैकव्याप्तम्भवे निप्रकर्षे वा, किञ्चिद् दूरेषु स्थेयम्, न त्वतिदूर इति भाव । नन्वेव स्थितौ किमत आहु यथेति । येन प्रकारेण स्थितिरुक्ता तथाकरणे चित्तमन्त करण न दुष्यति, न दोषप्रस्त भवतीत्यर्थ । एन भगवदीये सह स्थितौ यस्य परमभाग्यवत् सेवाया स्वशरीरसाध्ये भगवद्भजने कथाया तद्गुणश्रवणे वा आसक्ति तद्विहाय स्थातुमशक्ति दृढा निश्चला भवेत् तस्य पुनो यावज्जीव आदेहपात क्वापि कस्मिंश्चिद्देशे काले वा नाश अन्यथाभावो न भवतीति । अस्मिन्नर्थे मम मति सम्मतिरेवेत्यर्थ । वाञ्छन्दावन्योन्य ममुञ्चितुत ॥ ८ ॥ ९ ॥

नन्वेव सति पूर्वोक्तत्यागस्य वैयर्थ्यमेवोत सार्थकत्वमपीत्याकाङ्क्षायामाहु याधेति ।

याधसंभायनायां तु नैकान्ते वास इष्यते ।

हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः ॥ १० ॥

त्यागे सर्वथा याध सम्भावितश्चेद्भवेत् तत्कृतस्तदा एकान्ते वास सर्वत्यागपूर्विका स्थितिरणयादो नेष्यते न सम्मतेत्यर्थ । तदभावे त्विष्टेति भाव । नन्वेकान्तस्थितौ व्याघ्रादिभिरपमृत्युरपि सम्भाव्यते, वर तदपेक्षया गृहस्थितिरित्यत आहु हरिस्तित्यति । हरिशब्दार्थस्तु पूर्वोक्तोलुप्तस्येव । तुगन्द प्रसिद्धौ । सर्वत सर्वदुःखहेतो रक्षण करिष्यत्येव, न संशय इत्यर्थ ॥ १० ॥

इत्येवं भगवच्छास्त्रं गूढतत्त्वं निरूपितम् ।

य एतत्समधीयीत तस्यापि स्याद्दृढा रतिः ॥ ११ ॥

उपसहरन्ति । एवमुक्तप्रकारेण भगवच्छास्त्रं भगवत्सम्बन्धिशास्त्रं शिक्षणम् । गूढं गुप्तं तस्य यस्य तादृशं निरूपितम् । य पुमानेतदुक्ताचरणेऽशकं सञ्जेतच्छास्त्रमुपादित्स्व सम्यग्धीयीत, अर्थावुत्सन्धानपूर्वकं पठेत्, तस्याप्येतच्छास्त्रोक्ता रतिर्दृढा भवेदित्यर्थ ॥ ११ ॥ मत्तयङ्कुरितचित्तस्य तदुद्रेकाय साम्प्रतम् । आचार्यस्मात्प्रोक्तता विवृता भक्तिवर्धिनी ॥ ११ ॥

इति श्रीवृद्धभनन्दनचरणैकशरणश्रीरघुनाथकृतौ भक्तिवर्धिनीविवरणं संपूर्णम् ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

# भक्तिवर्धिनी ।

श्रीकल्याणरायविरचितविद्युतिसमेता ।

वामे करे गिरि स्त्रीषु मुदमिन्द्रे च साध्वसम् । धारयन्तमहं वन्दे चित्रं गोपेषु गोप्रियम् ॥ १ ॥  
यदहीकृतितो भक्त्या स्नानन्दं नन्दनन्दनः । ददाति तान्प्रभून् वन्दे सर्वकामार्थसिद्धये ॥ २ ॥

श्रीकृष्णभक्तिसृष्टान्तःकरणानां स्वकीयानां तत्फलविलम्बासहिष्णवः श्रीवल्लभा-  
चार्या एकादशेन्द्रियशोधिका भक्तितरित्सेकादशभिः श्लोकैर्मन्त्रितप्रवृद्ध्युपायनिरूपण प्रति-  
जानते षथेति ।

यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात्तथोपायो निरूप्यते ।

वीजभावे दृढे तु स्यात्स्यागाच्छ्रवणकीर्तनात् ॥ १ ॥

येन प्रकारेण भक्तिः प्रकर्षेण वृद्धिं प्राप्नुयात्तेन प्रकारेण साधनं विनिरूप्यत इत्यर्थः ।  
वृद्धौ प्ररूपेण फलोन्मुखत्वम् । भक्तिप्रवृद्धेरुत्तरावधिः क इत्याकाशायामाहुः वीजभावे  
दृढे तु स्यादिति । वीजरूपो भावोऽल्पस्रोहः, तस्मिन् दृढे व्यसनात्मके सति प्रवृद्धिं पूर्णां  
स्यादित्यर्थः । भावे वीजत्वोक्तिः फलेऽस्य निदानत्वयोपनाय । प्रथमतस्तत्र किं साधन-  
मित्याकाशायामाहुः स्यागाच्छ्रवणकीर्तनादिति । भक्तिमार्गविरोधिनोऽन्यमजनादेस्या-  
गात् । श्रवणं कीर्तनं च ताभ्याम् । इदमुपलक्षणम् । स्मरणमाचार्यभक्तिर्विश्वासभेत्यपि  
ज्ञातव्यम् । श्रवणकीर्तनयोरैकवद्भावः कर्मणोरित्यत्र निरोध इति ज्ञापयति । न हि यथै-  
कस्मिन्कर्मणि क्रियमाणे नान्यत् क्रियते, तथा श्रवणकीर्तनयोरपि ॥ १ ॥

भक्तिप्रवृद्धौ साधनान्युसत्वा प्रकारमाहुः वीजदार्ढ्यप्रकारस्त्यति ।

वीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्या स्वधर्मतः ।

अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः ॥ २ ॥

वीजरूपस्य भावस्य रटनामिदार्थमय यक्ष्यमाणः प्रकारः । इमंभेवाहुः । गृहस्थित-  
भजनानुष्ठानत्वात् । 'श्रुतिस्मृती मधेसात्रे' 'वर्णाश्रमाचारवना पुराणे'त्यादिसर्वैः न्य-  
वर्णाश्रमाचारधर्मेण गृहे स्थित्या व्यावृत्तिः कार्यान्तरभ्यासश्चन्द्रदिनोऽभ्यासः । श्रव-  
णादिभिः सहितया परिचर्यया कृष्णसदानन्दं पुरुषोत्तमं भजेत् । कृष्णसदानन्देन मजनं,

न साधनत्वेनेति ज्ञाप्यते । तत्राद्युक्तपूजायां शीतलशंखोदकस्नानादिमत्त्वेन भक्तिमार्गा-  
याणामनधिकारात् । स्नेहाभावे सेवापि पूजातुल्येव भातीति ज्ञापनार्था पूजापदोक्तिरत्र ज्ञेया ।

‘तज्जन्म तानि कर्माणि तदायुस्तन्मनोवचः । नृणां येनेह विश्वात्मा सेव्यते हरिरीश्वर’  
इत्यादिवाभ्यैर्भगवद्भजनाभावे जन्मादिवैयर्थ्यात् व्यावृत्तिराहित्येन सेवाया असंभवेपि  
यथासंभवं शक्त्यनुसारेण श्रवणादिकमेव कार्यम्, न त्वन्वया स्यात्तद्व्यमित्याशयेनाहुः  
व्यावृत्तोपि हरौ चित्तमिति ।

व्यावृत्तोपि हरौ चित्तं श्रवणादौ यतेत्सदा ।

ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवेत् ॥ ३ ॥

वीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यन्नापि नश्यति ।

कार्यान्तरप्यासक्तोपि हरौ दुःखहरणशीले चित्तं निधाय श्रवणादौ यत्नं कुर्यादि-  
त्यर्थः । यमु प्रयत्ने । यतेदिति पाठे अनुदात्तेतामात्मनेपदानित्यत्वात् साद्युत्वम् । एवं  
वर्तमानस्य प्रेमादिकं भवतीत्याहुः ततः प्रेमेति । भगवत्सेवया श्रवणादितोपि चित्ता-  
सङ्गावस्थापत् प्रेम भवति । स्वविषये स्वतः प्रवर्तको भावः प्रेमशब्देनोच्यते । प्रेमानन्तरं  
तथा पूर्वोक्तादेव सङ्कल्पावस्थावदासक्तिर्भवति । स्वविषये विविधमनोरयजनको भाव  
आसक्तिः । व्यसनं च यदा प्रयुक्तपया भवेत्, तदा तद्बीजं बीजरूपो भावः शास्त्रे भग-  
वच्छब्दे दृढमन्यापरिभूतमुच्यते, यत्फलं जनयति, दृष्टसंसर्गादिना नश्यत्यपि न । व्यसनं  
स्वविषयं विना स्यात्तुमशक्तिजनको भावः ।

प्रेमासक्त्योर्ज्ञापके आहुः स्नेहादिति ।

स्नेहाद्वागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद्गृहारुचिः ॥ ४ ॥

गृहस्थानां बाधकत्वमनात्मत्वं च भासते ।

यदा स्याद्द्वयसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हि ॥ ५ ॥

तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशकम् ।

यथा यथा भगवति स्नेहस्तथा तथान्यत्र हीयत इत्यर्थः । भगवत्यासक्त्या  
भगवदनुपयोगिगृहादिषु अरुचिरप्रीतिर्भवति । भगवति प्रेमासक्त्योः सर्वपुरुषार्थसा-  
धिकयोरपि गृहस्थानां गृहासक्तानामविवेकिनां गृहादिषु रागाभावजनकत्वेन स्त्रीपुत्रादि-  
पोषणासंभवरूपदोषोद्भावनेन बाधकत्वं, स्वस्य प्रवृत्तेर्भागस्वत्त्वेनानात्मधर्मत्वं च भासते ।  
अथवा । सर्वेषामात्मरूपे हितकारिणि भगवत्यनात्मत्वं भासते । वस्तुतस्तु ‘तेषां नित्या-  
मियुक्तानां योगक्षेमं बहाम्यहम्’ ‘न मे मत्तः प्रणश्यति’ ‘किमलम्भं भगवती’त्यादिवा-  
क्यैस्तेषां भयवानेवैहिकपारलौकिकसाधक इति तेषामेवेदमज्ञानमिति भासत इत्युक्तम् ।



यदा कृष्णे पूर्णानन्दे व्यसनं स्यात्, तदैव जीवः कृतार्थः पूर्णार्थः स्यात् । एवकारेण प्रेमा-  
सक्तोर्बुदासः । हि युक्तोयमर्थः । यतः तादृशस्यापि प्रेमासाक्षितमतापि सततं निरन्तरं  
गृहस्थानं गृह एवावस्थानं विनाशकं भावसेति शेषः । तेन सत्सङ्गादिकं कर्तव्यमिति भावः ।

भक्तिप्रवृद्धिसाधने प्रकारान्तरमाहुः त्यागं कृत्वयेति ।

त्यागं कृत्वा यतेद्यस्तु तदर्थार्थैकमानसः ॥ ६ ॥

लभते सुदृढां भक्तिं सर्वतोप्यधिकां पराम् ।

त्यागे बाधकभूयस्त्वं दुःसंसर्गान्तिथान्नतः ॥ ७ ॥

यस्तु पुरुषो गृहे भगवद्भजनप्रतिबन्धं ज्ञात्वा गृहत्यागं कृत्वा श्रवणादौ यसेत् यत्नं  
कुर्यात् । 'यतेदि'ति पाठे पूर्ववज्ज्ञेयम् । तदर्थार्थैकमानसः तदर्थं भगवन्निमित्तं योर्थः श्रव-  
णादिः तस्मिन् । यद्वा । भगवतोर्थः प्रयोजनं लीला तदर्थार्थं तन्निमित्तं एकमनस्य मानसं  
यस्य एतादृशः सन् सुदृढां विषयाद्यपरिभूतां सर्वतोपि ज्ञानयोगादिभ्योप्यधिकामधिकफल-  
दायिनीं परां प्रेमलक्षणां फलरूपां भक्तिं लभेत प्राप्नुयादित्यर्थः । तर्हि निर्विघ्नेस्मिन् प्रकारे  
विद्यमाने किमर्थं प्रकारान्तरमाश्रयणीयमित्यात् आहुः त्यागे बाधकभूयस्त्वमिति ।  
दुःसंसर्गात् । दृष्टानां भगवद्दहिर्मुखादीनां सदभोजनादिना सङ्गात् । तथागतः दुष्ट-  
ज्ञात् । वैभवेवमगवच्चरणामृतप्रक्षेपादिनाप्यन्नदोषनिवृत्तेः संभवात्सङ्गादोपोऽधिक इति  
तस्य प्रयमनिर्देशः । गृहत्यागे बाधकभूयस्त्वं बाधकानामन्तरायहृत्नां घातुल्यमस्ति, तेन  
यावद्गृहे भजनं संभवति, तावद्गृहत्यागो न कर्तव्यः, सर्वथा यजनाऽसंभवे कर्तव्यः ।  
तदुक्तं श्रीभागवतार्थतत्त्वदीपे 'भाव्यादिरतुकूलभेत्कारयेद्भगवत्क्रियाम् । उदासीने स्वयं  
कुर्यात्पतिक्रूडे गृहं त्यजे'दिति ।

तेन गृहस्य त्यागेऽत्यागोपि यावद्भजनं संपद्यते, तावत्सत्सङ्गादिकं कर्तव्यमि-  
तित्याहुः अतः स्वेषां हरिस्थान इति ।

अतः स्वेषां हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परैः ।

अदूरविप्रकर्ये वा यथा चित्तं न दुष्यति ॥ ८ ॥

यतः पूर्वोक्तं बाधकमतः कारणान् हरिस्थाने प्रजगपुरादौ तदीयैर्भगवन्मार्गसौर-  
नस्यैः तत्परैः सेवाकीर्तनादिना भगवत्परैः सह अदां निकटं यथा भवति तथा स्वेषाम् ।  
निकटस्थितसंभवे दूरेषु स्थित्वा तदनुसरणं कर्तव्यमित्याहुः विप्रकर्ये वेति । भक्ति-  
मार्गस्थत्वाभावे स्वेषां सङ्गात् स्वस्य कार्यं न सिध्यत्, तत्परत्वाभावे भगवत्सेवाकुर्या-  
पमावात् स्वस्य लामो न सादिति द्वयमुक्तम् । निकटे दूरे वा स्थित्वा तादृशमगवदी-  
यातुसरणे तत्कृषवा चित्तं दुष्टं न भवतीत्याहुः यथा चित्तं न दुष्यतीति ॥ ८ ॥

एवं सत्सङ्गे सति केवलमनिष्टनिवृत्तिरेव न, किन्त्विष्टप्राप्तिरपि भवतीत्याहुः से-  
वायामिति ।

सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेत् ।

यवाज्जीवं तस्य नाशो न क्वापीति मतिर्मम ॥ ९ ॥

यस्य महत्कृपया सेवायां स्वशरीरसाध्यश्रीकृष्णभजने, कथायां तद्गुणलीलादिश्रवणे  
दृढा विषयाद्यनभिगृता आसक्तिर्भवेत्, यावर्जायमादेहपातं, तस्य क्वापि कुत्रापि देशे  
कालेपि नाशः भगवद्भजनाननुरूपफलप्राप्तिर्न भवति । अथवा । भावस्य नाशो भावा-  
न्तरोत्पत्तिर्वा न भवति इति मम मतिः । प्रभुः कृपया को वेद किं दास्यति । वाश-  
द्भावतुक्तस्मरणादिसमुच्ययार्थो ॥ ९ ॥

ननु भगवदीयानामपि सङ्गः किमर्थं कर्तव्यः, एकाकिना अरण्यादौ भगवद्गीतादि  
चिन्तनं कुर्वता कथं न श्येयमित्यत आहुः बाधसम्भावनायामिति ।

बाधसंभावनायां तु नैकान्ते वास इष्यते ।

हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः ॥ १० ॥

तुशब्दः तं पक्षं व्यावर्तयति । बाधोत्र चित्तोद्वेगविक्षेपादिः, स चेन्न सम्भ-  
वति तदा तथैव श्येयम् । बाधसम्भावनायां सत्यामेकान्तेऽरण्यादौ वासो नेष्यते, न  
इष्ट- । नवांतनबाधामावेपि बहिर्धौरव्याप्रादिभयसम्भवे सति कथं श्येयमित्यत आहुः  
हरिस्त्विति । सर्वदुःखहर्ता प्रभुः सर्वतः सर्वस्मात् सुदर्शनादिना रक्षां करिष्यति ।  
'सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च वादिने । अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम ।'  
'न मे भक्तः प्रणश्यती'त्यादिवाक्यैरस्मिन्नर्थे न संशय इत्यर्थः ॥ १० ॥

श्रीब्रह्ममाचार्याः सगुणनिर्गुणभेदेन दशधा भक्तिरिति दशभिः श्लोकैर्भक्तिवर्धिनीप्र-  
क्रियां निरूप्य, एतदुक्ताचरणैतत्पाठयोः फलमाहुः इत्येवमिति ।

इत्येवं भगवच्छास्त्रं गूढतत्त्वं निरूपितम् ।

य एतत्समधीयीत तस्यापि स्याद्दृढा रतिः ॥ ११ ॥

इतीदं गूढं गुप्तं तत्त्वमनारोपितं रूपं यस्मैतदर्थं भगवच्छास्त्रं भक्तिप्रतिपादकम् ।  
अथवा । गूढतत्त्वं यथा स्यात्तथा, एवममुना प्रकारेण निरूपितम् । य एतदुक्तमाचरेत्तस्य  
भगवति दृढा रतिः प्रीतिः स्यात् । यो नैतदुक्ताचरणाशक्तः स त्वैतद्भक्तिवर्धिनीरूपं समधी-  
यीत श्रद्धामक्तिपूर्वकं पठेत् । तस्याप्यग्रे दृढा रतिः स्यादित्यर्थः ।

श्रीमत्कल्याणरायेण श्रीगोविन्दात्मजेन वै । गुरून् नत्वा यथाबुद्धिं विवृता भक्तिवर्धिनी ॥

इति श्रीविद्वलेश्वरचरणैकतानश्रीकल्याणरायविरचिता भक्तिवर्धिनीविवृतिः ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

# भक्तिवर्धिनी ।

श्रीहरिरायविरचितभक्तिवर्धिनीविवृतिः ।

श्रीब्रह्मभार्यपदानुकम्पाबलेन किञ्चित् परिचिन्त्य चित्ते ।

निरूप्यते भक्तिविवृद्धयुपायनिरूपणग्रन्थनिरूपितोर्थः ॥ १ ॥

श्रुतिप्रत्ययार्थ्यां भक्तिः सप्रेमसेवनम् । चेतस्त्रयवणं तत्र तनुवित्तप्रसाधितम् ॥ २ ॥  
तत्र मूलं हरेरंगीकारोय शरणागतिः । ततः समर्पणं जीवदेहसंबन्धिवस्तुनः ॥ ३ ॥  
ततो योग्यत्वसाम्यस्या सेवनं तु प्रवर्तते । पूर्वोक्तरूपतद्दृष्टिस्तनुवित्तजसेवनात् ॥ ४ ॥  
तदुपायापरिज्ञाने सा कथं वृद्धिमेष्यति । अतस्तद्दृष्टयुपायोत्र ग्रन्थे प्रभुनिरूप्यते ॥ ५ ॥  
यथा येन प्रकारेण चेतस्त्रयवणालिका । भक्तिर्न्यसनपर्यन्तं वृद्धा भवति सर्वया ॥ ६ ॥  
तथा तेन प्रकारेण य उपायः स कथ्यते । उपायस्तु स एवात्र तनुवित्तजसेवनम् ॥ ७ ॥  
त्यागात्यागविभेदेन एहे भक्तएहे तथा । बीजभावः प्राथमिको यतः सेवा प्रवर्तते ॥ ८ ॥  
स्वामिसेवकमावात्मा तदादर्शाद्दृष्टिसंगवः । अथवा त्यागपक्षेण कृतश्रवणकीर्तनात् ॥ ९ ॥  
अनायासेन सुदृढभक्तिप्राप्तिर्न संशयः । अत्यागपक्षे कमसो भक्तिवृद्धिरदोष्यते ॥ १० ॥  
अतो हि बीजदोर्बस्य प्रकारोत्र निरूपितः । गृहे स्थितिः स्वधर्मेण वर्णाश्रमगतेन हि ॥ ११ ॥  
विधेया नापि सेवार्थमधर्मेण कथञ्चन । अधर्मे स्थितितो मुद्धिनाशाद्दुःसङ्गतस्तया ॥ १२ ॥  
तेतो दुष्कर्मकारणे चेतस्त्रयवणं कुतः । अतस्तथाविधं कृष्णं सदानन्दं परं वृहत् ॥ १३ ॥  
लोकवेदफलाधर्यव्यावृत्तिरहितो जनः । भजेत्सेवेत तन्वाधैस्त्रय व्यावृत्तियोजनम् ॥ १४ ॥  
प्रेमैव भजनं तत्र माहात्म्यज्ञानसिद्धये । पूजाश्रोक्ता नियन्धे या मध्यादिरहिता हरी ॥ १५ ॥  
पाहिर्मुष्योद्भवामावसिद्धये श्रवणादयः । अयं तु मुख्यकल्पो हि सर्वया साधको मतः १६ ॥  
यथा रोगशतार्तस कुप्य्यरहितौपधम् । एवंविधस्य निर्वाहं स्वयमेव करोति हि ॥ १७ ॥  
योगशेमोद्गहे स्त्रीप्रतिज्ञापरिपालकः । सेवकस्यापि विश्वासः कर्तव्योऽवश्यमेव हि ॥ १८ ॥  
नहि सेवकनिर्वाहं विदधाति न हि प्रभुः । तथापि जीवप्रकृतिवशतो न त्यजत्यसौ ॥ १९ ॥  
प्यावृत्तिं दृढविश्वासानावतो लोकवेदयोः । तस्य भक्तिप्रवृद्धयर्जनतु कल्पोपि रूप्यते ॥ २० ॥

१ कारणमित्यर्थः । २ यथा ब्रह्मबोधे सुदृढरूपेण पदार्थव्यवहारव्यापितो ब्रह्मस्य हृद्यनन्ता इतिः

एतत्स्वरूपं भवति, तथा भक्तिबीजे स्वामिसेवकभावे व्यसनपर्यन्तावस्थातां सुदृढरूपेण स्थितो भक्तिदुर्बल  
एतत्स्वरूपं व्यसनपर्यन्ता इतिभवेतीति भावः । ३ एतत्सर्वेति हेतुः । ४ वदन्तामित्यर्थः ।

व्यावृत्तिसहितो वापि चित्तमात्र हरौ परे । सर्वकार्येषु सतत यत्नेन स्थापयेत्सुन ॥ २१ ॥  
 तथापि भगवत्कार्यातिरिक्त उपयोगिनि । तथाभावामाववता चित्तवैमुख्यसमव ॥ २२ ॥  
 तदर्थं स्थापयेत्तनु श्रवणादावपि स्वतः । एवविधा तु सतत प्रेमासक्तिरूपेण हि ॥ २३ ॥  
 भवेद्वासनससिद्धिं प्रवृद्धासौ तदा रति । यदेति वचनात्तत्र व्यसन दुर्लभ मतम् ॥ २४ ॥  
 प्रमुणापि यतो दत्त रासस्याखेव तत्सुन । यद्धि व्यसनपर्यन्तावस्य धीज तदुच्यते ॥ २५ ॥  
 धीन भावात्मक शास्त्रे दृढ सद्गान्न नश्यति । कुत उत्पादयेद्भावान्तरमित्यपि नोदितम् २६  
 आसक्तावपि दुःसद्गो बाधकत्वेन चोदित । श्रीस्वामिनीभिरप्युक्तपञ्चाध्याय्या प्रमु प्रति २७  
 त्वयाभिरमिताः स्यातु पारयामोन्त्यतो न हि । विवृत तत्तथाचार्यैर्व्याधिदेहिनिदर्शनात् ॥ २८ ॥  
 किं प्रेम का तथासक्ति किं वा व्यसनमुच्यते । व्यतिरेकमुखेनैव तल्लक्षणमुदीर्यते ॥ २९ ॥  
 नहि भावे हरिर्वाच्यो 'यतो वाच' इति श्रुते । निषेधमुखतो वाच्यो नेतिनेतीत वाक्यत ॥ ३० ॥  
 यतो रागविनाश स्यादौदासीन्येन च स्थिति । हरिभिन्ने विना हेतु स भाव प्रेमशब्दित ३१  
 आसक्तिर्येन भावेन गृह्यादिव्यनुयोगिषु । अप्रीतिश्च तथा तेषा गृहस्याना निरोपनात् ॥ ३२ ॥  
 प्रियान्तिकगतौ तेषु बाधकत्वेन बोधनम् । स्वासबन्धितया भान स भाव सा निगद्यते ॥ ३३ ॥  
 स्वबाधकतया वापि यदा स्फूर्तिर्निवर्तते । गृहस्याना तदा कृष्णे व्यसन तदुदीर्यते ॥ ३४ ॥  
 तदेव पूर्णसर्वायौ हृद्याभिर्भावतो हरे । अपेक्षिता शरीरसालौकिकस्वातिरुत्तमा ॥ ३५ ॥  
 तदभावे तादृशस्य निरन्तरगृहस्थिति । षडि सबेदनाद्भावनाशिका समुदाहता ॥ ३६ ॥  
 अस्याप्येव तदान्येषा का वार्तेत्यपि नोदितम् । अतस्त्यक्त्वा गृह कापि भगवत्सन्निधौ स्थिति ३७  
 कार्या कदाचिन्न ततो भवेद्भावविनाशनम् । एवमेकप्रकारो हि भक्तिवृद्धेरुदीरित ॥ ३८ ॥  
 दृढभक्तिप्राप्तिकलो द्वितीयोपि निरूप्यते । भार्यादिप्रातिकूल्येन गृहे सेवाद्यसम्भवे ॥ ३९ ॥  
 त्याग कृत्वा तु य सेवायन्न कुर्यात्स दुर्लभ । हर्यर्थमात्रचिउस्तु नाशतोऽन्यगमानस ॥ ४० ॥  
 अनेनास्मिन्नपि प्रोक्ता कल्पेऽव्यावृत्तिरुत्तमा । लभते च स्वत सिद्धदाढ्या भक्ति परा हरौ ४१  
 मोक्षादितो भक्तिश्चाधिका व्यसनरूपिणीम् । ननु त्याग विधायैव कुर्यान्श्रवणकीर्तने ४२  
 किमर्थं सेवना कार्या तनुवित्तयुता हरे । चेतस्तत्त्ववषण सेवा सा तु तैरपि सिध्यति ॥ ४३ ॥  
 इति चेन्न यतस्त्यागे बाधकानन्त्यमीक्ष्यते । दु सरगांनदोषाभ्या दोषहेतुतया तयो ॥ ४४ ॥  
 अतो यया न दुःसद्गदुष्टात्ते प्रतिबन्धके । स्वाता तथा हरिस्थाने देशदोषनिवारके ॥ ४५ ॥  
 स्येय यतो हरिर्भक्तदुःखाभावाय हि स्थितः । तत्रापि चित्तदोषस्य सर्वथा विनिवृत्तये ॥ ४६ ॥  
 तदीयै कृष्णसम्बद्धैः समर्पितनिजात्मभिः । तत्रापि कृष्णरुपया सेवया चापि तत्परैः ॥ ४७ ॥  
 यत सत्सद्गमो भक्तधर्मबोधेन साधितः । तथा सद्पदोक्त्यात्र सहभावेनै च स्थिति ॥ ४८ ॥

१ तथा च निरोधो व्यसनमिति भावः । २ अर्थात्तन्मां सत्सत्तेन बुभुष्यते एवप्रकारेण सर्वत्र  
 सत्सत्तम साधित इत्यर्थः । ३ एवप्रामस्थित्यापि सहभाव सम्भवतीति सहस्थितिवोधनार्थं गृहे  
 सहपदमिति भावः ।

अन्यथा कृष्णसेवायाः कयायाथाप्यसम्भवः । यदि ते भगवद्भक्ताः कृपयेयुः स्वभागतः ४९  
 तदा दूरे तद्गृहे ततोवनाद्यैः सहस्थितिः । तदान्नदोषदुःसङ्गौ वाषेयातां न सर्वथा ॥ ५० ॥  
 तत्रैव देहनिर्वाहस्तत्सङ्गैश्च च स्थितिः । तथाविधमहाभाग्याभावेन यदि तादृशाः ॥ ५१ ॥  
 न स्थापयेयुर्निकटे विप्रकर्षे तदा स्थितिः । वाशब्दोक्त्या न क्रोष्यत्र विशेषः पक्षयोर्द्वयोः ५२  
 यथाकथञ्चित्संतोष्याः सन्तः सन्मार्गवर्तिभिः । यथा तेषां सतां चित्तं न स्वस्योपरि दुष्यति ।  
 तथा विनयसौजन्यसेवाभक्त्यादिभिः स्थितिः । अथवा स्वस्य वा चित्तं यथा तदुपरि स्वतः ५४  
 न दुष्यति तथा स्वयं तदोपापरिभावनैः । यद्वा अन्यदीयसंसर्गं चित्तदोषकरं परं ॥ ५५ ॥  
 विहाय भगवद्भक्तैः सह स्वयं विशेषतः । यथा प्रथमपक्षे तु प्रेमासक्त्यादिसम्भवे ॥ ५६ ॥  
 धीजदाढ्यं तथात्रापि सेवया कीर्तनेषु च । द्वादसत्तौ न भावस्य देहादेर्वापि नाशनम् ५७  
 यस्येति दुर्लभा त्यागपक्षे प्रोक्ताधिकारिता । यतस्तस्मिन्दि कल्पे तु कर्मणासक्तिसम्भवः ५८  
 अत्र तु स्यात्स्वतो दाढ्ययुता भाग्ये तथाविधे । कापीति पदतो लोकवेदौ भक्तिश्च रूपिता ।  
 सम्यक्प्रकारकस्यित्या कीर्त्या लोके न नाशनम् । त्यागपक्षस्थितौ कर्मत्यागात् श्रुतिचाश्रयम् ।  
 भगवद्भक्तसङ्गेन भक्तिमार्गे न नाशनम् । दुःसंसर्गाद्गदोषौ च नैव प्रभवतो यतः ॥ ६१ ॥  
 तादृशस्यापीति वाक्ये यथापूर्वं गृहस्थितिः । वाधिकोक्ता तथात्रापि विच्छेदो वाधको मतः ।  
 यावज्जीवमिति प्रोक्तमत एव पदं पुनः । एतेन त्यागपक्षानामन्यासक्तिनिवारिता ॥ ६३ ॥  
 तथैव चान् विच्छेदस्तदभावे न नाशनम् । मतिर्ममेति यत्प्रोक्तं तदभिप्राय ईदृशः ॥ ६४ ॥  
 कदाचिद्दृष्टेन भगवत्प्रियरोपतः । दुर्बुद्धौ तदतिद्रोहाद्भगवत्प्रतिबन्धतः ॥ ६५ ॥  
 नाशोपीति यतो वाक्ये संदेहो विनिरूपितः । ननु त्यागं विधायान्यसङ्गः किमिति बोधितः ।  
 ज्ञानिनामिव संसर्गमात्रत्यागो न चोदितः । त्यागे त्वेकान्तवसतिविशेषेण च साधिका ॥ ६७ ॥  
 तत्रोत्तरं तु भावस्य बाधनं हृदयस्थितैः । कामादिभिर्जीविधर्मैर्यावत्सम्भाव्यते पुनः ॥ ६८ ॥  
 तावदेकान्तवासस्तु नेष्टो बाधानिराकृतेः । कामादयो भावनाभिर्नाशयन्ति क्षणान्मनः ६९  
 न तत्र दोषनाशाय सहायोक्ति रदःस्थितौ । भक्तिमार्गप्रकारेण हरिश्वापि निरोहितः ॥ ७० ॥  
 भक्तिमार्गीयकार्याय न व्यापकतया स्थितिः । अतो न रक्षकः कोपि तस्यैकान्तस्थितौ भवेत् ।  
 तुशब्देन ततोन्वोपि त्यागपक्षोत्र सूचितः । अत्र प्रवल्लभोपि दुर्बलत्वेन रूपितः ॥ ७२ ॥  
 हरिरत्र न शक्नोति कर्तुं वायां कुतोपरे । अतो न रक्षकापेक्षा सिद्धत्यागे विधीयते ॥ ७३ ॥  
 स्वास्थ्यहेतोः परित्यागादिति वाक्यात्प्रमृदितात् । यदा तु साधनदशा तदापेक्ष्यं हि रक्षणम् ।  
 भक्तानां रक्षकः कृष्णो नान्य ह्येष निधयः । स तु सन्निहितो नित्यं लीलाम्थाने तथा पुनः ।  
 यत्र वा भगवद्भक्ताः सेवया कथया युताः । स्वभावतो दुःखहर्ता निजाश्रितजनाश्रितान् ७६  
 नोपेक्षते यतस्तत्र स्वयं यत्र स्थितो हरिः । तत्रापि सर्वतो रक्षा नान्यमाध्या न संशयः ७७

१ हरिश्वायविरचितविप्रलसमेवा । २ भक्त्यापराधः । ३ हरिश्वायविरचितः ।  
 वेवापरता, अथपरता चेति त्यागे नप पश्चा उच्यते । ४ मुने नयेना इवावपेते ।  
 भक्ति ४

यतः कालवशाः कालकर्मादिभ्यो न रक्षकाः । तुशब्देन स्वभावोपि हरेरेष निरूपितः ७८  
 संशयाभावकथनं तत्र भक्तवशो हरिः । भक्तमक्तानपि सतो रक्षति स्वगतानिति ॥ ७९ ॥  
 रक्षणं कालकर्मादेस्तथा भावान्तरादपि । पक्षद्वयेन भक्तेस्तु वृद्धिरेवं निरूपिता ॥ ८० ॥  
 इतिशब्दः समाप्त्यर्थोन्यप्रकारनिषेधकः । एतावता हि भगवच्छास्त्रमेव निरूपितम् ॥ ८१ ॥  
 यतस्त्वद्ब्रह्मत्त्वं हि ततो न्येषां सुदुर्गमम् । तत्त्वमेतावदेवास् तस्मिन्नत्र निरूपिते ॥ ८२ ॥  
 तदेव सकलं शास्त्रं निरूपितमितीरितम् । एतदध्ययनात्सम्यग्बुद्धिं याति रतिर्हरौ ॥ ८३ ॥  
 सम्यक्त्वं श्रद्धया भक्त्या तथा विश्वासतो गुरौ । य इत्यनेन वर्णादिनियमोधिकृतौ न हि ८४  
 अपिशब्देन कैमुत्यन्यायोप्यत्र निरूपितः । ग्रन्थपाठादपि रतेर्बुद्धिर्यत्र तदा किमु ॥ ८५ ॥  
 वाच्यमाचरणे साधु समायामुपदेशने । तत्रापि भक्तिवृद्ध्यापि द्बोक्ता पाठमात्रतः ॥ ८६ ॥  
 इति श्रीवल्लभाचार्यकरुणालब्धशक्तितः । स्वसन्तोषाय भावस्य पोषायातिप्रयत्नतः ॥ ८७ ॥  
 श्लोकरूपेण सर्वापि विवृता भक्तिवर्धिनी । ययामति निजाचार्यचरणाश्रयणादपि ॥ ८८ ॥  
 एतेनास्मत्कुलपतिः प्रभुः श्रीविठलेश्वरः । प्रसीदतु सदा दासे हरिदासे स्ववंशगे ॥ ८९ ॥

इति श्रीहरिदासविरचिता भक्तिवर्धिनीविवृतिः समाप्ता ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

## भक्तिवर्धिनी ।

श्रीगोपेश्वरविरचितविवृतिसमेता ।

श्रीवल्लभाचार्यचरणवारिरुहेभ्यो नमः । श्रीविठलपदपङ्केरुहेभ्यो नमः ।

यत्पदाम्भोजभजनाद्भवन्ति समसिद्धयः । कलयामि कृपावार्धिं तं प्रभुं भक्तिवृद्धये ॥  
 निधाय श्रीमदाचार्यचरणान्जसुगं हृदि । तत्कृपातो यथाशक्ति व्याकुर्वे भक्तिवर्धिनीम् ॥  
 भगवद्रसपीयूषपायिनो यत्कृपायुजः । भवन्ति.....मक्त्या तं श्रीविठलमाश्रये ॥  
 श्रीमत्कल्याणरायारूपाननुकम्पापयोनिधीन् । नमामि तातचरणानहं स्वाभीष्टसिद्धये ॥

अथ मायावादादिदुरध्वेतिवाजालमहेन्द्रजालजनितजनताव्यामोहमूलनिर्मूलेन सम-  
 र्यामितागमनिगमान्तस्मृतिपुराणतत्त्वसूत्रादिप्रमाणशतप्रतिपन्नप्रपन्नजनप्रतिक्षणक्षेमंकरप्रभ्वा-  
 ज्ञाप्रादुर्भाविततद्भक्तिमार्गेणातिकरालकलिकालविलुप्तकर्माधिकारान् भगवदीयकृपाद्वक्पा-

१ 'तत्रापि भक्तिवृद्ध्यापि प्राप्यते सुरदा हरी । पाठमात्रेण तेनेषा ससेव्या भक्तिवर्धिनी ।' इत्यधिकं  
 कचिद् । २ अत्राशुभमिव भाति ।

तसंजातभक्तिमार्गश्रद्धाधापिक्यसमधिगतैतदधिकारानपि भक्तितत्त्ववृद्धिकरोपायविशेषपरि-  
चयान्नाभावप्रभवप्रसुरकेशकरवितान्त करणान्प्राणिन समुद्दिधीर्षव परमकृपालव श्रीवत्सभा-  
चार्यचरणा भक्तितत्त्ववर्धकोपायनिरूपण प्रतिजानते यथेति ।

यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात्तथोपायो निरूप्यते ।

धीजभाये दृढे तु स्यात्पागाच्छ्रवणकीर्तनात् ॥ १ ॥

यथा येन प्रकारेण भक्ते प्रकृष्टा वृद्धिर्भवति, तथा तेन प्रकारेण उपायो निरू-  
प्यते, विविच्य कथ्यत इत्यर्थ । ननु श्रीमद्भागवतगीतादिषु भक्तितद्बुद्धिनिदानभूतदान-  
ग्रतादीनामुपवर्णितत्वेन तत एव तदवगतेरनर्थकमेतन्निरूपणमिति चेत् । अत्र वदन्ति ।  
भक्तिर्हि द्विविधा, साधनरूपा फलरूपा च । तत्राद्याया दानग्रताद्युपायपूर्वकत्वमिति तदुत्प-  
त्तिवृद्धिप्रकारा सुप्रसिद्धा, न द्वितीयस्या । अतस्तस्या स्वय प्रकृष्टताया वृद्धिप्रकारानि-  
रूपणमुचिततर भवतीति । वस्तुतस्तुभयविधभक्तिवृद्ध्युपाय एव निरूपणीयत्वेनात्राभिमत  
इत्यामिति, श्रवणकीर्तनाद्युभयसाधारणसाधनानामग्रेऽभिधानात् । न चैषामुभयरूपत्वमनु-  
पपन्नमिति वाच्यम्, स्वतन्त्रफलत्वफलान्तरसाधकत्वप्रतिसन्धानपूर्वकविधानेनोभयरूपताया  
सम्भवात् । नन्वेव सत्येतेषामन्यत्र निरूपितत्वेनात्रापि निरूपणे क्रियमाणे पौनरुक्त्यदोषो  
दुष्परिहर इति चेत् । न । अन्यत्र धर्मान्तरव्यतिकरणनिर्मुक्तिताकाराणामेवा व्यक्तमवश्य  
वक्तव्यतयोक्तदोषस्य वक्तुमनुचितत्वात् । न पुनरुक्तता महान्दोष, शतकृत्योपि पथ्य  
वक्तव्यमिति न्यायात् । भक्तिप्रवृद्धि कदा भवेदित्याकाक्षायामाहु धीजभाये दृढे तु  
स्यादिति । धीजभावे स्वल्पेहे दृढे व्यसनरूपे सति भक्ते सर्वाशेन वृद्धिर्भवेदित्यर्थ ।  
यद्वा । धीजभावे स्वाचार्यानुग्रहसिद्धमगवन्निवेदानन्तरमाविभागवदङ्गीकारे दृढे अति  
सिधे केनाप्यचाल्ये सति सा सादित्यर्थ । न च भक्तेर्मुक्तिहेतुत्वाद् ज्ञानेनैव तदवाप्तेर्भ-  
क्तिवृद्धिरनभिलषितेति वाच्यम् । भक्ते स्वतन्त्रफलत्वेन तद्दृढे सर्वाकाक्षणीयत्वात् । कथ  
मन्यया मुक्तपूर्वाभिषिक्त श्रीशुको भृश भक्तावनुरक्तोऽभूत् । कथ वानारतनिवृत्तिनिरता  
'नैकालता मे स्पृश्यन्ती'त्यादिवाक्यानि । नापि भक्तिं विना कृत ज्ञान कैवल्यकरणीम  
वितुमर्हति, भक्तिसहितसैव तस्य मुक्तिसाधकत्वात् । 'श्रेय'श्रुतिं भक्तिमुदसे'ति वाक्यात् ।  
ननु यथाकथञ्चिन्मुक्तिहेतुत्वोक्तावपि भक्ते स्वतन्त्रफलत्व न सुप्रतिपदमिति चेत् ? आ-  
न्तोसि । स्वतः पुरुषार्थत्वेन कृतायास्तसास्त्रयात्वस्य दुर्वारत्वात् । अत एव प्रमुचरन्ते  
रमापि भक्तिहसे 'सिद्धोत्पत्यनन्तर स्वव्यसनत न्यतन्त्रपुरुषार्थत्वेन क्रियमाण श्रवा-  
दिरुचम पुष्टिरूप' इति । एव सति 'मत्सेवया प्रतीत च' 'सालोक्यसाष्टिभार्याप्यसा  
रुच्यैकत्वमभ्युत' 'मधुद्विद्वेषवानुरक्तमनसाममवोपि फल्यु,' 'अनिमिता मागवती भक्तिः  
सिद्धेर्गरीयसी' 'मगवान्भजता मुकुन्दो मुक्तिं ददाति कर्हिद्विःस न भक्तियोगम्' 'एव

धर्मैर्भुव्याणाम्' 'भक्तिं लब्धवतः' 'भक्त्या सखातया भक्त्या,' 'तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्ये'-  
त्यादिवचनानि सङ्गच्छन्ते । तद्ब्रह्मावतिरिक्तानि साधनान्याहुः त्यागाच्छ्रवणकीर्तना-  
दिति । भक्तिमार्गविरोधिदेवान्तराश्रयादेस्त्यागाद्भवन्नामचरित्रादेः श्रवणात्कीर्तनाच्च ।  
कर्मणोरिव श्रवणकीर्तनयोर्विरोधो नास्तीति घोषनार्थमेकवद्भावः । श्रवणकीर्तनयोस्फ-  
लक्षणत्वेन स्मरणस्वाचार्यभक्तिविश्वासादीनामपि संग्रहः । न चाप्रमाणसिद्धान्वयान्याश्रय-  
त्यागश्रवणादीनीति वाच्यम् । 'यो वै स्वां देवतामतियजते, प्रसाधै देवतायै च्यवते,  
न परां प्राप्नोति, पापीयान्भवति' 'यावदन्याश्रयस्तावत्', 'अनन्यचेताः सततं,' 'अनन्या-  
श्चिन्तयन्तो माम्,' 'प्र तत्ते अद्य शिपिविष्टः नामार्यः शंसामि वयुनानि विद्वान्, तं त्वा  
गृणामि तवसमतव्यान्क्षयंतमस्य रजसः पराके' 'तस्मात्सर्वात्मना राजन्' 'तस्माद्भारत'  
'तस्मादेकेन' 'तमु स्तोतारः' 'शृण्वन्गृणन्संस्मरयन्' 'शृण्वन्ति मायन्ती'त्यादिश्रुतिपुरा-  
णवाक्यसिद्धत्वात् ॥ १ ॥

भक्तिवृद्धौ साधनान्यभिधाय तत्प्रतिभुवं प्रकारमाहुः बीजदार्ष्यप्रकारस्त्विति ।

बीजदार्ष्यप्रकरस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः ।

अध्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः ॥ २ ॥

तुशब्दः प्रकारान्ताव्यवच्छेदकः । बीजस्य भगवद्भावस्य दार्ष्यजनकः प्रकारो  
भगवद्भजनलक्षण इत्यर्थः । यद्वा । बीजस्य पूर्वोक्तरूपस्य स इत्यर्थः । तमेवाहुः गृहे  
स्थित्वा स्वधर्मतः अध्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिरिति । स्वध-  
र्मतोऽग्निहोत्रादेर्गृहे षड्यावृत्तः कर्तव्यान्तरव्यासक्तिशून्यः स्थित्वाऽचक्षुः मूत्वा कृष्णं  
सदानन्दं, 'कृपिर्भूवाचक' इति वाक्यात्, श्रवणादिभिः पूजया भजेदित्यर्थः । इह स्नेहा-  
धिक्यवैधुर्येण विधीयमानायाः सेवायाः पूजासान्यात्पूजापदमुक्तम् । तत्राद्युक्तपूजायां  
शीतलशङ्खसलिलस्नानाद्यभिधानेन भक्तिमार्गविरोधात् । अथवा । ननु कृष्णभजनप्रकरणे  
तद्भिर्भुविपयकागमाद्युक्तयज्ञोक्तेरयुक्तत्वेन प्रकृते कथं पूजापदोपादानमुपपद्यत इति  
चेत् । इत्यम् । सन्ति हि बहवो भावभजनप्रकाराः, तदन्तर्निविष्टा भवति भावपूर्विका  
पूजापि । अत एव शुद्धपुष्टिमार्गाचार्यैः प्रमेयप्रकरणीयसप्तमाध्याये 'पूजां दधुर्विरचितां  
प्रणयावलोके' रित्यत्र गुणमाने हरिणीभावनिरूपणानन्तरं तद्भावदृशः पूजारूपता निरू-  
पिता । नहि तत्र ताश्चिकी पूजा युज्यते जातुचित्, तस्याः पृथग्रूपत्वात् । तेनैवंभूतभावा-  
नुसारिणी सात्राभिधिरस्तिरेति तदुपादानमविरोधि । न चैवमप्यन्ततो भक्तौ पर्यवसानेन  
तस्या एव वाच्यत्वात्संग्रहितपूजोक्तिरयुक्तेति वाच्यम् । श्रवणाद्यभक्तिनवकान्तर्गतस्वत-  
न्त्रभावपूजायाः प्रकृते पुरस्करणीयत्वेन क्षतेरभावादिति । यद्वा । धर्मान्तराणां परधर्मत्वेन  
परिहार्यत्वात्स्वधर्मतो भगवद्भर्मतः सेवानुकूले गृहेऽध्यावृत्तस्यक्तान्व्यासक्तिरिति यावत्,  
तयान्तः सन्, कृष्णं सदानन्दं पूर्वोक्त्या पूजया श्रवणादिभिर्भजेदित्यर्थः । अत्र कृष्ण-



पदेनोक्ता भजने फलरूपता । सूचितोकरणे प्रत्यवायो लिङ्गव्यत्ययेन च । न चास्मिन्पक्षे  
निहितवर्णाश्रमधर्मत्यागे प्रत्यवायपापण्डित्वादिदोषप्रसङ्ग इति वाच्यम् । सेवासमयामावे  
यथाधिकारं सर्वधर्मसम्पादनेनैव दोषापाकरणसम्भवात् । सेवासमये च सर्वधर्माणामन-  
वकाशनिराकृतत्वेन तदभावेऽपि हानेरभावात् । 'मत्कर्म कुर्वतां पुंसां'मिति वाच्यम् ।  
कदाचिद्दोषापावेषि भगवतैव तदपगमोपपत्तेश्च । 'स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य त्यक्तान्यभा-  
वस्य हरिः परेशः । विकर्म यच्चोत्पतितं कथञ्चिद्बुधोति सर्वं हृदि सन्निविष्ट' इति वाच्यम् ।  
मर्यादामार्गीयव्यवस्थैषा । शुद्धपुष्टिमार्गमभिनिविशमानस्य तु प्रभुचरणतामरसैकतानचेतसः  
कृत्स्नकर्मकलापं परित्यजतोऽपि प्रभोरश्रितिलपरिग्रहेण न कश्चिदोपः, यतस्तयामृत एव  
स पन्थाः । 'यदायमनुगृह्णाति भगवानात्मभावितः । स जहाति मतिं लोके वेदे च  
परिनिष्ठिता' मिति वाच्यम् ॥ २ ॥

एवं तद्बद्धिप्रकारं व्यासक्तिविरहितभगवद्भजनलक्षणमुक्त्वा, 'न हि कश्चित्क्षण-  
मपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृ'दितिन्यायेन काचित्कव्यावृत्तावपि चित्तं भगवति निधाय भजन-  
प्रयत्नमत्यजनासीतेत्यभिप्रायेणाहुः—

व्यावृत्तोपि हरौ चित्तं श्रवणादौ यसेत्सदा ।

ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवेत् ॥ ३ ॥

व्यावृत्तोपि हरौ चित्तं श्रवणादौ यसेत्सदेति । व्यावृत्तो लौकिककर्मव्यावृत्तोपि हरौ  
स्वकीयदुःखहरणस्वभावे चित्तं निधयेति शेषः, सदा निरन्तरं श्रवणादौ तन्निमित्तं यसे-  
त्प्रपतेतेत्यर्थः । यमु प्रयत्ने तेन, यथा केनचिदुक्तं, 'परव्यसनिनी नारी व्यग्रापि गृह-  
कर्मणि । तदेवास्वादयत्यन्तः परसङ्गरसायन'मितिवद्बुद्धये हरिं धृत्वावश्यकसांसारिकका-  
र्यव्यावृत्तेनाप्यनन्तरमनवरतं श्रवणादिप्रयत्नप्रवणान्तःकरणेन भवितव्यमित्यर्थः । यद्वा ।  
भगवत्कार्यव्यावृत्तोपि तत्परिसमाप्योर्वरितसमये श्रवणाद्यर्थमुद्यमं विदध्यादित्यर्थः । च्छे-  
दिति क्वचित्साठः । तत्र परस्मैपदमनुदात्तेतामात्मनेपदानित्यत्वात्प्रत्येतव्यम् । एवं प्रय-  
तमानस्यानुपूर्व्येण प्रेमासक्तिव्यसनानि भवन्तीत्याहुः ततः प्रेमेति । ततः श्रवणादिभ्यः  
प्रथमं प्रेम चित्तासङ्गवद्भवति, पश्चात्तथैव सङ्कल्पवदासक्तिर्भवति, व्यसनं च पुनर्यदा भवे-  
दतिप्रसुरप्रसुप्रसादप्राप्तत्वात्तत् । कीदृशानि पुनः प्रेमासक्तिव्यसनानि । स्वगोचरे  
स्वतः प्रवर्तको भावः प्रेम । तथानेकप्रियमनोरधजनको भाव आसक्तिः । विषयेण विना  
स्यानुमशक्तिर्येन स भावो व्यसनमित्येवमाकलय । अत्र संग्रहसौकी । 'स प्रेम यः सं-  
विदधाति भावः स्वतःप्रवृत्तिं विषये स्वीये । यथाभिलाषान् जनयेदनेकान्मायः स  
मासक्तिरिति प्रसिद्धः । स्यानुमेव न शक्नोति विषयव्यतिरेकतः । येन भावेन तं भाव-  
मादुष्यंसनसंज्ञकम् ॥ ३ ॥

एतन्मन्वती धीजं दद भवतीत्याहुः धीजमिति ।

धीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यत्रापि नश्यति ।

स्नेहाद्रागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद्गृह्यारुचिः ॥ ४ ॥

भगवत्कृपादिना यदि व्यसनसमुद्भवस्तदा यद्भगवच्छास्त्रे धीजं स्नेहाङ्कुरस्वरूप-  
मुच्यते तद्दृढमग्निविलं भवति, अत एव विषयादिसंसर्गेण नश्यत्यपि न । व्यसनमावस्य  
वीजमावदाढ्यपरमावधिरूपत्वादिति भावः । यद्वा । धीजं यत्प्रभुपरिग्रहात्मकं तद्यदि  
व्यसनं समुत्पद्यते, तदा भक्तिशास्त्रे दृढं केनापि शिथिलीकर्तुमशक्यमुच्यते । अत एव काल-  
सत्सङ्गेषादिनापि न विनश्यतीत्यर्थः । नहि भगवाग्निजाङ्गीकृतान्कदाचिदपि विहातुमु-  
त्सहते । तदङ्गीकारस्य नित्यत्वात् । एवमुत्तरोत्तरबलवत्तराणामेतेषामावयोः कार्यमाहुः  
स्नेहेति । स्नेहाद्भगवद्विषयकप्रेम्णः प्रसुप्तेवाप्रतिकूले गृहे रागस्य विनाशो भवति । भग-  
वद्रागस्य द्रागेव गेहानुरागनाशोपायत्वात् । 'तावद्रागादयः स्तेना' इति वाक्यात् । आ-  
सक्त्या चोत्तरूपया गृहेऽरुचिरासक्त्यभाव उपजायते । भगवदासक्तेस्तदतिरिक्तास-  
क्तिनिराकरणशीलत्वात् । 'कृष्णाग्निपद्ममधुलिङ्गं न पुनर्विसृष्टमायागुणेषु रमते वृजिनाव-  
हेष्वि'तिवाक्यात् । न च प्रेमासक्तिमतानपि गेहस्नेहादिसद्भावदर्शनादसङ्गतमिदमिति  
पाप्यम् । तादृशां भगवद्विषयकस्नेहसङ्गोपनार्थमेव सांसारिकतत्प्रकाशनादनेवंभावे च  
भगवत्यपि तदभावादेवेत्युभयथापि दोषाभावात् । लोकसंग्रहार्थमपि भक्तानामसंख्य-  
व्यापारदर्शनात् । भजनौषधिकमवनाद्यनुरागस्य स्वधर्मपर्ववसायित्वेनौचित्यावहितत्वाच्च ।  
एवं सति गृहाद्यनुरागिणामेवात्र बाधकत्वात्स्वधर्मत्वे स्फुरत इत्याहुः गृहेति ।

गृहस्थानां बाधकत्वमनात्मत्वं च भासते ।

यदा स्याद्भसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हि ॥ ५ ॥

तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशकम् ।

भगवत्स्वप्निप्रेमासक्त्योगेर्गृहस्थानां विवेकवैकल्येन गृहेनुरागाधिक्यात्तत्रैव तिष्ठतां  
बाधकत्वं, तत्र स्नेहाभावोत्पादकतया कलयपुत्रादिपोषणसामर्थ्याभावलक्षणदोषोद्भावना-  
त्प्रवृत्तिमार्गातिगात्रनिष्ठावत्त्वानात्मधर्मत्वं च, भगवति वानात्मत्वं भासत इत्यर्थः । वस्तु-  
तस्तु, 'तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्' 'न मे भक्तः प्रणश्यति' 'न कर्हिचित्  
मत्परा शान्तरूपे नश्यन्ति' 'तस्मिन्प्रसन्ने सकलाशिषां प्रभौ', 'तस्मिन्स्तनुष्टे किमश्राप्यं  
किमलभ्यं भगवतीत्यादिवाक्येभ्यो भगवानेव निजभक्तनिखिलकार्यनिर्वाहाय जागरूक  
इति वास्त्वसर्वभावेन भजनीय इति वस्तुगतिमविदुषाममीपामेवेयं जुगनीपेति । अत एव  
श्रीमदाचार्यैर्भासत इत्यभापि । अथवा । भगवदासक्तियुक्तानामतादृशशास्त्रादियु बाध-  
कत्वप्रतिबन्धानं भवतीत्याहुः गृहस्थानामित्यादि । अत्र गृहस्यपदेन भार्यापुत्रादयस्ता-  
त्स्थानाद्गृहस्थान्ते । तथा च सति तेषां विजातीयभावतया तद्भावस्य स्वभावप्रतिबन्धित्वेन स्वात्म-

भावस्वामाव्येन च निजभावभङ्गभीरूणां तेषु बाधकत्वं भासतेऽनात्मत्वं च । तथाभूतानां भगवत्येव स्फुरत्स्वात्मभावतया तदीयेष्वात्मीयताविर्भावान् । अत एव श्रीमदस्मदाचार्यै-  
रुक्तं 'पुत्रे कृष्णप्रिये रति'रिति । एतेन 'न वारे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति,  
किन्त्वात्मनः कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ती'त्यादि श्रुतेरात्मसम्बन्धितया पुत्रादीनां प्रिय-  
त्वेन बाधकत्वमसम्भवीत्याशङ्का व्युदस्ता । एवं प्रेमासक्तयोः कार्यसुकत्वा व्यसनस्य तदाहुः  
यदेति । यदा परमदुरापमनुपमनुक्तभावात्मकं व्यसनं कृष्णे सदानन्दे स्वलीलासहिते  
स्वात्, तदैव कृतार्थः पर्याप्तार्थः स्वात्, कर्तव्यान्तरपरिशेषाभावात् । अत एव ब्रजस्थितानां  
तथाभावः श्रूयते श्रीभागवते, 'तदर्थविनिर्वातिसर्वकामाः,' 'सन्त्यज्य सर्वविययांस्तव  
पादमूलम्' 'क्षणं युगशतमिवे'त्यादिना । एवकारः प्रेमासक्तिमतोर्व्यवच्छिनत्ति ।  
हिसन्देनात्र युक्तार्थतोक्ता, तद्भावविधातकसद्भावात् । तदेतदाहुः । तादृशस्यापि प्रेमा-  
दिमतोपि सततमविच्छेदेन सत्सङ्गाद्यभावेन गेहस्थानं भावस्य विनाशकं भवति ।  
सत्सङ्गाद्यसचिवस्य तस्य तादृशत्वात् । न च व्यसनचवतोपीदृशपापकास्त्रित्वं शक्य-  
शङ्कम् । तद्भावस्यैव स्वतन्त्रकार्यक्षमत्वेन सत्सङ्गादिभावाभावायतैर्वृद्धिहासैस्त्रयति-  
रिक्तभावानामेव साधकबाधकादिसम्बन्धितया प्रकृते बाधशङ्कानवतारात् ।

गृह्यादेर्भावान्तरायरूपत्वं विदित्वा तदपहाय फलाय प्रयतेत यस्तस्य तदाहुः ।

त्यागं कृत्वा यसेद्यस्तु तदर्थायैकमानसः ॥ ६ ॥

लभेत सुखदां भक्तिं सर्वतोप्यधिकां पराम् ।

तुशब्दः प्रकारान्तरव्यावर्तकः । यः पुमान्गृहादिषु भगवद्भजनप्रतिबन्धं विबुष्य  
तत्यागं कृत्वा भगवलीलाश्रयणाचिन्तनादिनिमित्तं यसेत् यत्नं कुर्यात्, कीदृशः ? तदर्था-  
यैकमानसः । तस्य भगवतो योर्थः श्रवणादिरूपस्तदर्थं एकं मानसं यस्य तादृश इत्यर्थः ।  
यद्वा । भगवतोर्थो लील्य, तदर्थं तन्निमित्तं तदर्थेषु तत्सम्बन्धिपदार्थेषु वा तथेत्यर्थः ।  
अथवा । स चासावर्थश्चेति कर्मचारये तदर्थो भगवान् तदर्थं तथेत्यर्थः । स एवार्थः शास्त्र-  
स्कन्धादिषु यत्र । तादृशं श्रीभागवतं 'शास्त्रे स्कन्धे प्रकरणेऽध्याये वाक्ये पदेऽक्षरे । एकार्थं  
सप्तधा जानन्नविरोधेन मुच्यते' इति श्रीभागवतार्थतत्त्वदीपचचनात् । तदर्थं वा तथेति वार्थः ।  
स एवार्थो घनं येषां ते । तदर्था भगवद्भक्तास्तेषामर्थेषु कार्येषु वा तथेत्यर्थः । एतादृशः  
सन् भक्तिं सुखदां विययाद्यनभिभाव्याम्, 'प्रायः प्रगल्भया भक्त्या विषयैर्नोभिमूयते' इति  
वाक्यात्, सर्वतो ज्ञानादिभ्योप्यधिकासुखदायाम् । न चाधिक्ये मानाभावः । 'तस्मा-  
न्नङ्गकियुक्तस्य' 'ज्ञानविज्ञानसम्पन्नो भज मां भक्तिभावितः,' 'नैकामतां मे स्पृह-  
यन्ति' 'परिनिष्ठितोपि नैर्गुण्ये' 'आत्मारामाक्षे'त्यादिवाक्यशतसिद्धत्वात् । विस्तरस्तु  
श्रीमदस्मत्प्रभुचरणैरन्यत्र कृत इति नेह तन्यते । परामभिव्यक्तापरिच्छिन्नानन्दरसस्वरूपां  
लभेत प्राप्नुयादित्यर्थः ॥ ६ ॥

तर्हि निरन्तरायेऽस्मिन्नुपाये सति किमित्युपायान्तरमुपादेयमित्यत आहुः त्याग इति।

त्यागे बाधकभूयस्त्वं दुःसंसर्गात्तथाज्ञतः ॥ ७ ॥

अतः स्वयं हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परैः ।

अदूरं विप्रकर्षं वा यथा चित्तं न दुष्यति ॥ ८ ॥

न हि त्यागो निष्प्रत्यूहं फलाय कल्पते, त्यागे यतो बाधकानि दुःसंसर्गदुष्ट-  
ज्ञभक्षणादीनि सद्बुद्धिप्रतिक्षेपकारीणि भ्रूयांसि सन्ति । न हि भगवत्पराश्रुत्वानामने-  
कदोषदन्तुरितस्वान्तानां सङ्गस्त्वं मावभङ्गं न विषते । न च तथाभूतानाम-  
ज्ञादिकं भक्षयतो भगवत्समीक्षणमविशिष्टं मनो भवति । अत एवावैष्णवादीनामन्नं न  
परिग्राह्यम् । तदुक्तं यदापुराणे 'अवैष्णवानामन्नं च पतितानां तथैव च । अनर्पितं तथा  
विष्णोः श्रमांससदृशं भवे'दिति । ननु बाधकानां बहुले द्वावेव कथं कथितौ । दुष्ट-  
संसर्गाद्ब्रह्मदोषयोः प्रचलत्वादिति बुध्यस्व । तेन यदि भगवद्भजनं गृहादिषु निर्बाधं सम्प-  
द्यते, तदा न परित्यागः श्रेयान् । तत्रेत्तत्र मार्याद्यभिद्वेषादिना सम्यग्ज्ञानं निर्वहति, तदा-  
पूर्वोक्तप्रणालिकया त्याग एव कर्तव्य इति विवेकः । अत एव श्रीमदाचार्यैस्तत्त्वदीप-  
निवन्धेऽभ्यधापि 'भार्यादिरतुकूलश्चेत्कारयेद्भावत्किन्त्याम् । उदासीने स्वयं कुर्वात्यतिकूले  
गृहं स्वजे'दिति । द्वितीयस्कन्धविवरणे च 'दान्पत्यं भगवद्भजनार्थमपेक्षित'मिति । एवं त्यागे  
दुःसङ्गादेर्विघातकत्वं निरूप्य तदोषनिराकरण्युः सतां सङ्गः क्वचिद्भगवत्स्थाने सम्पाद-  
नीय इत्याहुः अत इति । यतस्त्यागे बाधकानां बहुत्वमलःकारणात्कचिद्दोः सर्वदुःखहर्तुः  
स्थाने श्रीगोकुलश्रीगोवर्धनादौ तदीयैस्तत्सम्बन्धिभिस्तत्परैः, स एव परः सर्वपेक्षयोत्कृष्टो  
येषां तादृशैः, परमकाष्ठपन्नवस्तुनिष्ठैः सह स्वयमित्यर्थः । न च तत्राप्यसत्सङ्गादिसम्भ-  
वाद्दुक्तदोषानिवृत्तिरिति वाच्यम् । सर्वसमयसत्सङ्गवत्सु दुःसङ्गादिदोषाणामनवकाशनि-  
वारितत्वात् । न हि प्रतिदिनं सत्सङ्गरसास्वादिनः क्वचिदन्यत्र चित्तप्रसादमासाद-  
यन्ति । अत एव सत्सङ्गोत्कर्षः श्रीभागवते गीयते । 'तुल्यम लवेनापि न स्वर्गं नापुन-  
र्भवंम् । भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिष' इति । ननु यत्र क्वचित्सत्सङ्गेन  
कार्यसिद्धेः सङ्घिः सहावस्थानं हरिस्थान एव कार्यमिति निर्वन्धो चक्रवन्धवगिरिर्भक्त इति  
चेत् । मैवम् । तत्र बाहुल्येन तेषां सङ्गतेः सम्यक्सम्भवेन तदनुवृत्तेरावश्यकत्वात् ।  
अन्यत्र तेषां प्रायशोनुरागविरहेणानवस्थानात् । यहिर्मुखजनकृतोपद्रवशङ्कया स्थातुमशक्य-  
त्वाच्च । अत एवोक्तं पञ्चमस्कन्धे 'न यत्र वैकुण्ठकथा सुधापणा न साधवो भागवतास्तदा-  
श्रवणः । न यत्र यन्नेतदुक्तं गृहोत्सवः सुरेश्लोकोपि न गच्छति सेव्यता'मिति । एवं सति  
तेषां सन्निधौ स्थितिः कथं कर्तव्येत्याकांक्षायामाहुः अदूरमिति । यथा भगवद्गीयानां चित्तं  
न दुष्यत्युद्वेगादिना, न विकृतिमाप्नोति, तथाऽदूरं निकटं यथा स्यात्तथा, विप्रकर्षं दूरे वा  
स्यात्तव्यमित्यर्थः । अत्रायमाशयः । सन्तो हि नितान्तमेकान्ते भगवत्कर्यां मिथः कुर्वन्तस्त-

इसरमसविषया भवन्ति, ताननुसरन् यदि कश्चित्स्वलाभं निश्चित्य तेषामासत्तिसालम्बते, ते चेदतिगूढरसं तदग्रतः प्रकाशयितुमशक्यभाकलयन्तः, स्वयं ततो विरमन्ति चित्तोद्वेगवन्तः, तदा तस्य दूरस्थितिरिवानुसरणे श्रेयसी, अन्यथा मनीषितानिष्पत्तेः । अथ दयार्द्रहृदयतया-  
तिनिकटागमने नियोगं विदधते, तर्हि तत्सामीप्यमेव समीचीनम्, अनुसरणानुकूलतया समीहितसिद्धिहेतुत्वादिति । यद्वा । स्वस्य चित्तं यथा दुष्टं न भवति तथा सन्निकर्षेण विप्रकर्षेण वा स्थयमित्यर्थः ॥ ७, ८ ॥

एवं सत्सङ्गाद्यप्यगताशेषदोषस्याग्निमध्यवस्थामाहुः सेवायामिति ।

सेवायां वा कथायां वा घस्यासक्तिर्दृढा भवेत् ।

यावज्जीवं तस्य नाशो न क्वापीति मतिर्मम ॥ ९ ॥

यस्य सत्सङ्गादिकमनुतिष्ठतः श्रीकृष्णसेवायां स्वतन्त्रपुरुषार्थत्वपरिस्फूर्त्या दृढा निश्चलासक्तिर्भवेत्, कथायां वा, तस्या अपि सेवासनत्वात्, तस्य यावज्जीवं प्राणस्थिति-  
पर्यन्तं नाशः फलाभावः क्वापि न स्यादिति मम मतिः । अतो नेह सन्देहः कर्तव्य इति भावः । यद्वा । मम मतिरेवं भगवान्परमकृपालुः कथं वा तस्य दयेतेति न वेदितुं शक्यमिति भावः । ननु सेवायाः कथायाश्च कथं साम्यम् । इत्यम् । तथाहि । सेवा नाम चित्तस्य तदेकप्रवणत्वम् । चित्तस्तत्प्रवणं सेवे'ति लक्षणाभिधानात् । तत्सम्पादिकायाः कृतेरपि तथात्वम्, अन्यथा तस्याः परत्वानुपपत्तेः । अत एव 'मानसी सा परा मते'त्यभाणि । तेन यथैतस्या भगवद्भावतद्भक्तसङ्गादिसाधकत्वं नान्तरीयकानन्तकार्यसाधकत्वं च, तथा कथाया अपीति साम्यं दूरपवादम् । अत एवैतादृशमिप्रायेण 'कथारतिषु सक्तस्य कथका अपि मिलन्ति, प्रेमापि भवति, आनुपङ्गिकं चान्यद्ब्रह्मेव भवती'त्युक्तमाचार्यैः ॥ ९ ॥

ननु कश्चित्काननादावेकान्ते वासं विधाय भगवन्नामलीलादिकमेव चिन्तनीय-  
मेकाकिना, किं भगवद्भक्तसङ्गेनापीति चेत्तत्राहुः ।

याथसंभावनायां तु नैकान्ते वास इष्यते ।

हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः ॥ १० ॥

तुयन्दः शङ्खाव्युदासकः । यदुक्तमेकान्तेन नामचिन्तनमेव कार्यं, न सत्सङ्ग इति तत्सत्यम्, परन्तु यदि बाधस्य भोगविचोद्वेगलक्षणस्य सम्भावना न भवेत्, सा चेत्सात्, तदैकान्ते वासो नेष्यते, चित्तचाञ्चल्यादिना नामचिन्तनाद्यनिर्वाहात् । अतः सत्सङ्ग एव कर्तव्य इति भावः । ननु चित्तविक्षेपादिरान्तरो बाधः सत्सङ्गादिना नि-  
वर्तताम्, बाधं चौरव्याघ्रादिभयं तु दुःपरिहरमिति चेत्तत्राहुः हरिरिति । तुयन्दः प्रकार-  
भेदावेदकः । हरिर्भक्तदुःखहर्ता सर्वतो बाधादान्तराद्य बाधकाद्रक्षां करिष्यति । अस्मि-  
न्मये संशयो नास्तीत्यर्थः । न हि भगवान्भक्तदुःखं क्षणमात्रमपीक्षितुं क्षमते ? निरुपम-

परमानुक्त्वापूर्णत्वात् । अत एव हरिपदमुपात्तम् । भक्तदुःखहर्तृत्वस्य तदसाधारणधर्म-  
त्वात् । तदाहुराचार्याः 'यथा गन्धः शृङ्गिण्याः, एवं भगवतो भक्तदुःखनिवर्तकत्व'मिति ।  
यद्वा । सर्वतः मुदृशनादिना रक्षां हरिः करिष्यति, नात्र संशय इत्यर्थः । 'अप्याहृतानि  
कृष्णस्य चक्रादीन्यासुधानि तं, रक्षन्ति सकलापद्भ्यो येन विष्णुरुपासितः । सकृदेव  
प्रपत्ताय तवास्मीति च याचते । अभयं सर्वमृत्योर्ददाम्येतद्भूतं मम । कौन्तेय प्रति-  
जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यती'त्यादिवाक्येभ्यः ॥ १० ॥

एवं प्रस्तुतमशेषं शास्त्रगुणवर्णयैतदर्थपरिज्ञानपूर्वकपाठफलोपन्यासपुरःसरमुपसंहरन्ति ।

इत्येवं भगवच्छास्त्रं गूढतत्त्वं निरूपितम् ।

य एतत्समधीयीत तस्यापि स्याद्गुहा रतिः ॥ ११ ॥

इतीति समाप्तौ । एवमुक्तप्रकारेण भगवच्छास्त्रं भगवद्भक्तिप्रकारप्रतिपादनात् निरू-  
पितमपि गूढतत्त्वं गुप्तस्वरूपम्, भगवदनुग्रहीतैरिवैतदनिप्रायस्यावगन्तुं शक्यत्वात् ।  
एतद्यः पुमानुदितभाग्यो भगवदीयानुग्रहेण विचारेण वा सम्यगर्थीयगमपूर्वकमधीयीत पठ-  
तस्य भगवति दृढा सिरा रतिः स्यादित्यर्थः ॥ ११ ॥

श्रीमत्कल्याणरायाहजन्मा गोपेश्वरभिषः । विवृतिं भक्तिवर्धिन्याः कृतिनिवृत्तये व्यधात् ॥  
यद्यप्यतिदृष्टास्याः पितृचरणैर्निर्मिता विवृतिः । तदुपरिकरणेऽन्यस्या आघोषो भूयतेनल्पम् ॥  
तेषामतिकरुणानां तथापि बालेन संरचिता । निजपाठितगुणनेव प्रीत्यै नित्यं भवित्रीयम् ॥  
इमां श्रीवल्लभाचार्यपदपङ्कजकिङ्कराः । पश्यन्तः सन्तनं सन्तः सन्तुष्यन्तु सुहृर्मुहुः ॥

इति श्रीमद्रोकुलाधीशपदपङ्कजरुहनिरतिशयरतिवर्मप्रवर्तकोद्वेलङ्गवल्लीलामहारसान्धिस-  
मुच्छलद्भावकलोलसंवलितसकलस्वरूपश्रीवल्लभाचार्यवदनचन्द्रचञ्चलरुतमवचनमतीचिनि-  
चयप्रोदञ्चिःसीमानन्दनिकुरुम्बकरग्नितीकृतनिजभृत्यनिकरचेतश्चकोरकानवधिकानुकम्पा-  
निधानश्रीविठ्ठलाभिधानप्रभुचरणपयोसहोरेणुकरणमात्रसर्वस्वश्रीकल्याणरायतनुजगोपेश्वरविर-  
चिता भक्तिवर्धिनीविवृतिः समाप्तिमुपागमत् ।

श्रीविठ्ठलपदपङ्कजकिङ्करगोपेशसुरचिता या । तां ध्रितानां तोषाय रोषाय द्वेषिणामस्तु ॥  
अनया कृपया तेषां कृतयामितया मया । सदर्यां बल्लभाचार्याः प्रसीदन्तु सदा मयि ॥११॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

## भक्तिवर्धिनी ।

श्रीपुरुषोत्तमकृतविवृतिसमेता ।

प्रणम्य गोकुलाधीशभक्तिमार्गान्जभास्वतः ।

आचार्यास्तदयादृष्ट्या च्याकुर्वे भक्तिवर्धिनीम् ॥ १ ॥

अयं श्रीमदाचार्यचरणा मगवता एकादशस्कन्धे चतुर्दशाध्याये 'न साधयति मां योग' इत्यत्रोपलक्षणविधया सर्वेषां योगदीनामुपायानां सासाधकत्वमुक्तत्वोक्तितायाः भक्तेः स्वसाधकत्वमुक्तम्, तत्र किं नामोर्जितत्वमित्याकांक्षायां प्रवृद्धत्वमेवोर्जितत्वमित्यभिसंधाय भक्तिवृद्ध्युपायं स्वीयानामर्थे वक्तुं प्रतिजानते यथा भक्तिरित्यादि ।

यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात्तपोपायो निरूप्यते ।

तत्र भक्तिश्चन्द्रो साहाय्यज्ञानपूर्वकसुदृढसेहे रूढः । 'साहाय्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोधिकः । सेहो भक्तिरिति श्लोकस्याया मुक्तिर्न चान्यथे'ति परमाराधस्मृतेः, 'सा परानुरक्तिरीश्वर' इति शांडिल्यसूत्रोक्ताङ्गकिलक्षणात्, 'रतिर्देवादिविषया भान इत्यभिधीयते' इति भावलक्षणस्मृतेः । सेहस्य ज्ञानादिभ्योतिरिक्तो मनोधर्मविशेषः । श्रीणाम्यनुरज्यामि खिद्यामीत्यनुष्यवसायेन मानसप्रत्यक्षगम्य इति शांडिल्यसूत्रमाप्ये स्वमेश्वराचार्यैर्व्यवस्थापनात् । नचैवं सति सेहमात्रमेव भक्तिरिति शङ्क्यम् । 'गोप्यः कामाद्भपात्कमो द्वेषावैषादयो नृपाः । सवन्पाद्गुण्यः सेहाण्य भक्त्या वयं विभो' इति सप्तमस्कन्धीयनारदवास्ये भक्तियेदयोर्निर्देशभेदस्य विरोधापत्तेः । उक्तपरमाराधस्मृत्यादिपूक्तानां तद्विशेषणानां वैयर्थ्यापत्तेः । तस्मात्तावद्विशेषणविशिष्टसेह एव रूढो, न केवल इति निश्चयः । योगविचारे तु 'भव सेवाया'मिति धातोर्भावे क्तिप्रत्यये कृते भक्तिरिति भवति । आरभ्य क्रियासंज्ञान्तरम् । प्रकृतिप्रत्ययौ सदर्थे मृतः, तयोस्तु प्रत्ययः प्राधान्येनेति वैयाकरणनिपमात् धात्वर्थव्यग्या या प्रधानभूता क्रिया नत्र पर्यवस्यति । प्रधानभूता च क्रिया मानस्येव । 'अन्यप्रमत्ता अभूवन्तामृष्यम्, अन्यप्रमत्ता अभूवन्तामृष्यमि'तिनात्रसनेपथुतो मनसः प्राधान्यधारणेन तजित्वाया एव प्राधान्यस्वीयित्वात् । तथाच सेवाभिव्यंग्या प्रेरकत्वा मानसी सेवा भक्तिरिति तत्र योगशब्दः निष्पद्यते ।

तथाच श्रवणादिनवकेपि पारिभाषिक । 'श्रवण कीर्तन विष्णो स्मरण पादसेवनम् ।  
 अर्चन वन्दन दास साख्यमात्मनिवेदनम् । इति पुसापिता विष्णौ भक्तियेष्टवत्क्षणे ति  
 सप्तमस्कन्धे प्रह्लादवाक्यात् । अन्ये तूपासनायामपि भक्तिशब्द प्रयुजते । नैयायिकास्तु  
 आराध्यत्वेन ज्ञान भक्तिरित्याहुः । तन्मते बुद्धिविशेष एव भक्ति । वस्तुतस्तु तत्र  
 सारूप्यप्रयुक्ता गौणी । पूर्ववद्ब्रह्मादिज्ञापकप्रमाणामावात् । तृतीयस्कन्धे पञ्चविंशत्याये  
 श्रीकपिलदेवैस्तु 'काचित्त्वप्युचिता भक्ति कीदृशी मम गोचरे ति देवहृतिप्रश्ने 'देवाना  
 गुणलिङ्गानामानुश्रविककर्मणाम् । सत्त्व एवेकमनसो वृत्ति स्वाभाविकी तु या, अनिमित्ता  
 भागवती भक्ति सिद्धेर्गरीयसी, जयत्याशु या कोश निर्गोर्णमनलो यये'ति स्वरूपकार्य  
 लक्षणाम्या बोधिता । तत्र एकमनस' पुस इन्द्रियाणा स्वभाविकी अनिमित्ता सत्त्वोपाधौ  
 भगवति वृत्तिर्निष्ठेति स्वरूपलक्षणम् । कोशजरण च कार्यलक्षणमिति सिध्यति । तस्तुवो  
 धिन्या सत्त्वपद साख्यानुसारात् 'वस्तुतस्तु मूलरूप' इति व्याख्यातत्वात्स्पष्टम् । अष्टौ  
 विंशत्याये तु 'भक्तियोगो बहुविध' इति पुरुषस्वभावभेदकृतमार्गभेदेन भक्तियोगस्य बहु  
 विधत्व प्रतिज्ञाय, त्रिविध सात्त्विकराजसतामसभेदेन तदेव नवधा त्रिभि श्लोकैरभिधाय,  
 ततो 'महदुपश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये । मनोगतिरविच्छिन्ना ययागगामसोन्मुधौ ।  
 लक्षण भक्तियोगस्य निर्गुणसाप्युदाहृतमित्यनेन भगवद्गुणश्रवणमात्रात् भगवत्वविच्छिन्ना  
 मनोगतिं यो जनयति स भावै निर्गुणभक्तियोगाख्य इत्येव लक्षित । तत 'अहंतुक्य  
 व्यवहृता या भक्ति पुरुषोत्तमे । सालोक्यसाष्टिंशामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत । दीयमान न  
 गृह्णन्ति विना मत्सेवन जना' इति सार्धाम्या कालकर्मन्यवहृता' पुरुषोत्तमविषयिणी स्वत  
 पुरुषार्थरूपा या सेवा सा आत्यन्तिकभक्तिरित्येव लक्षिता । अत्र च भक्तिशब्द प्रेमसेवाया  
 योगरूढो गृहीत इति 'सालोक्ये तिवानयादवसीयते । अयमेव चैकादशस्कन्धे द्वादशा  
 ध्याये 'केवलेन हि भावेन गोप्यो गाव खगा मृगा । येन्ये मूढधियो नागा सिद्धा मानी  
 सुरज्जसे'त्यादिभि श्लोकैर्भगवता परामृष्टो ज्ञेय' । एव भक्तिशब्दस्यानेकार्थत्वे सति प्रकृते  
 का वा विवक्षितेति चेत् ? उच्यते । आचार्याणा भगवदाज्ञया एकादशस्कन्धे भगवदभिस  
 हितो य सुगोप्य सत्सङ्गलभ्यो भाव उक्त , स एवाभिसहित । सिद्धान्तस्तुक्तावत्या 'चेतस्त  
 त्रवण सेने'ति कथनात्, तद्विषये प्रयुच्यैरपि 'ता नाविद'न्निति द्वादशाध्यायवाक्यस्य  
 लिखनात्, प्रकृतग्रन्थेषु तत्रत्यचतुर्दशाध्यायवाक्योक्तसत्सङ्गश्रवणकीर्तनात्मकसाधनाना  
 मभिधानाच्च । न च चतुर्दशाध्यायोक्तसाधनाना द्वादशाध्यायोक्तभाव प्रति साधनेत्व  
 क्यमिति शक्यम् । चतुर्दशाध्याये तस्यैव भक्तिशब्देन परामर्शात् । द्वादशाध्याये 'न रो

१ प्रामाण्यामात्रादिति पाठ । २ एकोनविंशत्याये इति पाठ, अष्टाधिको विंशो यत्रैकोनविंशे  
 श्लोकादिंश तादृशे प्यावे । ३ तेन मनसो गतिर्येन भावेनेति विप्रद । एव भक्तिरस अजनमित्यसौ  
 मन कल्पनशब्देऽपि । ४ पुष्टित्व साधनेष्वपि अतो न नैवलाटुप्रहशाप्यलविरोध ।



धयति मां योग' इत्याद्युक्तस्य योगादीनामसाधकस्यात्रापि 'न साधयति मां योग' इत्यनेन प्रत्यभिज्ञानेन तथा निश्चयात् । अतस्तस्य या पूर्वावस्था 'माहात्म्यज्ञानपूर्वस्त्विति पञ्चरात्रवाक्ये उक्ता, सात्र विवक्षिता, तस्याः पूर्वोक्तगुरुपोजितत्वार्थमेव प्रयतनम् । तथाच सा यथा येन प्रकारेण प्रवृद्धा ऊर्जिता स्यात् तथा तेन प्रकारेण उपायो बुद्धिस्थो निरूप्यत इत्यर्थः ।

एवं प्रतिज्ञाय अधिकारिभेदेन प्रकारद्वयं वदिष्यन्तो मुख्याधिकारिणो भक्तिप्रवृद्धेरधिकारणलादेव सिद्धत्वाच्चदनुक्त्वा प्रथमं मध्यमाधिकारिण उपायमाहुः बीजभाव इत्यर्थेन ।

**बीजभावे दृढे तु स्यान्त्यागाच्छ्रवणकीर्तनात् ॥ १ ॥**

बीजरूपो भावः मगं वदनुग्रहजन्यः प्रेमा । तस्मिन्वक्ष्यमाणरीतिकव्यसनरूपतया दृढे सति । तुः साधनान्तराग्रङ्गानिरासे । तदा त्यागोच्छ्रवणकीर्तनात्स्यात् । विरहानुभवार्थं संन्यासनिर्णयोक्तप्रकारकः सवासनगृहपरित्यागस्त कृत्वा तदुत्तरं यच्छ्रवणसहित कीर्तनं तस्मात्स्यादित्यर्थः । अत्र श्रवणानन्तरं कीर्तनस्य कथनाच्छ्रुतानां स्वरूपगुणलीलानां भावनं कीर्तनात्पूर्वमर्थफलत्वात्प्यते । एतदभिप्रायेणैव संन्यासनिर्णये 'भावो भाषनया सिद्धः साधन'मित्युक्तम् । निरोधलक्षणे चाशंसाः प्रथमतो निरूपिताः । तथाचैतैश्चतुर्भिर्मक्तिरूजितलक्षणवती प्रवृद्धा भवतीत्यर्थः । एतदेव निरोधलक्षणग्रन्थे 'महतां कृपया याव'दित्यारभ्य 'तदध्यासोपि सिध्यती'त्यन्तेन फलानुभवपर्यन्तं प्रपञ्चितं ज्ञेयम् । तन्मया तत्रैव विवृतमिति नेहोच्यते ।

प्राञ्चस्तु । पुष्टिमागार्गाचार्यानुग्रहपूर्वकभगवन्नियेदेनानन्तरभाविनमंगीकारं बीजभावत्वेन केचिदाहुः । अन्ये तु भक्त्यसाधारणकारणमहदनुग्रहसत्ताम् । इतरे चाल्पं स्नेहम् । तथा त्यागपदेन भगवदतिरिक्तत्यागं केचिदाहुः । अन्ये तु एतन्मार्गीयातिरिक्तसाधनत्यागम् । इतरे तु भक्तिमार्गविरोधिनोन्यभजनादेस्त्यागम् । तेन तन्मते गृहस्थित्यविरोधी त्याग आयाति । मन्मते तु गृहस्थितिविरोधीतिभेदो बोध्यः ॥ १ ॥

अतःपरं जघन्याधिकार्यर्थं प्रकारं वदिष्यन्तः पूर्वं बीजदार्ढ्यप्रकारमाहुः बीजत्वादि ।

**बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः ।**

**अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः ॥ २ ॥**

बीजं पूर्वाक्तम् । तद्दार्ढ्यप्रकारस्तु निरूप्यत इति शेषः । गृहे गृहस्थाश्रमे स्थित्वा स्वधर्मतः वर्णाश्रमधर्मतः पूर्वसिद्धादव्यावृत्तः अपरावृत्तः । 'आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य गुरोः

१ साधारणसत्तारूपप्रेमन्यावर्तकं विशेषणम् । 'नसतो विद्यते भाव' इति गीतायां तदुक्तम् । प्रेमापि सत्तारूपं विषयभेदव्यावृत्तं । विशेषणादित्युक्तम् । २ एकादशसैकादशोपायेतिभ्यति । ३ व्यसनस्य प्रेमविरणानान्तिमेव दृग्मादिसस्य सपकं कारिकोक्त भक्तिरिति स्यादिति नोपक्रमविरोध ।

कर्मातिशेषेणामिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानो धार्मिकान्विदधदात्मनि सर्वेन्द्रियाणि सप्रतिष्ठाप्यार्हिसन् सर्वाणि मृतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः, स सत्त्वेव वर्तयन् यावदायुष्यमसलोकमभिसपद्यते, न च पुनरावर्तते' इति छान्दोग्यस्य गृहिणोपसंहारसूत्रविषयवाक्ये तथा सिद्धत्वात् । एकादशस्कन्धे उद्धवप्रश्ने भगवताप्याचारलक्षणस्य वर्णाश्रमधर्मस्य भवनाद्भवेनोक्तत्वाच्च । तं कुर्वन् कृष्ण पुरुषोत्तम भवेत् । तत्र साधनपूजाश्रवणादिकं च । तदाहुः पूजया श्रवणादिभिरिति । अत्र पूजा यथास्थोपचारैः द्यानालकरणादिरूपस्वरूपसेवनम्, अर्चनापार्यायम् । तत्रैव पूजनप्रयोगदर्शनात् । श्रवणादि तु नवविधप्रसिद्धमेव । तैर्मजैत् सेवेत । प्राथमिकभगवदनुग्रहेण जातामनुज्ज्ञताभक्तिमनया साधनमर्यादयामिव्यञ्जयन् वर्धयेदित्यर्थः । यद्यपि नवस्वर्चनमपि प्रविशति, तथापि तस्यावश्यकत्वाय विशेषफलसाधकत्वाय च प्रथमं पृथङ्निर्देशः । नचोक्तश्रुतिभगवद्वाक्यचोदितप्रकारकस्य वर्णाश्रमधर्मस्येदानीमभावाद्भजनस्य व्यङ्ग्यत्वं शङ्क्यम् । सप्तमस्कन्धे 'स्वधर्माचरणं शतये'ति नारदवाक्येन, निबन्ध आचार्यैरपि 'स्वधर्माचरणं शतये'त्यंगीकारेण च यथाशक्ति तत्कारणेषु भक्तैर्व्यङ्गतापरिहारस्य निप्रवृत्तत्वात् । एवमेकप्रकार उक्तः ॥ २ ॥

अतः परं वैधुर्यादिना तदशक्तौ प्रकारांतरमाहुः व्यावृत्तोपीत्यादि ।

व्यावृत्तोपि हरौ चित्तश्रवणादौ यतेत्सदा ।

वैधुर्यादिना व्यावृत्तस्वाशक्त्या वर्णाश्रमधर्मान्निवृत्तोपि हरौ भगवतापहर्तारिचित्तस्वापयित्वा श्रवणादौ श्रवणाद्यर्थम्, तादर्थ्ये सप्तमी, यतेत् यत्तं कुर्यात् । अनुदात्तेलक्षणस्यात्मनेपदस्यानित्यत्वात् परस्मैपदम् । न तु परार्थत्वात् । स्वतः पुरुषार्थत्वेनैव तत्करणस्य सिद्धान्तत्वात् । सदेति । निरन्तरमभीक्ष्णं वा । एवञ्च जघन्याधिकारिणोर्मध्ये यस्य सेवकसाधनसंपत्तिस्तस्य पूजाश्रवणादिकं च बीजव्यक्तिसाधनम् । यस्य तु न पूजासाधनसंपत्तिः, तस्य तु भगवच्चित्ततापूर्वकं श्रवणादिकमेव साधनम् । एतदेवापिसन्धाय निरोधलक्षणग्रन्थे 'ससारावेशदुष्टानामिन्द्रियाणां हिताय वै' इत्यारभ्य आन्तप्रपञ्चितं ज्ञेयम् । तन्मया तद्विवरणे व्युत्पादितमिति नेह पुनरुच्यते ।

प्राञ्चस्तु अव्यावृत्तशब्दस्य व्यासङ्गरहित इत्यर्थमाहुः, व्यावृत्तशब्दस्य च व्यासक्त इति । सोत्र 'आत्मनि सर्वेन्द्रियाणि सप्रतिष्ठाप्ये'ति श्रुत्यैव सिध्यतीत्युपेक्षितम् । व्यासक्त इति तु 'हरौ चित्त'मित्यादिनैव निवार्यत इत्युपेक्षितम् । लक्षणाप्रसंगाच्चेति शेषम् ॥ २३ ॥

१ माधोक्तं वाचि भावः । २ यत्रैव विद्यया करोति धर्मवे नि शुभं विज्ञेयकम् । ३ स्याद्विज्ञेय इति चेत् ४ तत्रैव वैश्वानुवचनेन माज्ञया विविदिषन्तीति श्रुत्युक्तात् फलात् । ५ विपरीतलक्षणप्रसंगात् ।

एवं बीजदार्यसाधनमुपदिश्य बीजाभिव्यक्तिप्रकारमाहुः ततः प्रेमेत्यादि ।

ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवेत् ॥ ३ ॥

बीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यज्ञापि नश्यति ।

तत उक्तविध(मध्यम)जघन्याभ्यां कृतादुक्तविधसाधनात्प्रेम हरौ भवेत् । पूर्वोक्तो हरिशब्दोऽप्यानुपसृते । एवमप्रेपि बोध्यम् । प्रेमं च भावकन्दलरूपं बोध्यम् । तथा-सक्तिः तदुत्तरं तादृशेन तत्करणेन तदुत्कर्षावस्था रागादिरूपा भवेत् ।

कल्याणरायास्तु स्वविषये स्वतः प्रवर्तको भावः प्रेमशब्देनोच्यते, स्वविषये विविधमनोरथजनको भाव आसक्तिरिति तयोर्लक्षणमप्याहुः । तदपि युक्तम् । तथासुभवस्य सर्वजनीनत्वादिति ।

च पुनः यदा व्यसनं तद्विना स्यानुमशक्तिरित्याकारकं यदा भवेत्, तच्छास्त्रे भक्तिपरमकारणबोधके 'श्रद्धामृतकषायां म' इत्यादिरूपे भगवता साधनपर्याप्तिकथनात् दृढं बीजमित्यस्माभिरुच्यते । दृढत्वे गमकनाहुः यज्ञापि नश्यतीति । नस्य अदर्शने । यद् दुःसंघादिना परिभूते सदृशनागोचरतां न प्राप्नोति, किन्तु सर्वदैव दृश्यते, स्वयं चानुभूयते । तथाचैतदेव दार्यलक्षणम् । अदृढस्यैव कादाचिरकत्वादिति । अत्र पूजाश्रवणादिकं दशमस्कन्धोक्तरीतिकमेव ग्राह्यमित्यभिप्रेतम् । नामावलीसमाप्तौ 'वाललीलानामपाठात् श्रीकृष्णे प्रेम जायते । आसक्तिः श्रौढलीलाया नामपाठाद्भवति । व्यसनं कृष्णचरणे राजलीलाभिधानतः । तस्मान्नामत्रयं जाप्यं भक्तिप्राप्तीप्सुभिः सदैव कथयन्त । एवं कीर्तनस्य निरोधलीलाविषयत्वे निश्चिते श्रवणस्यापि तद्विषयत्वमेव निश्चितं भवति । तथा श्रवणमपि यत्र यज्ञामसिद्धं, यथा च नामावल्यां यत्रोक्तं, तदनुसंधानपूर्वकमेव संपादनीयमिति च । तथा पूजाया अपि । तेन नवानामप्येकरूपत्व निश्चितं भवतीति मम प्रतिपत्तिः । न च 'यस्याः सकीर्तनाद्दिशुरात्मानं संप्रयच्छती'त्युपक्रमोक्तफलविरोधः संकनीयः । तस्मावर्तनसिद्धात्कीर्तनात्सिद्धेः । उपसंहारे निरन्तरे जाप्योक्त्या तथावसायादिति ।

एवं दृढबीजलक्षणमुक्त्वा तस्मिद्भयं तदुत्पादकानां प्रेमायवस्थानां सिद्धिज्ञापकं लक्षणं क्रमेणाहुः स्नेहादित्यादि ।

स्नेहाद्रागविनाशः स्यादासक्त्या स्यादृहाकचिः ॥ ४ ॥

गृहस्थानां वाधकत्वमनात्मत्वं च भासते ।

यदा स्याद् व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हि ॥ ५ ॥

१ 'बीजं तदुच्यते' इत्युत्तरमप्याह । 'विशयो वा कषायां वै'त्यत्र शेषाश्रवणादितरपीरुपा भक्ति-  
बोधोक्तः । २ 'आतशयो विवेक'रित्यारभ्य 'जीवो बधित्वे'त्यन्तम् । ३ तत्र प्रेमेलयोजनवापनेषु ना-  
मान्यस्य साधनप्रवेशाद् तत्र इत्यस्य नामान्यसाधनमाहुः ।

अत्रैतद्वोध्यम् । भक्ति स्नेहविशेष इति पूर्वं व्युत्पादितम् । तत्कारण तु भगवद्दर्शने विशेष एवानुग्रहाख्य इति भक्तिहेतुनिर्णये स्थितम् । सा चानुग्रहजन्या भक्ति क्वचित्सहसैवाभिव्यज्यते, क्वचिच्च सत्सङ्गश्रवणादिसाधनद्वारा । तत्र ये शुद्धपुष्टावगीकृतास्तेषु तु सहसैवाभिव्यज्यते, यथा गोकुलशेषु । ये पुनर्मिश्रपुष्टावगीकृतास्तेषु तु साधनद्वाराभिव्यज्यते, किञ्चित्कार्यार्थं तेषु प्रतिबन्धतन्निवृत्त्योर्दर्शनात् । तथापि 'लौकिकत्व वैदिकत्व कापट्यान्तेषु नान्यथा । वैष्णवत्व हि सहज'मिति लक्षणं तु न व्यभिचरति । एवमिति येषु साधनद्वारा भक्त्यभिव्यक्तिः, तेषु साऽनुकृता भावरूपेण मनसि तिष्ठति, ततः पूजादिषु साधनेष्वनुष्ठीयमानेषु प्रेमादिरूपेण क्रमादुद्धता भवति । अभियुक्तास्तु भावस्यावस्थासप्तकमाचक्षते । 'भाव प्रेम प्रणय स्नेहो रागानुरागव्यसनानीति । अत्र च पूर्वं वीनाभिव्यक्तिप्रकारकथने 'ततः प्रेम' इति प्रेमशब्देन पूर्वावस्था निर्दिश्यात् तदभिज्ञापककथने यस्नेहशब्दः प्रयुक्तः, तेन प्रेमप्रणयस्नेहाख्यास्तिस्रोवस्था यदा भवन्ति, तदा भगवच्छ्रवणाद्यतिरिक्तेषु रागविनाशो भवतीति सूच्यते । तथा च इतररागविनाशस्तच्चातुर्याभिज्ञापकं लक्षणम् ।

रागानुरागात्मकावस्थाद्वयरूपासक्तिप्राचुर्याभिज्ञापकं लक्षणत्रयमाहुः आसक्त्या स्याद्गृह्यारुचिरित्यादि । रुचिराकाशा गृह्यारुचिर्गृह्याकाशाऽभाव उपेक्ष्यत्वमिति यावत् । सा आसक्त्या स्यादिति । तदासक्तिप्राचुर्याभिज्ञापकं लक्षणम् । लक्षणान्तस्माहुः गृहस्थानामित्यादि । गृहस्थानां चेतनाचेतनानां भगवति समर्पणानन्तरं भगवदीयत्वानुसन्धानेषु तेष्वशतं स्वीयत्वामिमानस्यापि विद्यमानत्वात्तमादाय तेषां पूजाश्रवणादिसाधनवापकत्वस्वस्य भासते, सर्वेषां चित्रकर्मत्वात्स्वभावभेदेनान्यविनियोगसमवातच्चिन्ताया अकरणेषु तेषु स्वाभिमानस्य सहसाऽनिवृत्तेरनायस्यापि तच्चिन्तादिसम्भवेन 'गृहेश्वतिशिवत् वस' इति न्यायस्य तदानीमसमवादापि तेषां श्रवणादिषाधकत्वस्वस्य भासते । किञ्च, अन्यविनियोगादीनां स्थूललिङ्गशरीरधर्मत्वात्तेषां तत्प्राधान्ये जीवस्यानुसृष्टिः सतीत्युक्तस्यात्पधर्मस्य गौणत्वात्पूर्वं पापाणकल्पत्ववदनात्मत्वं च तेषु भासते । तथाचैतदुभयभ्रान्तं गृहस्थितिं शिषिलीकुर्वदासक्तिदाढ्यं सपादयतीति पूर्वोक्तमुभयविषयमानमासक्तिप्राचुर्यं लक्षणमित्यर्थः । अत्र लक्षणत्रयकथनेन त्रितयमवने आसक्तिपर्याप्तिसौध्याः ।

प्रायस्तु केचिदिमं भागं आसक्तिलक्षणत्वेनाहुः । अन्ये पुनर्व्यसनलक्षणत्वेन । अर्थं च स्वस्वीत्या त तमाहुः । मम तु भगवानेव प्रेरितवानिति मयैव व्याख्यातम् । गृहत्याग एवाचार्याणामाशयस्य स्फुटत्वादिति ।

व्यसनस्य तदाहुः यदेत्यादि । यदि एव प्रेमासक्तिप्रकर्षोत्तरं व्यसनं 'तद्विना

१ संचारिभावरूपेण वर्धमाना अन्तरा भूतप्रामव'स्त्वामव' इति सूत्रात् । मन्नामभरुनिरित्यमभक्तिरसौक । २ निरोपदर्शने तथोक्तः । ३ द्वितीयलक्षणभक्तस्य सुदयत्वात्तित्यर्थः ।

स्यात्प्रशक्तिः' । सा भगवद्गुणलीलादिप्राधान्यं विहाय, कृष्णे स्यात्, कृष्णे इति तादर्थ्ये सप्तमी, भगवत्स्वरूपार्थं स्यात्तदेव कृतार्थः स्यात्, कृतः अर्थः पुष्कलसाधनरूपो येन तादृशः स्यात्, तादृशत्वं विना साधनपौष्कल्यं नेति । 'एवं धर्मैर्मुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम् । मयि संजायते भक्तिः कोन्योर्योस्वावशिष्यत' इत्यत्रैवात्रापि साधनपौष्कल्येयैश्चन्द्रप्रयोगः । तथाच गुणलीलादिप्राधान्यं विहायैवं सर्वात्मभावपूर्वकधारुपं स्वरूपपरत्वं व्यसनोत्कर्षाभिज्ञापकं लक्षणमित्यर्थः । अयं च गुणलीलादिप्राधान्यत्यागो गुणोपसंहारे 'प्रदानवत्सूत्रे' प्रभुचरणैर्बुध्नुत्पादितः 'प्रकृतेषु सर्वात्मभाव' इत्यादिना । तेनैवं दैन्यपूर्वकशरणभावनेन स्वरूपपरत्वं व्यसनोत्कर्षलक्षणं पर्यवस्यति । एतावता दृढवीजस्वरूप-गुक्तम् ॥ ५ ॥

एवं बीजभावे दृढे सति भक्तिवृद्धिः सत एवाग्रे भविष्यतीति न मन्तव्यम्, किन्तु गृहं तत्तत्त्वमेवेत्याहुः तादृशस्यापीत्यादि ।

तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशकम् ।

तादृशस्य सर्वं विहाय स्वरूपपरस्यापि सततं निरन्तरं गृहस्थानं विनाशकं तादृश-स्वरूपपरतानाशकम् । एकादशस्कन्धे भगवता 'वाच्यमानोपि मनुजो निषर्गैरजितेन्द्रियः । प्रायः प्रगल्भया भक्त्या विषयैर्नाभिभूयत' इत्यादि । अस्मिन्नेर्माहात्म्यमुक्त्वा, अग्रे 'स्त्रीणां स्त्रीसङ्गिनां सहं त्यक्त्वा दूरत आत्मवान् । क्षेमे विविक्त आसीनश्चिन्तयेन्मामतन्द्रितः' 'न तथास्य भवेत्क्लेशो बन्धश्चान्यप्रसङ्गतः । योपित्सङ्गाद्यथा पुंसो यथा तत्सङ्गिसङ्गत' इति द्वाभ्यां श्रुत्यादिसद्गुणपरित्यागपूर्वकं निरुपद्रवे विविक्तस्थाने स्थित्वा स्वचिन्तनस्य कथनात् श्रुत्यादिसङ्गस्य क्लेशबन्धहेतुत्वकथनाच्च । तस्मान्निरन्तरं गृहस्थितिस्त्याज्यैव । किन्तु मध्ये मध्ये गृहान्निर्गल, यत्र भगवत्सान्निध्यं, तत्र गत्वा, भगवद्दर्शनसेवादिविधानेन गृहस्थितिं शिथिलीकुर्यादित्यर्थः । एतेन बीजदार्ढ्यनिर्वाहप्रकार उक्तः ।

अतः परं यत्पूर्वं 'त्यागान्भ्रूवणकीर्तनादि'त्यनेन भक्तिवृद्धिप्रकार उक्तस्तं व्युत्पादयन्ति त्यागं कृत्वेत्यादि ।

त्यागं कृत्वा यत्चेद्यस्तु तदर्थायैकमानसः ॥ ६ ॥

लभते सुदृढां भक्तिं सर्वतोऽप्यधिकां पराम् ।

संन्यासनिर्णये 'विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यत' इत्यादिना आरंभदशाया

१ आर्तिविशेषो दैन्यम् । २ 'सुसुप्तुर्न वाच्यमनुभवे' इति गोपालतापिनीये माहात्म्यं वाणत्वम् ।  
३ गोहस्तिद्वैक्यपरत्वं चंचारिभावस्वरूपम् । उभयं भक्तिद्वाराणं बीजभावे निरूपिताम् । ४ भक्तिरदसात्म-  
नोपिपनायुभावचंचारिभावस्वरूपम् । ५ गृहे स्थित्वा स्वधर्मतो गृहस्थाभ्यो मजनं संयोगदर्शनं, विप्रयोगहृदं  
त्याग इति द्विदशात्मकभजेर्द्वितीयदशप्रकारम् ।  
६ भक्तिः ।

अत्रैतद्वोच्यम् । भक्ति' स्नेहविशेष इति पूर्वं व्युत्पादितम् । तत्कारणं तु भगवद्दर्श  
विशेष एवानुग्रहाख्य इति भक्तिहेतुनिर्णये स्थितम् । सा चानुग्रहजन्या भक्ति क्वचित्सहस्रै  
चामिव्यज्यते, क्वचिच्च सरसङ्गश्रवणादिसाधनद्वारा । तत्र ये शुद्धपुष्टावगीकृतास्तेषु तु सह  
सैवाभिव्यज्यते, यथा गोकुलस्थेषु । ये पुनार्मिश्रपुष्टावगीकृतास्तेषु तु साधनद्वाराभिव्य  
ज्यते, किञ्चित्कार्यार्थं तेषु प्रतिबन्धतन्निवृत्त्योर्दर्शनात् । तथापि 'लौकिकत्व वैदिकत्व  
कापट्यात्तेषु नान्यथा । वैष्णवत्वं हि सहज'मिति लक्षणं तु न व्यभिचरति । एव  
सति येषु साधनद्वारा भक्त्यभिव्यक्ति, तेषु साऽनुद्भूता भावरूपेण मनसि तिष्ठति, तत  
पूनादियु साधनेष्वनुष्ठीयमानेषु प्रेमादिरूपेण रुमादुद्भूता भवति । अभियुक्तास्तु भाव  
स्यावस्थासप्तकमाचक्षते । 'भाव प्रेम प्रणय स्नेहो रागानुरागव्यसनानी'ति । अत्र च पूर्व  
द्वीचाभिव्यक्तिप्रकारकथने 'तत प्रेम'ति प्रेमशब्देन पूर्वावस्था निर्दिश्यात् तदभिज्ञापककथने  
यत्स्नेहशब्द प्रयुक्त, तेन प्रेमप्रणयस्नेहाख्यास्तिस्रोवस्था यदा भवन्ति, तदा भगवन्  
वषाद्यतिरिक्तेषु रागविनाशो भवतीति सूच्यते । तथा च इतररागविनाशस्तत्प्राप्त्याभि  
ज्ञापक लक्षणम् ।

रागानुरागात्मकावस्थाद्वयस्यासक्तिप्राप्त्याभिज्ञापक लक्षणत्रयमाहु आसक्त्या  
स्याद्गृहकारिस्तादि । रुचिराकाशा गृहकारिर्गृहकाक्षाऽभाव उपेक्ष्यत्वमिति यावत् । सा  
आसक्त्या स्यादिति । तदासक्तिप्राप्त्याभिज्ञापक लक्षणम् । लक्षणान्तरमाहु गृहस्थाना  
मित्यादि । गृहस्थाना चेतनाचेतनाना भगवति समर्पणान्तर भगवदीयत्वानुसन्धानेषु  
तेष्वशत स्त्रीयत्वाभिमानस्यापि विद्यमानत्वात्तमादाय तेषां पूजाश्रवणादिसाधनबाधकत्व  
स्वस्य भासते, सर्वेषां चित्रकर्मत्वात्स्वभावभेदेनान्यचिन्तियोगसम्भवात्तच्चिन्ताया अकरणेषु  
तेषु स्वाभिमानस्य सहसाऽनिवृत्तेरनायत्त्यापि तच्चिन्तादिसमवेन 'गृहेष्वतिथिवत् वस'  
न्निति न्यायस्य तदानीमसम्भवादपि तेषां श्रवणादिबाधकत्व स्वस्य भासते । किञ्च, अन्य  
चिन्तियोगादीनां स्थूललिङ्गशरीरधर्मत्वात्तेषां तद्व्याधान्ये जीवस्यानुसृष्टि सतीत्युक्तस्या  
त्मधर्मस्य गौणत्वान्मूर्खे पापाणकल्पत्ववदनात्मत्व च तेषु भासते । तथाचैतदुभयभान  
गृहस्थितिं शिथिलीकुर्वदासक्तिदाढ्यं सपादयतीति पूर्वोक्तमुभयविध भानमासक्तिप्राप्त्यर्थं  
लक्षणमित्यर्थः । अत्र लक्षणत्रयकथनेन त्रितयभवेन आसक्तिपर्याप्तिसिद्धौष्या ।

प्राप्तस्तु केचिदिमं भान आसक्ति लक्षणत्वेनाहु । अन्ये पुनर्ध्वंसलक्षणत्वेन ।  
अर्थं च स्वस्वरीत्या त तमाहु । मम तु भगवानेव प्ररितवानिति मयैव व्याख्यातम् ।  
गृहलाग एवाचार्याणामाशयस्य स्फुटत्वादिति ।

व्यसनस्य तदाहु यदेत्यादि । यदि एव प्रेमासक्तिप्रकर्षोत्तर व्यसन 'तद्दिना

१ सत्कारिभावरूपेण वर्तमाना अन्तरा भूतप्रामाण्यरत्नात्मना इति सूत्राय । मत्तानामात्मनि रिक्त  
अस्तिरसोक । २ विरोपरकथे तथोक्ते । ३ द्वितीयानुभवस्य मुख्यवादित्यर्थः ।

सात्प्रमशक्तिः' । सा भगवद्गुणलीलादिप्राधान्यं विहाय, कृष्णे स्यात्, कृष्णे इति तादर्थ्ये  
सप्तमी, भगवत्स्वरूपार्थं स्यात्तदैव कृतार्थः स्यात्, कृतः अर्थः पुष्कलसाधनरूपो येन  
तादृशः स्यात्, तादृशत्वं विना साधनपौष्कल्यं नेति । 'एवं धर्मैर्मुष्याणामुद्धवात्मनिवे-  
दिनाम् । मयि संजायते भक्तिः कोन्योर्थोऽसावशिष्यत' इत्यत्रेवात्रापि साधनपौष्कल्यैर्ध-  
शब्दप्रयोगः । तथाच गुणलीलादिप्राधान्यं विहायैवं सर्वात्मभावपूर्वकक्षारूपं स्वरूपपरत्वं  
व्यसनोत्कर्षाभिज्ञापकं लक्षणमित्यर्थः । अयं च गुणलीलादिप्राधान्यत्यागो गुणोपसंहारे  
'प्रदानवत्सूत्रे' प्रभुचरणैर्व्युत्पादितः 'प्रकृतेषु सर्वात्मभाव' इत्यादिना । तेनैवं दैन्य-  
पूर्वकशरणभावनेन स्वरूपपरत्वं व्यसनोत्कर्षलक्षणं पर्यवस्यति । एतावता दृढबीजस्वरूप-  
युक्तम् ॥ ५ ॥

एवं धीजभावे दृढे सति भक्तिवृद्धिः स्वत एवाग्रे भविष्यतीति न मन्तव्यम्,  
किन्तु गृहं त्यक्तव्यमेवेत्याहुः तादृशस्यापीत्यादि ।

तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं चिन्ताशकम् ।

तादृशस्य सर्वं विहाय स्वरूपपरस्यापि सततं निरन्तरं गृहस्थानं चिन्ताशकं तादृश-  
स्वरूपपरतानाशकम् । एकादशस्कन्धे भगवता 'वाध्यमानोपि मन्त्रो निगुरैरजितेन्द्रियः ।  
प्रायः प्रगतमया भक्त्या विषयैर्नानिभूयत' इत्यादिनां भक्तेर्माहात्म्यमुक्त्वा, अग्रे 'स्त्रीणां  
स्त्रीसङ्गिनां सङ्गं त्यक्त्वा दूरत आत्मवान् । क्षेमे विविक्त आसीनश्चित्तयेन्मामतन्द्रितः' 'न  
तयास्य गवेक्षेशो बन्धस्थान्यप्रसङ्गतः । योषित्सङ्गाद्यथा गुप्तो यथा तत्सङ्गिसङ्गत' इति  
द्वान्यां श्रुत्यादिसङ्गपरित्यागपूर्वकं निरुपद्रवे विविक्तस्थाने स्थित्वा स्वचिन्तनस्य कथनात्  
श्रुत्यादिसङ्गस्य श्लेशबन्धहेतुत्वकथनाच्च । तस्मान्निरन्तरं गृहस्थितिस्त्याज्यैव । किन्तु  
मध्ये मध्ये गृहान्निर्गत्य, यत्र भगवत्सान्निध्यं, तत्र गत्वा, भगवद्दर्शनसेवादिविधानेन गृह-  
स्थितिं शिथिलीकुर्यादित्यर्थः । एतेन धीजदारब्धनिर्वाहप्रकार उक्तः ।

अतः परं यत्पूर्वं 'त्यागान्द्रवणकीर्तनादि'त्यनेन भक्तिवृद्धिप्रकार उक्तस्तैः व्युत्पादयन्ति  
त्यागं कृत्वेत्यादि ।

त्यागं कृत्वा यतेद्यस्तु तदर्थायैकमानसः ॥ ६ ॥

लभते सुदृढां भक्तिं सर्वतोऽप्यधिकां पराम् ।

संन्यासनिर्णये 'विरहातुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यत' इत्यादिना आरंभदशाया

१ आर्तिविशेषो दैन्यम् । २ 'मुमुक्षुरे चरणमनुषजे' इति गोपालतापिनीये माहुरत्यं चरणत्वम् ।  
३ योऽभिरुचैक्यपरत्वं धनारिभाररूपम् । उभयं भक्तिकारणं धीजभावे निरूपितम् । ४ भक्तिरससाठ-  
नोदीपनात्मभावधनारिभाररूपम् । ५ गृहे स्थित्वा स्वपरमदो गृहस्थाधने भजनं संयोगरूपं, निप्रयोगरूपं  
त्याग इति द्विदशत्यक्तमर्केर्द्वितीयदृष्ट्यकारम् ।  
६ भक्तिः ।

यत्प्रकारकस्याग उक्तस्त्वं कृत्वा, यथाधिकारं श्रवणकीर्तनाभ्यां यतेन्, भक्तिप्रवृत्त्यर्थं यत्  
 कुर्यात् । तत्रापि न भक्तिवृद्धौवै पर्यवसन्नः, किन्तु तदर्थार्थकमानसः । पूर्वं कृष्णशब्द-  
 श्लोक्तत्वाद्न तच्छब्देन स एव परामृश्यते, अर्थश्च प्रयोजनम्, स अर्थो यस्याः सा  
 तदर्थी, स्वरूपमात्रफला गुणातीतभक्तिरिति यावत् । तस्याः य अर्थो भगवान्, तस्मि-  
 न्नैकं केवलं मानसं यस्य सः तथा । तथा च तादृशी भक्ति यो भगवत्साधकत्वेन न करोति,  
 किन्तु स्वरूपदिदक्षयैव क्लेशेति, स तथेत्यर्थः । तस्य मिद्धिमाहुः लभत इत्यादि । सः  
 सुदृढा इतराप्रतिनय्यां सर्वान्योपि भक्तियुक्तिकां निरोपलक्षणग्रन्थ उत्कृष्टत्वेन सूचितां  
 परामूर्जितां भगवत्साधिकां भक्तिं लभते । तथाच दिदृक्षातिरिक्त्यावदपेशारहितस्य परम-  
 भक्तिप्राप्तिर्भवति । तेनेदमेव भक्तिप्रवृद्धेः स्वरूपमित्यर्थः ॥ ६३ ॥

एवं भक्तिप्रवृद्धिस्वरूपपर्यन्तं तद्वृद्धयुपायमुक्त्वा, तत्र प्रतिबन्धेऽनधिकारे च तद-  
 नुकल्परूपमुपादान्तरमाहुः त्यागंत्यादि ।

त्यागे बाधकभूयस्त्वं दुःसंसर्गात्तथागतः ॥ ७ ॥

अतः स्वयं हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परैः ।

अदूरे विप्रकर्षे वा यथा चित्तं न दुष्यति ॥ ८ ॥

सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेत् ।

यावज्जीवं तस्य नाशो न कापीति मतिर्मम ॥ ९ ॥

बाधसंभावनायां तु नैकान्ते वास इष्यते ।

हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः ॥ १० ॥

त्यागे करिष्यमाणे कालाद्यादिकृतदुःसंसर्गात्, तथाऽन्नतः प्राणपोषका-  
 दन्नाद्यतो बाधकभूयस्त्वं भक्तिवृद्धिबाधकवाहुल्यम्, अतस्तद्वाहुल्याद्धेतोः हरिस्थाने  
 स्वयम्, 'मन्त्रिकेतं तु निर्गुण'मिति भगवद्वाक्येन तत्र देशदोषाभावात् । अत्र कर्म  
 स्वयमित्याकांक्षायां प्रकारमाहुः तदीयैरित्यादि । तत्रापि तत्परैस्तदीयैः सहैति  
 कथनेनानन्यतया सेवाकृतिः स्वस्यापि सूचिता । तेन 'भावधानैः परस्परं सस्नेहैव-  
 हिर्दंष्ट्रिभिर्भगवत्सेवैकपरैः स्वयम् ।' तथा च तादृशस्यित्यां दुःसंसर्गसामावात्प्रसा-  
 दादिना वा अंघ्रिपतुल्यवैष्णवादिभ्यो भिक्षया वा देहनिर्वाहेऽन्नदोषस्याप्यभावाद्भक्तिवृद्धि-  
 रित्यर्थः । एतेन नलकूपरप्रसंगे वैराग्याद् यस्यागो निर्णतस्तस्यायं प्रकार इत्यपि बोधितम् ।  
 तस्याप्यसंभवे तदनुकल्पान्तरमाहुः, तत्र स्थितौ वा प्रकारमाहुः अदूरे विप्रकर्षे चेति ।  
 भगवन्मन्दिराद् भगवदीयेभ्यश्चादूरे, दूरे वा । यादृश्या सेवया स्वस्य सेनाभिमानी न  
 भवति, भगवदीयेषु च निकर्षबुद्धिविरुद्धबुद्धिदोषदृष्टिक्षोमादिप्रियंया चित्तं न दुष्यति, तथा  
 स्वयमित्यर्थः । यदि च काळाद्यादिदोषेण तादृशां सङ्गो न भवति, तदा तत्र स्थितौ प्रका-



रान्तरं तदनुकल्प वा आहुः सेवायामित्यादि । तादृशभगवदीयसद्भाभावेऽपि यद्यद्वायां  
 विप्रकृष्टायां वा सेवायां आसक्तिर्दृढा भवेत् । अन्यकृतोपहासस्यकारादिभिरनपनोघा  
 भवेत् । एवं कथायां श्रूयमाणयां कीर्त्यमानायां वा तस्यामासक्तिर्दृढा भवेत्, सापि  
 यावज्जीवम्, यावत्सामर्थ्यम्, जीवपदेन सामर्थ्यादिकमप्यर्थादाक्षिप्यते । अतस्तावत्प-  
 र्यन्तम्, न तु कश्चित्कालम् । क्रियाविशेषणमेतत् । तस्य यावज्जीवं तत्कर्तुः पुंसः कापि  
 नाशो न । इह लोके यथाधिकारं स्वरूपपरतायाः साधनपरतायाश्च नाशो न । परलोके  
 च यथाधिकारं फलप्रतिबन्धश्च नेत्यर्थः । दृढकथासक्तिप्रकारश्च प्रक्षिप्ताध्यायेषु तृतीये  
 'ज्ञाने प्रयासमुदपास्येति' श्लोके आचार्यैर्विधृतः । 'अयमेको मार्गः सर्वेषां पुरुषार्थ-  
 सिद्ध्यर्थं प्रसिद्धः सुगमः । आदौ स्थानस्थितानां जीविकोपद्रवाभानादिः स्वतःसिद्धः ।  
 सन्तश्च सर्वत्र भगवदाज्ञया परिभ्रमन्ति, तेषां चैतदेव कृत्यम् । भगवद्गुणगाने ते मुखरा  
 एव भवन्ति । तत्रापि कथायां ज्ञात्वा वक्तव्यमिति न नियमः । केवलं भगवदीया भग-  
 वत्सम्बन्धिनी वार्ता भवतु, न तूपपन्नाऽनुपपन्ना वेति । तत्राप्यनायासेन स्वकर्णे समा-  
 गता भवति । परं कायवाङ्मनोभिर्नमस्ता सा, तदनुगुणतया कायवाङ्मनानांसि स्थापनी-  
 यानि, न तु तत्र विरोध आचरणीयः । एतावदेव कृत्यम् । अत्र साधनं जीवनमेव, न  
 तु कर्मकरणादिकमपि । प्रायश इति ते चेद्भावान्तरं न कुर्तुः । कालादयश्च प्रतिबन्ध-  
 कत्वाद्वा । अतोनेनैव प्रकारेणाप्रेतनानां निस्तारः ।' किञ्च, सेवादृढासक्तिप्रकारोपि तत्रैव  
 'पुरेह गूण'न्निति श्लोके विधृतः । 'हे गूणन् व्यापक पूर्वमपि विद्यमान इहास्मिन्मार्गे पह-  
 वोपि सहशो योगिनो योगेनावधृतभक्तिसामर्थ्याः, अत एव त्वव्यर्षिता ईहा चेष्टा यैः ।  
 तेनैव समर्पणलक्षणेन कर्मणा त्वत्सेवालक्षणकर्मणा वा लब्धया प्राप्तया भक्त्यैव विबुध्य  
 स्वरूपं ज्ञात्वा, हे अच्युत केनापि प्रकारेण च्युतिरहित, ते गतिं मार्गं, येन प्रकारेण त्वं  
 गच्छसि, तां प्रपेदिरे । पश्चात्त्वदनुगानां न कापि चिन्ता । अञ्जः अनायासेनैव परां  
 लोकगतीतां प्रपेदिरे प्राप्तवन्तः । अत आत्मज्ञानोपेक्षायामप्ययमेव मार्ग उचितः ।'  
 अत्र नान्येषां सम्मतिः, किन्त्वहमेव यदामीत्याहुः मतिर्ममेति । 'श्रद्धा'मुपक्रम्य 'मत्से-  
 वायां तु निर्गुणे'ति । संवादसमाप्तौ च 'नद्वज्जोपक्रमे ध्यंस' इति 'यो यो मयि परो धर्म'  
 इति च भगवद्वाक्यात् सदादृतभक्तिप्रथे, तामुपक्रम्य 'मत्कथाश्रवणे श्रद्धा' 'श्रद्धाश्रुतरूपायां  
 म' इति च भगवद्वाक्यात् मम बुद्धिस्त्वादृशस्य नाशमात्र भासयति, तेन तथेत्यर्थः । यदि च  
 जाते धीजभावदार्ये अजाते वा पूर्वोक्तानां तदर्थानां साधनानां कालादृष्टादिना प्रतिबन्धा-  
 स्करणाशक्तिः, तदोपायान्तरमाहुः साधेत्यादि । मुख्यः कल्पस्तु भगवत्कृपयैव सिध्यतीति  
 न तत्र पापसम्भावना । 'तदा भवेद्दयालुत्व'मिति निरोधलक्षणे निष्कर्षात् । दयायां च सत्यां  
 प्रतिबन्धासम्भवात् । यत्र पुनस्त्यागे बाधकभूयस्त्वमित्यादिनोक्तैरुक्त्ये करिष्यमाणे क्रिय-  
 माणे वा पापस्य विषयस्य सम्भावना उत्कटकोटिकः संशयः, तदा तु एकान्ते भगवत्सा-

नादौ वासो नेष्यते । तदा गृहे वा अन्यत्र वा यत्र कचिन्निश्चया हरिरेव शरणं भावनीयम् ।  
 'हराम्यघं परस्मर्तृणामिति' भारते भगवद्वाक्यात् । 'सर्वधर्मान्परित्यज्ये'ति गीतायां भग-  
 वद्वाक्याच्च । हरिरेव सर्वतो रक्षं करिष्यति । तुः संशयाविश्वासादिनिरासे । न संशयः,  
 रक्षाकरणे संशयो नास्ति । तथा च पूर्वोक्तरीत्या भक्तिमार्गे प्रवृत्तिः संपाद्या । तत्र पापे  
 सत्यनुकल्पः करणीयः । तत्रापि पापे तदनुकल्पः । तत्रापि पापे शरणगमनं सर्वानुकल्प-  
 रूपं करणीयम्, न तु पूर्वमेव सेवादिकं त्यक्त्वानुकल्पे प्रवर्तनीयम्, भगवदिच्छया  
 ज्ञातुमशक्यत्वादिति ॥ ७-१० ॥

एवं सर्वं भक्तिवृद्धयुपायं निरूप्य तदुपसंहरन्त एतद्विचारफलमाहुः इतीत्यादि ।

इत्येयं भगवच्छास्त्रं मया गुप्तं निरूपितम् ।

य एतत्समधीयीत तस्यापि स्याद् दृढा रतिः ॥ ११ ॥

इतिः समाप्तौ । एवं पूर्वोक्तप्रकारेण भगवच्छास्त्रं गीतायामेकादशस्कन्धेऽन्यत्र च  
 भगवदुपदिष्टं शास्त्रं मया गुप्तं निरूपितं प्रकटीकृतम् । यः सदा एतद्गुप्तं शास्त्रं समधीयीत  
 सम्यक्प्रकारेण चिन्तयेत्, इक् स्मरणे, इडिकावप्युपसर्गतो न व्यभिचरतः । तस्यैतद्विचार-  
 पितुरग्नि रतिः प्रेमात्मिका दृढा स्यात् । तथा च तथा दृढया संसारागविनाशे जाते क्रमा-  
 दन्यदपि भगवान् सम्पादयिष्यति । 'न ह्यङ्गोपक्रमे ध्वंस' इति भगवद्वाक्यात् । तथा  
 चात इदमभीक्ष्णं विचारणीयमित्यर्थः ।

इति श्रीबल्लभाचार्यचरणारब्जप्रसादतः ।

परप्रेरणयाभातं व्यवृणोत्पुरुषोत्तमः ॥ १ ॥

इति श्रीबल्लभाचार्यचरणैकतानश्रीपीताम्भरात्मजपुरुषोत्तमविरचिता  
 भक्तिवर्धिनीविद्वतिः सम्पूर्णा ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

# भक्तिवर्धिनी ।

श्रीवल्लभकृतटीकासमेता ।

शश्वत्प्रियासितापाङ्गप्यानावस्थितचेतसा ।

प्रासतन्निजरूपाय गोविन्दाय नमो नमः ॥ १ ॥

यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात्तथोपायो निरूप्यते ।

बीजभावे दृढे तु स्यात्त्यागाच्छ्रवणकीर्तनात् ॥ १ ॥

भक्तिवर्धिन्याम् । यथेति । यथा येन प्रकारेण । भक्तिः शास्त्रीया । प्रवृद्धा मानस-  
सेवारूपा सती फलोन्मुखा भवेत्तथोपायस्तत्रकारणत उपायस्तनुविचजसेवया बीज-  
भावदार्ढ्यसम्पादनरूपस्लागेन श्रवणकीर्तनरूपश्च निरूप्यत इत्यर्थः । तस्य साधना-  
साध्यत्वसिद्धान्तादुपायपदम् । अत्र बीजं रत्यास्य आद्यः कोमलो भावः भगवानेव शर-  
णमित्याकारकः । येन भगवद्दर्शनेषु रुचिरभवति । भक्तिर्दुमः । फलं स्वाधिकारानुसारेणालौकि-  
कसामर्थ्याद्यन्यत्राप्राप्त्या भगवद्भजनम् । स उपायो द्विविध इत्याहुः बीजेति । बीजरूपे  
रत्यास्ये भावे तनुविचजसेवया दृढे नाससंभावनारहिते जाते तस्य भक्तिद्रुमस्य प्रवृद्धिः ।  
फलोन्मुखत्वं स्यादित्यर्थः । अतस्तद्दार्ढ्यं सम्पादनीयमित्येक उपायः । द्वितीयनिर्धार-  
माहुः त्यागादिति । त्यागाद्देतोः सिद्धाच्छक्तितात्पर्यरूपाच्छ्रवणसहितकीर्तनादित्यर्थः ।  
हरिस्थानवासे तदीयैः सह स्थितौ शक्तितात्पर्यनिर्धारो भवतीति भावः । द्वितीयपक्षेपि  
दार्ढ्यमपेक्षितमेवेति तुशब्दः । परन्वाद्यपक्षे गृहस्थित्या भावनाशशङ्कया तनुविचज-  
सेवया तद्दार्ढ्यं सम्पादनीयं भवति । द्वितीयपक्षे तु तद्भावात्स्वत एव दार्ढ्यं सिध्य-  
तीति विभेदः ॥ १ ॥

बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्या स्वधर्मतः ।

अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः ॥ २ ॥

आद्यमुपायमाहुः बीजदार्ढ्येति । द्वितीयपक्षाय यश्चः श्रययिति तुशब्दः ।  
पापनिवृत्त्याभावाय स्वधर्मतो वर्णाश्रमधर्मेण गृहे स्थित्याऽव्यावृत्तो भोगार्थव्यावृत्तिर-  
हितः । आश्रमधर्मत्वेन प्राप्तश्रुतगमनादिकमेव कुर्वन्निति यावत् । श्रवणादिभिः सहितया  
पूजया द्रव्येषु भावात्मकत्वभावनरूपया कृष्णं फलात्मकं भजेत्सेवेत । तनुविचजसेवां  
कुर्यादित्यर्थः । ज्ञानमयद्रव्यसम्पादितायाः पूजालं 'धन्यास्त्विति श्लोके निरूपितम् ॥२॥

व्यावृत्तोपि हरौ चित्तं श्रवणादौ यतेत्सदा ।

ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवेत् ॥ ३ ॥

वीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यन्नापि नश्यति ।

व्यावृत्तोपीति । कामादिप्रावत्ये तत्कृतप्रतिबन्धाभावाय भोगार्थव्यावृत्तिसिद्धि-  
तोपि सेवाऽनवसरेऽनिपिद्धप्रकारेण नित्यमपि भोगं कुर्वन्नित्यर्थः । हरौ चित्तं स्थापयित्वा  
शेषः । श्रवणादौ यतेत्, प्रतिबन्धनिवृत्तिमात्रार्थमेव भोगं कुर्वन् सदा सेवानवसरेपि यत्नं  
श्रवणादिविषयकमेव सम्पादयेदित्यर्थः । एवं कृते बीजभावस्य दार्ढ्यं भवति । तत्राभि-  
ज्ञापकमाहुः ततः प्रेमेति । एवं कृते सा भक्तिः प्रेमशब्दवाच्या भवति । पूर्वं  
लोकेपि स्नेहः स्थितो, भगवति परमधिकः । 'सर्वतोधिकः स्नेहो भक्ति'रिति लक्षणात् ।  
एवं कृते तु सर्वतो निवृत्तो भगवन्मात्रविषयको भवतीत्यर्थः । तदनन्तरं सासक्ति-  
शब्दवाच्या भवति । अनायासेनापि भगवानेव स्मृतो भवति येन तादृशस्नेहो भवतीत्यर्थः ।  
'चित्तस्वभाव आसक्तिर्यस्त्यक्तुं नैव शक्यते । स्नेहो रतिरिति श्लोक' इति तृतीयस्कन्धसुबो-  
धिन्प्राप्तम् । आसक्तिवसाधकोपि पूर्वोक्त एव प्रकार इति तथेत्सुक्तम् । व्यसनं चेति ।  
अत्रापि स एव प्रकार इति चकारः । विशेषेणासनं क्षेपणं येन । येन भावेनान्यास्फुरणं  
भवति । प्रपञ्चविस्मृतिरिति यावत् । आसक्तिः प्रपञ्चविस्मृतियुता सती व्यसनम् ।  
तथाच निरोधो व्यसनशब्दवाच्यस्तत्त्वं भक्त्येयदा भवेत् । तत्तदा बीजं दृढं भगवच्छास्त्रे  
उच्यते । भक्त्येयसनत्वं बीजदार्ढ्यस्याभिज्ञापकमित्यर्थः । दार्ढ्यस्वरूपमाहुः नापीति ।  
नाशाप्रतियोगीत्यर्थः । सततगृहस्थितौ नाशसम्भावनामपि वक्ष्यन्तीत्यपिशब्दः ॥ ३३ ॥

प्रेमादित्रयस्याभिज्ञापनाय तत्कार्याभ्याहुः स्नेहादिति ।

स्नेहाद्रागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद्गृहारुचिः ॥ ४ ॥

सर्वतो निवृत्ताद्भगवन्मात्रविषयकस्नेहादित्यर्थः । रागविनाशगृहारुचिकृतार्थतानां  
क्रमात्प्रेमाद्यभिज्ञापकत्वमिति भावः । रागविनाशो विषयवैराग्यम् । स्नेहस्य विषयेभ्यो  
निवृत्तौ तेषु वैराग्यमुदासीनता भवतीत्यर्थः । आसक्त्या गृहारुचिर्भवति ॥ ४ ॥

अत्र नञर्थो विरुद्धत्वमित्याशयेनारुचिपदार्थं विष्ण्वन्ति ।

गृहस्थानां पाधकत्वमनात्मत्वं च भासते ।

यदा स्याद्व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हि ॥ ५ ॥

तादृशस्यापि सततं गृहस्थानं विनाशयूत् ।

गृहस्थानामिति । अभगवदीयानामिति शेषः । एतेषां भावपाधकत्वेनानात्म-  
त्वेन च भानमरुचिपदार्थं इति भावः । भार्यापुत्रयोरालम्ब्ये शास्त्रसिद्धे अपि भक्तानां भ-  
गवानेवात्मरूपो, न तु ताविति भावः । अत एव सेवाप्राप्तिकृत्ये भार्यादीनामपि त्यागोऽ-

श्लोकः । यदा भक्तिर्व्यसनरूपा स्यात् । बाधकत्वेनाप्यन्यास्फुरणं स्यात् । तदैव कृष्ये  
 कृतः समर्पित ऐहिकपारलौकिकः सर्वोप्यर्थो येन तादृशः सिद्धात्मनिवेदो भवतीत्यर्थः ।  
 पूर्वं सामान्यतो निवेदने कृतेपि तत्सिद्धिर्व्यसने एव जाते भवति । तथाचात्मनिवेदनरूपा  
 भक्तिर्व्यसनकार्यमिति भावः । यथा गोपाः सर्वस्य भगवदर्थत्वज्ञानेन प्रपद्यन्विस्मृतेर्जातत्वा-  
 त्सर्वार्थे भगवानेव वक्तव्य इति ज्ञानयुक्ताः शुद्धिवृत्त्यर्थमपि भगवन्तमेव प्रार्थितवन्तः ।  
 अत एव 'व्यसनान्नान्यगामिन' इति तत्र निबन्धे निरूपितम् । पूर्वयोः क्रियित्कालं  
 व्यवधानमपि । इदं तु व्यसनसिद्धौ शीघ्रमेव भवतीति यदा तदैवेत्युक्तम् । तत्र किञ्चिदन्य-  
 दप्याहुः । तादृशस्यापीति सिद्धात्मनिवेदनस्याधीत्यर्थः । गृहस्य भगवति समर्पितत्वेन  
 सर्वथा बाधकत्वाभावात् सर्वान्माना त्यागः, किन्तु सततस्थितौ भोगदृष्टिसम्भवात् भो-  
 गस्य च सेवाफलग्रन्थे बाधकत्वनिरूपणान्मध्ये मध्ये लीलास्थलेषु गोवर्धनादिषु गच्छे-  
 दिति सततमित्युक्तम् । विनाशकृत् । भोगसम्भावनाया धीजभावनाशुद्धित्यर्थः ।  
 एवं तनुवित्तजसेवया धीजदार्यसम्पादने भक्तिर्व्यसनान्तावस्थां प्राप्ता चेतस्वल्पवणरक्षण-  
 मानससेवारूपा दृढा सती अलौकिकसामर्थ्याद्यन्यतरफलोन्मुखा भवतीत्येक उपाय उक्तः ।  
 अत्र भार्यादिप्रानिकूल्ये यः प्रतिकूलहास्य त्यागो, न तु गृहस्य । अत एव 'प्रतिकूले गृहं  
 त्यजे'दित्यत्र गृहं भार्यादिकमिति व्याख्यातम् ॥ ५३ ॥

त्यागं कृत्वा पतेद्यस्तु तदर्थाप्येकमानसः ॥ ६ ॥

लभते सुदृढां भक्तिं सर्वतोप्यधिकां पराम् ।

द्वितीयमाहुः त्यागं कृत्वेति । गृहत्यागं कृत्वा । स चासावर्धय तदर्थः ।  
 आपद्योके उदेशत उक्तः श्रवणकीर्तनरूपो योर्ध्वदर्थं तद्विषयकमेक मानसं यस्य  
 तादृशः सन् । श्रवणकीर्तनार्थमेव हरिस्त्वानि भगवन्नक्तमनिधौ तिष्ठतिजिनि यात् । एतादृशः  
 सन् यो पतेत् । श्रवणादाविति शेषः । स भक्तिं सुदृढां व्यसनत्वं प्राप्तां लभते । ततः  
 सर्वतोऽधिकां परां फलोन्मुत्तामपि लभत इत्यर्थः । भक्तेः पूर्णमपि सिद्धत्वात्मविशेषणे  
 हीतिन्यायेन विशेषणलाभो विधीयत इति श्रेयम् । 'गृहं सर्पात्मना त्याज्य'मिति  
 वाक्यादेतस्य पक्षस्य मुख्यत्वम् । अत एव प्रथम-पक्षे नाशसम्भारनाप्यर्थात्पुक्तम्,  
 अत्र तद्रूपावर्तनाय तुगन्धः । मुख्यानां शिष्टदयन्ति सुदृढानिति । आप्यपक्षे सतनगृह-  
 स्थितौ नाशसम्भावनाप्यस्तीति तदकृत्वा धीजदार्यसम्पादनेन मन्तेर्दार्ढ्यं व्यसनत्वं  
 सम्पादनीयं भवति । अत्र पक्षे तु गृहभावनेन नाशसम्भावनाजभावात् पूर्वोक्तपक्षदार्ढ्ये  
 बले विनियं गृहदा व्यसनत्वं प्राप्ता भवतीत्येतावदंशमादाय 'पाशिक्षेरेति दोषः परि-  
 हारणीय' इति न्यायेन मुख्यत्वम् । फलभाषने तु साम्यमेवेति वदन्ते ॥ ६३ ॥

ननु त्यागमात्रमेव वचनत्वं भवति, हरिस्त्वानयात्रो मात्पन्नम पुनः किन्च  
 दोष्यत इत्यत आहुः त्याग इति ।

त्यागे षाषकभूयस्त्वं दुःसंसर्गात्तथाघ्नतः ॥ ७ ॥

अतः श्येयं हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परैः ।

धर्मद्वयरहितकेवलत्यागे षाषकभूयस्त्वमस्त्यतो हेतोः । तयान्नतो दुःसंसर्गाद्देतोः हरिस्थाने तदीयैः सह श्येयमित्यन्वयः । हरिस्थानवासराहित्ये षाषकभूयस्त्वं 'सहायसङ्ग-साध्यत्वा'दित्यारभ्य 'नैव त्यागः सुखावह' इत्यन्तं संन्यासनिर्णयोक्तमस्तीति शेषः । अतो हरिस्थाने श्येयम् । तत्र ते दोषा न भविष्यन्तीति भावः । तथा भक्तसङ्गराहित्ये अन्न-तो हेतोः अन्नार्थं दुःसंसर्गात् दुष्टानां संसर्गसम्बन्धाद्देतोस्तदीयैर्भगवदीयैस्तत्रापि तत्परै-र्भगवत्परैर्नतु हिरण्यकशिपुप्रभृतिवदत्परैः सह श्येयम् । तदाज्ञार्थमपि तेषामेव संसर्गो भविष्यति, न तु दुष्टानामिति भावः ॥ ७ ॥

हरिस्थानस्य द्वैविध्याशयेनाहुः अदूरे इति ।

अदूरे विप्रकर्षे वा यथा चित्तं न दुष्यति ॥ ८ ॥

पूजाप्रवाहवति गोवर्धननाथजगन्नाथादिस्थाने भगवतः अदूरे पूजाप्रवाहरहित-यमुनातटादिषु लोकदृष्ट्या भगवतो विप्रकर्षे वा स्वस्य चित्तं यथा न दुष्यति, दोषयुक्तं न भवति, तथा स्वयमेव विचार्य श्येयमिति पूर्वोक्तान्वयः ॥ ८ ॥

अन्योक्तपक्षद्वयमुपसंहरन्ति ।

सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेत् ।

यावञ्जीवं तस्य नाशो न कापीति मतिर्मम ॥ ९ ॥

सेवायामिति । आद्ये बीजदारब्धसम्पादनपक्षे सेवायां क्रियमाणयां, द्वितीये त्यागपक्षे कथायां वा क्रियमाणयां सत्यां यस्य आसक्तिरामक्तित्वं प्राप्ता भक्तिर्दृढा प्यसनत्वं प्राप्ता भवेत्, तस्य पुरुषस्य भक्तिबीजस्य नाशो न । तथा च प्यसनरूपा नाशसम्भाव-नारहितबीजा भक्तिश्चेतस्त्वत्पणलक्षणमानससेवारूपा सती अटीक्रिकसामर्प्याद्यन्यतरफलं यथाभिन्नार्थं सम्पादयतीति भावः । नात्र वर्णादिनियम इत्याहुः यावञ्जीवमिति । सर्पानिव जीवान् मर्यादीकृत्येत्यर्थः । प्यसनसिद्धानन्तरं हरिस्थानवासनियमोरि तथा नास्तीति कापीत्युक्तम् । किन्तु सततगृहस्थितिनिर्निषेदेति पूर्वमुक्तम् । वर्णादिसामर्प्यं प्रमाणेन विरुध्यत इत्याशङ्क्यात्र प्रमाणघन्ताभावादाहुः मतिर्ममेति । अस्मन्मतिस्त्रिदोषं पक्षः, अतः प्रमेययत्तसिद्धः । वाचा कथनेपि मतिस्त्रिदत्वमेव मुख्यमिति भावः ॥ ९ ॥

पक्षद्वयस्य व्यवस्थामाहुः याधेति ।

यावत्संमापनायां तु नैकान्ते धास्य इष्यते ।

हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः ॥ १० ॥

कामादिभिर्षोषसम्भावनायाम् । इन्द्रियजयसामर्थ्याभाव इति यावत् । तदा एकान्ते वासस्वारागपक्षो नेष्यते । तथाचेन्द्रियजयसामर्थ्याभावे पूर्वोक्तपक्षेण सेयम् । तत्रामध्यं त्यागपक्षेण हरिस्थाने तदीयैः सह सेयमिति व्यवसेति भावः । एवं व्यञ्ज्यायां 'गृहं सर्वात्मने'ति श्लोकसंमत्तिसूचनाय तुशब्दः । मन्वस्वारागपक्षे गृहे स्थितौ तत्रासक्तिरनिवार्या । त्यागपक्षे च गृहत्यागस्याश्रमान्तराग्रहणे प्रमाणविरुद्धत्वात्त्यागसम्भावनेत्याशङ्क्याहुः हरिस्त्विति । सर्वतो गृहासक्तेः सर्वपापेभ्यश्चेत्यर्थः । 'अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच' इत्यस्वार्योक्तसंशेयः । एतद्वाक्यानुसंधानेन न संशय इत्युक्तम् । हरित्वाद्रक्षणं युक्तमेवेति तुशब्दः ॥ १० ॥

उपसंहरन्ति ह्येवमिति ।

इत्येवं भगवच्छास्त्रं गृहतरुवं निरूपितम् ।

य एतत्समधीयीत तस्यापि स्याद्गृहा रतिः ॥ ११ ॥

य एतदिति । एतदध्ययनेनापि रतिर्धीजिभावरूपा द्वा स्यादिति । धीमदार्य-  
सम्पादनसाधपक्षस्यायमप्येकः प्रकार इति तस्यापीत्यपिशब्दः ॥ ११ ॥

स्वीयेषु कृपयोक्तस्य ग्रन्थस्यास्य महात्मभिः ।

वदनानलदासोक्ता व्याकृतिः पूर्णतामगात् ॥ १ ॥

इति श्रीविद्वलेशात्मजश्रीवल्लभकृता भक्तिवर्धिनीटीका समाप्ता ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

## भक्तिवर्धिनी ।

मठपतिश्रीजयगोपालभट्टकृतटीकासमेता ।

परिपद्मैलसन्मौठि वेशुवादविशारदम् ।

दुःखं दलयतादुर्बैक्षिमङ्गलितं महः ॥ १ ॥

श्रीवल्लभतत्सुतवरगुरुषितृष्णान् मुहुः प्रणमन् ।

टीकामतीव रम्यां कुर्वे श्रीभक्तिवर्धिन्वाः ॥ २ ॥

सगुणा भक्तिर्नवभोक्तैकविषा निर्गुणा ततो दशभिः ।

पथैरक्तो घृष्टिप्रकार एकेन चोपसंशारः ॥ ३ ॥

दश दशभिर्भक्तभावैर्दशविधा भक्तिरिति दशसोक्तैर्भक्तिवर्धिनीशास्त्रे भक्तिशुद्धि-

प्रकारं एकेन श्लोकेन तदुपसंहारं तत्पाठफलं चाहुः श्रीवल्लभाचार्याः यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यादित्यादिना ।

यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात्तपोपायो निरूप्यते ।

यीजभावे दृढे तु स्यात्त्यागाच्छ्रवणकीर्तनात् ॥ १ ॥

यथा येन प्रकारेण भक्तिर्भावरूपा प्रवृद्धा अवस्थाविशेषविशेषाविर्भावैर्निरूप्यतापर्यन्तं प्राप्ता भवति, तथा मया उपायः साधनं निरूप्यते कथ्यत इत्यर्थः । ननु भक्त्युत्पत्तिसाधनं पूर्वमनुकत्वा भक्तिवृद्धिसाधनोपदेशः कथं क्रियत इति चेत् । अप्रोच्यते । पुष्टिमार्गे प्रमो 'रसो वै स' इति श्रुत्या एकमचनाविरुद्धसामान्यरसशब्दप्रयोगेणानेकविधरसरूपावशिष्टैकरसरूपत्वं सिध्यति । अत्र प्रभुरनेकरसविशिष्टोपि प्राधान्यतः कीदृशरसरूप इति जिज्ञासायां शृङ्गाररसरूप एवेत्यायाति । यतः श्रुतिभिः परमकाष्ठापन्नानन्दस्वरूपफलरूपदर्शने प्रार्थिते भगवतोदीपनविभावरूपश्रीगोवर्धनश्रीयमुनादिविशिष्टे प्रकृत्यतीताक्षरमहान्तर्गतब्रह्मानन्दमध्यव्यापिवैकुण्ठान्तर्गतश्रीमद्बृन्दावने 'नानारासरसोन्मत्तं यत्र गोपीकदम्बक'मित्यादीदृशोऽनुभावरूपो यो रासस्तद्रसोन्मत्तः शृङ्गाररसालम्बनीमूतनापिकारूपगोपीकदम्बकयुक्तमेव परमकाष्ठापन्नफलरूपं स्वस्वरूपताम्यः प्रदर्शितमिति बृहद्ब्रामनपुराणे श्रूयते । अन्यरसस्वरूपत्वेनैव प्राधान्ये तद्विभावादिविशिष्टमेव स्वरूपं प्रदर्शितं स्यात् । न च तस्य स्वरूपस्य परमकाष्ठापन्नत्वे प्रमाणाभाव इति वाच्यम् । 'कल्पं सारस्वतं प्राप्य प्रजे गोप्यो भविष्यथ । पृथिव्यां भारते क्षेत्रे माथुरे मम मण्डले । बृन्दावने भविष्यामि प्रेयान्नो रासमण्डल' इति बृहद्ब्रामनपुराणे सारस्वतकल्पे स्वावतार उक्तो भगवता श्रुतीनामनुग्रहार्थम् । तत्कल्पानुसार्यैव श्रीभागवतं तत्स्वरूपदर्शनेनैव च निखिलवेदपुराणधर्मजिज्ञासामहजिज्ञासादिभिरप्यजातचित्तप्रसादानां श्रीमतां व्यासचरणानां चित्तप्रसादो जातो, न त्वन्यस्वरूपदर्शनेनेत्यर्थापतिरूपप्रमाणेन तस्य स्वरूपस्यैव परमकाष्ठापन्नत्वे सिद्धे तत्स्वरूपस्य परमकाष्ठापन्नत्वे प्रमाणाभावाभावात् । एवं च सिद्धे शृङ्गाररसरूपत्वस्यैव प्राधान्येन धर्मत्वेऽन्यरसस्वरूपाणां च तदङ्गत्वेन धर्मत्वे, शृङ्गाररसस्य तु रतिरूपस्थायिभावात्मकत्वात् रतिरूपस्थायिभावस्य च भगवद्रूपत्वेन ब्रह्मत्वात् ब्रह्मणश्च व्यापकत्वात् भगवद्विषयकरतेरपि व्यापकत्वे सिद्धे सर्वजीवेषु त स्थितत्वं सिद्धम् । तत्र रतेर्ब्रह्मत्वेनानन्तरूपत्वान्नागवद्विषयिणी श्रीमद्भक्त्यादिनिष्ठारतिः शृङ्गाररसरूपा भवति । अस्मदादिनिष्ठा भगवद्विषयिणी रतिर्भक्तिरसरूपा भवति । सैवास्मदादिनिष्ठा सपरिकरभगवदतिक्रपायां स्वस्य पूर्वरूप तिरोधाप्य शृङ्गाररसरूपतामपि प्रकटीकरोति । एवं च 'प्रेम्णस्तु प्रथमावस्था भाव इत्यभिधीयते' । 'रतिर्देवादिविषया भाव इत्यभिधीयते' । 'माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोभिक' । 'स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तथा मुक्तिर्न चान्यथे'ति वाक्येभ्यः प्रेमप्रथमावस्थारूपत्वात् प्रभुविषयकत्वाच्च भावशब्दाच्चा स्नेहरूपत्वेन भक्तिशब्दान्यापि



भवति । तत्र सा भक्तिद्विविधा । मर्यादापुष्टिमार्गीया शुद्धपुष्टिमार्गीया च । तत्र 'यमेवे'ति  
 श्रुतिवृद्धं मर्यादापुष्टिमार्गीयं वरणं शुद्धपुष्टिमार्गीयं च वरणमिति वरणेपि द्वैविध्यमिति  
 सिद्धान्तात् मर्यादापुष्टिमार्गे मर्यादानुग्रहाम्यां मिलिताभ्यामेव कार्यसिद्धिः । शुद्धपुष्टिमार्गे  
 तु विशुद्धानुग्रहमात्रेणैव कार्यसिद्धिः । एतच्च मर्यादापुष्टिमार्गे मर्यादापुष्टिमार्गीयभगवद्-  
 रणप्रेरिततादृशजीवकृततादृगाचार्यसंश्रयसञ्जाततादृगामनिवेदनमात्रेणैवातिमात्राच्छादकमा-  
 यारूपावरणमङ्गे पूर्वोक्ततरपरपर्यायभावसाविर्भावः । 'दानव्रततपोहोमजपस्वाध्यायसंयमैः ।  
 श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैः कृष्ये भक्तिर्हि साध्यत' इत्यादिवाक्यात् । शुद्धपुष्टिमार्गे तु शुद्धपु-  
 ष्टिमार्गीयश्रीमद्भजभक्तकृपाविष्टभगवत्कृपाप्रेरिततादृशजीवकृते शुद्धपुष्टिमार्गीयाचार्यसंश्रयस-  
 ष्ठातन्मार्गीयनामनिवेदनमात्रेणैव । न चैतन्मार्गीयनामनिवेदनेपि न सूक्ष्मबीजरूपमात्रो  
 दस्यत इति वाच्यम् । तादृगामनिवेदनादिभिः प्रतिषन्धकाविद्यापगमेपि सूक्ष्मतस्त-  
 दैव तद्दर्शनाभावात् । समयविशेषसमुद्भूतकिञ्चिदश्रुपुलकादिभिस्त्रुद्भयनाच्च रतिमात्रा-  
 च्छादकमायारूपावरणमङ्गे पूर्वोक्तभावसाविर्भावः । 'न रोषयती'त्यात्म्य 'यथाऽ-  
 यरुन्धे सत्सङ्ग' इत्यादिवाक्यात् । एवं च भावसाविर्भावमात्रमेव, न त्वत्तिरिति  
 नोत्पत्तिप्रकार उक्तः । किन्तु वृद्धितत्प्रकार एवोक्त इति । न चाविर्भाव एव उत्पत्तिरिति  
 वाच्यम् । 'अनित्ये जननं नित्ये परिच्छिन्ने समागमः । नित्यापरिच्छिन्नतनी प्राक-  
 त्यमिति सा विधे'ति विविधोत्पत्तौ षटादिवदनित्यत्वाभावात् जननरूपोत्पत्तिः ।  
 जीवात्मवद्वित्यपरिच्छिन्नत्वान्न समागमरूपोत्पत्तिः । नित्यापरिच्छिन्नत्वेपि धर्मरूपस्य  
 भावस्य तत्तुल्यत्वाभावात् प्राकृत्यरूपोत्पत्तिः । किन्तु वेदस्य यथा प्रलये सूक्ष्मरूपेणाव-  
 स्थानमेवमेव भावसापि पूर्वसूक्ष्मरूपेणावस्थानं पश्चात्पृथी वेदस्य विस्तार इव स्वका-  
 रणैः प्रवृद्धिमात्रमित्याविर्भावस्य उत्पत्तिरूपत्वाभावात् । तस्मात्कृतेः सूक्ष्मबीजरूप-  
 भावरूपेण सर्वजीवेच्चपि नित्यस्थितत्वात्तस्य च आचार्यकृपाप्रेणैव आविर्भावस्यैव  
 जातत्वात् साधनान्तरापेक्षत्वाच्च तद्वृद्धिप्रकार एवोच्यते, न तु तदुत्पादनप्रकारः, विवि-  
 धोत्पत्तोरप्यसम्भवात् । न च 'पानेन ते देव कथासुधायाः प्रवृद्धमक्षया विशदाशया य'  
 इत्यादिना कथासुधापापानस्य भक्तिवृद्धिहेतुत्वमप्युच्यत इति धर्मो भवत्ययाम इति  
 वाच्यम् । अत्रैव श्लोके 'वैराग्यसारं प्रतिउभय षोष' मित्यत्र उक्तत्वादस्य वृद्धिप्रकारस्य  
 मर्यादामार्गीयभक्तिरिषयत्वात् । शुद्धपुष्टिमार्गीयमक्तेस्तु 'न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः  
 श्रेयो भवेदिदं'नि वाक्याद्वैराग्यज्ञानानपेक्षत्वादिनि जानीहि । श्रुती प्ररूपस्तु फलानुभव-  
 पर्यन्तसम्पादकररूपः ।

ननु सा भक्तिवृद्धिः कदा भवतीत्याकाहायानाहुः श्रीजभावे दृष्टे तु म्या-  
 क्यमात्रप्रवणकीर्तनादिनि । तत्र रयामात् भगवद्भजनप्रतिषन्धकृत्वादिनात् ।  
 अथ च श्रवणकीर्तनाय प्रेमाभक्तिभजनरूपारम्भानेपरिष्कारिभ्योऽन् पूर्वोक्त-

प्रकारकरत्यपरपर्यायधीजरूपो यो भावस्तस्मिन् दृढे केनापि तिरोधापयितुमशक्ये सति शुद्धपुष्टिमार्गीया भक्तिः प्रवृद्धा स्यात् । रासरूपतारूपवृद्धिप्राप्ता स्यादित्यर्थः । न चात्र त्यागपदेन सर्वत्याग एव कुतो नोच्यत इति वाच्यम् । अग्रे 'गृहे स्थित्वा स्वधर्मत' इत्यनेन वैदिकलौकिकधर्मसाहित्येन गृहस्थितस्यैव मजनस्य बोधितत्वेन तया-  
व्याख्यानस्य कर्तुमशक्यत्वात् । अत्रेदं तत्त्वम् । त्यागस्तावन्निविधः । भगवद्भजनानु-  
कूलानामेव गृह्यादीनां त्यागः, न तु तदनुकूलानामपि । द्वितीयस्तु भगवद्भजनानु-  
कूल-गृहमात्रस्यैव त्यागः, न तु भगवद्भजनानुकूलानां स्वगृहस्थितान्यभगवदीयानामपि । तृती-  
यस्तु भगवद्भजनानुकूलगृहस्थितभगवदीयानामिव तद्भजनानुकूलतदन्यभगवदीयानामपि  
त्यागः । तत्र प्रथमस्त्यागो धीजदाढ्यप्रकारे तनुजवित्तजसेवारूपप्रारम्भदशासामयिकः ।  
द्वितीयस्त्यासक्तिदशाविर्भावरूपमध्यदशासामयिकः । तृतीयस्तु ध्यसनदशाविर्भावरूपपू-  
र्णदशासामयिकः । तत्रैव तन्त्रोक्तोक्तस्त्यागो बीजदाढ्यप्रकारप्रारम्भदशात्यागः । अग्रे  
'तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशकम् । त्यागं कृत्वा यतेषस्तु तदर्यायैकमानस' इत्यनेन  
नक्ष्यमाणः स मध्यमदशालागः । 'निरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यत' इति संन्यास-  
निर्णयोक्त्यागस्तु फलदशालाग इति बोध्यम् । अत्रायं श्लोकः सूत्ररूपः, अग्रिमग्रन्थो  
व्याख्यानरूप इति ज्ञेयम् ।

केचित्तु बीजं नाम 'यमेवे'ति श्रुतेर्निरुपाधिकरूपणया पुष्टिमार्गीयं भगवद्भरणम्,  
अन्यथा तत्र प्रवृत्तिरेव न स्यादित्यादिप्रकारेण व्याचक्षते । तच्चिन्त्यम् । वटादिवृक्षस्य  
वटादिवीजमेव बीजम्, न तु पिप्पलादिवीजं बीजम् । एवं च जीवस्य वृक्षसजातीयत्व-  
मुत्सर्गतः सर्ववादिषिद्धम्, अन्यथा पिप्पलादिवीजेभ्योपि वटाद्युत्पत्तिः स्यात् । तथात्रापि  
लेहरूपभक्तेरपि लेहरूपभक्तिरूपमेव बीजं भवितुं योग्यम्, सजातीयत्वात् । अत एवो-  
पसंहारे 'तस्यापि स्याद्गुदा रति' इत्यनेनोपक्रमोक्तभावपर्यायरतिशब्देन भावस्यैव दाढ्य-  
मुक्तम्, न तु पुरुषोत्तमवरणादीनाम् । एवं च यथा वर्षासमयो नववारिसेकेन क्षेत्रान्तः-  
स्थितं बीजं क्षेत्रनिष्ठं प्रतिबन्धकरूपं काठिन्यं दूरीकृत्य स्वकार्योन्मुखं करोति, तथा च  
निरुपाधिपुरुषोत्तमवरणादिकं शुद्धपुष्टिमार्गीयाचार्यानुग्रहद्वारा जीवान्तःस्थितं तत्परपर्यायं  
सूक्ष्मरूपत्वात् बीजरूपभावं मायातिरस्करीणीरूपं प्रतिबन्धकं दूरीकृत्य स्वकार्योन्मुखं  
करोतीत्यसाधारणनिमित्तकारणरूपमेव, न तु भाववत् । तत्समवायि तु इदमेवेति ज्ञापयितुं  
बीजपदमुक्तम् । अत्र अन्यथा मूलकारणदाढ्यं स्यादित्याद्येव श्लोकनिबन्धः कृतः  
स्याच्छ्रीमदाचार्यचरणैः । न च वटादिवीजानामपि वटादिवृक्षं प्रति निमित्तत्वमेव दृष्टम्,  
न तु समवायिकत्वम्, कार्यस्य वटादिस्तत्समवेतत्वाभावात्, तथैव भावरूपबीजस्यापि  
निमित्तत्वमेवेति सिद्धे समवायित्वोक्तिर्विरुद्धेति वाच्यम् । यथा वटादिवीजानां निमित्तत्वेपि  
कन्दरूपबीजानां समवायित्वदर्शनेन समवायित्वम्, एवमेव भावरूपबीजस्यापि प्रकृतत्वेन

'स हैतावानास' इति श्रुतेः, अथ च समवायित्वेनानुभवाच्च समवायित्वोक्तैर्विरुद्धत्वाभावात् । तस्मादुपक्रमोपसंहारपर्यालोचनया युक्तिपर्यालोचनयापि बीजरूपो यो भाव इत्येव व्याख्यातमस्माभिरित्यास्तां तावत् ॥ १ ॥

ननु बीजदार्ष्योपाय उच्यतामित्याकाङ्क्षायामाहुः बीजदार्ष्यप्रकारस्त्विति ।

बीजदार्ष्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः ।

अन्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः ॥ २ ॥

अत्र पूर्वोक्तो भावो बीजम्, तस्य दार्ष्यप्रकारस्त्वयं यत् 'भार्यादिरनुकूलधेतुकारयेद्भगवत्क्रियाम् । उदासीने स्वयं ; रात्रिं प्रतिकूले गृहं त्यजे'दिति श्रीभागवततत्त्वदीपनियन्त्रे सिद्धान्तितत्वात् । भगवद्भजनानुकूले गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः वर्णाश्रमधर्मतो भगवद्भजनानुकूललौकिकवैदिकधर्मतश्च अन्यावृत्तः अनिवृत्तः सन् कृष्णं श्रीमद्गोपीजनविशिष्टं कृष्णपदार्थं फलरूपं भजेत्, कृष्णविषयिकीं सेवां कुर्यादित्यर्थः । अत्र यद्यपि स्वधर्मत इत्यत्र स्वपदस्यात्मात्मीयवाचकत्वात् स्वधर्मपदेनात्मधर्मरूपो दासधर्मोप्यायाति, तथापि न व्याख्याने संगृह्यते, किन्त्वात्मीयधर्मरूपवैदिकलौकिकधर्मा एव संगृह्यन्ते । यतो भजेत्पदार्थस्य सेवाकारणस्य सेवकधर्मत्वात् भजेत्पदेनैवात्मधर्मरूपदासधर्ममग्रहस्य जायमानत्वादिति बोध्यम् । कृष्णशब्दस्य श्रीमद्गोपीजनविशिष्टकृष्णपरत्वं तु मत्कृतप्रथमस्कन्धसुषोधिनीटिप्पण्यां 'कर्ता ज्ञः सकलस्ये'ति पद्यव्याख्याने मया सप्रथममुक्तमिति तत्रैवावलोकनीयम् । अत्र वर्णाश्रमधर्मत्यागेन भजने यद्यपि पापं न भवति, 'तस्मात्त्वमुद्भवोत्सृज्य नोदनां प्रतिनोदना'मित्यादिवाक्येन विहितत्वात्, तथापि स्वधर्मत्यागेन भजने गृहस्थितानां पुत्रकलनादीनां तादृग्विश्वासाभावात् स्वस्मिन्नसद्बुद्ध्या सेवोदासीन्येन षड्विधुत्खजनितामार्गनिन्दया स्वचित्तक्षोभेन च सेवाया अनिर्वाहः सात् । न च तर्हि पुत्रकलनादीनां निन्दया स्वचित्तक्षोभजनकानां षड्विधुत्खानां सद्बुद्ध्यागस्य कर्तुं शक्यते 'प्रतिकूले गृहं त्यजे'दित्युक्तत्वात् सेवाप्रतिकूलतायामेव पुत्रकलनादीनां त्यागस्य सिद्धान्तत्वेनोदासीन्ये गृहे स्थित्वा स्वयं कर्तव्यस्य बोधितत्वात् । न च स्वयमेव सर्वं क्रियतामिति वाच्यम् । स्वयमेव सेवासामग्रीसम्पादनस्य कर्तुमशक्यत्वात् । स्वधर्मत्यागेन तेषामोदासीन्याश्च सेवापापः प्रसज्येतेति । अथ च स एवोत्तमः सेवको यः स्वामिन आयासं न गृहते । एवंस्थिते गृहस्थे सेवकेन वैदिकलौकिकधर्मत्यागेन भजने क्रियमाणे तं दृष्ट्वान्येतरि तदनुयायिभिस्तथैव भजने कृते स्मत्पार्थक्यवैदिकलौकिकधर्मनाशे जायमाने 'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत । अग्न्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं वृत्राप्यह'मिति वाक्यात् धर्मरक्षायं भगवतः प्रयत्नकरणे मदायास उत्पद्यते । स चायासः स्वदत्त एवेति गृहस्थसेवकस्यानुत्तमसेवकत्वं च प्रसज्येतेत्यनोपि हेतोः स्वधर्मत अन्यावृत्तो भजेदित्युक्तमित्यनुषेदि ।

ननु केवलमेव सेवनं कर्तव्यम्, अथवा किञ्चिदन्यदन्यदपि कर्तव्यमित्याकाङ्क्षा यामाहुः पूजया श्रवणादिभिः । अत्र विनापि सहयोगं तृतीयेत्युक्तत्वात्सहस्रशब्दाप्रयोगेपि तृतीया । तथा पूजया श्रवणादिभिः सहेत्यर्थं सम्पन्नः । अथाप्रधानतृतीयाभिर्देशास्ते वाया एव प्राधान्यम् । पूजायाः श्रवणादेश्च गौणत्वमेव । अत्र पूजापि गृहस्थितानाम नौदासीन्यसम्पादनार्थं बहिर्मुखजनितमार्गनिन्दया स्वचित्तक्षोभाभावाद्यर्थमेवोक्ता । अथवा शुद्धपुष्टिमार्गीयसेवामात्रकरणे विध्युक्तत्वाभावाज्ञाने तेषामौदासीन्यं स्यात् । तस्मात् पूजासाधने शङ्खघण्टाद्युपचारैरपि सह सेवा कर्तव्येत्युक्तम्, परन्तु शुद्धपुष्टिमार्गीयसेवापिरोधिपूजासाधनैर्न कर्तव्येति । न च पुष्टिमार्गशिरोधिपूजासाधनत्वमपि तेषामौदासीन्ये का गतिरिति वाच्यम् । पञ्चोपचारषोडशोपचाराष्टादशोपचारचतुःषष्ट्युपचारैः पूजा विहितेति उपचाराणामनियतत्वेन कमपि पक्षं करोतीति तेषामौदासीन्याभावात् । अत एव अप्रधानतृतीयया श्रवणादित्रयमपि सेवाविधेर्न कर्तव्यम् । मुख्यतया सेवा कृत्वा सेवासमयातिरिक्तसमये श्रवणादिकं कर्तव्यमिति तस्यापि गौणत्वमिति ।

यत्तु स्वधर्मतो दासधर्मतो भवेत्, अव्यावृत्त लौकिकव्यावृत्तिरहितं सन् इति व्याख्या, तत्र गृहे स्थित्वा भजने लौकिकव्यावृत्तिरहितं सर्वथा न भवतीति विचार्यम् । यद्वा । कृष्ण फलात्मकं पूजया पूजासाधनैर्भवेत् । सेवा कुर्यात्, न तु पूजयेत् । तथा च सेव्यसेवकभावेनैव कृतिं कुर्यात् । न तु 'देवो मूत्वा देव यजेदिति वाक्यात् स्वस्मिन् देवत्वभावायेत् । किन्तु दासत्वमेव । न च भजेदित्येतावन्तैवायमर्थ आयात्येव, तथा च पूजयेदिति वचनं व्यर्थमिति वाच्यम् । भजेदित्येतावत्युक्ते कया सामग्या भजेदित्याकाङ्क्षायाः पूजया पूजासाधनैरेव भजेदिति बोधनेन तस्य सार्थस्यात् । एवमेव श्रवणादिभिरपि भजेत् श्रवणादिकमपि सेव्यसेवकभावेनैव कुर्यात्, न तु सेवकत्वमात्रशुद्ध्या । तत्र प्रथमया ख्याने तु सेवानुकूलसाङ्गपूजासाधनैः सह भजनम्, न तु गृहस्थितानामौदासीन्याभावात् पश्चिमुखजनितचित्तक्षोभाभावात् मार्गनिन्दाभावात् चेति ज्ञेयम् । द्वितीयं यादयाने तु प्रायशो यैरेव स्तुतिभिः पूजा भवति, तैरेव स्तुतिभिः सेवा भवति । परन्तु पूजा विहितत्वेन समर्पणम्, न तु दास्योपयोग्युचितानुचितविचारेण । मेवाया तु दास्योपयोग्यशुद्धपुष्टिमार्गीयार्थसहस्रसङ्गभावनया समर्पणं मूलं संहारानेपीति विशेषः । न च संहारभावे कथं फलं भविष्यतीति वाच्यम् । संहारशुद्धपुष्टिमार्गीयार्थमार्गीयत्वपक्षपातात् । इह यथा तथा 'स्वयं समुत्तयं सुदुम्भरं मिति दशमस्कन्धायममस्तुतिपत्र्या ख्याने भक्तिहृत्से प्रयसितमस्मत्प्रमुमिरिति तत्रैवावलोकनीयम् । अत एव भजेदित्यत्र न तु पूजयेदिति । अत्र यथा पूजासाधनानां शुद्धपुष्टिमार्गीयेण समर्पणम्, न प्रसास्तु मत्तुतशुद्धपुष्टिसेवासरणौ द्रष्टव्यं, गृहस्थितानां तौक इति ज्ञेयम् ।

तु सेवा हि सेव्यसन्तोषजनकक्रियया निष्पद्यते । सा च क्रिया पादसामानादि

रूपा । श्रवणादौ तु क्रियात्वाभावात्कथं तेन सेवा सिध्यतीति चेत् । अत्र भूमः ।  
 सेव्यसन्तोषजनकधर्ममात्रेणैव सेवा सिध्यति लोके, न तु क्रियामात्रेण, तथैवानुभवात् ।  
 तथा च श्रवणादेरपि तादृशधर्मत्वात्तेनापि सेवासिद्धिर्भवत्येवेति जानीहि । यद्वा । श्रवणा-  
 दिभिः सेवानुकूलभावभगवत्स्वरूपसेवाप्रकारादीनां ज्ञानस्य कृतिपर्यवसायित्वमेवेति  
 क्रियात्वमेव ज्ञेयम् । न च सिद्धान्तमुक्तावल्यां तु 'तस्मिद्धौ तनुवित्तजे'त्यत्र तनुवि-  
 त्तजसेवैवोक्ता, न तु श्रवणादिज्ञा सेवापीति वाच्यम् । तनुजसेवायामेव श्रवणादिजसे-  
 वाया अन्तर्भावात् । तथा हि । तत्र तनुजावित्तजा सेवा द्विविधा मुख्या गौणी च । तत्र  
 प्रभुसुखमात्रोद्देशेनैव कृता प्रसङ्गात् स्वधर्मपर्यवसायिनी मुख्या । स्वधर्मत्वमात्रोद्देशे-  
 नैव कृता प्रसङ्गात् प्रभुसुखपर्यवसायिनी गौणी । तत्रेन्द्रियदेहप्राणान्तःकरणसहात-  
 रूपतनौ ज्ञानेन्द्रियकर्मेन्द्रियसत्त्वात् ज्ञानेन्द्रियैर्प्राणरसनचक्षुःश्रोत्रस्वप्नानोभिर्भगव-  
 त्सेवोपयोगिषु स्ववियेषु सदसद्विवेचनजा सेवा, अथ च कर्मेन्द्रियैर्वाक्याणिवादे-  
 र्भगवत्सेवोपयोगित्रचनकथनार्थगमनचरणसेवाहनवस्त्वानयनादिकसेवा, अथ च कर्मे-  
 न्द्रियाभ्यां पायूपस्थान्यां सेवाप्रतिबन्धकमलकामनिवृत्तिद्वारा स्वच्छसहातजा सेवा,  
 अथ च शरीरावयवेन भूधौ त्वयातिसमीचीना भगवद्भोग्यसामग्री सम्पादनीया सम्पा-  
 दितेति स्त्रीपुत्रादीनामपि वन्दनजा सेवा च स्वकृतालङ्कारादिष्वपि स्वस्मिन् दासत्वेन तत्-  
 त्साभग्रीसम्पादकत्वात् स्वान्तःस्थितप्रियप्रियतमाभ्यामेव परस्परकृतत्वबुद्ध्या अतिसौन्द-  
 र्यावलोकनजनितानन्देन प्रियस्य प्रियायाश्च वा वन्दनजा सेवा, अथ च धुपातृपादीनां  
 प्राणधर्मत्वात् चानुभावेन तत्तत्समयानतिक्रमेण सपरिकरे प्रभौ भोजनजलादिसमर्पणेन  
 प्राणजा सेवा, अथ च दाससत्त्वाभ्यामात्मनिष्ठान्यां बहिरङ्गान्तरङ्गसमयेष्वपि सर्वदा  
 प्राणप्रियासहितप्रभुसत्तिधौ निःशुद्भगमनसम्पादिता तत्तद्वस्तुसम्पादनजा सेवा, अथ च  
 यद्वातविशिष्टोद्भू मत्सम्बन्धिनः सर्वे प्रभुमात्रभोग्याः, नान्यभोग्या इत्यात्मसमर्प-  
 णजा सर्वविधा सेवा च भगवत्सुखोद्देशेनैव कृतत्वादिभ्यं तनुजा मुख्यसेवा । स्वधर्म-  
 त्वमात्रोद्देशेन कृता चेशी सेवा गौणीतनुजा सेवा ज्ञेया । एवमेव श्रवणकीर्तनस्मर-  
 णजा सेवापि द्विविधा, मुख्या गौणी च । तत्र मन्दहृदिसः सपरिकरः प्रभुः स्तत्रियतमद-  
 क्तिविशिष्टलीलाश्रवणेनानन्दानिशयमनुभवतामिति प्रतिबुध्य शरणजा मेवा मुख्या ।  
 म्येतरभक्तहृदिसो मत्प्रभुस्तादृशलीलाकीर्तनेनानन्दानिशयमनुभवतामिति प्रतिबुध्य तत्-  
 छीलागोत्रजाय तादृजलीलाविशिष्टप्रभुस्मरणजा मेवा मुख्या । भगवत्सुगमात्रोद्देशेनैव  
 कृतत्वात् । स्वधर्ममात्रोद्देशेन कृता तु शरणकीर्तनस्मरणजा गौणीत्युच्यते ।  
 अत्राया सर्वत्रिधापि सेवा शुद्धदृष्टिपार्यायानाम्, द्वितीया तु मर्यादादृष्टिपार्यायाना-  
 मिति ज्ञेयम् । एवं च शरणदिवाया अपि मेवायाः शोभनामिन्द्रियान्तःकरणमाध्य-  
 तातनुजमेवायामन्तर्गार इति शरणदिजनेनादिकमेवेति । न तादुक्तपदस्य इति दिक् ।

एवं चित्तजापि द्विविधा । मुख्या गौणी च । तत्र स्वार्जितसर्वविधसर्ववित्तेन परि-  
करविशिष्टप्रभूपयोगिवस्तुसम्पादनजा मुख्या । चित्तजा सेवा स्वार्जितद्रव्यस्य शास्रोक्त-  
विभागं कृत्वा विभागागतभगवद्रव्येण तादृशप्रभूपयोगिवस्तुसम्पादनजा गौणी चित्तजा  
सेवा । अत्राप्याद्या शुद्धपुष्टिमार्गीयाणाम्, द्वितीया मर्यादापुष्टिमार्गीयाणां ज्ञेया ।

स्यादेतत् । 'सर्वस्य वशी सर्वस्येशान' इति श्रुत्या भगवत् ईदृशत्वेन जीवानां सहज-  
दासत्वेन दास्येन सेवा कर्तुं शक्या । सख्यात्मसमर्पणयोस्तु भगवदङ्गीकारसाध्य-  
त्वात् सख्यात्मसमर्पणान्यां निःशङ्कतया जीवेन स्वयं सेवा कर्तुमशक्येति चेत् ।  
अत्र वदामः । 'स नो बन्धुर्जनिता संविधाते'ति 'पतिं विश्वस्यात्मेश्वरं शाश्वतं शिवमन्यु-  
त'मिति तैत्तरीयोपनिषच्छ्रुतिभ्याम् 'भर्ता संश्रियमाणो विभर्ति' 'एको देवो बहुधा  
निविष्ट'इति श्रुतिभ्यां 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाये' ति मुण्डकोपनिषच्छ्रुत्या च 'पिताहमस्य  
जगतो माता धाता पितामहः । गतिर्भर्ता प्रसुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् । उपद्रष्टा उपन्ता  
च भर्ता भोक्ता महेश्वर' इत्यादिभगवद्गीतावाक्येभ्यः । 'येषामहं प्रिय आत्मा सुतश्च सखा  
गुरुः सुहृदो दैवमिष्टमि'ति तृतीयस्कन्धीयवाक्येन । 'सुहृत्प्रेष्ठतमो नाय आत्मा चार्यं  
शरीरिणाम् । तं विक्रीयान्ननैवाहं रमेऽनेन यया रमा । सन्तं समीपे रमणं रतिप्रदं वित्त-  
प्रदं नित्यमिमं विहाये'त्याद्येकादशस्कन्धीयपिङ्गलावाक्यैश्च । 'मां भजन्ति गुणाः सर्वे  
निर्गुणं निरपेक्षकम् । सुहृदं प्रियमात्मानं साम्यासङ्गादयो गुणाः' इत्यादि तत्रत्यभगव  
द्वाक्यैश्च सर्वविधबन्धुत्वसखित्वपतित्वप्रभुत्वभर्तृत्वदेवत्वमातृत्वपितृत्वपितामहत्वधातृत्व-  
विपातृत्वगतित्वसाक्षित्वनिवासत्वशरणत्वसुहृत्त्वोपदेष्टृत्वानुमन्तृत्वमोकृत्वप्रियत्वात्मत्व-  
सुतत्वगुरुत्वेष्टत्वप्रेष्ठतमत्वरमणत्ववित्तरतिदातृत्वादिधर्मा भगवति प्रतिपाद्यन्ते । ते च धर्मा  
भगवद्धर्मत्वात् नित्याः । नित्यधर्मवत्त्वं च तदैव घटते, यदि तत्प्रतियोगिनो धर्माः सर्ववि-  
धबन्धुत्वसखित्वदासत्वसेवकत्वपौष्यत्वाराधकत्वपुत्रत्वपौत्रादिकत्वापेयत्वविधेयत्वप्राप्तियो-  
ग्यत्वद्वितीयत्ववास्तव्यत्वदीनत्वसुहृत्वोपदेश्यत्वमन्तृत्वमोग्यत्वासक्तत्वपितृत्वमिष्यत्वेष्ट-  
त्वपरमासक्तत्वरत्याकाङ्क्षितत्वार्थित्वरत्याविष्टादयो जीवेषु नित्या भवन्ति । एवं च  
पूर्वोक्तनित्यसिद्धधर्माणां भगवति सत्त्वाजीवित्येते धर्मा नित्या निरुद्धा इति  
भगवति सखित्वमोकृत्वयोः सत्त्वाजीवेष्वपि सखित्वमोग्यत्वयोरपि सत्त्वात्तयोश्च  
नामनिवेदनाभ्यामाविर्भावितत्वाद्भगवदङ्गीकारस्यापि सत्त्वाङ्घ्रिःशङ्कतया सख्यात्मसमर्पणसे-  
वासिद्धिरिति ध्रुव्यस्य । तथा च यतः सर्वविधोपि सम्बन्धो जीवानां भगवता सह वर्तते,  
अतएव 'ये यया मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव मजाम्यहमि'ति भगवता भीतायां येन केनापि प्रकारेण  
प्रपन्नस्यापि फलदानमुक्तम् । न चैवं भगवतो जीवैः सह सर्वविधे सम्बन्धे सति भगवान्  
स्त्री अहं पुरुष इति भावेनापि भजनं प्रसज्येतेति वाच्यम् । 'पतिपुत्रसुहृद्भ्रातृपु-  
त्रचन्मित्रवद्भरिम् । ये भजन्ति सदोद्युक्तास्तेभ्योपीह नमोनमः । नारी वा पुरुषो

वापि भर्तृभावेन केशवम् । हृदि कृत्वा गतिं यान्ति श्रुतीनां नात्र संशयः । येषामहं  
 प्रियतम आत्मा सुतश्च सखा गुरुः सुहृदो दैवमिष्टम् । पिताहमस्य जगतो धाता  
 माता पितामहः । गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् । उपद्रष्टानुमन्ता च  
 भर्ता मोक्ता महेश्वर' इत्यादि नारायणव्यूहस्तवीपवृहद्भामनपुराणीयश्रीभागवतीयश्री-  
 मगंवद्गीतादिस्यवचननिचयेषु त्वदुचीतभावेन भजनस्यानुक्तत्वात् । 'यावद्भचनं हि वाचनि-  
 क'मिति न्यायात् । एतादृशभाववद्भक्तस्याश्रुतत्वाच्च । एवं सति स्वयमेवैतादृशभावेन  
 भजने 'योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते । किं तेन न कृतं पापं चौरेणा-  
 त्मापहारिणे'ति वचनेन दोष आपद्यते । एवं च 'ये यथा मामि'ति श्लोकस्यापि  
 येजीवाः शास्त्रोक्तभजनप्रकारेषु 'यथा येन प्रकारेण प्रपद्यन्ते तांस्तेनैव उक्तप्रकारानुकू-  
 लप्रकारेणाहं नजामी'त्यर्थो बोध्यः । न तु येनकेनचित्प्रकारेणेति । किञ्च । श्रीभागव-  
 तेषु 'कोटिकन्दर्पलावण्यः साक्षान्मन्मयमन्मयः पुरुषोत्तम' इत्येव नामोक्तं प्रमुखरूपेण,  
 न तु कोटिरतिलावण्यः रुयुत्तम इत्यादि । तथा च तादृशमतादृक्स्वरूपयोः श्रवणे  
 दर्शने च सर्वेषां स्वस्मिन् स्त्रीभावोदय एव भवति, न तु स्वस्मिन्पुरुषभावोदय इति ।  
 अत एवोक्तं श्रीमदस्वलक्ष्मिणः त्रिभङ्गललितस्त्वै 'एतस्य दर्शने तु स्यात्प्रमदाभाव एव  
 ही'ति । अत्र दर्शनपदं श्रवणादीनामप्युपलक्षकम् । इयदवधि एतन्श्रोतृणामपि  
 साक्षात्कर्वृणामिव प्रमदाभावोदयस्यैव दृश्यमानत्वात् । यद्वा । दर्शनपदं चाक्षुषादिज्ञान-  
 नात्रपरं योज्यम् । यदि च भगवता सच्चिदानन्दरूपात्युत्तमस्त्रीरूपेणाविर्भूय कस्यापि  
 पुरुषभाव उत्पादितः स्यात् तदा रुयुत्तम इति कोटिरतिलावण्य इति नामापि युक्तं  
 स्यात् । मोहिनीरूपं तु 'इत्युपामयितो दैत्यैर्मायायोपिद्भुर्हरि' रिति । 'यन्मे स्त्रीरूपया  
 स्त्रैर् मोहितोसङ्ग मायये'त्यादिश्रीभागवतीयवाक्यैर्भगवन्मायारूप एव, न तु सच्चिदानन्द-  
 रूपम् । आवेशमानं तु भगवत् इत्यवतारमध्ये गणना । जीवानां नारदादीनामिव । न  
 वा तद्रूपमपि केनचित्स्वस्मिन्पुरुषभावेन मोहिन्यां च स्त्रीभावेनोपासितमिति । तस्मान्छिष्टा-  
 चारामावादध्यसादुक्तमेव तापु । यत्पुनः 'स वै न रेमे, तस्मादेकाकी न रमते, स द्विती-  
 यमिच्छत, स ह एतावानास । स पतिः पत्नी चामरतामि'ति श्रुती यत्पत्नीरूपं भगवतः  
 श्रूयते, तत्तु सप्रतीत्येनैव प्रकटितमिति तस्य प्रभुपत्नीरूपत्वेन भजनं दिव्यमेव । पूर्वोक्त-  
 विरुद्धभावेन भजनं तु भजनभावप्रकारेषु शब्देनुक्तमिति न कर्तव्यमेव । अन्यथा द्वेषमया-  
 दिविरुद्धभावेन फलत्रदनेनाप्युक्तं स्यात् । एवं जीवैः सह भगवतः सर्वसम्बन्धसम्बन्धे  
 नित्यसिद्धे स्थिते भगवतो यत्सम्बन्धपुरस्कृतेण जीवेषु रिंसा स सम्बन्ध एवाविरुद्धान्यभावा-  
 सम्बन्धाविर्भावविरिष्ट आदिभि रिति, न तु विरुद्धसम्बन्धाभिर्भावविरिष्टः, साक्षाद्भोग्यत्वंस-  
 म्बन्धे भर्तृत्वादिसम्बन्ध इवेति कृतं प्रत्यक्षानुभवमकविचोत्त । अत्रेदं ज्ञेयम् । पूर्वोक्ता सर्वत्रि-  
 षापि सेवा प्रेम्णा क्रियमाणकठरूपा । केवलं तु द्रष्टुनिर्माणपाचार्यरत्नपतेरपदेशमात्रेणैव

विना प्रेम कृता नित्यसिद्धमक्तिवृद्ध्याविर्भावसाधनरूपा ज्ञेया । तथापि साधनत्वबुद्ध्या न कर्तव्या । साधनत्वबुद्ध्या करणे तु 'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी'ति वाक्यात् 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यह'मिति स्वप्रतिज्ञातश्च प्रेमाद्युत्पाद्य 'मत्स्या मामभिजानाति यावान्यथास्मि तत्त्वतः । ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विद्यते तदनन्तर'मिति पुरुषोत्तमज्ञानमुत्पाद्य स्वप्रवेशरूपमुक्तिरूपफलमेव मर्यादाभक्तिमार्गीयं भगवान् दद्यात् । न तु सर्वदा साक्षात्स्वसम्बन्धरूपं शुद्धपुष्टिमार्गीयं फलम्, साधनबुद्ध्या कृतनवविधमक्तेः प्रेमोत्पादनद्वारा प्रवेशपर्यवसायित्वात् । फलरूपत्वबुद्ध्या करणे तु प्रेमासक्तिव्यसनान्मुत्पाद्य स्वसेवाभवे स्वप्रवेशरूपफलादप्युत्तमां दद्यात् । तस्मात् फलत्वबुद्ध्यैव शुद्धपुष्टिमार्गे सेवा कर्तव्येति । 'साष्टिसामीप्ये'त्यादि'सेवानुरक्तमनसामभवोपि फल्गु'रित्यादिवाक्यैः सेवायाः सर्वोत्तमफलत्वं प्रसिद्धमेव । इदमेव ज्ञापयितुं फलात्मकनामोक्तम् । वस्तुतस्त्वाचार्यमार्गीयस्याचार्यपक्षपातेन प्रवेशरूप फल साधनबुद्ध्या करणेपि न भविष्यति, तथापि भगवत एतस्मिन्निपये सङ्कोचो भविष्यतीति फलात्मकनामोक्त्या फलत्वबुद्ध्यैव सेवा कर्तव्येत्युपदिष्टं श्रीमदाचार्यचरणैरिति चोप्यमिति दिक् । ननु भगवानेकदैव प्रेमादिवह्यमाणावस्थाविर्भावं कुतो न करोति, वा क्रमेण करोतीति चेत् । क्रमेणाविर्भावे रसाधिक्यानुभवस्यानुभवसिद्धत्वाद्रसाधिक्यानुभवाद्येमेवेति गृहाणेति सर्वं निष्प्रत्यूहम् । प्रकृतमनुसरामः ।

ननु 'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज । अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः' । 'तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता । मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते । तस्मात्त्वमुद्बोधोत्सृज्य नोदनां प्रतिनोदनाम् । प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च श्रोतव्यं श्रुतमेव च' 'याहि सर्वात्मभावेन मया सा ह्यकुतोभय' इत्यादिश्रीगीताश्रीभागवतीयभगवद्वाक्येभ्यो लौकिकवैदिकत्यागपूर्वककेवलदासभावेन चेद्भजेत्तदा कथं भजेदित्याकाङ्क्षायां सार्धश्लोकेनाहुः व्यावृत्तोपीति ।

व्यावृत्तोपि हरीं चित्तं श्रवणादौ न्यसेत्सदा ।

ततः प्रेम तथासत्तिर्घ्यसनं च यदा भवेत् ॥ ३ ॥

वीजं तद्बुध्यते शास्त्रे हृदं यन्नापि नश्यति ।

पूर्वोक्तभगवद्वचननलेन पुत्रकलत्राद्यौदासीन्यं बहिर्मुखजनितनिन्दां चाविगण्य लौकिकवैदिकगृहस्थधर्मतो व्यावृत्तोपि निवृत्तोपि 'उदासीने स्वयं कुर्या'दिति सिद्धान्तात्स्वमेव दासधर्मत्वाद्यथाशक्ति सेवां विधाय सदा हरी सकलदुःखहर्तरि चित्तं न्यसेत् । तत्स्मरणं कुर्यात्, अथ च श्रवणादौ श्रवणकीर्तनयोरपि चित्तं न्यसेत् स्थापयेत् । न त्वेतेभ्योपि निवृत्तो भवेदिति भावः । अत्र चित्तपदं देहलीदीपन्यायेनोभयत्र सम्बध्यते । यद्वा हराविति निपये सप्तमी । हरिविषयक चित्त श्रवणादौ श्रवणकीर्तनस्मरणेषु न्यसेत् । यद्वा ।



हराविति निमित्ते ससमी । चर्मणि द्वेषिनं हन्तीत्यत्रेव । तथा च हरितिमितं श्रवणादौ श्रवण-  
कीर्तनेषु चित्तं न्यसेत् । अत्रेदं ज्ञेयम् । पूर्वश्लोके श्रवणादिभिरित्यत्राप्रधानतृतीयाध्याख्यान-  
पक्षे तृतीयया श्रवणादीनां सेवासमयातिरिक्तसमये कर्तव्यत्वादप्राधान्यं यथायोधितं तथा  
तस्मिन् श्लोके श्रवणादीनां सदापदेन सर्वदा कर्तव्यत्वस्य बोधितत्वेन पूर्वश्लोकानुवर्तमाना-  
याः गृहे स्थित्वा सेवायाः किञ्चित्समय एव कर्तव्यत्वस्य आगतत्वात्, अथ च पुत्रकलत्रा-  
दीनां स्वपर्मत्यागजनितादासीन्नेत्रासहायत्वात्पूर्णसेवानिर्वाहाभावाच्च\* प्राधान्यं बोध्यत  
इति । अयं तु गौणपक्षः । लौकिकवैदिकग्रहसन्ध्यावृत्तिं विनातुचमसेवकत्वसंपालया(?)दिति  
बोध्यम् । अस्मिन्पक्षे पूर्णफलप्राप्तिस्तु गुणश्रवणादिसन्तुष्टान्तरङ्गभक्तकृपया ज्ञेया । अत्र यत्नेत् ।  
यत्नेत् इति पाठस्तु लेखकप्रमादमूलक एव । न चाध्याहारः । चित्तपदोत्तरं विधयेति क्रिया-  
धाम् क\*...नप्याहारोपार्थकरणे चित्तपदस्य वैयर्थ्यापाताधेति सुधीभिरेवाकलनीयम् । एतत्सा-  
ठस्य व्याख्यानं यथा श्रीमदस्मद्गुरुनिर्व्याख्यातं तथैव व्याख्यानं मन्यतेपि बोध्यम् । अस्मिन्  
पक्षेऽनुदात्तेत्वलक्षणमात्मनेपदमनित्यं चक्षिडो छित्तरणाञ्जापकादिति यतेदित्यत्र परस्मै-  
पदं साधनीयम् । नन्वेवं भक्तिवृद्धिसाधने क्रियमाणेपि भक्तिवृद्धिरेवैकपदेन सादृश्या कि-  
ञ्चिन्मध्येष्यदपि स्यादित्याकाङ्क्षायामाहुः ततः प्रेमेति । तत इति पश्यमी । ततस्तस्मादेतन्-  
तद्भजनात् प्रेम । यस्य पूर्वावस्थामावस्तस्य भावस्य तत्तत्फलसाविर्भावः । तथा तेन सप्रेमभज-  
नरूपप्रकारेण तस्यैव भावस्यासन्नितरूपावस्थाविर्भावात् भवेत् । च पुनर्व्यसनम् । 'दैहिकान्  
सकलान् भावान् निर्जां द्रीडां च दैहिकीम् । परित्यज्य हस्त्रिातिरिपदैव स्यात्तदैव तत्' इति  
श्रीभागवततत्त्वदीपीयभागवतरूपप्रकरणखदशमस्कन्धे सकलदैहिकं भावं दैहिककलत्रात्याग-  
पूर्वकं हरिप्राप्त्यै सर्वगत्यादिकमासत्तयै क्रियते तदेव तद्व्यसनमित्युक्तत्वाद्यद्यं व्यसनम् ।  
अथ च तदनन्तरमपि प्रयुक्तसम्बन्धभावे प्रतिकाररूपं च व्यसनं यदा भवेदाविर्भवेत् ।  
अथ यदेति पदं व्यसनविर्भावस्य कालनियमाभावं ज्ञापयति । तथा च यदा भगवद्विष्ण-  
या व्यसनमाविर्भवेत् तदा दृढं बीजमुच्यते इत्यभिमतश्लोकेन सम्बन्धः । व्यसनपदस्याप्रति-  
कार्यदुःखपरत्वेन च व्याख्यानं तु 'व्यसनं स्वमवोचते'ति दशमस्कन्धप्रथमाध्यायमुद्योधिन्वां  
श्रीमद्वाचायैः कृतं तत्रैवावलोकनीयम् । ननु तदा किं भवेदित्याकाङ्क्षायामाहुः बीज-  
मिति । तदा तद्भानान्साविशेषरूपं व्यसनं शरीरे भक्तिशक्तौ दृढं बीजमित्युच्यते । परुदं  
बीजमपि पुनः न नश्यति तिरोभावं न प्राप्नोतीत्यर्थः । एतेन प्रेमाश्रययोगभगवदनुष्ठाने गृहे  
तदनुष्ठानत्वे तत्प्रागेन तत्परीक्षादीपैः सह स्थित्वा च कदाचिदन्वप्यासते तत्पुने तिरोमातो  
रुपेदपि बीजस्य । व्यसने जाते तु सर्वेषामेव त्यागात् प्यासहान्तरील्लतेः सम्भारनामान्  
एवेति तस्य दृढबीजत्वं निरन्तरं निमित्तव्यवस्थाभिर्भावेन फलप्रापकत्वमिति श्रेयम् ।

ननु प्रेमासक्तिव्यसनानां वरमानस्याविशेषेनेनान्तरपर्मत्वाद्योपेन्द्रिपादत्वयुक्त्वात् पर-

निष्ठस मनसा ज्ञातुमशक्यत्वात् केन लिङ्गेनेदं प्रेमेयमासक्तिरिदं व्यसनमिति ज्ञापयामि-  
शुंभ्य तत्तत्कार्यमेव ततलिङ्गमिति सार्धंश्लोकेनाहुः स्नेहाद्रागविनाशः स्यादित्यादि ।

स्नेहाद्रागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद्गृहारुचिः ॥ ४ ॥

गृहस्थानां वाचकत्पमनात्मत्वं च भासते ।

यदा स्याद्भजनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हि ॥ ५ ॥

स्नेहाद्भक्तोः आसक्त्या स्याद्गृहारुचिरिति गृहारुचेरेभ्ये वक्ष्यमाणत्वात् सेवोपयोगि-  
स्वगृहस्वपुत्रतादृशान्यव्यतिरिक्तेषु रागस्य, 'रागोऽनुरक्तौ मात्सर्ये क्लेशदौ लोहितदिपु ।  
गान्धारादौ नृपे राग' इति त्रिशात् प्रेम्णो भगवद्विषयकविशेषेण नागः तिरोभावः स्यात् ।  
स्वस्त्रीस्वपुत्रतदन्येषु सेवोपयोगिषु तु तिष्ठत्येव । अत्र नाशे विशेषकथनात्प्रेमाविर्भावात्स-  
र्वं कृतभजने इतरत्र कदाचिद्रागो भवति । प्रेमाविर्भावोत्तरं तु न भवत्येवेति ज्ञेयम् ।  
तथा च भगवत्सम्बन्धव्यतिरिक्ते तु रागामावः प्रेमलिङ्गमिति ज्ञेयम् । अथ गृहारुचिः ।  
स्वगृहेषु स्वगृहस्यपुत्रादिपदार्थेषु सर्वेष्वप्यरुचिः तत्सम्बन्धानिच्छा स्यात् । तेषां भगव-  
दनुकूलत्वात्सेवोपयोगित्वेषु प्रेमासक्त्यभावात्सेवासमयातिरिक्तसमये गृहव्यासङ्गजनक-  
त्वात् । यदि गृहव्यासङ्गं न जनयेत्सदा त्वरुचिर्न भवत्येवेति भावः । तथा च स्वगृह-  
स्थानां गृहव्यासङ्गजनकत्व एव गृहारुचिरासक्तिलिङ्गम् । तेषां गृहव्यासङ्गजनकत्वे  
तु पूर्वदशाभ्यधिकसेवाश्रवणारिरुचिरेवासक्तिलिङ्गं ज्ञेयम् । अथ व्यासङ्गलिङ्गमाहुः  
गृहस्थानामिति । अत्र प्रेमासक्तोः सेवानुकूलाः स्वगृहस्थाः पुत्रभार्यादयो यदि लौकिक-  
व्यासङ्गं न जनयेत्सदाप्राप्तासक्तिना स्वगृहस्य भगवति निवेदितत्वेन हरिस्थानत्वात्स्व-  
गृहस्थानां सर्वदा भगवत्सेवाकथानिष्ठत्वेन तत्परं भगवदीयत्वात् लौकिकव्यासङ्गाजनकत्वेन  
स्वप्रतिबन्धकत्वाभावाच्च स्वगृहस्थितौ वाचकत्वाभावात्स्वगृहमध्य एवासत्त्वसुवद्दृढबीजसि-  
द्धयर्थं ज्ञेयम् । यदि तु तादृशस्वगृहस्था लौकिकव्यासङ्गं जनयेत्सदा तेषां वाचकत्वा-  
त्स्वगृहं त्यक्त्वा तत्परभगवदीयैः सह दृढबीजसिद्धयर्थं सेवाकथाश्रवणारिविषयकयत्वं  
कुर्वतान्यहरिस्थाने स्थेयमिति पक्षद्वयम् । तत्र यस्मिन् पक्षे त्वासत्त्वयुत्पत्त्यनन्तरं वाचका-  
भावात्स्वगृहस्थितस्यैव व्यसनं जातं, तस्मिन्पक्षे स्वगृहस्थानां तत्परभगवदीयत्वात्तैर्गुण-  
गाने क्रियमाणे तच्छ्रवणेन प्राप्तव्यसनस्य स्वास्थ्ये जाते तापक्लेशाभावाद्भगवत्प्रादुर्भा-  
वात्तापक्लेशजनितपूर्वभगवत्प्राकट्यस्यापि गतत्वावान्तःप्रकटभगवत्सम्बन्धानन्दविपातक-  
त्वादेते नम भगवत्सम्बन्धानन्दविशेषविपातका इति स्वगृहस्थेषु तादृशान्यगृहस्थेषु च  
वाचकत्वमानं भवति । द्वितीयपक्षे त्वासत्त्वयुत्पत्त्यनन्तरं स्वगृहस्थास्तु त्यक्त्वा एव लौकि-  
कव्यासङ्गजनकत्वात्, स्थितं च हरिस्थाने तत्परभगवदीयैः सह, तेषामपि भगवद्गुणगानपर-  
त्वात्, पूर्वोक्तप्रकारेण प्राप्तव्यसनस्य तेष्वपि वाचकत्वमानं भवति, अतो गृहस्थानामिति

पदं सर्वगृहस्यपरम् । न तु स्वगृहस्यमात्रपरमिति बोध्यम् । तथा च गृहे तिष्ठन्ति ते  
 गृहस्थास्तेषां बाधकत्वं तत्सम्बन्धिविरहानुभवान्तर्गतभगवदनुभवबाधकत्वं पूर्वोक्तप्र-  
 कारेण प्राप्तव्यसनस्य भासते स्फुरतीत्यर्थः । न च स्वगृहरूपहरिस्थानस्थान्यहरिस्थानस्य-  
 गृहस्थानां भगवदीयत्वेन भगवद्गुणगाने क्रियमाणे प्राप्तव्यसनस्य स्वास्थ्ये जाते तापहेश-  
 भावाद्भगवदाविर्भावामावे पूर्वसङ्घातभगवत्प्राकट्यतिरोभावे भवद्भिर्भगवद्गुणा न गेया इति  
 प्राप्तव्यसनेनोक्ते यस्माद्भजनप्रतिबन्धक इति प्राप्तव्यसनसम्बन्धिबाधकत्वं भासते । स्फुर-  
 तीति धार्यः । इदमर्थद्वयमप्यत्राभिप्रेतं श्रीमदाचार्याणाम्, परस्य न बाधकज्ञानेन दृढ-  
 तरपरित्यागाय गृहस्यपदं भगवदीयानां ब्रह्मचारिवानप्रत्यसंन्यासिनामप्युपलक्षकम् । एतत्कृ-  
 तगुणगानश्रवणजसास्थ्यजनितभगवदाविर्भावामावपूर्वकं प्रकटभगवतिरोभावान्यां पूर्वव्या-  
 ख्याने ब्रह्मचर्यादिसम्बन्धिबाधकत्वमानं प्राप्तव्यसनस्य, द्वितीयव्याख्याने प्राप्तसम्बन्धिवा-  
 धकत्वमानं ब्रह्मचर्यादीनामपि जायत इति भगवदीयत्रयचर्यादयोपि सङ्ग्राह्या एवेति । अतएव  
 श्रीमदाचार्यकृतव्यसनोत्तरपरित्यागे स्वरगृहस्थाधारम्य अब्रजलादिपर्यन्तमपि त्यागो दृष्टः ।  
 अत एव विरहानुभवार्थस्त्यागः परितस्त्यागरूप इति संन्यासनिर्णये परित्यागशब्देनैवोक्तः ।  
 अत एव तादृशबाधकत्वज्ञानोत्तरमेव 'विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यते' इति संन्या-  
 सनिर्णयोक्तः परित्यागः स भविष्यति । यदि प्राप्तव्यसनस्य सर्वप्रकारपूर्वोक्तभगवदीयगृ-  
 हस्थादिषु भगवदीयगृहस्थादीनां प्राप्तव्यसने सर्वथा बाधकत्वमानं न भवेत्, तदा सर्व-  
 परित्यागोपि दुःशकः कथं भवेदेवेति ज्ञेयम् । ननु पूर्वोक्तगृहस्थेषु प्राप्तव्यसनस्य प्राप्तव्य-  
 सने च तेषां बाधकत्वज्ञानेपि प्राप्तव्यसनस्य भगवत्प्रासक्तौ जातायां भगवति यथात्मात्मीय-  
 त्वं भातं तथा भगवत्सम्बन्धेन भगवदीयेष्वपि पूर्वोक्तेषु पूर्वोक्तभगवदीयानां च प्राप्तव्यसने  
 भासत एव । एवं च परस्परं दृढतरात्मत्वात्मीयत्वाध्यासस्य विद्यमानत्वात् महारोगाद्युपह-  
 तदेहादिषु यथा लौकिकालौकिककार्यबाधकत्वज्ञानेपि तैर्दृढतराध्यासात्तत्यागः कर्तुं न शक्यते,  
 तथा पूर्वोक्तसर्वभगवदीयत्यागोपि प्राप्तव्यसनेन प्राप्तव्यसनस्य च त्यागस्तेः कर्तुं न शक्यते  
 इत्याशंनयाहुः अनारम्भत्वं च भासत इति । आत्मशब्दस्य देहात्मनोर्वापरकसात्  
 तेषु प्राप्तव्यसनस्य प्राप्तव्यसने च तेषामनात्मत्वमात्मात्मीयमिच्छत्वं स्वहितकारित्वाभावात् इति  
 यावत् । तच्च भासते । यद्येते मद्दितकारिणो भवेयुन्मदा ययान्तःप्रकटीभूयात्मात्मीय इति  
 भगवान् स्वदर्शनदानादिना हितं करोति, तर्थापि कुर्मुः, न तु भगवत्संन्यासिनाम् । अनो  
 नैते ममात्मात्मीया इति प्राप्तव्यसनस्य पूर्वोक्तेषु यद्ययमस्मद्दितकारी म्वात्तदास्मद्भजनश-  
 निपन्धं न कुर्यात्, अतो नायमस्मदात्मात्मीय इति प्राप्तव्यसनपूर्वोक्तगृहस्थादीनां च  
 बाधकत्वमानात् मुक्तेन परित्यागः सेत्स्यतीति भावः । तथा च परस्परनिवर्तकं  
 बाधकत्वज्ञानं अनात्मकत्वज्ञानं च परित्यागे कालं बोद्धव्यम् । ननु तासां बाधकत्व-  
 मनात्मत्वं च कदा भासत इत्याकांश्यानाहुः यदा स्वाद्भयसनं गृह्णा इति । यदा क-

दाचिद्भगवदिच्छया कृष्णे कृष्णनिमित्त कृष्णविषये वा भागवततत्त्वदीपीयदशमस्कन्धोक्तव्य-  
सनोत्तराप्रतिकार्यं तु ए तदा पूर्वोक्त भासत इति ज्ञेयम् । तदैवाप्रतिकार्यदु खे जाते एव भ-  
क्त कृतार्थ- प्राप्तफलं स्यात् । हि युक्तोयमर्थ । अप्रतिकार्यदु खे जाते परमखेही भग-  
वान् साक्षात्सम्बन्धे कथं विलम्बं कुर्यादिति जानीहि । अत्रैतावज्ज्ञेयम् । येषामलौकिक  
शरीरं तेषां तु रासमण्डलमण्डनानामिव व्यसने जाते तेनैव देहेन फलप्राप्ति । येषां त्वन्त-  
र्गतानामिव लौकिक शरीरं तेषां तु व्यसनेन देहपात । तदनन्तरं अलौकिकदेहप्राप्त्या फ-  
लप्राप्तिरिति दिक् । तथा च गृहस्थविषयक प्राप्तव्यसनस्य गृहस्थानां वा प्राप्तव्यसनविषयकसु  
भयोर्योभयविषयकत्वं बाधकत्वज्ञानं अनात्मकत्वज्ञानं च व्यसनलिङ्गं ज्ञेयम् । एतेलिङ्गै-  
र्प्रेमासक्तिव्यसनानि ज्ञातव्यानीति भावः ।

अथ ज्ञातव्यसनस्य गृहस्थपदार्थविषयकबाधकत्वानात्मज्ञानयोरवश्यभावित्वेन सन्यास-  
निर्णयोक्तं परित्याग स्वयमेव भविष्यतीति नोपदेशो योग्यः, अप्राप्त व्यसनस्य प्राप्त्यासक्तेर्भक्तस्य  
तु गृहारुचेर्जातत्वेपि तेषां भगवत्संबन्धयोगित्वेन भगवत्सम्बन्धित्वात् त्यागो मत्सम्बन्धिन-  
एतस्मै न रोचत इति भगवन्मनस्वागते समापराधं स्यादिति भियां तत्यागं न कुर्यात्, तदा  
तेषां पोष्यत्वादात्मपोषणार्थं सेवासमयातिरिक्तसमये व्यासज्ञानान्तरमुत्थाय एतैरिति तत्याग  
उपदिश्यते । न च तेषां भगवद्दीयत्वात् तत्यागे अपराधं प्रसज्येतेति वाच्यम् । एते  
लौकिके मां योजयन्तीति लौकिकधर्मपुरस्कारेण दोषारोपपूर्वकत्यागेपराधप्रसक्तेरभावात् ।  
भगवद्दीया एते मया त्याज्या इति भगवत्सम्बन्धपुरस्कारेणैव तेषु दोषारोपेण त्यागापरा-  
धप्रसक्तेरिति त्वत्पूर्वपक्षाभावादिति मनसिहृत्य प्राप्त्यासक्तेर्गृहत्यागमुपदिशन्तं सुदृढसर्व-  
तोधिकपरममक्तिलाभं च सार्धंश्लोकेनाहुः तादृशस्यापीति ।

तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशकम् ।

त्यागं कृत्वा यतेद्यस्तु तदर्थाधिकमानसः ॥ ६ ॥

लभते सुदृढां भक्तिं सर्वतोभ्यधिकं पराम् ।

सततं सर्वदा तादृशस्यापि प्राप्त्यासक्तित्वात् गृहासक्तियुक्तस्यापि आभासोक्तभगवद्-  
पराधभियां गृहमत्यजतो गेहे स्थानमवस्थानं विनाशकं मध्ये मध्ये तौकिकयामज्ञानकत्वेन  
भगवद्भजनविषयकयत्ननाशकम्, अतस्तादृशानां मध्ये गृहादिमात्रत्यागं कृत्वा यः भाग्यवा-  
स्तदर्थाधिकमानसः । स चासौ भगवानेवार्थो वस्तुरूपोऽर्थं प्रयोजनं यस्सेदं सन् यतेत्,  
भगवत्प्राप्त्यर्थं यत्नं कुर्यात्, स सुदृढां भक्तिं लभते इत्युत्तरेणान्वयः । नन्वस्मिन्पद्ये  
त्यागो व्यसनोत्तरसामयिकसन्यासनिर्णयोक्तव्यत्वेनैव कुनो नोच्यत इति चेत् । अत्र वदाम ।  
अप्रतिकार्यदु खरूपव्यसनोत्तरत्यागस्य स्वयमेव जायमानत्वेन उपदेशानर्थन्यम् । क्रिय,  
यत्र व्यसनोत्तरत्यागे व्यसने जाते तत्प्रतिकारो भगवदतिरिक्तेन न कर्तुं शक्यत इत्येवोच्यते ।

तदा 'यदा स्याद्ध्यसनं कृष्ण' इत्यव्यवहितपूर्वं व्यसनमुक्तमिति ईदृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशकमित्यत्र प्रत्यक्षपदार्थवाचिद्दमः प्रयोग एव कृतः स्यात्, न तु परोक्षपदार्थवाचितादृशस्यापीति तच्छब्दप्रयोग इति । अपरञ्च, 'व्यसनं यदा भवेत्' 'बीजं तदुच्यते शाश्वे दृढं यत्रापि नश्यती' खनेन व्यसने जते भावात्मकबीजस्य नाशमात्र एवोक्तः । अत्र तु 'तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशक'मित्यनेन नाश उच्यते । तस्मादपि नायं त्यागशब्दः संन्यासनिर्णयोक्तव्यागपरः, किन्तु प्राप्तासक्तिभावस्यैव लौकिककार्यव्यासङ्गजनकत्वेन पुत्रकलन्यासनिर्णयोक्तव्यागपरः, किन्तु प्राप्तासक्तिभावस्यैव लौकिककार्यव्यासङ्गजनकत्वेन पुत्रकलपदिश्यत इति । अत एव संन्यासनिर्णये 'विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्त' इति विरहानुभवार्थेत्यग्रे भगवदीयभगवदीयसकलत्यागवाचकः परित्यागशब्दः प्रयुक्तः, अत्र तु लौकिकव्यासङ्गजनकपदार्थत्यागोऽलौकिकव्यासङ्गजनकपदार्थत्यागश्चोक्त इति परित्यागत्वात्वादापि न संन्यासनिर्णयोक्तोयं त्याग उपदिष्ट इति भगवदीयैः सहृदयैः परिभावेनीयमिति दिक् ।

नन्वेवं प्राप्तासक्तिर्गृहत्यागं कृत्वा हरिस्थाने स्थितस्तदीयसहत्या चेत् भगवद्विषयकं यत्नं कुर्यात् तदा को लाभः स्याद् इत्यकांक्षायामाहुः लभत इति । स मक्तः सुदृढां केनापि नाशयितुमशक्यां भक्तिं स्नेहरूपां व्यसनविशिष्टत्वेन सुदृढां बीजस्वरूपां लभते प्राप्नोतीत्यर्थः । नन्वेतादृशी भक्तिरन्यदेवविषयिण्यपि भवतीत्याशङ्क्य-आहुः सर्वतोभ्यधिक्याम् विगृहीतरूपभक्तिभ्योप्यधिकां पुरुषोत्तमविषयत्वादिति भावः । अथ च सर्वविषयभक्तिभ्यः परां चरमावधिभूतां पुरुषोत्तमसाक्षात्सङ्गकारणभूतामिति यावत् । पद्म । परां परमकाष्ठापन्नाम् । एतेनान्ये संप्रदायत्रयभक्तिमार्गान्तदुक्तभक्तिप्रकारास्तदुपास्तस्वरूपाणि तदाचार्यांश्च न परमकाष्ठापन्नाः । 'ते प्राप्नुवन्ति मामेवे'ति भाष्यात् । 'तद्वत्त्वागतयोन्तत' इति वाक्याच्च शुद्धपुष्टिमार्गः, तदुक्तं भक्तिः, तदुपास्तस्वरूपं, तदाचार्यांश्च परमकाष्ठापन्ना इति ज्ञेयम् । तथा चैतन्मार्गतदुक्तभक्त्यैतन्मार्गोपास्तस्वरूपं पतन्मार्गोपास्तैः प्राप्नोतीत्यर्थः । सर्वे प्राप्तां किमपि नावशिष्यते प्राप्तव्यमित्येतेषां सर्वेषां फलरूपत्वम् । यतो वेदविभागोऽष्टादशपुराणपरमं नमस्त्रिज्ञानामहाभारतादिकल्पेनापि श्रीमन्नारायणानन्दारूपाणां श्रीमतां व्यामचरणानां चित्तप्रमादेऽजाने नारदोपदेशेन प्रेमालम्बरुपभाषायाशुक्ते चित्तप्रमादे जाने तत्रानुभूतज्ञानपुरुषोत्तमादिपदार्थप्रवित्तमार्गिभ्योऽप्यधीमानवतारणम्, अतो ज्ञापते श्रीभागवतोक्तं स्वरूपम्, तथापिना भक्तिः, तदाचार्याः, श्रीमद्भजमसादयः, तदनुगता मिश्रुग्माभ्यादिधीमद्भजभाषार्यान्ताम, तद्व्यश्रितो भक्तिमार्गोऽतत्सर्वं परमकाष्ठापन्नात्कलरूपमिति भावः ।

अथैतादृशत्यागकर्त्रां त्यागं कृत्वैकान्ते गन्तव्यमेवाथवा किञ्चिदन्यदपि कर्तव्य-  
मित्याकांक्षायां गृहमात्रमेव त्यक्त्वा हरिस्थाने तदीयैः सह स्वेयमिति सार्वभौकेनोप-  
दिशन्ति त्यागे बाधकमूपस्त्वमिति ।

त्यागे बाधकमूपस्त्वं दुःसंसर्गात्तथाव्रतः ॥ ७ ॥

अतः स्वेयं हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परैः ।

अदूरे विप्रकर्षे वा यथा चित्तं न दुष्पति ॥ ८ ॥

त्यागे बाधकानां मूपस्त्वं बाहुल्यं वर्तते । ननु कस्माद्धेतोर्दुर्बाधकबाहुल्यमित्याकां-  
क्षायाहुः दुःसंसर्गात्तथाव्रत इति । देहाद्यध्यासस्थानिवृत्तत्वावत्र कुत्रापि स्थितौ सङ्गे  
प्राये दुष्टसङ्गो बहिर्मुखसङ्गोपि भवति । तथा देहपोषार्थं दुष्टान्नमक्षणं च प्रसजते । तदा  
दुःसङ्गादुष्टाव्रतश्च बाह्याभ्यन्तरदोषोत्पत्तेर्भजनादिस्वालयसे सम्पन्ने कृतोपि गृहत्यागो व्यर्थः  
स्यात् । तर्हि तेन किं कर्तव्यमित्याकांक्षायामाहुः अतः स्वेयं हरिः स्थाने तदीयैः  
सह तत्परैरिति । अतः कारणाद्धेरः सर्वविषदोषहर्तुः स्थाने शुद्धपुष्टिस्थाने वृन्दावनादी  
तत्परैः रात्रिदिनं भगवत्सेवादिपरैः सह तदीयैः शुद्धपुष्टिमार्गीयदासमर्षवर्द्धिः सह  
स्वेयम् । तथा च तत्सङ्गेन दुःसङ्गाभावात्तत्समर्षितभगवत्प्रसादाव्रमक्षणतद्दत्तस्वसमर्षिता-  
न्नमक्षणान्च बाह्याभ्यन्तरदोषामावाद्भजनसिद्धिर्निश्चल्यह्य भवति । प्रासासत्तेरिति भावः ।  
एतेनाप्यर्थं त्यागो न व्यसनोत्तरसामर्थिकः संन्यासनिर्णयोक्तस्त्यागः । यतो व्यसनोत्तर-  
त्यागे भगवदीयेष्वपि बाधकत्वज्ञानादानामत्रज्ञानान्च सर्वत्यागादन्नादित्यागोपीति क  
दुःसंसर्गाच्चादिजनितदोषप्राप्तिसंभावनापीति सुधीनिराकलयीयम् । अत एव श्रीमदस्मदा-  
चार्यचरणकृतव्यसनोत्तरत्यागेनशनकाशीगमनादिकमपि दृष्टम् । जन्यया तैर्हरिस्थाने  
ब्रजादिवेव गते स्यात् । भगवदीयात्रादिकमपि गृहीतं स्यात् । तनु न कृतमिति संन्यासनि-  
र्णयोक्तस्त्यागो न साधनदशात्यागो येन हरिस्थाने गमनं स्यात्, तदन्नमक्षणं च प्रसजते,  
किन्तु फलदशाजनितस्त्यागः फलजनित एव । अत एव संन्यासनिर्णये 'विरहानुभवार्थं  
तु परित्यागः प्रशस्त' इति विरहानुभवार्थरित्यागस्य प्रशस्तत्वमेवानुदितम् । ननु 'विर-  
हानुभवार्थं तु त्यागः कर्तव्य एव ही'ति तस्यावश्यकत्वव्यत्वमुक्तम् । जीवकृतसाप्यत्वात् ।  
तस्मादस्मदुक्त एवाशक्तिदशात्यागोपमिति ज्ञेयम् । ननु हरिस्थानस्यतत्परतदीयानामपि  
स्वासक्तिसमानासमानासक्तेः सत्त्वे तु दोषामावः सिध्यत्येव, स्वसमानासक्तेरभावे तु तेषामपि  
सेवाभ्यतिरिक्तसमये कदाचिन्नैकिक्रिय्यासङ्गजनकरते का गतिरित्याशङ्क्याहुः अदूरे  
विप्रकर्षे वेति । यदि तेषां स्वसमानासमानासक्तिसदा तदन्नान्नमेकान्ते भक्षयित्वा तेषामदूरे  
निकटे स्वेयम् । अदूरमिति पाठे अदूरं यथा भवति तथा स्वेयम् । यदि पूर्वोक्तं न तदा  
तेभ्यः प्राप्तं भगवत्प्रसादात् तदत्तस्वसमर्षितान्नं च भक्षयित्वा विप्रकर्षे दूरे स्वेयम् । यथा  
येन प्रकारेण चित्तं न दुष्पति तथेत्यर्थः ॥ ८ ॥

नन्विदमत्यशक्यं, यतोस्मिन् कलिकाले हरिस्थानानामपि दुष्टकान्तत्वात् प्रतिष्ठा-  
दिकामुक्त्वेन तत्परभगवदीयानामपि दुर्लभत्वाच्च प्रासासक्तेः का गतिरित्याशंक्याहुः  
सेवायां वा कथायां वेति ।

सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेत् ।

यावज्जीवं तस्य नाशो न कापीति मतिर्भव ॥ ९ ॥

यस्य मत्तस्य पूर्वोक्तसेवायां कथायां कथाश्रवणक्रीतनयोर्वा आसक्तिर्दृढा बद्धमूला  
भवेत्, तस्य यावज्जीवं यावद्देहस्थिति व्यसनं यदा कदापि भवतु, परंतु दुःसङ्ग-  
दुष्टान्नभक्षणजनितो नाशो भगवत्सेवाकथायासक्तिप्रच्युतत्वं कापि देशे कापि काले च  
कापि जन्मन्यपि च न भवतीति मे मम मतिर्बुद्धिरित्यर्थः । तथा च यदि भगवद्भर्मरूप-  
सेवाकथासक्तस्यैव न नाशस्तदा साक्षाद्भर्मरूपभगवदासक्तस्य न नाश इत्यत्र किं  
वक्तव्यमिति कैमुतिकन्यायः सूचितः । यद्वा । नाशः दुःसङ्गदुष्टान्नजनितदोषसम्बन्धरूपः  
न कापि संभवतीत्यर्थः । तथा च दुष्टकान्ते हरिस्थाने दुष्टकान्तहरिस्थानातिरिक्ते  
स्थाने वा तिष्ठन् तत्परभगवदीयेभ्यस्तदितरजनेभ्यश्च भिक्षया जीवनमात्रसंपादकमत्रं  
संपाद्य स्वयं पार्कं कृत्वा प्रभवे समर्थं भक्षयन् न दोषभाक् भवतीति भावः ॥ ९ ॥

ननु यदि हरिस्थानातिरिक्ते हरिस्थाने वा दुष्टकान्ते दुष्टैर्भजनबाधः, अथ च  
तत्रानादिरप्यलाभेन वा भजनबाधः प्रसज्येत, तदा किं कर्तव्यमित्याकांक्षायामाहुः  
पाघसंभावनायां तिबति ।

पाघसंभावनायां तु नैकान्ते चास इष्यते ।

हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः ॥ १० ॥

यदि सेवायाः कथाश्रवणादीनां वा बाधः संभाव्येत ज्ञापेत, तदा एकान्ते गृहं  
त्यक्त्वा स्त्रीयाज्जाते स्थले वासो नेष्यते, किन्तु गृहे एव चास इष्यते । ननु तदा गृह-  
स्थानां पुत्रकलत्रादीनां लौकिकव्यासद्धान्तरजगत्वं सिद्धमेवेति दोषप्रसक्तिरिति किं  
कर्तव्यमित्याशंक्याहुः हरिस्तु सर्वत इति । तु पुनः हरिः सर्वदुःखहर्ता सर्वतः सर्वेभ्यो  
दोषेभ्यः स्वयं रक्षां करिष्यति । गृहस्थपुत्रकलत्रादिजनितलौकिकव्यासद्धान्तरदोषो न  
वापिष्यत्येवेति भावः । अत एव 'मद्भातीयातयामानां न पन्थाय गृहा मता' इति  
श्रीभागवते भगवतोक्तम् । ननु को वेद, हरिः प्रसुः करोति चेत्, तस्य किं कर्तव्यमित्या-  
शंक्याहुः न संशय इति । न सन्देह इत्यर्थः । यदि स्वोपरक्षां न कुर्यात्तदा हरित्वमेव  
गच्छेदिति भावः ॥ १० ॥

एवं गतिर्बुद्धिप्रकारमुपपाद्य ग्रन्थोपसंहारमेतत्पाठफलं चाहुः ।

इत्येवं भगवच्छास्त्रं गृह्यतस्त्वं निरूपितम् ।

य एतत्समधीपीत तस्यापि स्याद् दृशा रतिः ॥ ११ ॥

इति ग्रन्थसमाप्तौ । एवं अनेन प्रकारेण च भगवच्छास्त्रं उत्तरेदलोपिप्तमाहात्  
 भगवत्प्रापकं शास्त्रं भगवत्प्रापकोपदेशग्रन्थः । गूढतत्त्वं गूढं गुह्यम्, इतरमार्गीयेभ्यस्तत्त्व-  
 सिद्धान्तो यस्य तादृशं निरूपितं कथितम् । मयेति शेषः । अत्रैतदुक्तप्रकारेण सेवायाः  
 कथाश्रवणकीर्तनादीनां च कर्तुः प्रेमाद्याविर्भावो भवेदिति किमाश्रयम्, यत्रैतच्छास्त्र-  
 ध्ययनकर्तुरपि प्रेमाद्याविर्भवेदित्याहुः य एतदिति, योधिकारी कोपि एतत् समर्था-  
 यीत, सम्यक् श्रद्धापूर्वकमनुसन्धानपूर्वकं वाध्ययनं कुर्यात् तस्यापि दृढा केनापि तिरो-  
 धानयितुमशक्या रतिर्बीजरूपभावरूपा स्वादाविर्भवेत्, किं पुनरेतदुक्तप्रकारकमजन-  
 कर्तुरिति दिक् ।

श्रीमद्ब्रह्मविद्ब्रह्मभगवत्परमेश्वरान्तरेणुकणकृपया ।

कृतवान् जयगोपालटीकां श्रीभक्तिवर्धिण्याः ॥ १ ॥

सूर्यञ्जलिं ननु विधाय निधाय भूयो सूर्यः कृपालुषु महत्सु निवेदयामि ।

यत्किञ्चिदत्र मयका लिखितं भवद्विस्तृत्युष्टिमार्गपथिकैः परिशोधनीयम् ॥ २ ॥

इति श्रीमद्ब्रह्मभार्यचरणैकतानमानसश्रीमन्महाप्रभुश्रीविद्ब्रह्मेश्वरकृपा-

कटाक्षोद्बुद्धिना श्रीमन्विन्तामणिदीक्षितात्मजेन जयगो-

पालेन विरचिता भक्तिवर्धिनी टीका ॥

श्रीगिरिधारी वनोद्भू मङ्गलानि ।

## भक्तिवर्धिनी ।

दीक्षितलाल्भट्टकृतविवृतिसमेता ।

नमामि श्रीमदाचार्यान् विद्ब्रह्मेशं मत्प्रभूम् ।

यत्कृपातो भवेत्प्राप्तिः (श्री)गोवर्धनगिरीशितुः ॥ १ ॥

अथ श्रीब्रह्मभार्यचरणाः गुष्टिभक्तानां नित्यलीलाप्रवेशस्वस्वमार्गीयफलप्राप्त्यर्थं  
 तत्कारणमूलां धीजभावात्मिकां तायात्मकसूक्ष्मस्येद्दरूपां भक्तिं वर्धयितुं तत्प्रकारनिरूपणं  
 प्रतिजानते यथा भक्तिरित्यादिना ।

यथा भक्तिः अष्टद्वयं स्यात्तथोपासने निरूप्यते ।

धीजभावे दृढे तु स्यात्प्रागाच्छ्रवणकीर्तनात् ॥ १ ॥

यथा येन प्रकारेण भक्तिधीजभावरूपा प्रकर्षेण वृद्धा सर्वात्मभावावाहापद्या स्यात्त-  
 थोपायः त्यागात्यागविभेदेन श्रवणादिरूपः पूजादिरूपश्च निरूप्यते इत्यर्थः । ३६



भक्तेर्वृद्धधुपायकथनप्रतिज्ञया भक्तिसत्ता सूचिता । अतो बीजरूपा पुष्टिभक्तिः पूर्वं पुष्टि-  
जीवेषु सूक्ष्मरूपेण वर्तते एवेति बोध्यम् । अन्यथा यथा भक्तिरुत्पन्ना स्यादिति प्रतिज्ञायेत ।  
उत्पन्नाया एव वृद्ध्यादिभावार्हत्वात् । अतः पूर्वं पुष्टिभक्तेः सूक्ष्मरूपेण सत्ता ज्ञापिता ।  
सैव पुष्टिभक्तिर्बीजभावशब्देनोच्यते । इयमेतद्वन्धोदितप्रकारेण वृद्धा सती सर्वात्मभावा-  
वसां प्राप्य नित्यलीलाप्रवेशरूपं फलं साधयिष्यतीति सिद्धान्तनिष्कर्षः । बीजभावे  
इति । बीजरूपे भावे सूक्ष्मभक्त्यात्मके दृष्टे सति स्यात्, भक्तिः प्रवृद्धा स्यादित्यर्थः ।  
बीजभावदाढ्यं कथं स्यादित्याकांक्षायामाहुः त्यागात् श्रवणकीर्तनादिति । गृहादि-  
त्यागपूर्वकं भगवत्कथाश्रवणाद्वीजदाढ्यं भवतीत्यर्थः । गृहादेर्विषयासक्तिसम्पादकतया  
भजनप्रतिबन्धकरत्वेन गृहादित्यागो भजने मुख्यमङ्गम् । 'हित्वात्मपातं गृहमन्वकूपं वनं  
गतो यद्भरिमाश्रयेत्' इति प्रह्लादवाक्यात् । अत एव निबन्धे भगवदुक्तश्लोकयोरेवं  
दृश्यते 'गृहं सर्वात्मना त्याज्य'मिति ।

एवं मुख्यतया पूर्वं त्यागपक्षमुक्त्वा तादृशजितेन्द्रियत्वादिगुणरहितस्य त्यागे दोषा-  
धिक्याद् बीजदाढ्यं प्रकारान्तरमाहुः बीजदाढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः  
इत्यनेन ।

बीजदाढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः ।

अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः ॥ २ ॥

गृहे बीजदाढ्यप्रकारस्त्वित्यन्वयः । गृहे बीजदाढ्यप्रकारमाहुः स्थित्वा स्वध-  
र्मत इत्यादिना । गृहे इति सप्तम्यन्तं देहलीदीपन्यायेनोभयत्र सम्बध्यते । स्वधर्मत  
इति । वेदोक्तवर्णाश्रमधर्मत इत्यर्थः । तथा च विहितप्रकारेण गृहस्थाश्रमे स्थित्वा भक्ति-  
मार्गप्रकारेण कृष्णं भजेत् । यद्यपि 'अन्तस्त्रिलोक्यास्त्वपरो गृहमेधोऽवृहद्भूत' इति द्विती-  
यस्कन्धवाक्यात् गृहाश्रमस्य फलप्रतिबन्धकत्वम्, तथापि भगवद्भजनं कुर्वाणस्य न गृह-  
स्थाश्रमः प्रतिबन्धकः । 'गृहेष्याविशतां चापि पुंसां कुशलकर्मणाम् । मद्रतायातया-  
नानां न बन्धाय गृहा मताः' इति भगवद्वाक्यात् । असिन्वाक्ये 'कुशलकर्मणा'मित्यनेन  
निषिद्धानां निवृत्तिः सूचिता । कुशलकर्मणामित्यस्य व्याख्यारूपं स्वधर्मत इति पदमात्रा-  
यैवैरुक्तम् । अत एव भगवता द्वितीयोऽत्यागात्मापि पक्षः सफलो निरूपितः 'गृहं  
सर्वात्मना त्याज्यं तच्चेत्यक्तुं न शक्यते । कृष्णार्थं तत्प्रयुञ्जीत कृष्णः संसारमोचकः ।'  
इति । अव्यावृत्त इति । 'तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यह'मिति वाक्याद्भगवान्  
गृहस्थाश्रमनिर्वाहकं धनादिपदार्थं स्वत एव सम्पादयिष्यतीति विश्वासेन धनापजनेनाधि-  
निवेशं त्यक्त्वा श्रीकृष्णं निरन्तरं भजेदित्यर्थः । कथं भजेदित्याकांक्षायामाहुः पूजया  
श्रवणादिभिरिति । पूजयेति । मन्दिरनार्जनदिरूपया परिचर्ययेत्यर्थः । श्रवणा-  
दिभिरिति । श्रीमद्भागवतोक्तदशविधलीलायुक्तस्य भगवतः श्रवणादिभिरित्यर्थः । 'तस्मा-

द्भारत सर्वात्मा भगवान् हरिरीश्वरः । श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताभय'मिति  
 शुक्रवाक्यात् । 'दशविषलीलायुक्तस्य श्रवणादि कार्य'मिति सुबोधिन्यां निर्णतित्वात् ।  
 दशविषलीलास्तु भागवते प्रतिवादिता इति भागवतं श्रवणादिविषयीकार्यमिति फलित-  
 तम् । एवं सति सेवां विधाय तदनवसरे भागवतश्रवणादि कार्यमिति विभागोवगन्तव्यः ।  
 एवं वर्तमानस्य गृहेषु संसारावेशाभावात् बीजदाढ्यं भवति । ततो भक्तिवर्धिष्यते  
 इति भावः । ननु यस्य भक्तिः सूक्ष्मावस्थारूपस्य बीजभावस्य सर्वात्मभावान्तावस्था  
 भवतीत्युक्तम्, कोसौ बीजभावः ? कदा कुत उत्पद्यते इति चेत् । शृणु ।  
 सृष्टवादौ 'यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ती'ति श्रुतेरक्षरब्रह्मणः सकाशादुत्पन्नानां  
 चिदंशानां भगवदिच्छया तिरोहितानन्दत्वेन प्राप्तजीवभावानां भगवदिच्छयैवा-  
 विद्यासम्बन्धः । ततो देहाध्यासादिस्वरूपविस्मरणान्तानि पञ्चपर्वाणि सम्पद्यन्ते ।  
 ततस्तेषु जीवेषु सदसद्भासनाभेदेन दैवत्वमासुरत्वं विदधाति भगवान् । तत्र दैवजीवेषु  
 यान् पुष्टिमार्गीयान् कर्तुमिच्छति, तेषु स्वविषयकां सूक्ष्मरूपां रतिं स्थापयति । सा  
 बीजभावशब्दवाच्या । 'रतिर्देवादिविषया भाव इत्यभिधीयत' इति चाक्यात् ज्ञारणत्वेन  
 बीजत्वात् । सा रतिः प्रेमासक्तिव्यसनसर्वात्मभावानां बीजरूपेति बीजभावशब्देन  
 व्यवहियते । एवमत्यागपक्षे व्यावृत्तिरहितेन भगवद्भजनं मुख्यः पक्षः ॥ २ ॥

तदसम्भवे गौणं पक्षमाहुः व्यावृत्तोपीति ।

व्यावृत्तोपि हरौ चित्तं श्रवणादौ न्यसेत्सदा ।

ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च पदा भवेत् ॥ ३ ॥

बीजं तदुच्यते शास्त्रे ह्यं यन्नापि नश्यति ।

भगवत्सेवानवसरे व्यावृत्तिं कुर्वाणोपीत्यर्थः । श्रवणादाविति । 'श्रोतव्यः  
 कीर्तितव्यश्चे'त्यत्र उक्ता ये श्रवणाद्यस्तैर्भजेदित्यर्थः । व्यावृत्त्यवसरे पूजाया असंभवात्  
 श्रवणादिमात्रमशोक्तम् । अव्यावृत्तस्य तूभयं संभवतीति पूजया श्रवणादिभिरित्यनेनोभय-  
 युक्तम् । ततः प्रमेत्यादि । एवं भगवन्तं भजतः प्रेमासक्तिव्यसनानि क्रमेण भवन्ति ।  
 सूक्ष्मभक्तिबीजभावरूपा पूजाश्रवणादिभिः प्रवृद्धा प्रेमासक्तिव्यसनावस्थां प्राप्नोतीत्यर्थः ।  
 बीजं तदुच्यते इति । व्यसनावस्थायां सिद्धायां बीजभावस्य दाढ्यं संपन्नमिति बोध्यम् ।  
 नापि नश्यतीति । न तिरोभवतीत्यर्थः । सत्यतियोगिनोऽभावस्य तिरोभावानतिरेकात् ।  
 अभावास्त्वस्मन्मते तिरोभावातिरिक्ता न भवन्तीति सुबोधिन्यां निर्णतित्वात् ॥

स्नेहाद्रागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद्गृहारुचिः ॥ ४ ॥

गृहस्थानां पापकत्वमनात्मत्वं च भासते ।

पदा स्याद् व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव द्वि ॥ ५ ॥

प्रेमावस्थायाः कार्यलक्षणमाहुः स्नेहाद्रागविनाशः स्यादिति । आसक्तेः कार्यलक्षणमाहुः आसक्त्या स्याद्गृह्यरुचिरिति । गृह्यपदं गृह्यसानामुपलक्षणम् । अरुचिरिति । नात्रारुचिशब्देन रुच्यभावः । तस्य स्नेहाद्रागविनाशः स्यादित्यनेन पूर्वं स्नेहकार्यत्वेनोक्तत्वात् । अतोत्रारुचिशब्देन रुचिविरुद्धो भावः । निरोधार्यै नगः सरणात् । 'तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता । अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्याः पदस्यरणात् । 'तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता । अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्याः पदप्रकीर्तिता' इति वाचयान् । स च बाधकत्वस्फूर्तिरूप इति स्वयमेव व्याचक्षते गृह्यसानानां बाधकत्वमिति । तथा च भगवदितरविषयकबाधकत्वस्फूर्तिसंपादको भाव आसक्तिरिति कार्यलक्षणमासक्तेः । आसक्तेर्लक्षणान्तरमाहुः अनात्मत्वं च भासत इति । देहस्येति शेषः । तथा च देहात्मभावनिवर्तको भगवद्भाव आसक्तिरिति लक्षणात्तरमासक्तेः । यदा स्याद्व्यसनमित्यादि । व्यसनमिति । विशेषेण अस्यते क्षिप्यते दूरीक्रियते अन्यसम्बन्धो येन तद्व्यसनं भगवत्सत्त्वभाव इति यावत् । एवं भगवत्सत्त्वभावो निरुपाधिकस्नेहो व्यसनमिति फलितम् । अत एव 'प्रेष्ठो भवांस्तनुमृतां किल बन्धुरात्मै'ति व्यसनभाववतीभिर्भगवत्सत्त्वमभाषि । 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवती'ति श्रुतेरात्मसम्बन्धादेवान्यस्य प्रियत्वं लोके, एवं ब्रजसुन्दरीणां भगवत्सम्बन्धादेव स्वदेहादौ प्रीतिविषयत्वम् । अत एव 'त्वयि धृतासवस्त्वां विचिन्वत' इत्युक्तं तामिः । 'त्वदर्थं प्राणधारण'मित्याशयो विवृतः श्रीमदाचार्यवर्यैः । अतस्तादृशो निरुपाधिभावो व्यसनशब्दार्थः । अत एतादृशो व्यसनात्मके भावे सिद्धे युक्तैव कृतार्थतेति बोधयितुं यदा स्याद्व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदेव हीति हिशब्द उक्तः । कृतार्थ इति । भगवन्तं साक्षात्करोतीत्यर्थः । भगवन्मूर्ते परिचरतो जातव्यसनाख्यभावस्य भगवत्साक्षात्कारो भवेत्, तदानेकप्रकारकं भगवदाज्ञादिजन्यं सुखविशेषमनुभवेद्, अतः कृतार्थता सिध्यतीति बोध्यम् ।

एवं भगवदाविर्भावेन लीलावलोकनादिरूपं भगवत्सम्बन्धिसंयोगसुखमनुभवतोपि भगवद्विरहजन्यविलक्षणमुत्सानुभवराहित्यात् पूर्णफलप्राप्तिः, अतो द्वितीयदलानुमाराणं साधनमाहुस्तादृशस्यापीत्यात्म्य त्यागं कृत्वा यतेष्यस्तु तदर्थाधिकमानस इत्यन्तेन ।

तादृशस्यापि सनतं गेहस्थानं विनाशकम् ।

त्यागं कृत्वा यतेष्यस्तु तदर्थाधिकमानसः ॥ ६ ॥

तादृशस्येति । प्राप्तव्यसनभावस्येत्यर्थः । गेहस्थानं विनाशकमिति । गेहे स्थितौ हि भगवत्सेवया भगवदाविर्भावेन संयोगानुभवसिद्धौ न वियोगानुभवो भवेत्, अतः फलपूर्वतायां गृहस्थितेः प्रतिबन्धकत्वादिनाशकत्वोक्तम् । अतो 'सिद्धानुमाराणं न परित्यागः प्रशस्त' इति संन्यामनिर्णयग्रन्थोक्तं त्यागमुपदिशन्ति ग्यागं कृत्वा

यतोदिति । यतोयं विलक्षणस्त्यागोत एव तदर्थार्थैकमानस इति विशेषणमुक्तम् । स चासौ अर्थः तदर्थः 'पुरुषार्थरूपो भगवान्' तदर्थं तत्प्रयोजनकमेव मानसं यस्येति विग्रहः । पुष्टिमार्गे हि भगवानेव पुरुषार्थः । 'त्वं वै समस्तपुरुषार्थमयः फलात्मे'ति दशमस्कन्धे श्रीरुक्मिणीवाक्यात् । 'तावांस्तेहं चतुर्विध' इत्येकादशस्कन्धे श्रीमद्बुद्धं प्रति भगवद्वाक्याच्च । तथा च भगवदर्थमयं त्यागो विरहे सर्वदा अन्तर्भगवत्स्फुरणार्थः । न तु 'गृहं सर्वात्मना त्याज्य'मित्यनेनोक्तोयं त्यागः । तत्र तु 'हित्वात्मपातं गृहमन्ध-कूप'मिति वान्यात्पातहेतुत्वं गृहस्थितेः, अतो गृहत्याग उक्तः । स त्यागस्तु 'त्यागान्ध्रव-णकीर्तना'दित्यनेन पूर्वमुक्तः । अयं त्यागस्तु 'गृहे स्थित्वा स्वधर्मत' इत्यशौचप्रकारेण वर्णाश्रमधर्मतः स्थितस्य पूजाश्रवणादिना व्यसनभावोत्पत्त्यनन्तरं विहितः । अतोस्मिन् त्यागे श्राप्यसनभावोधिकारी । 'तादृशस्यापि सतत'मित्यत्र तादृशशब्देन 'यदा साहस्यसर्वं कृष्णे' इत्यनेन पूर्वमुक्तस्य व्यसनभाववतः परामर्शत् । अतोयं त्यागो विरहातुभवार्थ एवेति निर्धारः ।

एतादृशत्यागकर्तुः फलमाहुः लभते सुहृदां भक्तिमिति ।

लभते सुहृदां भक्तिं सर्वतोप्यधिकां पराम् ।

त्यागे पापकर्मभूयस्त्वं दुःसंसर्गात्तथागतः ॥ ७ ॥

सर्वतोप्यधिकामिति । सर्वतः प्रेमासक्तिष्यसनतोधिकामित्यर्थः । परां सर्वात्मभावरूपामित्यर्थः । वियोगे हि सर्वात्मभावो भवतीति तृतीयाप्यायभाष्ये निरूपितम् । तदत्रापि ध्यसनभावोत्पत्त्यनन्तरं कृतत्यागस्य भगवद्विरहानुभवश्रेयजन्य-भगवत्सम्बन्धात्सर्वत्र भगवानेव स्फुरतीति सर्वात्मभावमिदो न किञ्चित् कर्तव्यम-वशिष्यत इति बोध्यम् । एवं गृहस्थितिपथे भक्तिवृद्ध्यापायं निरूप्य 'त्यागान्ध्रव-णकीर्तना'दिति पूर्वमुपदिष्टे त्यागे पापकामाव साधयितुं पापकस्वरूपनिरूपणपूर्वकं त्याग-प्रकारमाहुः त्यागे इति । त्यागे पापकर्मभूयस्त्वमित्यादिना कामादिपदकन्यानां पापकानां भूयस्त्वमित्यर्थः । दुःसंसर्गादिति । 'प्रमत्तमजरं पाशमात्मनः कवयो विदु'रिति वाक्यात् । जीवे हि कामादिदोषाः सदैव निष्ठन्ति । 'भयं प्रमत्तस्य बनेष्वपि स्थायतः स आस्ते सह पदसपन्न' इति वान्यात् । तथा च दुःसङ्गदुरात्म्यां तस्य कामादिपदकस्योद्बोधे तत्रन्यानां पापकानां बाहुल्यं स्यादित्यर्थः ॥ १ ॥

अतःपरं पापकहेतुकामादयो येन निवर्तन्ते तं उपायमाहुः अतः स्थेयमिति ।

अतः स्थेयं हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परैः ।

अहरे विप्रकर्षे या यथा गित्तं न दुष्पति ॥ ८ ॥

हरिस्थाने गोवर्धनादौ, तत्रापि तदीयैः तत्परैः सह स्थेयम् । 'न एव साधुषु कृतो मोक्षद्वारमपावृत'मिति वान्यात् । एवं गृहस्थितिगृहत्यागपक्षौ सप्रकारं निरूप्य अन्यतर-

साधनावस्थापन्नस्य पक्षद्वये अनुगतं मुख्यसाधनमाहुः अदूरे विप्रकर्मं वेति । भगवत इति शेषः । गृहस्थितिपक्षे श्रीविग्रहस्य अदूरं निष्ठे, त्यागपक्षे श्रीमूर्तेर्विप्रकर्मं दूरे स्थितायपि चित्तदोषो यथा न भवेत्तथा श्रेयमित्युपदेशः । 'चेतः पल्लवस्य बन्धाय मुक्तये चात्मनो मतम् । गुणेषु सक्तं बन्धाय रतं वा पुंसि मुक्तये' इति तृतीयस्कन्धे कपिलवाक्यात्, 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयो'रिति ब्राह्म्यान्तरात्र चित्तस्यैव सर्वत्र मुख्या कारणतेति तस्मिन्दोषोत्पत्तौ सर्वनाश इति चित्तस्य निर्दोषतायै दुःसङ्गवर्जनपूर्वकं सत्सद्वादि सम्प्राय सावधानतया श्रेयमिति भावः ॥ ८ ॥

कथं चित्तं निर्दुष्टं सादित्वाकांक्षायां पूर्वोक्तसुषायं स्मारयन्ति सेवायां वा कथायां वेति ।

सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेत् ।

यावज्जीवं तस्य नाशो न कापीनि मतिर्भन ॥ ९ ॥

गृहस्थितिपक्षे सेवायाम्, त्यागपक्षे कथायाम्, यस्यासक्तिर्भक्तिर्दृढा भवेत्, तस्य यावज्जीवं कापि दुर्देशो दुष्टकालेषु नाशो बुद्धिभ्रंशरूपो न भवेत् । अन्यथा चित्तदोषे विषयध्यानात् 'ध्यायतो विषयान् पुंसः' इत्यारभ्य 'बुद्धिनाशात्पण्यती'लन्तेन निरूपितो नाशः सादिति भावः ॥ ९ ॥

ननु कुतत्यागस्य भगवदीयसद्वादप्येकान्ते स्थितिरेव समीचीना, भजनप्रतिबन्ध-  
दुःसङ्गसंभावनाया अप्यभावादित्वाकांक्षायामाहुः बाधसंभावनायां त्विति ।

बाधसंभावनायां तु नैकान्ते वास इष्यते ।

हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः ॥ १० ॥

यद्यप्येकान्ते दुःसद्वाददोषो नास्ति, तथापि व्याघ्रादिभयरूपबाधसंभावना यत्रास्ति, तत्र वासो न इष्यते, न इष्टप्रापको, मनसश्चाप्त्यापादकत्वेन भगवद्भजनप्रति-  
बन्धकत्वादित्यर्थः । ननु सर्वरक्षको भगवान् व्याघ्रादिभ्यो भक्तान् कथं न रक्षतीत्याकां-  
क्षायामाहुः हरिस्त्विति । 'रुद्धा गुहाः किमजितोऽवति ज्ञोपसत्ता'मिति वाक्यात् सर्वथैव भगवान् रक्षति, तथापि तादृग्विश्वासाभावेन मनस्यामल्यं स्यादेव, ततो भजने प्रतिबन्धो भवेत् । अतस्त्यागपक्षे हरिस्थाने श्रीगोवर्धनादौ भगवदीयैः सह स्थितिरेव श्रेयस्कारिणी । 'संसारेस्मिन्क्षणाधोऽपि सत्सङ्गः श्रेयधिनृणा'मिति भागवतवाक्यादिति भावः । अपि च एकान्ते स्थितौ हि रक्षणार्थं भगवति भारो देयः । स च सेहविरुद्धः । हरिस्थाने भगव-  
दीयैः सह सङ्गे तु सोऽपि दोषो नास्तीति त्यागपक्षे भगवत्स्थाने भगवदीयैः सह स्थित्वा भगवद्भजनं कार्यम् । तेन च श्रेयसासक्तिव्यसनानि भवन्ति । ततो भगवदाविर्भावः । ततो

एदा सती वृद्धिमवाप्य 'भगवता सह संलाप' इत्याद्युत्तरोत्तरसंकल्पैर्निद्रान्छेदाद्यनुभावयन्ती मानसी फलरूपा स्यात् तद्योपायो निरूप्यत इत्यर्थः ।

तत्राधिकारी द्विविधः, अदृढबीजभावो दृढबीजभावश्च । द्वैविध्ये बीजं भक्तिहंसे निरूपितम् । 'वरणे चास्ति प्रकारद्वयम्, मर्यादापुष्टिभेदेन'ति । तत्र प्रथमं द्वितीयस्य कर्तव्यमाहुः बीजेति । 'रतिर्देवादित्रिपयिणी भाव इत्यभिधीयत' इति बीजभूतो यो भगवद्विषयको रत्यात्मको भावः स्थायिभाव इति यावत् । तेनैव पुष्टिमार्गीयत्वं तेषामुच्यत इति । भगवदनुग्रहादेव तत्सत्त्वादिति यथा तथा पुष्टिप्रवाहमर्यादायां द्रष्टव्यम् । अत एव 'तद्भजस्त्रिय आश्रुत्ये'तत्र टिप्पण्यमुक्तं 'एतेन श्रुतं सर्वैः स्थायिभावोत्रैवास्तीत्यत्रैव तदुद्दीपनमिति शङ्का निरस्ते'ति । स भगवदिच्छया अनुग्रहप्राप्त्येन दुःसन्नाद्यनभिभूतोऽत एव दृढो वक्ष्यमाणस्वरूपो यस्यास्ति तस्य तु बाधकगृहादिसर्वत्यागाच्छ्रवणकीर्तनाच्च भक्तिः पूर्वोक्ता प्रवृद्धा फलरूपा स्यात्, तस्य नान्यत् कर्तव्यमस्तीति भावः । श्रवणस्यान्यसापेक्षरवात् कीर्तनस्यापि तत्साधकत्वज्ञापनाय समस्तं पदमेकवचनं च । अत एवोपसंहारे एतद्ग्रन्थपाठमाश्रयापि दृढरतिप्रतिपादकत्वं वक्ष्यते । अथवा । समाहारद्वन्द्वः । तेन समुच्चयस्यैव हेतुत्वमिति समास एकत्वं च । बीजभावे दृढ इति सत्तिसप्तमी । तुशब्द इतरन्यावर्तकः ॥ १ ॥

प्रथमस्य साधनान्तरमाहुः ।

बीजदाह्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः ।

अव्याघृस्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः ॥ २ ॥

अनुकूले गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः, 'सर्वविभक्तिकस्तासित्', दासधर्मेण ममायमेव धर्मः, एतदकरणे सर्वस्वहानिरेवेति स्वतन्त्रपुरुषार्थबुद्ध्या इतरव्यावृत्तिरहितः कृष्णं सदानन्दं सेवेत । पूजया भक्त्या । 'तदभावे स्वयं वापि मूर्तिं कृत्वा हरेः कश्चित् । परिचर्यां सदा कुर्वाद्भक्तप्रक्षालनादिभिः । अलंकुर्वीत सप्रेम वक्षैरामरगौरपि' इत्यादिस्मारस्यात् स्नेहोत्पत्तिपर्यन्तं विधेरनतिक्रमाय पूजापदम् । विधिप्रधानत्वात् तस्याः । अत एव भक्तिहंसेपि तथैवोक्तं प्रमुचरणैः 'स्नेहोत्पत्तिपर्यन्तं विधिरेव नियामक' इति । स चात्र श्रीमदाचार्यनिर्दिष्ट एव, न तु तात्रिक इति ज्ञेयम् । स च 'कृष्णसेवापरं वीक्ष्य दग्भादिरहितं नरम् । श्रीभागवततत्त्वज्ञं भजेजिज्ञासुरादरा'दिति वाक्यात् तदनुसार्येवेति हृदयम् । साक्षात् श्रीमदङ्गसेवानवसरे श्रवणादिकं विधेयम् । 'सप्रेमे'ति सर्वत्रानुपज्यते । वस्तुरभावे स्वयमेव कीर्तनम् । आदिपदात् स्मरणं च सर्वदा । पादसेवनमित्युपलक्षणम् । वस्तुतस्तु भगवत्स्वरूपसेवनमेव तत् । यद्यपि 'श्रवणं कीर्तनं विष्णो'रित्यत्र श्रवणादित्रयानन्तरं पादसेवनमुक्तम् । तत्र मर्यादायां भगवद्विमुखस्य विषयासक्तस्य गुरुपदेशमात्रेण भजनमिच्छतः श्रयमप्रवृत्तौ माहात्म्यज्ञानेन श्रवणेन्द्रियमनोदोषनिवृत्त्या शुद्धिसंपादनेन

‘शुद्धाश्च सुखिनश्चैव ब्रह्मविद्याविशारदाः । भगवत्सेवने योग्या नान्य’ इति वाक्यात् साक्षात् भगवत्सेवने अधिकारसिद्धयर्थं प्रथमत एव श्रवणं, कीर्तनं स्मरणमित्युक्त्वा अग्रे पादसेवनमुच्यते । अत्र तु भगवदाज्ञया श्रीमदाचार्यैरादावेव सर्वसमर्पणेन ब्रह्मसंबन्धकरणात् तेनैव सर्वदोषनिवृत्तिपूर्वकसेवाधिकारो जात इति स क्रमो न विवक्षित इति ज्ञेयम् । तदुक्तं ‘ब्रह्मसंबन्धकरणात् सर्वेषां देहजीवयोः । सर्वदोषनिवृत्तिर्हि’ इति सिद्धान्तरहस्ये साधनफले एकीकृत्य सर्वसमाधानमाहुरिति । नवरत्ने चयमेवाशङ्का समाहिता । तथा च अरुणोदयात् प्रागुत्थाय स्वयं स्नानादिकं विधाय भगवन्मन्दिरे गत्वा मन्दिरपात्रादिसंशोधनं, सिंहासनसंस्कारः, चालभोगसञ्जीकरणं, ततः प्रबोधस्त्वैः भगवद्बोधनं, शीतादिसमयोचिततूलकञ्चुकप्रावरणादि परिधाप्य, सिंहासने उपवेश्य, चालभोगं समर्प्य, शीताधिक्ये हसन्तीमुपनिधाय, स्नानसामग्रीं सुगन्धतैलतसोदकादि अङ्गनस्रृङ्गारवेशोचितवस्त्रालङ्कारादि सर्वमुपस्थाप्य, समये जाते, चालभोगमपनीय, आचमनं मुखवस्त्रताम्बूले समर्प्य, दर्पणं प्रदर्श्य, तत्सामयिकशोभामवलोकयन् मङ्गलनीराजनां कुर्यात् । एवं स्नानशृङ्गारभारम्य श्रीमदाचार्यनिर्दिष्टप्रकारेण शृङ्गारभोगोपीवल्लभगोपालराजभोगोत्थापनसन्ध्याशयनपर्यन्तं यथायथं परिचरणमेव पादसेवनमित्यर्थः । अर्चनं च पूजनम् । तद्धि पूज्ये उक्तर्पत्यापकम्, सर्वोत्कृष्ट एव पूज्यो भवतीति । प्रकृते च पूज्यो भगवान् पुरुषोत्तमः, तत्रापि श्रीयशोदोत्सङ्गलालितः, तत्रापि कोटिकन्दर्पलावण्यः श्रीगोपीजनवल्लभः, तत्रापि श्रीवल्लभाचार्यहृदयसर्वस्वरूपः, तत्र च श्रीमदाचार्यचरणानुग्रहपक्षपातेन स्मरचितशृङ्गारादिपरिष्कारप्रकाशमानं शोभातिशयविशेषमङ्गीकारसूचकमवधार्य परमोत्साहभरेण विवशतया सूर्ये दीपदानमिव धूपदीपनैवेद्यताम्बूलागुरुसारादिसुगन्धपुष्पमालादिभिरभ्यर्च्य एतादृशे न्यसर्वस्वरूपे कस्यापि दृष्टिदोषसंक्रमो माम्भूदिति परमप्रेम्णा नीराजनां सर्वदोषनिवृत्त्या ‘निःशेषेण राजयती’ति व्युत्पत्त्या अपूर्वशोभाप्रकाशिकां नीराजनां कुर्यादित्यर्चनम् । ततश्च परिक्रमणेन स्वात्मानमपि प्रमोक्षरि निर्मेच्छ्य परमाणुना मया किं कर्तुं शक्यमिति परमदैन्येन दण्डवत्पादाङ्ग प्रणमेदिति वन्दनम् । ततो दास शय्यादिरचना । तत्र चाधिश्याने प्रभौ व्यजनचरणसंवाहनादि च । ततो मुकुलितनयने प्रभावनससं विधाय श्रीमत्प्रभुप्रसादीकृतपुष्पमालादिभिर्धार्जितः परमाह्लादपूर्णो भगवन्मन्दिराद्वहिरुपेत्य ‘उच्छिष्टभोजिनो दासाः’ इति वाक्यात् साक्षादधराशृत्करमिन्नं वाद्याभ्यन्तरशोधकं परमसौभाग्यसंपादकं महाप्रसादं सेवकादिभ्यो विमज्य सेवेत । ततश्च क्षणं त्रिश्रम्योत्थाय वस्त्राभरणपादिमेवया तदभावे तादृशैः वृत्तात्मनिषेदिभिः समानशीलव्यमनैर्भगवदीर्यैः शक्तितात्पर्यावधारणपूर्वकं श्रीभागवतसुनोधिन्वादिश्रवणम् । तथैव कीर्तनम् । ततस्तीलाशोभादीनां स्मरणं च कुर्यान्ते यात्रदुत्थापनं दिनं वेशुगीतोक्तप्रकारेण नयेत् । तन्धोत्थापने जाते कन्दमूलफलादि तत्तदार्जनं समर्पयेत् । अत्र च पुन्दिन्दीमौभाग्यं

संभावयेत् । ततो भगवद्दुःखापनशङ्खनिवेशुनादोत्थनिजनिजाह्वानाभिवानश्रवणोत्साह-  
समुद्भूतलाङ्गुलसहस्रहृद्कारोत्सितमुत्तीर्षेणः पुरस्कृत्य, साक्षिभिर्गोपवृन्दैरनुगीयमानचरितं  
'तं गौरजश्रुतिर'त्यादि वर्ष्यमानस्वरूपं भावोद्धारिणीभिर्दृष्टिभिः श्रीमद्भजसीमन्तिनीपरितापं  
परिहरन्तं गोपीद्वयुत्सवदृशं ब्रजे प्रविशन्तं परिभाष्य, धेनूस्तत्तद्रोष्टे निवेश्य, निजमन्दि-  
रमलंकुर्वाणं प्रभुं चन्यपुष्पादिभिरलंकृतं पयोमोदकादिभिर्यथालब्धैर्मगोपचारैरभ्यर्च्य,  
सान्ध्यनीराजनां विधाय, क्रमेण प्रेम्णा शृङ्गारं बहुकृत्य उन्मज्जवसायन्तवद्वालङ्कारादि-  
भिरलंकृत्य, दुग्धफेनं समर्प्य, यथात्ममिति सर्वत्र ज्ञेयम् । 'यथालब्धोपचारकै'रिति  
वाक्यात् । 'स्नाद्ब्रह्मसुपलालित'मिति प्रकारकं शयनभोगसुपनीय, ताम्बूलभात्यादिभिरलंकृत्य,  
शयननीराजनां कुर्यात् । ततश्च शय्यामधिशयिते प्रभौ नमस्कृत्य, अनवसरं विधाय,  
यहिर्निःसरेत् । इदमेवोक्तं तत्स्वार्थदीपे 'एककालं द्विकालं वा त्रिकालं वापि पूजये'दिति ।  
ततो यथोचितं प्रसादादि संसेव्य तादृशैः श्रवणकीर्तनादि कुर्वन् परमानन्दमनुभवन्  
विश्रमेदिति दास्यं दिङ्मात्रं प्रदर्शितम् । यद्यपि सख्यात्मनिवेदने हि भगवदङ्गी-  
कारेणैव संपद्येते, तथापि 'तथा निवेदने चिन्ता त्याज्या श्रीपुरयोत्तमे' इत्यत्र निवेद-  
नाङ्गीकारचिन्ताऽभावनिरूपणेनैव सत्यसिद्धिरपि निरूपिता । तथापि साधनदशायां  
निरोधलक्षणोक्तमावनावत् तदनुकूलान्तरङ्गसेवा भावनीया । निवेदनं च ब्रह्मसंयन्ध-  
समये समर्पितानां पदार्थानां यथायथं तत्रैव विनियोगः ॥ २ ॥

सर्वथा व्यावृत्तिराहित्याभावेपि प्रकारमाहुः व्यावृत्तोपीति ।

व्यावृत्तोपि हरौ चित्तं श्रवणादौ न्यसेत्सदा ।

ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवेत् ॥ ३ ॥

वीजं तद्दृश्यते शास्त्रे दृढं यत्रापि नश्यति ।

हरौ सर्वदुःखहर्तारि चित्तं निधायेति व्यावृत्तिसमयेपि 'पानीयहारिणी यद्'दिनिवत्  
हरावेव चित्तं निधाय व्यावृत्तिं कुर्यादित्यर्थः । अनन्तरं च श्रवणादौ सदा यतेत् ।  
इदमेवाभिप्रेत्योक्तं निबन्धे 'सर्वथा वृत्तिहीनशेदेकं यामं हरौ नये'दिति । एवं सर्वदा  
भजतः फलमाहुः तत इति । एवं भजतः प्रथमं भगवति स्नेहः स्यात्, पृथक्को वीजभा-  
वोऽङ्कुरितः स्यादित्यर्थः । ततः क्रमेणासक्तिर्भवेद्, भगवत्स्वरूपे चक्षुरागो भवेत् ।  
तदाङ्कुरो द्विपत्रितो जात इति ज्ञेयम् । ततश्च क्रमेण व्यसनम् । विशेषेण अस्यन्ते तदितरे  
सर्वे विषया येन, तं विना स्यातुमशक्तिरिति यावत्, तद्भवेत् । ततश्च सद्गत्या उत्तरोत्तरं  
पल्लवक्षानीया भविष्यन्ति । एवं व्यसने जाते तदीजं भक्तिशास्त्रे दृढमुच्यते । यद्यस्मा-  
न्नाशहेतावपि यत्र नश्यति ॥ ३ ॥

तत्र हेतुभूतं तस्य साधारणं कार्यमाहुः स्नेहादिति ।



स्नेहाद्रागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद्गृहारुचिः ॥ ४ ॥

गृहस्थानां बाधकत्वमनात्मत्वं च भासते ।

यदा स्याद्वासनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हि ॥ ५ ॥

तादृशस्यापि सततं गृहस्थान् विनाशकम् ।

भगवति स्नेहे जाते गृहादौ तदितरान् सर्वत्रैव रागो निवर्तते, स्नेहपदार्थस्यैव तथात्वात् । तत्रासक्तौ जाताया गृहादावरुचिर्भवति, तत्प्रीतिजनकं न भवतीत्यर्थः । न केवलमरुचिमात्रम्, किन्तु एते मम बाधका अनात्मीया इति बुद्धिर्जायते, इत्याहुः गृहस्थानामिति । सम्बन्धमाने पृष्ठी । गृहस्थितेषु स्त्रीपुत्रादिषु ममताविषयेषु स्पष्टम् । तदेवमासक्त्या सेवते यदा कृष्णे फलरूपे व्यसनं तदितरसर्वविषयनिवृत्तिपूर्वकं तं विना स्यात्तुमशक्तिर्भवेत्, तदा कृतं सम्पादितं अर्थं यदर्थं तनुवित्ताया प्रवृत्तं बीजदाढ्यरूपं पुरुषार्थं येन तादृशं स्यात् । अत एव घृणं तदुच्यते शास्त्रे दृढमिति पूर्वमुक्तम् । एवकारेण अन्यथा तदभावः । तत्सत्त्वेन तत्सिद्धिनिश्चयोपि हिशब्देन सूचितः । एव बीजभावे दृढे जाते यथा द्वितीयाधिकारिणस्स्यात् श्रवणकर्तृत्वस्य साधनमुक्तम्, तदेवास्यापि वक्तुं हेतुमाहुः तादृशस्यापीति । गृहादावरुचिमतोपि बाधकत्वस्फूर्तिमतोपि भगवदेकव्यसनवतोपि निरन्तरं गृहस्थितिर्विशेषेण भावनाशिका ।

अत्रायं भावः । 'स्नेहाद्रागविनाशः स्यादित्यादिना विरागस्योक्तत्वाद् 'यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजे'दिति श्रुतेरवसरस्य प्राप्तत्वात् त्याग उपदिश्यते इति नानुसन्धेयम् । तस्य ज्ञानमार्गीयत्वात् । प्रकृते च पुष्टिमार्गीये बीजभावे दृढे व्यसनात्मके जाते तस्य च तं विना स्यात्तुमशक्तिरूपत्वात् विप्रयोग एवानुभावक इति सततं गृहस्थितौ स्वरूपासक्तस्य आसक्त्या, स्वरूपसेवा कुर्वते, सेवारसावेशेन परमानन्दानुभवेऽस्वास्व्याभावात् पूर्वोक्तो भावः प्रवृद्धो न स्यात्, 'भगवता सह सलाप' इत्यादि सकृन्वा निद्राच्छेदादयश्च दशा न भवेयुः, कं फलरूपमानसीसेवासभावनेति विमृश्य 'त्याग कृत्वे'त्युक्तं श्रीमदाचार्यैरिति तादृशस्यापि सततमित्यादि पदसमभिव्याहारादवगम्यते । अन्यथा सतततादवैयर्थ्यं च । अत एव स्वमार्गीयत्यागस्वरूपमुक्तं सञ्ज्ञासनिर्णये 'विरहानुभवार्थं हि परित्यागः प्रशस्यते । स्वीयबन्धनिवृत्त्यर्थं वेशः सोऽत्र न चान्यथे'ति । त्यागे स्वीयानाबन्धवत्त्वाभावे स वेशोपि न कार्यः इत्याशयेन । अतो नायं वैधस्त्याग इति हृदयम् । तस्मिन् वेशस्यापि अङ्गत्वात् । एतद्यथा तथा सञ्ज्ञासनिर्णये विशेषेण भावनीयम् । अत एव अन्त्याधिकारिणः आपन्नदिक्त्वणे 'त्यागाच्छ्रद्धाफलैर्नान्दित्यादिकं एतत्त्याग उक्तं ॥ ५३ ॥

प्रथमस्यापि व्यसने जाते बीजस्य दृढत्वात् तथाधिकारो जात इति तदेव साधनमाहुः त्यागं कृत्वेति ।

त्यागं कृत्वा गतेष्वस्तु तदर्थायैकमानसः ॥ ६ ॥

लभते सुदृढां भक्तिं सर्वतोभ्यधिकां पराम् ।

बाधकत्वाद्गृहादि सर्वं त्यक्त्वा स एव फलरूपमानसीसेवारूपो योर्थः पुरुषार्थः स एवार्थः प्रयोजनं तस्मिन्नेवैकं मुख्यमेकाग्रं वा मानसं मनो यस्य एतादृशः सन् श्रवणकीर्तने यो यतेत् स सर्वतोधिकां मुक्तेरप्यधिकां परां फलरूपां सुदृढां प्रभुणाप्यनपनोधां भक्तिं लभते । स्वमार्गीयैः सजातीयैरेव श्रवणादिकम्, न तु विजातीयैरन्यमार्गीयैर्वेति धात्वर्थेन ज्ञापितम् ॥ ६३ ॥

त्यागे बाधान्तरमाशङ्क्य परिहरन्ति त्याग इति ।

त्यागे बाधकभूयस्त्वं दुःसंसर्गात्तथाव्रतः ॥ ७ ॥

अतः श्येयं हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परैः ।

अदूरे चित्रकर्षे वा यथा चित्तं न दुष्यति ॥ ८ ॥

सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेत् ।

यावज्जीवं तस्य नाशो न कापीति मतिर्मम ॥ ९ ॥

बाधसंभावनायां तु नैकान्ते वास इष्यते ।

हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः ॥ १० ॥

त्यागानन्तरं स्वमार्गीयत्यागस्वरूपाज्ञानात् सजातीयबुद्ध्या अन्यमार्गीयैः स्वागि-  
भिरिव सद्गो भवेत्, स च दुःसंसर्ग एव, भाववैजात्यात् । तदुक्तसाधनप्रवृत्तौ मार्गीय्युतो  
भविष्यतीत्यर्थः । तथान्नतोपि बाधः । तैः सह सर्वत्र शिक्षया असमर्पितभक्षणेन बाहि-  
मुख्यमेव प्रतिदिनमुपचीयेत्, दूरतरा भाववृद्धिः । अतस्त्यागं कृत्वा हरिस्थाने श्रीगोवर्ध-  
नादौ यत्र पूजाप्रवाहः स्यादित्याद्युक्तम् । तदीयैर्भगवत्संबन्धिभिस्तत्परैः सर्वत्यागपूर्वक-  
सेवाश्रवणकीर्तनपरैर्दृढबीजभावैः सजातीयैः सह श्येयम् । एतेन दुःसंसर्गदोषो निवा-  
रितः । हरिस्थान इति । 'वस्त्रप्रक्षालनादिभिरिति वाक्याद्यथासंभवं सेवापि सूचिता ।  
प्रसादलाभादन्नदोषोपि परिहृतः । स्वमार्गीयश्रवणादिसिद्धिरप्युक्ता । तत्रापि 'अति-  
परिचयादवज्ञे'ति न्यायेन बाधमाशङ्क्य परिहरन्ति अदूरे चित्रकर्षे वेति । स्पष्टम् ।  
निर्गलितार्थमाहुः, यथा चित्तं न दुष्यति तथा श्येयमित्यर्थः । यस्तुतस्तु सेवायामिति,  
सेवायां वा कथायां वा विकल्पे समुच्चये वा, यस्यासक्तिर्दृढा भवेत्, तस्य यावज्जीवं कापि  
भगवत्स्थले अन्यत्र वा, सजातीयेषु इतरेषु वा, तिष्ठतोपि नाशो न भवेदिति मे मतिः ।  
तेन स्वानुभवस्यैव प्रामाण्यमुक्तम् । तथापि 'पाक्षिकोपि दोषः परिहरणीय' इत्याहुः 'बाध-  
संभावनायां तु नैकान्ते वास इष्यते' इति । यस्तुतस्तु 'हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति  
न संशयः' । भक्तानां सर्वदुःखहर्ता हरिः, अन्यथा तथात्वमेव न स्यात् । अत एव

भजने प्रवृत्तस्य सर्वतो रक्षामेव करिष्यति । अत्र संशयो न विधेयः । अत्र विशेषः  
संन्यासनिर्णये द्रष्टव्यः ॥ १० ॥

उपसंहरन्ति ।

इत्येवं भगवच्छास्त्रं गूढतर्यं निरूपितम् ।

य एतत्समधीयीत तस्यापि स्याद्गुढा रतिः ॥ ११ ॥

स्पष्टम् । अथाधुनिकेभ्यः कुटुम्बव्यावृत्तिविशेष्यः स्वकीयेभ्यो महाकारुणिका  
वरदानमिव प्रयच्छन्त आहुः य एतदिति । सेवाश्रवणाद्यसंभवे य एतद्भक्तिवर्धिनीस्तोत्रं  
सम्पगर्थावधारणपूर्वकं समधीयीत तस्यापि बीजभावरूपा स्थापिभावात्मिका रतिर्दंढा  
स्यादित्याशीर्दानम् ॥ ११ ॥

श्रीमदाचार्यकृपया तद्वाचामर्थसङ्गतिः । प्रादुरासीन्मम स्वान्ते तन्मयेत्यं निरूपितम् ॥१॥  
न प्रौढ्या साक्षिणस्तत्र त एव प्रभवो यदि । जीवत्वादन्वया प्रोक्तं क्षमन्तां करुणार्णवाः २  
इति श्रीमद्भक्तिवर्धिनीविवृतिः संपूर्णा ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

## भक्तिवर्धिनी ।

श्रीवल्लभात्मजश्रीबालकृष्णकृतटीकासमेता ।

नत्वा स्वाचार्यचरणौ कृपापात्रं यतो हरेः ।

स्मृत्वा गोपीशचरणौ व्याख्यास्ये भक्तिवर्धिनीम् ॥ १ ॥

व्याख्यानरीतिरपरैर्बहुधा विभिन्ना सिद्धान्तरीतिमतिरेव च नान्यथा सा ।

तत्रापि बोधविशदाशयतानुपद्गादर्थं विशेषमभिधातुमना भवामि ॥ २ ॥

अस्याः कृतेर्मम विनोदहृदा विचारे केचित्परे प्रतिपधीनतया विशन्तु ।

ये तु प्रमेयगतिमेव विभावयन्ति ते भावयन्तु सदयाद्दयाः प्रवीणाः ॥ ३ ॥

इह तावत् श्रीवल्लभाचार्याः स्वप्रकटितपुष्टिमार्गं साधारणकारणत्वाद्ब्रह्मसम्ब-  
न्धस्य तत्करणपूर्वमनुगृहीतानां जीवानां स्वमार्गायालौकिकसाधनातिशयक्रमेण व्यस-  
नान्नास्त्रिद्वारा साक्षाद्भगवत्प्राप्तिरैकैव सर्वेषामिति ज्ञापयितुं भक्तिवर्धिनीनामान् प्रदन्त्य  
व्याचख्युर्यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यादिति ।

यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात्तथोपायो निरूप्यते ।

बीजभावे दृढे तु स्यात्त्यागाच्छ्रवणकीर्तनात् ॥ १ ॥

यथा येन प्रकारेण भक्तिः पुष्टिमार्गीया स्यात् प्रवृद्धा स्वावस्थात्रयापन्ना च स्या-  
 तथा उपायः साधनं निरूप्यते । विशिष्टविधानमेतत् । अयमर्थः । साधनानि तु प्रमा-  
 णचतुष्टये प्रतिपादितानि, परं न तेषां यावत्स्वसाध्यविजातीयार्थहेतुतावधार्यते, तावत्प्र-  
 कृतोपयोगीनि भवन्ति । अतस्तद्धेतुप्रकारक उपाय उच्यते इति । यद्वा । उक्तं च  
 साधनजातं विजातीयार्थेषु तद्व्याकरणिकमिति वाक्येनेष्टार्थे विनियुज्यते । न चात्र  
 प्रमाणामावो न वार्थविरोधः । इतरथा अप्रामाणिकत्वापत्तेः । न कैवं विषयव्यवस्था  
 स्यादिति वाच्यम् । तत्त्वतो विषयद्वैविध्यादेरप्यनङ्गीकारादिति । श्रीभागवतादौ उक्तान्यपि  
 साधनान्यसंभावनाविपरीतभावनाभ्यां नायहेतवो भवन्तीति ते निवार्याधिकारिविशेषवि-  
 पयतया तदुपयोगः कथ्यते इति भावः । अत एव तृतीये कपिलेन 'भक्तियोगो बहुविध'  
 इत्यादिना स्वभावगुणतारतम्येन भक्तितारतम्यं व्याख्याय 'अनिमिक्ता भगवतो'त्यादिना  
 निर्गुणभक्तिरेव स्तूयते । यत्तु कश्चित्प्रमाणचतुष्टये पुष्टिमक्तेस्वासाधनानां चाभावाद्दि-  
 जातीयसाधनन्याख्याप्रतिज्ञेयाह । तत्र । तथा सति पुष्टिमक्तेरप्रामाणिकत्वापत्तेः ।  
 प्रकृतग्रन्थसाधनविरोधात् । 'कश्चिदेव हि भक्तो हि यो मद्भक्त इतीरणात् । सर्वत्रोत्कर्ष-  
 कथनात् पुष्टिरस्तीति निश्चय' इति प्रभुवाक्यविरोधात् । 'गीतायां स्फुटमतः पुष्टिः  
 प्रतिपाद्यते' इति तद्व्याख्यानं च विरुध्यते इति दिक् । नतु कैवं भक्तिर्नाम । न ताव-  
 दाराध्यत्वेन ज्ञातम् । तथा सति ज्ञानविशेषत्वेनाभेदप्रसङ्गात् । न चेष्टापत्तिः । 'तस्मा-  
 न्मद्भक्तियुक्तस्य' ज्ञानिनामपि सर्वेषां मित्यादिदु भेदेनाज्ञानात् । न च श्रवणदितम्मु-  
 द्वापाद्यन्यतमत्वम् । तस्य भक्त्या सजातया मत्स्ये'त्यनेन कारणत्वोक्तेः । नापि वा एतेन  
 सेवापि भक्तिः । न च श्रद्धाविशेषः । तस्याः सङ्कल्पात्मकतया निश्चयात्मकतया  
 वा तद्विन्नभक्तेर्भेदात् । अत एव गुरवः 'श्रद्धातः साधनप्रवृत्तिस्ततः फलं भक्ति'रित्याहुः ।  
 एतमेव श्रद्धाभक्तयोर्भेदमादाय 'श्रद्धावन्तो न भक्तास्ते ये स्वधर्मवर्हिर्मुखाः । सेवा-  
 स्वधर्मं कुर्वाणा भक्तगोष्ठीविरोचका' इति वदन्ति । यत्तु केचित् श्रद्धासहितसेवाकृति-  
 र्भक्तिरिति प्राहुः । तन्न । सेवाकृतेर्भक्तिसाधकत्वम्, न तु भक्तित्वमिति सिद्धान्तात् ।  
 एतेन शमादिपक्षाः प्रत्युक्ता वेदितव्याः । अत्रोच्यते । भगवति निरुपाधि प्रेम भक्ति-  
 रिति । न चाप्रसिद्धिः । आत्मनि प्रसिद्धेः । न च माहात्म्यज्ञानपूर्वकत्वस्य प्रधानवा-  
 क्यगतत्वाद्दुपाधित्वं शक्यम् । तस्य तत्कारणे सेवायामुपक्षीणत्वात् । अत एव माहात्म्य-  
 ज्ञानं सेवायामपराधाभावायोपयुज्यते, न तु भक्तिहेतुत्वेनेति श्रीमद्भक्तिकुलनाथचरणाः ।  
 नन्वेवं ब्रजस्थातां कामाद्युपाधिसंश्लेषेमेति चेन्न । तत्र कामाभावात् । तासां जात्यनुरूप-  
 भगवद्गुणवर्णनस्य तत्रैव विशदत्वात् । भक्तोचितस्वरूपनिष्ठतया वा तादृशगुणकथनस्या-  
 वश्यकत्वमित्यस्य सुवचत्वाच्च । अत एव भक्ताः स्वरूपनिष्ठा एव भवन्ति । न हि तेषां  
 भगवत्स्वरूपातिरिक्तं किञ्चिद्वर्णनीयमस्ति । तदाहुर्गुरुचरणाः 'तदेव हि प्रसिद्धं भग-

वदङ्गीकारो नाम वस्तु यत्कायवाङ्मनसां भगवत्परत्व'मिति । यद्यपि कामानुरूप्या क्रिया दृश्यते, परं न कामः । आहुश्चाचार्याः 'क्रिया सर्वापि सैवात्र परं कामो न विद्यते' इति । यद्यपि 'कामाद्भोष्यः,' 'कामं क्रोध'मित्यादिकथनं तदपि लोकप्रतीतिमापेक्षं चित्तासङ्गस्त्व-  
नम्, न तु साधनताबोधकमिति दिक् । तस्मान्निरुपाधिकं प्रेम भक्तिरिति । सा च द्विधा ।  
आत्ममनोधर्मभेदात् । न चायायां मानाभावः । स्वरूपेण भगवल्लीलाप्रवेशे सद्भाता-  
भावेन तदसम्भवापत्तेः । अलौकिकमद्भातस्वीकारे जीवे निराकारताप्रसङ्गात् । अतो-  
न्ययानुपपत्तिरेव मानम् । न वा किञ्चिद्बाधकं पश्यामः । यतः अंशत्वादिवदैश्वर्यादिसमाना-  
धिकरणो धर्मविशेषो भक्तिरिति युक्तमुत्पश्यामः । मनोधर्मरूपा तु श्रवणादिसाद्गुण्योप-  
कृतिमपेक्षते । यावत्तद्भक्तिमती । तथा पुनः सामिव्यक्ता नेशते परोपकारं स्वात्मनि विना-  
भावविशेषावस्थायां दृष्टान्तीकृतानां भावानुरूपं करणम् । क्रिया हि परतन्ना प्रयत्नाभि-  
लापतो भवति यथा, साप्येवं यतः । अस्ति च नायं प्राणप्रदो धर्मो, विभिद्यन्ते यतो  
नानाविधा गतयः । गतिमामान्यमपि साक्षादेवेति न नियमः, किन्तु पारंपर्यतयापि,  
तदविरोधात् । अतो द्विधा भक्तिः । तत्राद्या विधेयताहीना वृद्धिप्रकारमपेक्षते, अत-  
स्तदुच्यते । ननु वक्ष्यमाणसाधनैः सर्वेषां भगवति कुतो न भक्तिर्वर्धत इति व्यभि-  
चारिशङ्कायामाहुः 'बीजभावे दृढे तु स्यात्यागाच्छ्रवणकीर्तनादि'ति । परमादिसृष्टौ  
भगवतो रमणेच्छातो विस्फुलिङ्गन्यायेन निर्गता जीवाः । तेषां विविधगतितत्साधनानामानु-  
पूर्वाविशिष्टानां सत्त्वासत्त्वे भगवतैव विचारिते । तत्र ये स्वप्राप्तियोग्यतया इच्छाविषयी-  
कृतास्तेषु यत्तादृशेच्छाविषयत्वं स एव बीजभावो नाम । तत्राप्ययं जीवः कतिचिदिनानि  
साक्षान्मत्प्राप्तिसाधनकृत्त्वा ततो निवर्त्यान्वगतिसाधनकृत्त्वादिति चेद्भ्रगवता विचारितं,  
तदा स बीजभावो दृढो न भवति । दृढे तु बीजभावे स्यादुक्तसाधनैः प्रवृद्धा स्यादित्यर्थः ।  
अदृढे तु तस्मिन्न भवेदिति । तदुक्तं गुरुचरणैः 'न हि पदार्थगुणदोषौ वर्णयतोपि  
पुरुषस्य ब्रह्मादेर्भवन्ति विधेयाः प्रवृत्तिनिवृत्त्योः केचिदपि न यावद्विशिष्टेच्छाविषयताश-  
लित्वं धर्मस्येति । अतो दृढे तु बीजभावे तथा स्यात् । तत्र साधनमाहुः त्यागादिति ।  
ऐहिकपारलौकिकयावद्वस्तुनस्त्यागो भगवति स्वमार्गीयप्रकारेण सात्मनः समर्पणं । तस्मात्  
भगवत्प्राप्तीच्छुता प्रथमतो मार्गानुसारेण समर्पणं कर्तव्यम् । मुख्यमिदं साधनं भक्तिवृद्धौ ।  
अत एवैकादशे भगवतोद्भवं प्रत्युक्तम् । 'दारांस्तुतान्यहान्प्राणान्यत्परस्मै निवेदनम् ।  
एवं धर्मैर्भक्तुष्याणामुद्भवत्सन्निवेदिनाम् । मयि सञ्जायते भक्तिः कोन्योर्थोऽसावशिष्यते'  
इति । अन्यत्र च । 'ये दारागारपुत्रासप्राणान्वितमिमं परम् । हित्वा मां शरणं याताः  
कथं तान् त्यक्तुमुत्सहे ।' 'मामुद्दिश्य हित्वे'ति तत्राख्यानम् । तस्मात्सर्वार्पणं भगवति  
कर्तव्यम् । तदुत्तरं साधनमाहुः श्रवणकीर्तनादिति । समाहारे ननुसकत्वम् ।  
आत्मसमर्पणानन्तरं निबन्धोकलक्षणप्रकारकं गुरुमाश्रित्य यत्रात्मसमर्पणं कृतं तस्य

भगवतः स्वरूपज्ञानार्थं स्वस्वरूपज्ञानार्थं भगवति स्वसम्बन्धज्ञानार्थं च भगवन्छास्त्रं श्रोतव्यम् । तेन सकलसंशयनिवृत्तौ भगवति भक्तिर्ददा मवति । तदुत्तरं श्रुतस्वार्थस्य संरक्षणार्थं सति श्रोतरि कीर्तनं कर्तव्यम् । अत्र श्रवणकीर्तनयोः समुचित्य हेतुत्वम्, न तु पार्यक्येन । न च यत्र श्रवणमेव साक्षात्कारकं तत्र व्यभिचारः । तत्र कीर्तनस्मरणजनितार्थस्य जन्मान्तरीयतया सिद्धेः । भगवदनुग्रहो वा तत्र कारणम् । श्रवणादीनां हि दृष्टद्वारकत्वम् । तत्र दृष्टं फलं क्वचित्संशयनिवृत्त्यादि यथायथमवगन्तव्यम् । संशयनिवृत्तौ, (सति सम्भवे) स्मरणं विधेयम् । सति सम्भवे सेवा कार्या । श्रवणं तु लीलात्वेन कर्तव्यम्, तथा कीर्तनं च । तदुक्तं गुरुचरणैः 'निरन्तरं भगवतः स्मरणमेव मुख्यमस्माकम्, श्रवणादिकं तु तदुपकारि, न तु स्वतन्त्रपुरुषार्थः । भक्त्युत्पत्तौ लीलात्वेन श्रवणं तु तनुजा सेवा यथा स्वतन्त्रपुरुषार्थ' इति । सेवा च चैतस्तत्प्रवणमेव, तनुजादिकं च तद्वेतुरिति तत्त्वम् ॥ १ ॥

ननु अनधिकारिणि कथं भागवतार्थो देयः, तदधिकारित्वं च दृढबीजभाववत्त्वमेव, स च कथं ज्ञातव्य इत्याकाङ्क्षायामाहुः सार्धेन बीजदार्ढ्येति ।

बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः ।

अव्यावृत्तौ भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः ॥ २ ॥

उक्तबीजभावदार्ढ्यस्य प्रकारस्तु क्रिया तु । यस्मिन् बीजभावो दृढस्तरिक्रिया तु इयम् । यत् गृहे स्थित्वा अनुकूले गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः आत्मधर्मोपपत्तिं ज्ञात्वा अव्यावृत्तः सन् यथालाभसन्तुष्टः सन् कृष्णं सदानन्दं मजेत् । अनुदितमुख्यमकेन साधनदशापन्नेन गृहस्थाश्रमे स्थातव्यम् । तत्र स्थित्वा सन्देहमकृत्वा दृढविश्वासेन कृष्णं यथालग्नोपचरैर्भजेत् सेवेत, भज सेवायामित्यर्थकत्वात् । ननु गृहस्थाश्रमः सन्निपातरूपः कथं भगवद्भक्तिं साधयेदिति चेत्, मैवम् । 'भयं प्रमत्तस्य वनेष्वपि स्यात्' 'नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति किञ्चित्' 'प्राप्य पुण्यकृतांशुका'नित्यादिवाक्यैर्भगवदर्थिनो गृहाश्रमेपि सदर्थसिद्धेः । तस्मादप्राप्तवक्ष्यमाणलक्षणभक्तिना गृहस्थाश्रमे तदुपायः कर्तव्यः । तत्राप्ययं विशेषः । गृहाश्रमावस्थानं सिद्धगृहाश्रमस्यैव, न तु सिद्धप्रणष्ट-तत्कसासिद्धतत्कस्य वा । तदपि भजनं स्वधर्मत्वेन कर्तव्यं न तु धर्मत्वेन । तथा सति अन्यशेषत्वेनाभक्तित्वं स्यात् । अत एव गुरुवः 'कर्माङ्गत्वेन क्रियमाणस्मरणदेः कर्माङ्गत्वमेव, अर्थात्कर्मत्वमेव, न भक्तित्व'मिति । अत्र गृहस्थानविधानेन स्वगृहाधिष्ठितस्वरूपभजनपरित्यागेनान्यत्र तत्करणे भक्तिर्न भवतीति सूचितं भवति । तत्रापि मज्जेन फलमुखमङ्गमुपदिशन्ति अव्यावृत्त इति । सर्वव्यावृत्तिं परित्यज्य कृष्णः सेव्यः । आष्टायामिकः कालो भगवद्भक्त्यैव नेयः । सेवासमये सेवा कर्तव्या, अवशिष्टकाले श्रवणादिकं यथासम्भवं कर्तव्यम् । न तु व्यावृत्त्या कालक्षेपः क्षणमपि कर्तव्यः ।

‘निद्रया हियते नक्त’मित्यर्थ । यद्वा । व्यावृत्तिः सर्ववस्तुविषयकः सोऽयमो मनोरथः, सर्वथा तद्रहितोऽव्यावृत्तो भवेत् । सर्वेच्छा परित्यज्य निश्चितचेतसा स्वधर्मत्वेन कृष्णः सेव्य, न तु पूज्य । पारिभाषिकश्चाय भेदो द्रष्टव्यः । यदि अव्यावृत्तो न भवेत्, तदा भगवत्सेवनं केवलं स्वमाहात्म्येन यथासम्भवं पापादि निवर्तयेत्, न तु उक्तं फलं साधयेदित्यर्थः । न ह्यन्यचेतसा कृतं कृतमित्यभिमतव्यम् । अतो भगवदर्थिना त्रिकालं भगवत्सेवासमये तु अवश्यमव्यावृत्तेन भवितव्यम् । तत्र कामचारः । ननु सेवा कर्तव्या, न तु पूजा । सा च कथं कथं कर्तव्या । किं स्वशरीरधर्मतत्समानधर्मत्वेनोपचर्यया, बाहोस्त्रिघथेच्छभागनादिरीत्या वेति सन्देहे प्राहुः पूजयेति । अत्र तद्गुणसंविज्ञान-दुर्व्रीह्याश्रयणादनुक्तसिद्धोपादानत्वेऽपि पूजायाः पृथगुपादानमुक्तभेदतन्त्रम् । तेन सेवा-प्राधान्येन श्रवणादिनवकं विधेयमित्युक्तम् । अपमर्थः । इतिकर्तव्यताकाङ्क्षायां तु तादृशकोपचारा उपयुक्ता, तत्रापि यत्प्रेमविरोधिं तत्र कर्तव्यम्, यथा नित्यं शीतोदकस्नानादि । प्रमाणबलात्पक्षेक्षया प्रमेयबलावलस्याधिकत्वेन स्थापितत्वात् । यथासम्भवं चतुःषष्टि उपचाराः प्रत्यहं कर्तव्याः । अपरञ्च । त एवोपचारा भक्तिमार्गे तदीयत्वेन कर्तव्याः, न तु स्वीयत्वेन, धर्मवत् । तथा सति न भक्तित्वं स्यात् । भगवन्मन्त्राद्युपयोगश्चाश्रयविशेषावधारणेन कर्तव्यत्वेन व्याख्यातः । यत्तु कथितं पञ्चरात्रादिभगवच्छा-स्रतत्त्वानभिज्ञं । पूजामार्गाया उपचारास्तत्साधनानि मन्त्रादीनीति न तानि पुष्टिमार्गे उपयुज्यन्ते, कथञ्चिदपि तदुपयोगे भिन्नमार्गावित्त्वं स्यात्, अन्यथा पूजापूजाभक्तिमार्ग-योरविशेषापत्तेरित्याह । तन्मतिमान्यादेव । भावविशेषात्पारिभाषिकभेदादेव तत्सिद्धेः । इतिकर्तव्यताकाङ्क्षाया अनुपरमात् । अप्रामाणिकत्वापत्तेः । ‘भगवच्छास्त्रं गीता मागवत पञ्चरात्रं चे’ति सिद्धान्तग्रन्थविरोधात् । भेदस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वाच्चेति दिक् । यद्वा । पूजया श्रवणादिभिर्वेति गृहस्थविधुरादिभेदेन पदार्थद्वयोपदेशः । ‘अधिकारिभेदेनो-पदेशा भिद्यन्त’ इति सिद्धान्तात् ॥ २३ ॥

ननु यदि व्यावृत्तं सादृश्यादिद्वानितधेयत प्राहुः व्यावृत्तोपीति ।

व्यावृत्तोपि हरौ चित्तं श्रवणादौ यत्तेत्सदा ।

ततः प्रेम तथासक्तिर्ध्वसनं च यदा भवेत् ॥ ३ ॥

धीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यन्नापि नश्यति ।

नीचाश्रयणादिनिन्दितवृत्तिस्तु नादरणीया । अतिरिक्तवृत्त्या जीवेत । सा च दुःसाध्या यदि, तदा अवश्यं व्यावृत्तो भवति, तदा हरौ भगवदर्थं श्रवणादौ चित्तं निधाय यतेत् । सर्वथा याममानं कालो भगवति विनियोज्यः । श्रवणादियुः प्रियुः पाल्यमानमे-कमादेहावसानं दृष्टार्थम् । अतस्तेषु यतेत् । तथापि ‘अन्ये त्वेवमजानन्तं श्रुत्वान्येभ्य उपासते । तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युः श्रुतिपरायणा’ इति वाक्यात्ते भगवन्तं प्राप्स्यन्त्येव ।

अत एव तत्त्वदीपे भगवदाचार्यैरुक्तं 'सर्वथा वृत्तिहीनश्चेदेकं यामं हरौ नये'दिति । एव समर्थासमर्थभेदेन गृहस्थविधुरादिभेदेन च दृढबीजभावत इतिकर्तव्यता व्याख्याता । इदानीमवसरप्राप्त उक्तत्यागादिसाधनफल निरूपयन्ति ततः प्रेमेति । ततस्त्यागादिसाधनानां यथाभावप्रकारानुष्ठानानन्तरं प्रेम भवति, निरुपाधिकः स्नेहो भवति, यथा स्वहेयोपादेयवस्तूनि भगवति तथा विनियुज्यन्ते । स्वात्मवद्भगवदुपचारकारको भावविशेषः । तत्र जाते सर्वत्रौदासीन्यं स्यात् । तदुत्तरं तादृशभाववता तथैव सेवायां क्रियमाणायामासक्तिर्भवति । अत्र तादृशानुपूर्वीविशिष्टैवासक्तिर्विधीयते । न तु स्वरूपतो भेदः । अन्यथा 'आसक्तिः प्रेमपूर्वैव, प्रेमापि हरिणा कृतमिति विरुध्येत । आसक्तौ हि सर्वेषु अरुचिर्भवति । यथा 'चित्तं सुखेन भवते'ति । ततो यदा पुनरासक्तिरेवावस्थातो व्यसनमपि भवेत्, तदा कृतार्थः स्यात् । परा काष्ठा भक्तेः सैव यद्व्यसनम्, यथा 'तन्मनस्कास्तद्रालापा' इत्यादि । अवस्थाविशेषं यावद्भावः कुतो न मध्ये कालादिमिरूपद्वन्द्वत इत्यत आहुः बीजमिति । भक्तिशास्त्रे बीजं बीजभावः एवोच्यते, तदपि दृढं यत्रापि नैव नश्यति, देशकालादिभिर्न तस्य नाशः । अनेकजन्मभिरपि न तस्य नाशः, किं पुनरन्यैरित्यर्थः ॥ ३, ३१ ॥

इदानीं प्रेमासक्तिकार्यं तदनुभाषकमाहुः स्नेहादिति ।

स्नेहाद्रागविनाशाः स्यादासक्त्या स्याद्गृहहारुचिः ॥ ४ ॥

गृहस्थानां बाधकत्वमनात्मत्वं च भासते ।

यदा स्याद्व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हि ॥ ५ ॥

यदि भगवति स्नेहस्तदा पुत्रदारपनदेहादिषु योनुरागश्चित्तव्यासङ्गः स नश्यति । मनः सर्वांशेन भगवदुपयुक्तं नान्यत्र सञ्जते इत्यर्थः । आसक्त्या पुनर्गृहे अरुचिः, कदा पुनरिदं गच्छेद्येनाहं विमुक्तः साम् । गृहे इति यावदात्मीयोपलक्षणम् । सर्वं न रोचत इत्यर्थः । प्रेमासक्तयोः फलद्वयं प्रत्येकमाहुः गृहस्थानामिति । अत्र निर्धारणे पृष्ठी, तत्र हेतुबाधकत्वं गुणः । गृहस्थाः स्त्रीपुत्रादयस्तेषां बाधकत्वम्, एते सर्वथा लौकिका उत्पन्नभावनाशका इति भासते । यद्वा । सम्बन्धसामान्ये पृष्ठी । तथा च गृहस्थसम्बन्धि यद्बाधकत्वं ततदैव भासते, नान्यथेत्यर्थः । गृहस्थपदं प्रवृत्तिमार्गनिष्ठमात्रोपलक्षकमजहलक्षणपेति च सम्यक् । एषा पुत्रनात्मत्व अनारम्भित्वं वा आगमायापित्वमित्यर्थः । तद्भासते । अत्र यावत्प्रेमासक्तयोः सम्भव विरोधिधर्मवतस्तविरोधानं सम्भवति । उत्पन्ने तु व्यसने साधनमसाधनं वा तुल्यमित्याहुः यदा स्याद्व्यसनमिति । भगवति हृदयाकाशे सर्वांशेन प्रादुर्भूते तदानन्दसम्पत्त्या व्यसनं जायते, अतः फलान्तराभावादिहेवानुभूतफलो विशिष्टेच्छावशतो देहादि विदधन् प्रतिक्षणं जायमानाद्विधिपरमानन्दसम्पत्कीदृगलितवैधान्तरविज्ञानक्षिणुण्डीनः कृतकृत्यः कर्मविपुटीविहीनः परमात्मन्येव रमते ॥ ४, ५ ॥



ननु जातव्यसनावस्थेन गृहे स्थेयं न वेत्याकाङ्क्षायामाहुः तादृशस्यापीति ।

तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशकम् ।

एवं भक्तेः पराकाष्ठां विधुरगृहससाधनाधिकारियोग्यतापुरःसरं निरूप्य विरक्तस्य गृहाश्रमेच्छारहितस्य ब्रह्मचारिणो भगवदर्थिनो यतेश्च साधनमाहुः त्यागं कृत्वेति ।

त्यागं कृत्वा यतेचस्तु तदर्थार्थैकमानसः ॥ ६ ॥

लभते सुदृढां भक्तिं सर्वतोभ्यधिकां पराम् ।

तुशब्दोधिकारिविशेषन्यावृत्त्यर्थः । य इति दुर्लभाधिकारः सूचितः । सर्वस्य लौकिकस्य त्यागं कायवाङ्मनसा कृत्वा यतेत् । यन्नश्च प्राप्तमद्यस्मरणकीर्तनाराधनभगवलिङ्गादिदर्शनादिपरायणतैव । सद्यप्रतिबन्धस्याद्यप्रतिबन्धस्य चैतन्मार्गपक्षपातिना भगवतैव निवृत्तत्वात्सुदृढां केनाप्यनपनोद्यां भक्तिं लभते । अतः भगवदधीनत्वबोधायानुवादो, न तु विधानम् । तत्रापि यदि अन्यशेषत्वेन लोकान्तरापेक्षया मुक्त्याद्यपेक्षां कुर्यात्, तदा उक्तस्वरूपां तां न लभते इति अनवयतादृशतत्प्राप्तौ अधिकारिविशेषणमाहुः तदर्थेति । भगवद्रूपो योर्धस्तदर्थ एषैको मानसे यस्य स तथा । अत्र द्वितीयार्थपदेन तद्रूपस्यैव पुरुषार्थत्वेन ज्ञानं तद्धेतुर्नान्यथेति सूचितम् । सापि भक्तिर्न मनोधर्मरूपा, अपि तु आत्मधर्मरूपा, तां प्राप्नुयादित्याहुः परामिति ॥ ६, ६३ ॥

एवं विशिष्याधिकारं व्याख्याय साधनं अद्यकालादेर्भगवन्मार्गं प्रतिबन्धकत्वाभावात् दृष्टं प्रतिबन्धकं प्रदर्श्य तन्निवृत्तिप्रकारपूर्वकं गुणाधानमाहुः त्यागे बाधकेति ।

त्यागे बाधकभूयस्त्वं दुःसंसर्गात्तथाघ्नतः ॥ ७ ॥

अतः स्थेयं हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परैः ।

अदूरे विप्रकर्षे वा यथा चित्तं न दुप्यति ॥ ८ ॥

गृहत्यागे कृते भक्तेर्बाधकानि भूयांसि संभवेयुः । दुःसंसर्गो भवति, तेन भक्तिविषयेऽसम्भावना विपरीतभावना वा उत्पद्यते, द्वयं वा । तेन भक्तिमार्गायप्रकारकाचरणाभावाद्भक्तिर्नोत्पद्यते । दुःसंसर्गो वा एकाकिनो वनितादिसङ्गः, तेन विषयावेशे भक्तेरनुद्भवः । उक्तं च भगवता 'सङ्घात्सङ्घायते काम' इत्यादि । अथवा, दुष्टानामवैष्णवानां संसर्गात्तैः सर्वथा भक्तिनाशो भवेत् । यथैव दुःसंसर्गः सर्वथा बाधकः, तथा अवैष्णवानामनीदृशानामन्नतः अन्नमक्षणतः, अवैष्णवानां जलपानेन भक्तिर्नोत्पद्यते । अत एव धृतवराहरूपेण भगवता पृथ्वीं प्रत्युक्तं 'वैष्णवो यस्तु मोहेन पचेदन्नमनुत्तमम् । अवैष्णवाग्निना देवि तन्न भुञ्जे यथा विषम' । अन्यत्र च । 'वस्तु यद्वैष्णवं किमिद्यदि पश्येदवैष्णवः । न तन्मन्युपसुञ्ज्येत पुंसि स्त्रीव रजस्वला' । तस्माद् दृष्टभेदेन प्रतिबन्धं व्याख्याय तन्निवृत्तायुपायमाहुः अतः स्थेयमिति । यत उक्तरीत्या भक्तिप्रतिबन्धो

भवेत्, अतो हरिस्थाने पुरुषोत्तमस्थाने ब्रजे वा श्रीरङ्गधामपुरुषोत्तमक्षेत्रद्वारावतीव-  
दर्याश्रमवैङ्कटादिषु वा श्लेषम् । तत्रापि विविधानां समागमनात्साधनदशापन्नत्वाच्च  
स्वस्य न सर्वैः सदृश्यात्वम्, उक्तदोषापत्तेः, किन्तु तदीयैर्भगवदीयैर्न तु कर्मिष्ठादि-  
भिर्वा । तत्रापि दीक्षादिकं परिगृह्य केवलं व्याख्यातारः प्रतिष्ठाप्रेक्षका लोकसङ्ग्रहार्थम्,  
तेर्न स्यात्वम्, किन्तु तत्परैः कृष्णपरायणैः सेवाश्रवणकीर्तनादिना । अत्र सर्वात्मना  
भगवति चित्तव्यासङ्गो मुख्यं साध्यम्, तथा सिध्येत्, तथा विधेयम् । तादृशस्यलेपि  
तत्रैव न श्लेषम्, किन्तु दूरे दूरभिन्ने दूरसदृशे । अथाधिप्रकर्षे वा । विवक्षितं तात्पर्यमाहुः  
यथा चित्तं न दुष्यतीति तथा विधेयम् । चित्ते दोषो बाहिर्मुख्यमभगवत्परत्वमिति  
यावत्, तथा न स्यात्, तथा यतनीयम् ॥ ७, ८ ॥

ननु भगवत्सेवाया अभावात्तस्याधमत्वमिति चेत्त्राहुः सेवायां चेति ।

सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेत् ।

यावज्जीवं तस्य नाशो न कापीति मतिर्मम ॥ ९ ॥

बाधसंभावनायां तु नैकान्ते चास इष्यते ।

हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः ॥ १० ॥

न वयं तनुजावित्तजाघ्न्यतमसेवायामेव फलत्वं ब्रूमो येन यतिप्रथमानामधमत्वं  
स्यात्, किन्तु भगवत्प्राप्तिं तत्साधनं च भक्तिनिरुपाधिकप्रेमात्मिकैवेति तस्यामेव  
फलान्तरीयकत्वात् । किमायातमेतावता साधनकलापमनुष्ठादणामुत्तमादिविभेदे उक्त-  
श्रद्धासाधनप्रवृत्तितारतम्यातिरिक्तं हेतुत्वेन । अतः सेवायां द्विविधायामपि गृह्यस्व,  
कथायां साम्प्रदायिकगुरुकृपाकटाक्षपूर्वकगृहीतसाम्प्रदायिकगतिना कृतायां यतेर्ब्रह्मचारिणो  
वा यस्य कस्यचिद्भगवदनुगृहीतसासक्तिर्दृढा, केनापि अनपनोद्या हर्षविषादादिनाप्यनप-  
नोद्या भवेत् । ननु इदानीन्तनानां दृश्यते सेवायासक्तिः, कथं न भक्तिरुत्पद्यते इत्या-  
शङ्कयामाहुः यावज्जीवमिति । भगवन्मार्गप्रेवशमारभ्य यावद्देहावसानमावर्तमानानामेव  
श्रवणादीनां पदार्थत्वम्, न तु सकृत्कृतानामिति भावः । य एतादृशस्तस्य कापि देशे  
काले नाशो नाम स्वरूपप्रच्युतिर्न स्यात्, यत्र कापि निन्दिते देशादौ तिष्ठेत्सर्वथा  
मुक्तो भवेत्, किं पुनरुत्तमेनूक्ते उक्तविधे देशादावित्याचार्याः स्वयं वदन्ति मम  
मतिर्मतं सिद्धान्तः । नात्र सन्देहः कर्तव्य इति तत्त्वम् । ननु विप्रकर्षे श्लेषमित्युक्तम्,  
तत्र च दुष्टैर्यैर्वा जन्तुभिः सर्वथा बाधः सम्भाव्यते, तत्कथं विप्रकर्षे एकान्ते  
श्लेषमित्यत्राहुः बाधसम्भावनायां त्विति । तेन बाधसम्भावं यत्र न स्यात्, तादृशं  
स्थलं विमृग्य श्लेषमिति सूचितम् । वस्तुतस्तु अमायया भगवदर्थमेकान्ते वसतः  
केनापि बाधो न सम्भवतीत्याहुः हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः ।  
एतेन 'चीराणि किं पथि न सन्ति' 'अनन्याश्चिन्तयन्तो मां' 'मक्तापातिप्रपन्नाय'

'तथा न ते माधव तावका' इत्यादिप्रमाणपुर सर सर्वथा निर्भयतया निश्चित्य खेयम्,  
विश्वस्य भगवदर्थिनेति तत्त्वमुपदिष्टमिति ज्ञेयम् ॥ ९, १० ॥

एव ग्रन्थमुपदिश्योपसहरन्ति इत्येवं भगवच्छास्त्रमिति ।

इत्येवं भगवच्छास्त्र गूढं तत्त्वं निरूपितम् ।

य एतत्समधीयीत तस्यापि स्याद्गूढा रतिः ॥ ११ ॥

इति उक्त एवमनेन प्रकारेण भगवच्छास्त्रे यद्गूढं तत्त्वं तन्निरूपितम् ।  
भगवच्छास्त्रं गीता भागवत पञ्चरात्र चेति त्रिकम् । तत्सिद्धान्त एतावानेवेत्यर्थः ।  
गूढतत्त्वमिति विशेषणोप्ययमेवार्थः । उपसहस्यैतत्पाठकर्तुर्यानुसन्धानपूर्वकं पठितुरपि  
फलमाहुः य एतत्समधीयीत तस्यापि स्याद्गूढा रतिः । ग्रन्थानुसन्धा  
नात्तत्प्रवृत्त्यादिक्रमेणोक्तं फलं सर्वथा सेत्स्यतीति भावः ॥ ११ ॥

जिज्ञासितन्यमिदमुत्तमभक्तिचित्तैः सिद्धान्तरीतिमनुसृत्य मयातियत्नात् ।

ह्यस्य निवन्धनमसौ विबुधेषु याज्या दूष्य वचो यदि तदा प्रथमं विभाव्यम् ॥ १ ॥

वारन्धमर्थधिपणैरनवद्यमेव व्याख्यासु कौशलकलानिपुणत्वमेव ।

तच्चैच्चिरं भवति तत्कृतकृत्यता स्याद्गोपालपादकमलद्वयसनिधिष्टम् ॥ २ ॥

सवत्सरे सप्तदशेतिरम्ये वर्षे शरश्रीपतिहस्तसख्ये ।

दिने तथा श्रावणकृष्णपञ्चद्वयीकृतेसौ विवृतं प्रबन्धः ॥ ३ ॥

काह मन्दमतिः काय प्रयन्धस्तत्त्वसङ्ग्रहः ।

शिशुना मासते रम्य तथापि कलभाषणम् ॥ ४ ॥

इति श्रीबल्लभात्मजश्रीपालकृष्णकृतभक्तिवर्धिनीटीका समाप्ता ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

## भक्तिवर्धिनी ।

श्रीगिरिधरकृतविवृतिसमेता ।

श्रीविठ्ठलपदाश्रया सर्वाभीष्टप्रदानं स्वतः ।

शब्दैः सक्षेपतोर्थैस्तु व्याख्यासे भक्तिवर्धिनीम् ॥ १ ॥

अथ श्रीबल्लभाचार्यचरणा परमकृपालवो भगवद्भक्ते कल्पतरुस्वभावत्वात् तत्त्वमेव  
वदन्त स्वीयानां स्वमार्गीयभक्तिवत्पतरोर्जावापमारभ्य फलपरिपाकपर्यन्तं प्रवृ-  
त्त्युपायं प्रतिजानते ध्येति ।

यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात्तथोपायो निरूप्यते ।

बीजभावे दृढे तु स्यान्त्यागाच्छ्रवणकीर्तनात् ॥ १ ॥

येन प्रकारेण भक्तिः प्रकर्षेण वृद्धिं प्राप्ता स्यात्, तत्प्रकारकोपायो निरूप्यते इत्यर्थः । अत्रोपायत्वाविशेषात् जात्यभिप्रायेणैकवचनम् । तेन क्रमेणोसरोत्तरं दृढतरतमास्त्रिप्रकारका उपायाः सन्तीति तानाहुः । तत्र प्रथमं बीजस्य दृढत्वे सत्येवाग्रे तरोरप्यविनाशित्वं भवति, नो चेद्वातादिवशान्महानपि तरुर्नश्यत्येव । अतस्तमुपायमाहुः योजेति । बीजभावः श्रीमदाचार्यकृतभगवन्निवेदनानन्तरं तन्मार्गानुसारेण भगवत्स्वरूपनिष्ठास्वरूपः, स यदा दृढो भवति, तदा भक्तिः प्रवृद्धा स्यादिति प्रथमः । तदनन्तरं त्यागात् गृहादिसर्वधस्तुनस्त्यागे कृते सा दृढतरा स्यादिति द्वितीयः । ततः श्रवणकीर्तनात् भगवद्गुणरूपलीलादीनां स्वदेहादिसर्वविस्मरणपूर्वकं तद्रसपरवशतया श्रवणकीर्तने सिद्धे सा दृढतमा स्यादिति तृतीयः ॥ १ ॥

ननु दृढबीजभावः को वा तस्य दाढ्यं प्रकारश्च को वेत्याशंक्य पूर्वं सोरेयं बीजदार्यप्रकारं ततो बीजभावस्वरूपं चाहुः बीजदार्यभकारस्त्विति ।

बीजदार्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः ।

अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः ॥ २ ॥

त्वन्तत्वादेतत्प्रकारप्रवृद्धभावस्य विघातकोपि वक्ष्यमाणपदार्थोस्तीत्यस्याप्रौढत्वमुक्तं भवति । तथाचायमप्येकः प्रकारो भवतीति तं पूर्वमुद्दिश्याग्रे प्रकारमाहुः गृहेति । स्वगृह एव स्थितः सन् स्वधर्मतः जीवस्य ये वैधा वर्णाश्रमधर्मास्तेभ्योऽव्यावृत्तोऽप्युप्यावृत्तिरहितः सन् विशेषेणावृत्तिः सततं तद्दर्मेभ्येवासक्तिपूर्वकं वाङ्मायमनसां परिभ्रमणं तद्रहितः पुष्करपत्रवत् तत्र स्थितोऽपि तान् लोकसंग्रहार्थं यथाकथञ्चित् कुर्वन्नपि तेष्वसक्तः सन्, पूजया तनुवित्तजया सेवया श्रवणादिभिरष्टप्रकारैश्च कृत्वा कृष्णं सदानन्दं पुरुषोत्तमं भजेत् सेवेत । एतेन लौकिकधर्मव्यावृत्तिं विहाय पूजाश्रवणादिभगवद्दर्मेभ्येव व्यावृत्तः स्यादित्यर्थः । अत एव श्रीभागवते 'तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावते' त्वर्षेण मर्यादामार्गीयस्य कर्माचरणमर्यादामुक्त्वा, अग्रे व्यवस्थया भक्तिमार्गीयस्यापि तामाहुः 'मत्कथाश्रवणादौ वा यावच्छ्रद्धा न जायत' इति । अतो भगवद्दर्मेषु व्यावृत्तस्य लौकिकधर्माव्यावृत्तिर्युक्तैव । अथवा स्वधर्मतः अव्यावृत्तः अनिवृत्तः सन् । पूर्वदशायां चित्तशोधकत्वेन तेषामुपयोगात् । तदुक्तमेकादशे 'अस्मिन्नोके वर्तमानः स्वधर्मस्तोऽनघः शुचिः । ज्ञानं विशुद्धमाप्नोति गद्गतिं वा यदच्छये'ति ॥ २ ॥

किञ्च, न केवलं भगवद्दर्मेक्षिनिमानेणाहं कृतार्योस्मि, नातः परमधिकं किञ्चिदस्तीति मन्तव्यम्, किन्त्वग्रे धर्मिसम्बन्धयपि किञ्चित् कर्तव्यमेवेत्याहुः व्यावृत्तोपीति ।

‘तथा न ते माधव तावका’ इत्यादिप्रमाणपुरःसरं सर्वथा निर्भयतया निश्चित्य स्वयम्,  
विश्वस्य भगवदर्थिनेति तत्त्वमुपदिष्टमिति ज्ञेयम् ॥ ९, १० ॥

एवं ग्रन्थमुपदिश्योपसंहरन्ति इत्येवं भगवच्छास्त्रमिति ।

इत्येवं भगवच्छास्त्रं गूढं तत्त्वं निरूपितम् ।

य एतत्समधीयीत तस्यापि स्याद्गूढा रतिः ॥ ११ ॥

इति उक्त एवमनेन प्रकारेण भगवच्छास्त्रे यद्गूढं तत्त्वं तन्निरूपितम् ।  
भगवच्छास्त्रं गीता भागवतं पञ्चरात्रं चेति त्रिकम् । तस्मिद्धान्त एतावानेवेत्यर्थः ।  
गूढतत्त्वमिति विशेषणेष्वयमेवार्थः । उपसंहृत्यैतत्पाठकर्तुर्यानुसन्धानपूर्वकं पठितुरपि  
फलमाहुः य एतत्समधीयीत तस्यापि स्याद्गूढा रतिः । ग्रन्थानुसन्धा-  
नात्तत्प्रवृत्त्यादिक्रमेणोक्तं फलं सर्वथा सेत्स्यतीति भावः ॥ ११ ॥

जिज्ञासितव्यमिदमुत्तमभक्तिचित्तैः सिद्धान्तरीतिभनुसत्य मयातियलात् ।

ह्रसं निबन्धनमसौ विबुधेषु याञ्जा दूष्यं वचो यदि तदा प्रथमं विभाष्यम् ॥ १ ॥

आरन्धमर्थधिपणैरनवद्यमेव व्याख्यासु कौशलकलानिपुणत्वमेव ।

तच्चैच्चिरं भवति तत्कृतकृत्यता स्याद्गोपालपादकमलद्वयसंनिविष्टम् ॥ २ ॥

संबत्सरे सप्तदशेतिरम्ये वर्षे शरश्रीपतिहस्तसंख्ये ।

दिने तथा श्रावणकृष्णपञ्चद्वयीकृतेसौ विवृतः प्रपन्धः ॥ ३ ॥

काहं मन्दमतिः कायं प्रपन्धस्तत्त्वसद्ग्रहः ।

शिशुनां भासते रम्यं तथापि कलभापणम् ॥ ४ ॥

इति श्रीबल्लभात्मजश्रीबालकृष्णकृतभक्तिवर्धिनीटीका समाप्ता ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

## भक्तिवर्धिनी ।

श्रीगिरिधरकृतविवृतिसमेता ।

श्रीविठ्ठलपदाज्ञत्वा सर्वाभीष्टप्रदान् स्ततः ।

शब्दैः संक्षेपतोर्थैस्तु व्याख्यासे भक्तिवर्धिनीम् ॥ १ ॥

अथ श्रीबल्लभाचार्यचरणाः परमकृपालवो भगवद्भक्तेः कल्पतरुस्वभावत्वात् तत्त्वमेव  
वदन्तः स्त्रीयानां स्वमार्गीयभक्तिकल्पतरोर्वाजावापमारभ्य फलपरिपाकपर्यन्तं प्रवृ-  
द्भुपायं प्रतिजानते यथेति ।

यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात्तथोपायो निरूप्यते ।

बीजभावे दृढे तु स्यान्त्यागाच्छ्रवणकीर्तनात् ॥ १ ॥

येन प्रकारेण भक्तिः प्रकर्षेण वृद्धिं प्राप्ता स्यात्, तत्प्रकारकोपायो निरूप्यत इत्यर्थः । अनोपायत्वाविशेषात् जालमिप्रायेणैकवचनम् । तेन क्रमेणोत्तरोत्तरं दृढतरतमाक्षिप्रकारका उपाया सन्तीति तानाहुः । तत्र प्रथमं बीजस्य दृढत्वे सत्येवाग्रे तरो-रप्यविनाशित्वं भवति, नो चेद्वातादिवशान्महानपि तरुर्नश्यत्येव । अतस्तमुपायमाहुः बीजेति । बीजभावे श्रीमदान्नायैकृतमगवन्निवेदानन्तरं तन्मार्गानुसारेण भगवत्स्वरूपनिष्ठारूप, स यदा दृढो भवति, तदा भक्तिः प्रवृद्धा स्यादिति प्रथमम् । तदनन्तरं त्यागात् गृहादिसर्ववस्तुनस्वाग्रे कृते सा दृढतरा स्यादिति द्वितीयम् । ततः श्रवणकीर्तनात् भगवद्गुरुरूपलीलादीनां स्वदेहादिसर्वविस्मरणपूर्वकं तद्रसपरवशतया श्रवणकीर्तने सिद्धे सा दृढतमा स्यादिति तृतीयम् ॥ १ ॥

ननु दृढबीजभावः को वा तस्य दाढ्यं प्रकारश्च को वेत्याशङ्क्य पूर्वं सोदेश बीजदाढ्यप्रकारं ततो बीजभावस्वरूपं चाहुः बीजदाढ्यप्रकारस्त्विति ।

बीजदाढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः ।

अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः ॥ २ ॥

तन्तत्त्वादेतत्प्रकारप्रवृद्धभावस्य विधातकोपि वक्ष्यमाणपदार्थोक्तीत्यसाम्प्रोढत्वमुक्तं भवति । तथाचायमप्येक प्रकारो भवतीति तं पूर्वमुद्दिश्याग्रे प्रकारमाहुः गृहेति । स्वगृह एव स्थितं सन् स्वधर्मतः जीवस्य ये वैधा वर्णाश्रमधर्मास्तेभ्योऽव्यावृत्तस्तेषु व्यावृत्तिरहितं सन् विशेषेणावृत्तिं सततं तद्दर्शनेवासक्तिपूर्वकं वाङ्मयमनसा परिभ्रमणं तद्रहितं पुष्करपत्रवत् तत्र स्थितोऽपि तान् लोकसंग्रहार्थं यथाकथञ्चित् कुर्वन्नपि तेष्वसक्तं सन्, पूजया तनुवित्तजया सेवया श्रवणादिभिरष्टप्रकारैश्च कृत्वा कृष्णं सदानन्दं पुरुषोत्तमं भजेत् सेवेत । एतेन लौकिकधर्मव्यावृत्तिं विहाय पूजाश्रवणादिभगवद्दर्शनेव व्यावृत्तं स्यादित्यर्थः । अत एव श्रीभागवते 'तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावते' त्यर्थेन मर्यादामार्गीयस्य कर्माचरणमर्यादामुक्त्वा, अग्रे व्यवस्थया भक्तिमार्गीयस्यापि तामाहुः 'मत्कथाश्रवणादौ वा यावच्छ्रद्धा न जायत' इति । अतो भगवद्दर्शने व्यावृत्तस्य लौकिकधर्मव्यावृत्तिर्युक्तेव । अधवा स्वधर्मतः अव्यावृत्तः अनिवृत्तं सन् । पूर्वदश्यायां चित्तशोधकत्वेन तेषामुपयोगात् । तदुक्तमेकादशे 'अस्मिन्नल्लोके वर्तमानं स्वधर्मस्योऽनघं शुचिः । ज्ञानं विशुद्धमाप्नोति मद्भक्तिं वा यदच्छेपे'ति ॥ २ ॥

किञ्च, न केवलं भगवद्दर्शने स्थितिमात्रेणाह कृतार्थोऽसि, नातः परमधिकं किञ्चिदस्तीति मन्तव्यम्, किन्त्वग्रे धर्मिसम्बन्धेऽपि किञ्चित् कर्तव्यमेवेत्याहुः व्यावृत्तोपीति ।

व्याघृतोपि हरौ चित्तं श्रवणादौ यसेत्सदा ।

ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवेत् ॥ ३ ॥

धीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यत्रापि नश्यति ।

श्रवणादौ व्याघृतोपि हरौ सर्वदुःखहर्तरि चित्तं यसेत् प्रयतेत् । तथा कुर्वन्नपि प्रेमसेवामपि कुर्यादित्यर्थः । यद्वा । ननु 'धावञ्जीवमग्निहोत्रं शुहुया'दिति न्यायेन देहाप्यासवैषाधर्माः सहसा कथं त्यक्तुं शक्यन्त इत्याशङ्क्याहुः व्याघृतोपीति । स्वधर्मेषु व्याघृतोपि यथाविधि यावच्छक्यं तान् कुर्वन्नपि श्रवणादिषु भगवद्धर्मेषु हरौ भगवति धर्मिणि च चित्तं यसेत् प्रयतेत् । कायिकप्रवृत्त्यां तत्र व्याघृतायामपि वाचिकमानसौ ते भगवत्सेव प्रयोक्तव्ये सर्वथेत्यर्थः । तावतापि कार्यं सिध्यतीत्यर्थः । एवं धीजदार्वप्रकारमुक्त्वा क्रमेण वर्धमानं पूर्णं च धीजमात्रमाहुः ततः प्रेम इति । ततस्तदनन्तरम् । अथवा । एवं क्रियमाणेभ्यः श्रवणादिभ्यः पूर्वं भगवद्विषयकं प्रेम उत्पद्यते, ततः क्रमेण भगवत्यासक्तिर्भवति । ततोप्रे व्यसनं भवति । व्यसने जाते तदेव दृढधीजमात्रपदवान्यमित्याहुः धीजमिति । भक्तिशास्त्रे तदेव दृढं धीजमित्युच्यते । यद्भीजमुक्तप्रकारेण स्थितौ दृढं सत् कदापि न नश्यति ॥ ३ ॥

ननु प्रेमाद्यवस्थास्तु मानसो भवन्ति, ताः कथं शक्यं शक्यं ज्ञायन्त इत्याशङ्क्य तासां व्यावर्तकधर्मानाहुः स्नेहादिनि ।

स्नेहाद्भागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद्गृहान्धिः ॥ ४ ॥

गृहस्थानां पापकत्वमनात्मत्वं च भासते ।

यदा स्याद् व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हि ॥ ५ ॥

भगवति स्नेहे उत्पन्ने तत्पूर्वं स्थितस्नेतरविषयकातुरागस्य विशेषेण नाशः स्यात् । ततो यदा भगवत्यासक्तिर्जायते, तदा गृहे गृहपदार्येषु पापधिर्भवति । तत्र स्थित-  
धनुकलत्रादिषु किञ्चिद्विशेषमाहुः गृहस्थानामिति । गृहस्थिता ये धनुकलत्रादयस्तेषां स्वस्मिन्स्थितभगवद्भावे पापकत्वमत एवानात्मत्वं च स्वस्य भासते । अथनाशयः । गृहे ये धनुकलत्रादयस्ते सर्वे नैकजातीयमावाः, किन्तु विजातीयमावाधान्योन्यम् । तत्र केचन लौकिका दैहिकधर्मपराः, केचन वैष्णवा अपि नानाविधभगवद्धर्मपराश्च भवन्ति । तथा च भगवदासक्तिपूर्वानां मनसि तेषु सम्यपरत्वेनोपादेयत्वं न स्फुरति । एकेषु स्वभावविधातकत्वेनैतत्सङ्गः सर्वात्मना न कर्तव्य एवेति भासते । अपरेषु वैष्णवत्वेऽपि विजातीयमात्रवत्त्वेन नैते भद्रावस्य पोषकाः, किन्तु विद्वेषका इति नात्मीया भवन्त्यतः समुपेक्ष्या एवेति मामत इति । अग्रिमावस्थानाहुः यदेति । यदेव कृष्णे सदानन्दे व्यसनं तस्योत्पद्यते, तदैव कृतार्थः साधितः सम्यगर्थः भक्तिपदार्थो येन तारयः स्यात् । व्यसनस्वरूपं तु 'क्षणं युगशतनिव दासां येन विनाऽभवत्'

इत्यादि । व्यसनपदेन यथा घृतकामादिव्यसनिन ऐहिकपारलौकिकेभ्यो उज्जाभयादिक सहसा परित्यज्य तत्तत्परतयैवेतरानुसन्धानरहिता सन्तस्तिष्ठन्ति, तथैतेषु सर्वे परित्यज्य भगवदेकमरा सन्तस्तिष्ठन्तीति ज्ञाप्यते । परमेतायां विशेष, तत्र वैपयिकत्वादसद्रूप सर्वम्, अत्र तद्ग्रहितत्वात्परमकाष्ठापत्र सर्वमिति । अन्यथा 'विपयान्तान्तदेहाना नापेश सर्वदा हरे'रित्याचार्या न वदेयु । तथा चैव व्यसनावस्थया जातापामेव बीजभावस्य पूर्णं दृढत्व स्यादित्यर्थ । एव पुष्टिमक्तिकल्पतरो सर्वथाऽविनाशिदृढतम बीजभावो निरूपित । ततोऽग्रे शाखापत्रादिस्थानीयभावाना वृद्धिरनुक्तसिद्धे वेति हृदयम् ॥ ४, ५ ॥

नन्वतिदृढत्वाद्बीजभावस्य नाशो मास्तु, परन्तु तदुत्पन्नकोमलशाखापलवारीना पक्षिसृगादिक्रान्तनवदिहापि बीजोत्पन्नावांतरभावनाशस्तु सम्भाव्यत एवेत्याशङ्क्य पूर्व नाशकपदार्थमुद्दिशन्ति तादृशस्यापीति ।

तादृशस्यापि सततं गृहस्थान् विनाशनम् ।

त्याग कृत्वा यसेद्यस्तु तदर्थार्थैकमानसः ॥ ६ ॥

लभते सुदृढां भक्तिं सर्वतोऽप्यधिका पराम् ।

सञ्जातव्यसनस्यापि सततं गृहस्थान् गृहे स्थितिर्विनाशन बीजोत्पन्नकोमलभावाना विपातकमित्यर्थ । एवमुद्दिश्यैतत्प्रतीकारमपि वदन्त पूर्वोक्तभक्तिप्रवर्धकोपायेषु द्वितीयमुपायमाहुः त्यागमिति । गृहादिसकलवस्तुनस्त्याग कृत्वा यसेत्, व्यसनदार्ढ्यप्रयत्नं कुर्यादित्यर्थ । अथ त्यागस्तु सन्यासनिर्णयोक्तभक्तिमार्गीयतुरीयाश्रमग्रहणरूप । तत्र त्यागेऽपि प्रकारविशेषेण स्थितिं वदन्तस्तृतीय भक्तिप्रवृद्ध्युपायमाहुः यस्तु तदर्थार्थैकमानस इति । तु पुन य तदर्थार्थैकमानस स भगवानेवार्थं सकलपदार्थरूपो येषां ते तदर्थार्थं स्वतन्त्रभक्तास्तेषामप्यर्थं मुख्य पदार्थस्तादृशभक्तैः सह मियो गुणगानरूपान्तरमण्णात्मिका केवला वा विप्रयोगावस्था । तत्रैवैक केवल मुख्य च मानस यस्य तारश सन् यसेत्, तत्सद्भावानुभव कुर्यात्, स सुदृढा कालादिभिरपि चालयितुमप्यशक्यया सर्वतं मुक्त्यादिभ्योऽपि अधिका परा परमकाष्ठापत्रा स्वतन्त्रफलरूपा भक्तिं लभते प्राप्नोति । एतेन पूर्वोक्तैस्त्रिभिर्भक्तिप्रवर्धकोपाये क्रमेणोत्तरोत्तमधिका सुदृढा, सर्वतोऽधिका, परा चेति त्रिविधापि भक्तिप्रवृद्धिरुक्ता । ननु 'ज्ञान गुणाश्च तस्यैव वर्तमानस्य प्रायका' इत्युक्ते कथं गुणगानस्य परमफलत्वमुच्यते इति चेत् । मैषम् । ते तु मार्गादिका एव प्रायका, नैतन्मार्गीया । अन्यथा तत्रैवाग्रे 'गुणास्तु सञ्जरादित्याजीवनार्थं भवन्ति ही' त्याचार्या न वदेयु । नन्वाधिकं तत्रानुप्रविष्टं न तु तद्दानि'रिति न्यायेन विरहे जीवनशा तदर्थं यमशोभी सुवरा न युक्ततराविति चेत् । न । जीवनमृते विरहजदुःखस्वानुभवासम्भवात् । अन्यथा पातपातादिनापि



जीवनमपहातु शक्यत एवेति तथैवोक्तं स्यात् । अतो नेह तथा, यतो विरहस्य सम्पगनुभवार्थमेव परित्यागस्य षोडशमस्तीति दिक् । एव फलपर्यन्तं भक्तिं सोपाया निरूपिता ॥ ६३ ॥

ननु सञ्जातयसनस्यापि यतस्यागमृते न फलसिद्धिस्ततोऽसञ्जातप्रेमाद्यवस्य एव येनकेनापि हेतुना यथाकथमित्सञ्जातस्य ह्यदिविराग एव कथं न सर्वत्यागं कुर्यात्-तन्मदनन्तरं फलाऽवश्यभाषो भवतैवोच्यत इत्याशङ्क्याहुः त्याग इति ।

त्यागे बाधकभूयस्त्वं दुःससर्गात्तथापन्नतः ॥ ७ ॥

साधनदशागमेव त्यागे कृते तत्र भूयासो बाधका सम्भवन्तीत्यर्थः । गनु ते किंमूलमादाय सम्भवन्तीत्याशङ्क्यामाहुः दुःसंसर्गादिति । दुष्टै सह ससर्गेण दुष्टानां दुष्टे वा अन्ने भुक्ते बाधका उत्पद्यन्ते । अयमर्थः । सर्वं त्यजत्या यत्र कुत्रचि-स्थितेनापि यतिना नैकाकिना नापि क्षुत्पिपासादितेन कथञ्चित्सातु शक्यते, अपकद-शापन्नत्वात्, तथा च तदर्थं दुष्टै सङ्गे दुष्टान्नभोजने च कृते सर्वं कृतमभ्यकृतप्रायं भव-तीति तथा । तदुक्तं श्रीमदाचार्यैः सन्यासनिर्णये 'गृहादेर्बाधकत्वेनेत्यारभ्य 'अतो-त्र साधने भक्तौ नैव त्यागं सुखावह' इत्यन्तेन । अतोऽसिन् भक्तिमार्गं साधनदशाया परित्यागो न कर्तव्य इत्युक्तं भवति ॥ ७ ॥

नन्वेव च सति साधनदशापन्नै स्वभार्यादिकृतमेवादिप्रानिकूल्यसम्भवे कुत्र कथं च ख्येयमित्याकाङ्क्षायामाहुः, अत इति ।

अतः स्वयं हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परैः ।

अङ्गरविप्रकर्षे वा यथा चिन्तं न दुष्पति ॥ ८ ॥

यत साधनदशाया त्यागे कृते बाधकभूयस्त्वमत एव हरेर्भगवत् स्थाने निव-न्धोक्तेषु पुरुषोत्तमादिषु प्रजादिषु वा स्वयं स्थिति कर्तव्येत्यर्थः । अत एव निषन्धेषु स्वभार्यादि प्रातिकूल्येन गृहे सातुमशक्तस्य गृहादित्यागप्रकारमुक्तवन्त श्रीमदाचार्याः, 'भार्यादिरनुकूलश्चेत्कारयेद्भगवत्क्रियाम् । उदासीने स्वयं कुर्यात्प्रतिकूले गृहं त्यजे'दिति । अयं त्यागस्तु न तुरीयाश्रमग्रहणरूपः, किन्तु गृहस्थेषु कलत्रादिषु मध्ये एक द्वौ बहवो वा ये एव प्रातिकूल्यं सेवादौ कुर्वन्ति, तानेव यावच्छक्यं त्यजेदित्येवबोधकः । अत एव 'गृहं त्यजे'दित्यस्य विवाणं 'गृहं भार्यादिक'मित्युक्तम् । दैवात्पुनः सर्वप्रा-तिकूल्ये तु सेवाघनिर्वाहात् स्वस्य सातुमशक्तेर्वा गृहमेव परित्यज्य सेवादिसाम्प्रतीमपि स्वसार्थं एव नीत्वा पूर्वोक्तभगवत्स्थानेषु यत्र कुत्रापि स्थितं सन् तत्प्राप्तया सेवादिकं कुर्यादित्याशयः । एव च सति पूर्वोक्तत्यागनिषेधस्तु तुरीयाश्रमीणत्यागपर एव । यतस्तत्र सेवाद्यवल्भ्यामभवेनापकत्वेन च दुःसङ्गदुष्टान्नभोजनादिकं भवत्येव । तत्तु सर्वथा बाधकम् । अत एवैकादशस्कन्धे दुःसङ्गस्य बाधकत्वमुक्तम् । 'सङ्गं न कुर्यादमतां शिशोदरवृणा

कचित् । तस्यानुगतमसन्धे पतत्यन्धानुगान्यव'दित्यादिभिः । दुष्टात्तसा तु पापकत्वमुक्तं  
 पद्मपुराणे । 'अथैष्यवानामन्न च पतितानां तथैव च । अनर्पितं च यद्विष्णोः श्रमांसस-  
 द्धा विदु'रित्यादिभिः । एकदशापन्नानां तु 'ता नाग्निदन्मध्यनुपङ्गमद्धधिषः स्वमात्मान-  
 मदस्त्रयेद'मित्यादिना स्वरूपनिरूपणार्त्वात्मादिसर्वास्तुसन्धानापगमादेव तत्तद्विष-  
 याभावानां दुर्चरगर्वप्रहृत्वमिति दिक् । एवमेपां वाससालमुक्त्वा शितौ प्रकारमाहुः  
 तदीयैरिति । भगवदेकपरा ये भगवदीयास्तैः सह मिलित्वा तत्तिकट एव अर्थात् तैः  
 सहैव यसन् सेनाश्रवणकीर्तनादिपरतया श्येयम् । एतेन दुःसन्नदुष्टान्नप्रभया दोषा निरा-  
 रिताः । न'न्वतिपरिचयादवज्ञे'ति न्यायेन कथं सततं निकट एव स्वातु गम्यत इत्या-  
 दाह्य प्रकारान्तरमप्याहुः अदूरेति । वा अथवा अदूरो दूरत्वामावः तद्वान् यो विप्रकर्षो  
 दूरदेशस्तत्र श्येयमित्यर्थः । अर्थात् नातिदूरे नातिनिष्ठे पर ततः क्रियते'ज्यवधानेन  
 श्येयम् । मिलनादिकं तु तैः सह नित्य सर्वथा कर्तव्यमेव । अन्यथा तदैवामुप्रभास-  
 प्रवेशः स्यात् । अदूरमिति पाठेऽदूरमिति क्रियाविशेषणम् । अग्रे पूर्ववत् । नन्वेव चेत्  
 किमिति व्यवधानेन स्थितिर्वोध्यत इत्याशङ्क्यामाहुः यथेति । यथा यत्प्रकारकस्थितौ  
 स्वस्वान्येषां च चित्त कदापि न दुष्टं भवति तथा श्येयमित्यर्थः । अत्रापं सप्तुदायाधः ।  
 भार्यादीनां सेवादावानुकूल्ये सति तैः सहैव सेवां कुर्यात् तैश्च कारयन्स्वगृहे श्येयम् ।  
 उदासीनेषु तेषु सख्यु गृहे एव स्वयमेव सेवादिकं कुर्यात् । तदभावे तु तेषु प्राप्तिव्य-  
 परित्यजेत् । सर्वप्रातिकूल्ये गृहमेव त्यक्त्वा भगवत्स्थाने स्थितः भगवदीयैर्मिलित्वा सेवा-  
 कयादिपरतया तिष्ठेत् । अथ तत्सदृशासे चेत्स्वमनमि तद्विषयकं दोषादिकमामानि,  
 अथवा स्वादृष्टशास्त्रेणमेव मनमि खनिषयकं तदायातीति मनमि सम्भाव्य तैम्यः किमि-  
 द्रदेशे स्थित्वा तत्रैव सेवादिकं कुर्यात्, तदनन्तरे तत्र गत्वा तैः सह श्रवणकीर्तनादि-  
 परतया तिष्ठेदित्यर्थः सम्पन्नः । यद्वा । अदूरेति । भगवत्स्थानादेवाद्दूरविप्रकर्षे श्येयम् ।  
 तत्रैव स्थितौ तु अनिपरिचयाद्भवतो भगवदीयानां वा विषयका अपराधाः सम्भ्रान्ति,  
 तेन तु स्वस चित्त दुष्यत्येवेत्यत आहुः यथेति । यथैव स्थिते चित्त न दुष्यति तथैव  
 श्येयमित्यर्थः ॥ ८ ॥

ननु प्यसन्नानन्तरमपि फलदशापामेव चेद्वाधरूप्यमात्रना, तदा सुतरामेव साध-  
 नदशायां सेनि कथं गुप्तेन सेवादिनिर्वाह इत्याशङ्क्यामाहुः सेवापानिति ।

सेवायां वा कथायां वा यस्यामन्किर्तना भवेत् ।

यावज्जीवं तस्य नाशो न कापीमि मन्निर्मम ॥ ९ ॥

सेवायां तनुचित्तनायाम् । अत्र वागन्दः स्मरणस्थानि सद्वाहकः । सेनाया अशुका-  
 वनवमरे वा शीतृवप्रापभावे स्मर्यापि वा भस्तिव्यम्, नान्यपरतया म्नात्यभिति  
 बोधकः । अत एवोक्त नपरत्नकासे 'अन्यथा तदैवामुप्रभासप्रवेश' स्ता'दिति । कथायां

श्रीभागवतादिश्रवणकथनादौ । अत्र वाशब्दः श्रवणकथनयोरन्यतरेणापि कार्यसिद्धिर्भवत्येनेति सूचकः । परमुभयोरपि तत्र तत्र दृढासक्तिरपेक्षिता । ततो यावज्जीवं तस्यां स्थितायां तस्य भक्तस्य नाशस्तद्भावात् च्युतिस्तस्य भावस्य वा च्युतिः कापि इहास्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे वाऽमुत्र च नास्त्येव इत्येव मे मतिः । सम्मतिर्निश्चयात्मिका बुद्धिर्वा । तथा च सेवायां श्रवणकीर्तनयोर्वा यस्य दृढासक्तिर्भवति, तस्य तावद्भावात् च्युतिः कदापि न भवति, परमप्रे भाववृद्धिस्तु स्वभायोत्ततिसमये भगवत्सङ्गत्तानां च रूपया भविष्येवेति परमार्थः ॥ ९ ॥

नन्वेवं सर्वं त्यक्त्वा स्थितस्य तत्रापि चेत् कश्चनोपद्रावकः पदार्थः सम्भवेत्, तदा तेन किं कार्यमित्याकाङ्क्षायामाहुः वाधेति ।

वाधसंभावनायां तु नैकान्ते वास इष्यते ।

हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः ॥ १० ॥

एकान्तेपि चेद्वाधकसम्भावना स्यात्तदा पुष्टिमार्गीवैर्ग्रहितया तत्रैव स्थित्वा भगवति मारो न देयः । अतस्तत्र तस्य वासो नैष्यते, इष्टसाधको न भवतीत्यर्थः । ननु पुनस्तत्र तत्रापि चेत्सम्भवस्तदा 'लितो भ्रष्टस्तो भ्रष्ट' इति न्यायेन कादि-शीकस्य तस्य का वा गतिरित्याशङ्क्यामाहुः हरिस्त्विति । यतो हरिः सर्वदुःखहर्ता, अतः सर्वतः । तसिलः सार्वविभक्तिकत्वात्पर्वेषां स्त्रीयानां सर्वेभ्यः प्रतिबन्धकेभ्यः सर्वेषु देशेषु सर्वैर्लौकिकालौकिकोपायैः सर्वप्रकारैश्च रक्षां निःसन्दिग्धं भगवान् करिष्यत्येवेति नात्र संशयात्मभिर्भवितव्यमित्यनवयव सर्वम् । अन्यथा 'अनन्या' इति 'न मे यक्त' इति 'मां हि पार्थ' इति 'द्वि स्यापयती'त्यादीनि भगवद्गतानि विरुद्धानि च विफलीभवेयुः ॥ १० ॥

एवं भक्तिसाधनदशायामपि स्थित्यादिप्रकारमुक्त्वा उपसहरन्त एतत्सोऽनपाठस्य फलमभ्याहुः इतीति ।

इत्येवं भगवच्छास्त्रं गूढतत्त्वं निरूपितम् ।

य एतन्समधीषीत तस्यापि स्याद् दृढा रतिः ॥ ११ ॥

इतीति परितमासौ । एवं पूर्वोक्तप्रकारेण भगवच्छास्त्रं भगवद्दर्शिशुद्धकं शास्त्रम्, अत एव गूढं तत्त्वं स्वरूपात्मकं यस्मिन्निति तादृशम् । स्वतत्त्वायितपुष्टिपुरुषोत्तमस्य सत्त्वरमेव साक्षात्सम्बन्धजनकत्वमिति यावत् । तन्निरूपितं नितरामुक्तम् । एतन्मार्गीयो यः कोपि वा एतच्छास्त्रं सम्यगर्थानुसन्धानपूर्वकं श्रीभद्राचार्यचरणेषु श्रद्धाविश्वासा-दिपूर्वकं चाधीषीत पाठं कुर्यात्, तस्यापि भगवति रतिर्दृढा स्यात् । दृढत्वं तु त्रमे-णासक्तिन्यसनयोरनन्तराय नियतपूर्वभाववृत्तित्वम् । अत्रायमाशयः । पूर्वं खेहोत्प-

स्वयं ये उपाया निरूपितास्तान्विनैवैतत्याठमात्रेणापि भगवति प्रेम उत्पद्यते । तदनन्तरं यथोक्तरीत्या स्थितौ तदग्निमावस्थास्त्ववश्यमाविन्य एवेति परमार्थः ॥ ११ ॥

अत्र युक्तमयुक्तं वा लिखितं यन्मयाज्ञतः । तद्विद्वत्तुः कृपासिन्धुरज्ञस्य सन्म्यतां मुदा ॥१॥

इति श्रीबिहलनाथचरणैकतानश्रीव्रजभूषणात्मजश्रीगिरिधरविरचित-  
भक्तिवर्धिनीविष्टतिः समाप्ता ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

## भक्तिवर्धिनी ।

श्रीद्वारकेशविरचितप्रकाशसमेता ।

श्रीमद्ब्रह्मभपादपद्मरजसः संस्मरणेनैव मे  
ज्ञातुं सर्वमशक्यमत्र सदसद्वैकिकं यत्परम् ॥  
ज्ञातं शक्यमसाध्यमेव नितरां साध्यं तदुक्तार्थत-  
स्तद्विश्वासवल्लभयैकनिरतो वक्तुं प्रवृत्तोऽस्म्यहम् ॥ १ ॥  
श्रीमदाचार्यचर्याणां चरणानुग्रहादहम् ।  
तदुक्तवाक्यसन्दर्भं विमृशामि ययामति ॥ २ ॥

तत्र पूर्वं यथा भगवान्(न)न्यपूर्वाग्यस्तादृशरसोपयोगिदशाविरहादक्षपिऋरित्वमा-  
शक्य तदग्निमप्रयोजनसिद्धयर्थं साधनत्वेन त्यागात्यागहेतुकीं भक्तिं ताभ्यः प्रयच्छतीति भाव-  
फलोपकारावधि तदुत्पादकजीवभावत्वेन तादृशरसात्मकं स्वरूपं भावरूपत्वेनैतद्भावतया  
तत्तदन्तःस्थापितमिति ततो भक्तिस्त्रयाग्रे च रमणं फलमिति राडान्तसम्मतः पन्थाः । यद्य-  
प्येतदतिरिक्तानां भक्तानां 'व्रजे गोप्यो भविष्ये'ति चरप्राप्तत्वात्साम्प्रतमभिकाण्डित्वं वर्तते  
एव, तथापि, 'प्रथमातिक्रमे कारणाभावा'दिति न्यायेनैतत्सदकार्यत्व एव फलदानम्,  
यत एतासामेव चरप्राप्तत्वेनात्र रमणविशिष्टाः क्षया दत्ताक्षयतिरेकेण नाम्प सम्भावनमिति  
नैतत्पूर्वं तासां रमणमिति भावः । अत एवाग्रे मग्नदाकारणं तु तावदेतद्विषयकमेव  
स्पष्टीकृतं श्रीमदाचार्यैः । तथा सत्सुभयोर्मग्नवतः प्राथमिकमन्वन्ध एव बीजम्, तदाचाहान-  
म् । भक्तिधरपारविन्दरूपा । तस्या नैरन्तर्यभावनेनावसरे प्राप्ते बीजपरिपाकदशायां फलं  
साक्षात्स्वरूपानन्दानुभवं इति यावत् । तत्र गुमाटिकापामत्यागः, तद्गतिरिक्तानां त्याग  
इति स्थापितत्वात् । अत एव प्रताप्याये श्रीमदाचार्यैरुक्तं 'मत्यागस्यागादुत्तम' इति ।  
तदाप्राप्याधुनिकदेवीमृष्टपुत्रज्ञानां जीवनानां सर्वदोषदूरीकरणार्थं तादृशमात्मरुम-

जनानन्ददानार्थं च तादृक्सेवनानुकरणोपदिष्टत्वेन श्रीमदाचार्यवर्यास्तदुभयपक्षमाश्रित्य साक्षात्फलप्राप्त्यर्थं नामस्मरणानन्तरं फलपरिचयावधि साधनत्वेन भक्तिवृद्धिप्रकारं निरूपयन्ति यथेति ।

यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात्तथोपायो निरूप्यते ।

वीजभाये दृढे तु स्यात्त्यागाच्छ्रवणकीर्तनात् ॥ १ ॥

‘माहात्म्यज्ञानपूर्वेस्तु सुदृढं सर्वतोप्यधिकं सेहो भक्तिरिति । यत्र वरप्राप्तत्वेन पूर्वकालिनरुसस्कारकरणानन्तरमेव भक्ते प्रक्षिप्तवीनत्वम्, तत्र स्मरणनाहुत्यादङ्कुरितत्वम्, ततस्तथात्वे पल्लवितत्वम्, तथैव कुसुमितत्वम्, एतानन्मात्रक फलीकरणावधि वर्धकत्वमग्रे कुतो न सादित्यनुसन्धेयम् । सा प्रवृद्धा स्यादिति । प्रकृष्टेन वृद्धि प्रतिक्षणं तादृगतिपूर्वकस्मरणनाहुत्येन । तथोपायस्तत्प्रकारकाचरणोपायो निरूप्यते, उत्तरवाक्य एव निशदीक्रियत इत्यर्थः । वीजभाये दृढीकरणापेक्षकत्वम्, अन्यथा तुशब्दस्य पूर्वपक्षव्यावर्तकत्वानापत्तिः स्यात् । किञ्च, वीजभावे दृढे सत्येवाङ्कुरभावभारभ्य फलपर्यन्तं तदुद्भावनपूर्वकं वर्धकत्वम् । अन्यथा कृतोपि सस्कारोऽर्थ एव स्यात् । अत एव ‘भावैरङ्कुरित’मित्याद्युक्तयस्तु तादृग्वीजभावफलीकरणत्वमेवाभिव्यञ्जयन्ति । तत्र विषयव्यवसाहेदेन हेतुत्रयमुच्यते त्यागाच्छ्रवणकीर्तनादिति । अत्र तामसाना त्यागादेव तथात्वम् । सात्त्विकराजसाना तु श्रवणकीर्तनादिनि योजनोभयत्रैव वेदितव्या । तथा सति पक्षद्वयविशिष्टविभागसमानाधिकरणत्वेन हेतुनिरूपणप्रस्तावेषु सामानाधिकरण्यात्तद्विज्ञानं स्वीकर्तव्यम् । अत एव त्यागादिति पृथगुक्तिः, न तत्र समाहारे योजना । श्रवणकीर्तनयोस्त्वेकवद्भावत्वेन तथात्वात्त्यागपक्षमाश्रित्य श्रवणकीर्तने एव हेतुत्वेन निरूपिते, नतु त्यागः । तस्माद्यथायोग्यतया हेतुनिरूपणं ज्ञेयम् । अत एव ‘श्रवणा’दित्यारभ्य ‘प्रतियातु ततो गृहा’नित्यन्तेन तद्दृढीकरणार्थमेव भगवता यद्यप्युक्तम्, तथापि नाङ्गीकृतमेताभिः, किन्तु ‘स्वपक्ष एवाद्दर्शनीय’ इति न्यायात्त्याग एव तासां दार्ढ्यसम्पादकत्वम् ॥ १ ॥

अतः परमेतावन्मात्रकं वीजदार्ढ्यमुपपाद्य तत्प्रकारमप्यग्रे प्रकाशयन्ति वीजदार्ढ्यप्रकारस्त्विति ।

वीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः ।

अध्यायवृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः ॥ २ ॥

अत्र कुमारिकावरप्राप्तसाधननिरूपणत्वेन प्रथमतस्तत्प्रकारमेव प्रचारयन्ति । अतस्तुशब्देन तत्प्रकारकातिरिक्तप्रकारं व्यावर्तयन्ति । तथा । गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः इत्यत्र स्वैत्यात्मा भगवान् तद्धर्मतः पञ्चणैश्वर्यादिकमनुभवन् तादृशसभोक्तीणामाच-

रणं ज्ञात्वा भजेदित्यन्वयः । अथवा, यथैताः स्वस्य पूर्वं भगवद्गृहीतपुंस्त्वाख्यधर्म-  
मधुना प्राप्य पूर्वकालीनोपदेशजनितसंस्कारस्मरणपूर्वकं तद्भजनं कुर्वन्ति, तथैतन्मा-  
र्गीया अपि 'स्वधर्मत' इति नामस्मरणपूर्वकसंस्काररूपवरणप्राप्तौ तदनुकरणत्वेनैतद्भजनं  
कुर्वन्ति तत्साधयेन श्रीमदाचार्यवर्या आहुः स्वधर्मत इति । एतत्प्रकारानुसारेण  
स्वयमग्न्यावृत्तः सर्वदा । व्यावृत्तिर्व्यवहारः । स तु सन्निपातः, तद्रहितः सन् कृष्णं  
फलात्मकं सदानन्दवाचकं पूजया श्रवणादिभिरित्यत्र, तथा पुष्टिमार्गीया  
'पन्यास्ति'ति वाक्यपद्धतिरूपितया, तथा श्रवणादिनवप्रकारकभक्तिभिरपि तत्तद्भावम-  
माश्रितमेव भजेत्सेवनं कुर्यात्, तदप्यान्तरिकम्, नतु बाह्यमित्यर्थः । अथवा । तासां  
कामरूपाणि वस्त्राणि गृहीत्वा पूर्वं नीपमारुह्य पश्चात्तत्रैव दानत्वेन तासु यथा  
भगवत्सूजनत्वम्, तथैवाग्रे स्वातिप्रियोत्तरीयकल्पितासनदानत्वेन ताभिरपि भगवान्  
पूजित इति लक्ष्यते । अत एव 'तत्रोपविष्टो भगवान्स ईश्वर' इत्यत्र तच्छब्दपरामर्शस्यैव  
तदुद्घाटकत्वमेतत्प्रकारकाचरणं कर्तव्यमित्यर्थः । सर्वदा भावनीय इति संक्षेपः ।  
अतएव व्रतचर्यायां 'प्राग्जन्मपुरुषत्वात्पधर्मा अपि वयस्यतां । प्राप्ता ये तैः सहागच्छन्  
संबन्धं सूचयन् हरि'रित्यत्र श्रीमत्सुभक्तिरथैवोक्तमिति प्रायमिकसंबन्धस्यैव धीजभावत्वम् ।  
ननु ते तु ऋषयो मननशीला भद्रद्वारः सर्वात्मना भगवदुक्तसाधनकरणत्वेनैव  
प्रत्यहं गृहस्थितमेवाद्यस्य तदाज्ञापालनपूर्वकं भजनं कुर्वन्ति, अयं तु प्राकृतः, कथं  
तत्साधनाचरणं कर्तुं शक्यत इत्याहुः व्यावृत्तोपीति ।

व्यावृत्तोपि हरौ चित्तं श्रवणादौ यतेत्सदा ।

ततः प्रेम तथासक्तिर्न्यसनं च यदा भवेत् ॥ ३ ॥

धीजं तदुच्यते ज्ञास्त्रे हृदं यन्नापि नश्यति ।

वस्तुतस्त्वयमप्येको धीजदार्व्यप्रकारान्तरः, तस्मात्स्वयं ध्यावृत्तोपि संसारासक्तः  
सन्नपि हरौ सर्वदुःखहरणशोले भगवति गजराजप्रास्ताविकनाट्यरामानुस्मरणपूर्वकं  
चित्तं संश्लेष्यति शेषः । सदेति कालापरिच्छेदकत्वेनैव श्रवणादिषु नवप्रकारकभक्तिषु  
तद्द्विप्रकारस्फूर्त्या यतेत् । तद्विषयकं यत्नं कुर्यादित्येतत्प्रकारेणापि सा प्रवृद्धा स्वादिति  
पूर्वेणान्वयः । ननु पूर्वोक्तप्रकाराचरणेनाग्रे किं साधितमिति प्रेमादीनां प्राप्तिमपि सूचयन्ति  
ततः प्रेमेति । ततः तद्दृष्ट्यानन्तरं पूर्वोक्ताधिकरणक एव तथात्वेन पक्षधरचनारूपं प्रेमेत्य-  
पते, येन भक्तिवह्नी प्रत्यहं प्रतिक्षणं सिञ्चनविषयीक्रियते । तथा आसक्तिर्भावत्रिशेषः । स तु  
पुण्यागमरूपः । अत्र 'शास्त्रार्थस्य परिज्ञानात् भावस्य कठिका भवेदिति वाक्योक्तोपों-  
नुसन्धेयः । तथा सत्येतत्प्रकारकासक्तेः प्रेमोत्तरभावित्वं युक्तमेव । अत एव श्रीमदा-  
चार्यैरपि तथैवोक्तम् । 'आसक्तिः प्रेमपूर्वैव प्रेमापि इरिणा कृत'मिति । तथा व्यसनं  
च येन विना क्षणमपि स्यात् न शक्यते, तद्य धीजादारम्य फलाविष्कारावपि

सर्वत्र भावनीयम् । एव यदा भवेत्तदा न काप्यनुपपत्तिः । अथवा । अत्र चकार समु-  
 धयार्थक । तथा सति प्राथमिकसन्धो वीजभाव । तस्मात्स्वभावतो वृद्धिं प्राप्ता भक्ति-  
 र्वेष्टी, तदुद्धृत प्रेम यद्गन्धानापन्नम्, तन्ननितासक्तिं पुष्पागम । ततो व्यसनं च फलत्वेन  
 स्वरूपैकनिष्ठत्वम् । एतेषा वीजत्वजातिविशिष्टसमानाधिकरणत्वेनैकजातीयत्वम् । तथा  
 सति मूढदृढीकरणत्वेनैव सर्वत्र तथात्वमिति भावनीयम् । तदेवाग्रे निरूप्यते वीजं तदु-  
 च्यते, शास्त्रे भगवच्छास्त्रं, श्रीभागवतगीतानारदपञ्चरात्रादावपि, यद् दृढं नापि नश्यति,  
 तत्तु प्राथमिकसन्धकालीनमित्यध्यवसेयम् ।

अतः परं प्रेमासक्तिभ्यां यज्ञात् तदाहुः स्नेहादिति ।

स्नेहाद्रागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद्गृहहारुचिः ॥ ४ ॥

गृहस्थानां बाधकत्वमनात्मन्व च भासते ।

यदा स्याद्व्यसनं कृष्णे कृतार्थं स्यात्तदैव हि ॥ ५ ॥

तादृशस्यापि सततं गृहस्थानं विनाशकम् ।

त्यागं कृत्वा यतेद्यस्तु तदर्थार्थैकमानसः ॥ ६ ॥

त्भते सुदृढा भक्तिः सर्वतोऽप्यधिका पराम् ।

त्यागे बाधकभृशस्त्वद्दुःससर्गात्तादात्म्यतः ॥ ७ ॥

अतः श्रेयं हरिस्थाने तदीये सह तरपरे ।

अदूरे विप्ररूपं वा यथा चित्तं न दुष्यति ॥ ८ ॥

संवाया वा कथाया वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेत् ।

याद्यजीव तस्य नाशो न कापीति मतिर्मम ॥ ९ ॥

बाधसंभावनायां तु नैकान्ते वास इष्यते ।

हरिस्तु सर्वतो रक्षा करिष्यति न सशयः ॥ १० ॥

अत्र स्नेहपदेन भक्तिरुच्यते । तत्र धात्वर्थे सेवा, प्रत्ययार्थे 'प्रेमे'ति । तेन रागवि-  
 नाशः स्यात्, भगवत्स्वरूपानिरिक्तवस्तुमात्रेषु यो रागः अनुरञ्जनतस्य विशेषेण नश्वरत्वेन  
 नाशः अप्रतीतिः स्यात् । तथा आसक्त्यापि गृहहारुचिः स्यात् । तत्र 'न गृहं गृहमित्याहुः  
 गृहिणी गृहमुच्यते' इति वाक्यात्तादृशसम्भवा परिग्रहाद्यरुचिस्तूचितनरा । अथवा ।  
 नैते आत्मसर्वाधिनः, किन्तु देहादीनाम्, प्रत्युत तादृशभावनिरतस्यालौकिकभावविघातका-  
 एव, नतु साधकाः, इतोपि तदनासक्तौ तस्य न किमपि बाधकम्, प्रत्युत तथात्वे  
 तथात्वमिति । अग्रिमवाक्ये तथैव निरूप्यते गृहस्थानां बाधकत्वमिति । भगवद्वि-  
 प्रयकसंस्कारानुभूतकर्तृणां तु स्त्रीपुत्रादिष्वनात्मत्वभासते एव । चकाराद्बाधकत्वमपि ।  
 तथा सति तत्सङ्गो न विषय इति तात्पर्यार्थः । अथवा व्यसनभाववत्त्वानुपपत्ति-  
 स्यात् । अतस्तस्यैवाग्रे सर्वत्र साधकत्वेनाधिकारी विषयीक्रियते यदा स्यादिति ।

यस्मिन्काळे कृष्णे फलारमके पङ्कणैश्वर्यसम्पन्ने भगवति व्यसनं तदेकनिष्ठत्वं पूर्वोक्तविधिना स्यात्तदेव कृतार्थः स्यात् । नात्र सन्देहः कार्यं इति सिद्धम् । हिशन्दस्तु प्रसिद्धावेव । तथा सति व्यसनं वरणकालीनमेवाभिव्यज्यते । अत एवाग्रे तादृशस्यापि व्यसनभावप्राप्तस्य सततं निरन्तरं गेहस्थान गृहस्थितिर्विनाशक विशेषेणोक्तसंस्कारविधातिकेति यावत् । अतस्त्यागपक्षमप्याश्रित्य तत्प्राप्तिप्रकारमाहुः त्यागं कृत्वचेति । यत्तु परमकृपाशीलः सर्वात्मना निरुद्धः सन्, अत एव तदर्थायैकमानस इति विधेयविशेषणम् । तत्र भगवतो योर्थः प्रयोजन तदर्थमेव तन्निष्ठगोक मानस यस्य । अथवा । भगवदर्थमेव यत्प्रयोजनं तत्रैव मानसिकी प्रवृत्तिर्यस्येति त्यागसांमुख्यम् । अत एवात्र तुशब्दस्तूक्तपूर्णाधायकः । तद्यथा । ब्रजसीमन्तिन्योन्यपूर्वाः सर्वथा त्यक्तुमशक्यानित्येतादृशानपि पदार्थास्त्यक्त्वा बीजभावरूपां भक्तिम्, तथैवाग्रे स्वरूपदर्शनस्पर्शनभाषणमिलनादिकमेतासां जातमिति, तथात्रापि य इति सामान्यनिर्देशात् कोपि तदर्थायैकमानसः पूर्वोक्ताचरणशीलस्तादृशासक्तिभरेण गृह्यादित्यागं कृत्वा यतेत्, भगवत्प्राप्तिविषयकमेव यत्तं कुर्यात्, स पूर्वोक्तसामानाधिकरण्येनैव सुद्धां स्नेहरूपाम्, तत्रापि सर्वतोप्यधिकां नवप्रकारकमकल्पपेशयोत्कृष्टत्वेन तादृक्प्रकारकाम् । अत एव 'सुद्ध. सर्वतोधिकः खेदो भक्ति'रिति लक्षणत्वेन प्राप्ताम्, अत एव परामुत्कृष्टाम्, यतः साक्षाद्भगवच्चरणारविन्दानुग्रहनिष्ठैकशीला तां लभते, प्राप्नोति, तत्कृताचरण करोतीत्यर्थः । तथापि त्यागक्रियानौचित्यमेवाद्यत्याग्रे तद्विषयकवाधमाहुः त्यागे बाधकभूयस्त्वमिति । अत्र साधनदशापन्नत्वेनाधुनिकजीवानां तदपेक्षया न्यूनत्वम्, 'सत्यञ्च सर्वविषयांस्त्ववपादमूल'मिति प्रकारस्य तत्रैव सिद्धत्वाद्प्रत्यानां तथाकरणे बाधकवाहुल्यमेव । तत्र हेतुद्वयं निरूप्यते दुःसंसर्गात्तथाव्रतः । स्वापेक्षया विरुद्धधर्माचरणशीला एव दुष्टाः । तेषां संसर्गात्सहवासकरणत्वात्सस्य तदुपाजितान्नमक्षणाद्वा तथात्वम् । यत एव बाधकापत्तिस्तत एवाग्रे स्थितिप्रकारः प्रकारयते । अतः स्थेयमिति । अस्मात्कारणादेव तद्रहिते देशे हरिस्थाने सर्वदुःखहरणशीलस्य तत्तद्दोलास्थाने तदीयैर्भगवत्परैर्भगवदीयैः सह स्थेयम् । अथवा । भगवदुपदिष्टस्थाने वृन्दावनादौ स्थितिः कर्तव्या । तत्र तादृशैः सह वासकरणे पूर्वोक्तहेतुद्वयप्रतिबन्धोत्पादकानामनवसरपराहतत्वम् । तत्रापि अदूरे चिप्रकर्षे चेति । यथोपक्रमे प्रकारद्वयं तयोपसहारेपि तथात्वं बोध्यते । अत्यागपक्षे तावद्दूरत्वेनैव स्थितिः कर्तव्या, त्यागपक्षे तु विप्रकर्षेणैवेति योजना । अत एव श्रीमदाचार्यैरपि पूर्वोक्तव्यवस्थापूर्वकदाक्यद्वयमुक्तम् । अथवा । अदूर इति वाक्यद्वयं प्रतिपक्षे भिन्नतया योजनीयम् । एतत्प्रकारेणैव तत्र स्थेयमित्यग्रे सूच्यते । यथा चित्तं न दुष्यति । एतत्प्रकारकस्थितावेव चित्तं न दूषितं भवतीत्यर्थः । अतः परं पूर्वोक्तरीत्या यावज्जन्मसफलीकरणार्थं भिन्नत्वेन व्यवस्थापूर्वकं साधनद्वयमुच्यते । 'तेनायां वा कथायां वै'त्युक्तौ यथाक्रम-



तुरोपेनासपूर्वाणां सेवामामिति धात्वर्थस्यानुकृत्वान्न भगवद्भजन एवासक्ति । सपूर्वाणां तु भगवद्गुणानुवादत्वेन कथामामेव सा । 'तत्र कथामृगमि'त्यादिवाक्येषु तथा निरूपितत्वात् । उभयत्र वाञ्छन्दी दिक्ल्पत्वेन तन्मात्रक बोधयति, अन्यथा एकेनैव तेन चारितार्थ्ये सति द्वित्वनिरूपणत्वात्प्रयोजनत्वात् । अतः श्रीमदाचार्यवर्या स्वकीयान्प्रति निराधि-  
करणावत्त्वेन स्यानुभवपूर्वकोभयपक्षीयासक्तिनिरोधस्त फलत्वेन प्रतिपादयति सेवायां या कथायां चेति । अनेन सेवाकथयो स्वरूपात्मकत्व सूचितम् । आसक्तिभ्रमन्यायेन तयोक्ति । अथवा विकल्पत्वेन यस्येति सामान्यनिर्देशात्परमभाग्यवतस्तत्कृताचरणशीलस्य आसक्तिनिरोधे दृढ इति प्रथमस्मृतिपूर्वकत्वेन समवेत्तस्य यावज्जीव शरीरस्थितिपर्यन्त पूर्वोत्तरीत्या नाम ह्यपि कस्मिन्पि देशे समये वा न इत्यत इति शेषः । 'स्यानुभूत प्रकारज्ञाननाय मे मतिरि'त्युक्तान्त । अतः परमेतत्प्रकारकाचरणकर्तुं कदापि स्थितिपक्षे पापसम्भावनाया जातायामपि सद्युद्भयान्यत्रैव मया ख्येयमिति पक्षो निराक्रियते । पापसम्भावनाया तु एकान्ते वासो नोचितः । वैराग्यवशात्प्रहारणयादौ स्थितिर्न कर्तव्या । किन्तु यत्र साक्षाद्भगवदाविर्भाव सहृदये स्यानुभूतो भवति, तत्रैव ख्येयमित्येकान्तपदतात्पर्यम् । अत एव नेष्यते नेच्छाविषयीक्रियते । अतस्तत्र हेतुरुच्यते हरिस्त्विति । यथा व्रजरत्ना सर्वतो भगवता रक्षिता, 'विपजलाप्यया'दितिवाक्य पृक्तयनात्, तथात्मविषयिणी या रक्षा ता सर्वतः पूर्वोक्तदुष्टसमूहादपि करिष्यत्येव । अत्रापि स्वमत्यैवोक्तं न सशय इति । सशय सर्वथा न कर्तव्य इत्यर्थः । हरिस्त्वस्या न्यथानुपपत्त्यैव तथा निश्चीयते । तुशब्दस्यापि तथैवोद्घाटकत्वम् ॥

अतः परमुपसहरति इत्येवमिति ।

इत्येव भगवच्छास्त्र गूढतत्त्वं निरूपितम् ।

य एतत्समधीर्धीत तस्यापि स्याद्गूढा रतिः ॥ ११ ॥

पूर्वोक्तप्रकारेण भगवच्छास्त्र श्रीभागवतभगवद्वाक्यनारदपञ्चरात्रादिकं तत्तु भगवत्कथितमुपदिष्टमपि गूढत्वेन यत्तत्त्वं 'एव मदर्थोऽज्ञितलोकेवेदेत्यत्र यथोक्तं तन्मया तदुक्तप्रकारेणैव निरूपितम् । ब्रह्मसन्धकरणदित्याद्याज्ञाविषयत्वात् । एतदध्ययनकर्तृणामपि पूर्वोक्तसिद्धिरित्याशयेनोच्यते य एतत्समधीर्धीतेति । य इति समान्योक्ता कोष्येतत्स्मृष्टिगतभाग्यशील परमादरेणार्थानुसन्धानपूर्वकं तदुभयाचरणकर्तृत्वेनैतदध्ययनं करोतीति । तत्रापि नियमनैयत्येन सम्यक्त्वम् । तेन तस्यापि दृढा रतिर्भगवद्विषयको नाम स सुदृढ स्मादित्यल, विस्तरेण ॥

श्रीमदाचार्यचरणानुग्रहादेव निर्णयः । कृतस्तदुक्तवाक्यानां मुञ्जानां तोपसिद्धये ॥ १ ॥

इति श्रीद्वारकेशविरचितभक्तिवर्धिनीप्रकाशः ।